श्रीवीर स० २४९२
वि० स० २०२३.
ई० सन् १९६६.

मूल्य ६ रुपया

मुद्रक :
श्री चिम्मनसिंह लोढ़ा के प्रबन्ध से—
श्री महावीर प्रिन्टिंग प्रेस,
लोहिया बाजार, ब्यावर.

प्रास्ताविक दो शब्द

पट्टावलीपराग ग्रन्थ मे दो पट्टावलियां सूत्रोक्त हैं, पहली पर्युषणाकल्प सूत्रोक्त और दूसरी नन्दीसूत्र के प्रारम्भ मे लिखी हुई अनुयोगधरो की परम्परा ।

इन सूत्रोक्त पट्टावलियो के आगे दिगम्बर सम्प्रदाय की कतिपय पट्टावलियो की चर्चा करके प्रथम परिच्छेद की समाप्ति की है ।

द्वितीय परिच्छेद मे मुख्य रूप से तपागच्छ की धर्मसागर उपाध्याय-कृत पट्टावली दी है और उसके बाद तपागच्छ की अनेक शाखा-पट्टावलियां और अन्यान्य प्रकीर्णक गच्छों की पट्टावलिया देकर दूसरा परिच्छेद पूरा किया है ।

तीसरे परिच्छेद मे केवल खरतर-गच्छ की १२ पट्टावलि-गुर्वावलियां देकर इसे भी पूरा किया है ।

चतुर्थ परिच्छेद मे लौंकागच्छ, बाईस सम्प्रदाय और कडवामत की पट्टावलियां दी हैं ।

ग्रन्थ का नाम हमने "पट्टावलीपराग" दिया है, क्योंकि प्रत्येक पट्टावली अक्षरशः न लेकर उसका मुख्य सारभाग लिया है । पट्टावलियो मे जहा-जहां समालोचना की आवश्यकता प्रतीत हुई वहा सर्वत्र समालोचना गर्भित उसके गुण-दोषो की चर्चा भी करनी पड़ी है, हमारा उद्देश्य किसी भी पट्टावली के खण्डन-मण्डन का नही था, फिर भी जहां-जहां जिनमे

टीका टिप्पण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई वहां उन पर टीका-टिप्पणी भी की है, यह बात पाठकगण को पढने पर स्वयं ज्ञात होगी। कई पट्टावलि लेखको ने अपनी पट्टावलियो मे अपने आचार्यों और उनके कर्त्तव्यो के निरूपण मे वास्तविकता से शताधिक अतिशयोक्तिया कर मर्यादा का उल्लघन किया है। ऐसे स्थलो पर आलोचना करना जरूरी समझ कर हमने वही सत्य बातें लिख दी है। हमारा अभिप्राय किसी गच्छ की पट्टावली का महत्त्व घटाने का नही पर वास्तविक स्थिति बताने का था। इसलिए ऐसे स्थलो को पढकर पाठक महोदय अपने दिल मे दु:ख अथवा रागद्वेष की भावना न लायें।

पट्टावली पराग की विशेषता :

पट्टावलिया तो अनेक छपी हैं और छपेंगी, पर एक ही पुस्तक मे छोटी-बड़ी ६४ पट्टावलिया आज तक नही छपी। सौत्र-पट्टावलियो के अतिरिक्त "पराग सग्रह" में १ वृहद्गच्छीय, २ तपागच्छीय, ३ खरतर-गच्छीय, ४ पौर्णमिक-गच्छीय, ५ साधु पौर्णमिक-गच्छीय, ६ अचल-गच्छीय, ७ आगमिक-गच्छीय, ८ लघु पौषध शालिक, ९ वृहत् पौषध शालिक, १० पल्लिवाल-गच्छीय, ११ ऊकेशगच्छीय, १२ लौंकागच्छीय, १३ कटुक-मतीय, १४ पार्श्वचन्द्रगच्छीय, १५ बाईस सम्प्रदाय की और तेरा पथ आदि की मिलकर ६४ पट्टावलिया 'पट्टावली-पराग' मे संगृहीत हैं।

अन्य पट्टावलियो के पढने से प्राय: गच्छो की गुरु-परम्पराओ और उनके समय का ही पता लगता है पर "पट्टावली-पराग" के पढने से उक्त बातो की जानकारी के उपरान्त किन-किन गच्छो की उत्पत्ति मे कौन-कौन साधु श्रावक श्राविका आदि निमित्त बने थे इस बात का भी ज्ञान हो जाता है। दृष्टान्त के तौर पर श्री राधनपुर मे तपागच्छ मे "विजय" और "सागर" नाम के गृहस्थो की दो पार्टिया किस गृहस्थ के प्रपंच से कब हुई? श्री विजयसेन सूरिजी के पट्ट पर श्री राजविजय सूरिजी और विजय-हीर सूरिजी दो आचार्य किन के प्रपंच से बैठे? और ब्रह्मऋषि ने किसके प्रपच से अपना "ब्रह्म-मत" निकाला इत्यादि अश्रुतपूर्व और रसपूर्ण बातो के खुलासे "पट्टावली-पराग" से पाठकों को प्रामाणिक रूप में मिल सकेंगे।

पार]

आंखों की कमजोरी और प्रत्येक फार्म का प्रूफ अपने पास मंगवाने पर ग्रन्थ के मुद्रण मे समय बहुत लग जायगा इस विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रूफ सुधारने का कार्य ब्यावर के एक जैन विद्वान् को सौपा था और प्रारम्भ मे प्रूफ संशोधन ठीक ही हुआ है पर नियुक्त पडितजी के दूसरे व्यक्ति को प्रूफ देखने का कार्य सौप कर मास भर तक अन्यत्र चले जाने के वाद मे नये प्रूफ रीडर के संशोधन मे अशुद्धियां अधिक रह गई है, कुछ अशुद्धियां घिसे हुए रद्दी टाइपो के इस्तेमाल करने से भी वढ़ी हैं यह पाठकगण को स्वय ज्ञात हो जायगा।

हमने प्रूफ रीडिंग की और टूटे घिसे टाइपो के कारण से हुई अशुद्धियां भी शुद्धिपत्रक मे ले ली है, पाठक महाशय जहा कही अक्षर सम्बन्धी स्थल शकित जान पड़े वहां शुद्धिपत्रक देख लिया करे।



विषयानुक्रम

प्रथमपरिच्छेद [सौत्रपट्टावलियां]

द्वितीय परिच्छेद [तपागच्छीय पट्टावलियां]

तृतीय परिच्छेद [खरतरगच्छ की पट्टावलियां]

आठ]

प्रथम परिच्छेद

[सौत्र-पट्टावलियाँ]

मंगलाचरण

वर्धमानं जिनं नत्वा, वर्धमानगुणोदधिम् ।
पट्टावली-परागस्य, संग्रहोऽयं विधीयते ॥ १ ॥

दशाश्रुताऽष्टमाध्याये, कल्पाध्ययननामनि ।
स्थविरावलिका हब्धा, प्राच्यैः सा प्रथमा मता ॥ २ ॥

नन्दीमङ्गलमध्यस्था, वाचकानामथावलिः ।
एषा वाचकवंशस्य, द्वितीया स्थविरावली ॥ ३ ॥

स्थविरावलिकायुग्मं, सौत्रमेतत्प्रकीर्तितम् ।
अत्र दिगम्बराम्नाय-संक्षेपोपि प्रदर्शितः ॥ ४ ॥

चन्द्रकुलोद्भवादग्रे, सूरिपट्टपरम्परा ।
क्वचिद् भिन्ना क्वाप्यभिन्ना, "तपागच्छ" मताऽऽहृता ॥५॥

अनेकगच्छसंबद्धाः पट्टावल्यः प्रकीर्णकाः ।
सम्पूर्णाः खण्डिता वापि, यथालब्धास्तथाऽऽहृताः ॥ ६ ॥

आचार्यवर्धमानाद्धि, खरभाषिमताः स्मृताः ।
गुर्वावल्य प्रबन्धादि-पट्टावल्यो ह्यनेकधा ॥ ७ ॥

लक्ष--लेखक-कड्वादि--गृहस्थमतविस्तृतम् ।
पट्टावलीद्वयं प्रान्ते, विस्तरेण विवेचितम् ॥ ८ ॥

अर्थ : बढ़ते हुए गुणों के समुद्र ऐसे श्रीवर्धमान जिनको नमन करके पट्टावलियों के सार का यह संग्रह किया जाता है। दशाश्रुतस्कन्ध के अष्टमाध्ययन मे, जिसका नाम "पर्युषणा कल्पाध्ययन" है, पूर्वाचार्यों ने स्थविरावली बनाकर उसके अन्तर्गत की, उसको हम "प्रथम स्थविरावली" मानते हैं। नन्दी सूत्र के मगलाचरण मे अनुयोगधरों की जिस वाचकपरम्परा

को वन्दन किया है उस वाचकपरम्परा को अर्थात् अनुयोगधरों की पट्टावली को हम "द्वितीय स्थविरावली" मानते हैं। उक्त दोनो स्थविरावलियाँ सूत्रोक्त होने से हम इन्हे "सौत्र स्थविरावलियाँ" कहते है। सौत्रस्थविरावलियो का निरूपण करने के अनन्तर बीच मे दिगम्बर सप्रदाय के सक्षिप्त स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया है। "चन्द्रकुल" की उत्पत्ति के बाद जो आचार्य-परम्परा चली है उसमे, कही कही मतभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं, फिर भी उसकी मौलिकता मे वास्तविक अन्तर नही पड़ता। इसी परम्परा को "तपागच्छ" ने अपनी मूल परम्परा माना है और यह मान्यता ठीक भी है।

तपागच्छीय पट्टावलियो के अन्त मे "प्रकीर्णक पट्टावलिया" दी हैं, जिनमे अधिकाश "तपागच्छ की शाखा पट्टावलिया" है, और कुछ स्वतंत्र गच्छो की पूर्ण, अपूर्ण पट्टावलिया भी हैं जो जिस हालत मे मिली उसे उसी हालत मे ले लिया है।

"खरतरगच्छ" के अधिकाश लेखक "श्रीवर्द्धमानसूरि" से अपनी पट्टा-वलियाँ शुरु करते हैं। कई लेखको ने प्रारभ से अर्थात् सुधर्मा से भी पट्टा-वलिया लिखी है, परन्तु उसमें वे सफल नही हुए। अनेक छोटी बडी गुर्वा-वलियो और प्रबन्धो मे अपनी परम्पराएँ लिखी हैं, परन्तु उनमे मौलिकता की मात्रा कम है।

ग्रन्थ के अन्त में दो ऐसे गच्छो की पट्टावलिया दी हैं जो गच्छ गृहस्थ व्यक्तियो से प्रचलित हुए थे। इन दो गच्छो मे, पहला है "लौंका गच्छ" जो "लक्खा" नामक पुस्तक-लेखक से चला था, जो आजकल "लौंकागच्छ" के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा "गृहस्थगच्छ" "कडुआ-मत गच्छ" इस नाम से प्रसिद्ध है, इस गच्छ का नेता गृहस्थ होता है और "शाहजी" कहलाता है। इस के खडहर "थराद" मे आज भी विद्यमान हैं।



कल्प - स्थविरावली

उपोद्घात :

"कल्प" शब्द स यहाँ दशाश्रुतस्कन्धान्तर्गत "पर्युषणा कल्प" समझना चाहिए। यद्यपि पर्युषणाकल्प दशाश्रुतस्कन्धका एक अध्याय है, तथापि जैन सम्प्रदाय मे प्रस्तुत कल्प का प्रचार अधिक होने के कारण दशाश्रुत-स्कन्ध की स्थविरावली न लिखकर हमने इसे "कल्पस्थविरावली" लिखना ठीक समझा है ।

"कल्पस्थविरावली" आर्य यशोभद्र तक एक ही है, परन्तु आर्य यशोभद्र के आगे इसकी दो धाराएँ हो गई हैं। एक सक्षिप्त और दूसरी विस्तृत। सक्षिप्त स्थविरावली मे मूल परम्परा के स्थविरो का मुख्यतया निर्देश किया गया है। तब विस्तृत स्थविरावली मे पट्टधर स्थविरो के अतिरिक्त उनके गुरुभ्राता स्थविरो की नामावलियो, उनसे निकलने वाले गण और गणों के कुल तथा शाखाओ का भी निरूपण किया है।

सक्षिप्त स्थविरावली मे आर्य वज्र के शिष्य चार बताए हैं। उनके नाम "आर्य नागिल, आर्य पद्मिल, आर्य जयत और आर्य तापस" लिखे हैं। तब विस्तृत स्थविरावली में आर्य वज्र के शिष्य तीन लिखे हैं, जिनके नाम "आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ" हैं। इन दो स्थविरावलियो के बीच जो मत-भेद सूचित होता है, उसके सम्बन्ध मे हम यथास्थान विवरण देंगे ।

"कल्प-स्थविरावली" भी प्रारंभ से अंत तक एक ही समय मे लिखी हुई नही है, जिस प्रकार आगम तीन बार व्यवस्थित किये गये थे, उसी प्रकार स्थविरावली भी तीन विभागो में व्यवस्थित की हुई प्रतीत होती है। आगमों

की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र मे हुई, उस समय तक सभवतः यशोभद्र-स्थविर स्वर्गवासी हो चुके थे, और आर्य सभूतविजयजी भी या तो परलोक-वासी हो चुके हो अथवा वार्द्धक्य के कारण कही पर वृद्धावास के रूप मे ठहरे हुए हो। क्योकि पाटलिपुत्र के श्रमणसघ ने दृष्टिवाद पढाने के लिए दो वार भद्रबाहु के पास 'श्रमण सघाटक' भेजकर उन्हे दृष्टिवाद पढाने की विज्ञप्ति की। यदि उस समय स्थविर सम्भूतविजयजी जीवित होते और दृष्टि-वाद पढाने की स्थिति मे होते तो पाटलीपुत्र का सघ दूसरा सघाटक भद्र-बाहु के पास कभी नही भेजता, क्योकि भद्रबाहु ने प्रथम सघाटक के सामने ही अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी कि "मैं महाप्राण ध्यान की साधना मे लगा हुआ हू। अत. पाटलिपुत्र आ नही सकता", इस पर भी पाटलिपुत्र का श्रमणसघ दूसरी वार भद्रबाहु के पास सघाटक भेजकर दवाव डालता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि उस समय भद्रबाहु को छोडकर अन्य कोई भी दृष्टिवाद का अनुयोगधर विद्यमान नही होना चाहिए।

आर्य सभूतविजयजी के शिष्य आर्य स्थूलभद्र राजा नन्द के प्रधान मत्री शकटाल के वडे पुत्र थे। इन्होने अपने पिता के मरण के बाद तुरत आर्य सभूतविजयजी के पास श्रमणमार्ग स्वीकार किया था और चौदह पूर्व का अध्ययन आर्य श्रीभद्रबाहुस्वामी के पास किया था। इससे भी यही सूचित होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा होने के वाद थोड़े ही वर्षों मे आर्य सभूतविजयजी स्वर्गवासी हो गये थे। यहाँ आर्य श्रीभद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवाससमय के सबध मे हमे कुछ स्पष्टीकरण करना पड़ेगा।

प्रसिद्ध आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिजीने श्रीभद्रबाहुस्वामी का स्वर्गवास परिशिष्ट पर्व मे "जिननिर्वाण से १७० वें वर्ष मे होना लिखा है और इसी वचन का आधार लेकर डॉ० चार्पेण्टियर, हर्मन जेकोवि और इनके पीछे चलने वाले विद्वानो ने भगवान् महावीर के निर्वाणसमय मे से ६० वर्ष कम करके जिननिर्वाण का समय सूचित किया है। परन्तु इसको ठीक मानने पर जैन परम्परा मे जिस कालगणना के अनुसार निर्वाण सवत् और युगप्रधान स्थविरावलियो का मेल मिलाया गया है, वह सब एक दूसरे से असंगत

हो जाता है, इसलिए प्रस्तुत कल्पस्थविरावली की परम्परा लिखने के पहले हम जैनकालगणना पर चार शब्द लिख देना उचित समझते है।

जैन कालगणना पद्धति दो परम्पराओ पर चलती है। एक तो युग-प्रधानों के युगप्रधानत्व पर्याय काल के आधार पर और दूसरी राजाओ के राजत्वकाल की कड़ियो के आधार पर। निर्वाण के वाद की दो मूल पर-म्पराओ मे जो अनुयोगधरो की परम्परा चली है उसके वर्षो की गणना कर जिननिर्वाण का समय निश्चित किया जाता था। परन्तु जैन श्रमण स्थायी एक स्थान पर तो रहते नही थे, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम भारत के सभी प्रदेश उनके विहारक्षेत्र थे। कई बार अनेक कारणो से श्रमणगण एक दूसरे से बहुत दूर चले जाते थे और वर्षो तक उनका मिलना असंभव वन जाता था, ऐसी परिस्थितियों मे जुदे पडे हुए श्रमणगण अपने अनुयोग धर-युगप्रधानो का समय याद रखने मे असमर्थ हो जाते थे, इसलिए युग-प्रधानत्वकाल-शृ खला के साथ भिन्न भिन्न स्थानो के प्रसिद्ध राजाओ के राजत्वकाल की शृ खला भी अपने स्मरण मे रखते थे। इतनी सतर्कता रखते हुए भी कभी कभी सुदूरवर्ती दो श्रमणसघो के बीच कालगणना-सम्बन्धी कुछ गडबड़ी हो ही जाती थी। भगवान् महावीर के समय में उनका श्रमण-सघ भारत के उत्तर तथा पूर्व के प्रदेशों में अधिकतया विच-रता था। आर्य भद्रबाहु स्वामी के समय तक जैन श्रमणो का विहारक्षेत्र यही था, परन्तु मौर्यकालीन भयकर दुष्कालो के कारण श्रमण-सघ पूर्व से पश्चिम की तरफ मुडा और मध्य भारत के प्रदेशो तक फैल गया, इसी प्रकार सैकड़ो वर्षों के वाद भारत के उत्तर-पश्चिमीय भागो में दुष्काल ने दीर्घकाल तक अपना अड्डा जमाए रक्खा। परिणाम स्वरूप जैन श्रमण-सघ की दो टुकड़ियां वन गई। एक टुकडी सुदूर दक्षिण की तरफ पहुँची और वही विचरने लगी, तब दूसरी टुकडी जो अधिक वृद्ध श्रुतधरो की वनी हुई थी, भारत के मध्य प्रदेश मे रहकर विषम समय व्यतीत करती रही। विषम समय व्यतीत होने के वाद मध्यभारत तथा उत्तर भारत के भागो में विचरते हुए श्रमण 'मथुरा' मे सम्मिलित हुए। थोडे वर्षो के बाद दाक्षि-णात्य प्रदेश मे घूमने वाले श्रमण भी पश्चिम भारत की तरफ मुडे और

'सौराष्ट्र' के केन्द्र नगर "वलभी" में एकत्र हुए। 'मथुरा' तथा 'वलभी' मे सम्मिलित होने वाली टुकड़ियों के नेता क्रमशः "स्कन्दिलाचार्य" और "नागार्जुन वाचक' थे। दुष्काल के प्रभाव से श्रमणो का पठन-पाठन तो बन्द हो ही गया था, परन्तु पूर्व पठित श्रुत भी धीरे धीरे विस्मृत हो चला था। सघो के नेता दोनो श्रुतधरो ने कुछ समय तक ठहर कर विस्मृतप्रायः आगमो को लिपिबद्ध करवाया। किसी को कोई अध्ययनादि याद था, तो किसी को कोई, उन सब को पूछ पूछ कर और श्रुतधरो की अपनी स्मृतियो के आधार मे आगम लिखवाए गए और उनके आधार से श्रमणो का पठन-पाठन फिर प्रारम्भ हुआ। यह समय लगभग विक्रम की चतुर्थ शताब्दी मे पडता था।

मथुरा मे जो आगम लिखवाये और पढाए गए उसका नाम "माथुरी-वाचना" और वलभी मे जो लिखाए पढाए गए उसका नाम "वालभी-वाचना" प्रसिद्ध हुआ, इस प्रकार की दोनो वाचनाओं के अनुयायी देश मे विहार-चर्या के क्रम से विचरते हुए लगभग दो सौ वर्षों के भीतर फिर "वलभी नगरी" मे सम्मिलित हुए। इस समय "माथुरी वाचना" के अनुयायी श्रमण संघ के नेता "श्रीदेवर्द्धिगणि" और "वालभी वाचना" के श्रमणसघ के प्रधान "कालकाचार्य" थे, दूरवर्ती स्थानो मे स्मृतियो के आधार पर लिखे गये आगमों मे कई स्थानो पर पाठान्तर और विषयान्तर के पाठ थे। उन सबका समन्वय करने मे पर्याप्त समय लगा। इस पर भी कोई स्थल ऐसे थे कि जिनकी सच्चाई पर दोनो सघ निश्शक थे, ऐसे विषयो पर समझौता होना कठिन जानकर दोनो ने एक दूसरे के पाठों को वैसा का वैसा स्वीकार किया। इसके परिणाम स्वरूप कल्पान्तर्गत श्रमण भगवान् महावीर के जीवन-चरित के अन्त मे तत्कालीन समय का निर्देश दो प्रकार से हुआ है। 'माथुरी वाचना" के अनुयायियो का कथन था कि वर्तमान वर्ष ९८० वाँ है। तव वालभ्य सघ की गणना से वही वर्ष ९९३ वां आता था, इन १३ वर्षों के अन्तर का मुख्य कारण एक दूसरे से दूरवर्तित्व था। उत्तरीय सघ ने जिन युगप्रधानो का समय गिनकर ९८० वा वर्ष निश्चित किया था उसमे दाक्षिणात्य सघ ने एक युगप्रधान १५ वर्ष के

पर्यायवाला अधिक माना और एक युगप्रधान के युगप्रधानत्व के ४१ वर्षों के स्थान पर ३९ वर्ष ही माने। इस प्रकार उन्होने अपनी गणना मे १३ वर्ष बढ़ा दिये थे जिसका माथुरी वाचना के अनुयायियो को पता तक नही था, दाक्षिणात्य सघ दूर निकलने के बाद केवल युगप्रधानत्व काल की ही गणना करता रहा, तब उत्तरीय सघ युगप्रधानत्व के साथ राजत्वकाल का भी परिगणन करता रहा। इस कारण वह अपनी गणना को प्रामाणिक मनवाने का आग्रही था, परन्तु दूसरी पार्टी ने अपनी गणना को गलत मानने से साफ इन्कार कर दिया। फलस्वरूप कालनिर्देश विपयक दोनो की मान्यता के सूचन मूल सूत्र मे करने पडे। माथुरी वाचना को प्रथम से ही मुख्यता दे दी थी। इसलिए प्रथम "माथुरी वाचना" का मन्तव्य सूचित किया गया और बाद मे वालभी वाचना का।

कल्प-स्थविरावली मे आर्य यशोभद्र तक की स्थविरावली पाटलीपुत्र मे होने वाली वाचना के पहले की है, तब उसके बाद की सक्षिप्त तथा विस्तृत दोनो स्थविरावलियां, जिनकी समाप्ति क्रमश. "आर्य तापस" और "आर्य फल्गुमित्र" तक जाकर होती है, ये दोनो स्थविरावलिया दूसरी वाचना के समय यशोभद्रसूरि पर्यन्त की मूलस्थविरावली के साथ जोड़ी गईं थी, और आर्य तापस तथा आर्य फल्गुमित्र के बाद की स्थविरो की नामावली आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में होने वाले आगमलेखन के समय पूर्वोक्त सन्धित पट्टावली के अन्त मे जोड़ दी गई हैं।

पहली वाचना हुई तब भूतकालीन स्थविरो की नामावली सूत्र के साथ जोड़ी गई। दूसरी वाचना के प्रसग पर उसके पूर्ववर्ती स्थविरो की नामावली पूर्व के साथ अनुसन्धित कर दी गई, और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में द्वितीय वाचना के परवर्ती स्थविरो की नामावली यथाक्रम व्यवस्थित करके अन्तिम वाचना के समय पूर्वतन स्थविरावली के साथ जोड़ दी गई है।



कुल गण और शाखाएं

कल्प-स्थविरावली मे कुल, गण और शाखाए निकलने का वर्णन आया करता है, परन्तु इन नामो का पारिभाषिक अर्थ क्या है और इन नामों के प्रचलित होने के कारण क्या होगे, इन बातो को समझने वाले पाठक बहुत कम होगे। भगवान् महावीर के समय में भी नव गण थे, परन्तु उन गणो के साथ कुल तथा शाखाओ की चर्चा नही थी। भगवान् महावीर का निर्वाण होने के बाद भी लगभग २०० वर्षो तक सैकडो की सख्या मे जैन श्रमण विचरते थे और उनका अनुशासन करने वाले आचार्य भी थे तथापि उस समय कुल, गण आदि की चर्चा क्यो नही, यह शका होना विचारवान् के लिए स्वाभाविक है। इसलिए स्थविरावली का प्रारभ करने के पहले ही हम इन सब बातो का स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझते है।

भगवान् महावीर के समय मे 'गण' थे, इसीलिए उनके व्यवस्थापक मुख्य शिष्य "गणधर" कहलाते थे। "गण का अर्थ यहा एक साथ बैठकर अध्ययन करने वाले श्रमणो का समुदाय" होता है। महावीर के गणधर ११ थे परन्तु गण ९ ही माने गये हैं, क्योकि अन्तिम चार गणधरो के पास श्रमणसमुदाय कम होने के कारण दो दो "गणधरो" के छात्र-समुदायों को सम्मिलित करके शास्त्राध्ययन कराया जाता था। अत. गणधर दो दो होने पर भी उनका समुदाय एक एक ही माना जाता था।

अब रही "कुलो" की बात, सो तीर्थङ्करो के गणधरो मे से एक एक के पास जितने भी श्रमण होते थे वे सब गणधर के शिष्य माने जाते थे। इस लिए गणधरो के समय मे कुल नही थे। भगवान् महावीर के जितने भी गणधर थे वे सब अपने शिष्यो को निर्वाण के समय मे दीर्घजीवी गणधर

सुधर्मा को सौंप जाते थे, और बाद में वे सब सुधर्मा के शिष्य माने जाते थे। गणधरों के सम्बन्ध में ही नहीं, यह परिपाटी लगभग भद्रबाहु स्वामी के समय तक चलती रही। किसी के भी उपदेश से प्रतिबोध पाकर दीक्षा लो, पर उसे शिष्य तो मुख्य पट्टधर आचार्य का ही होना पड़ता था।

आचार्य भद्रबाहु के शिष्य स्थविर 'गोदास' से सर्वप्रथम उनके नाम से 'गोदास गण' निकला। इसका कारण यह था कि तब तक जैन श्रमणों की संख्या पर्याप्त बढ़ चुकी थी और सब श्रमणों को वे सम्हाल नहीं सकते थे। इसलिए अपने समुदाय के अमुक साधुओं की वे स्वयं व्यवस्था करते थे, तब उनसे अतिरिक्त जो सैकड़ों साधु थे उनकी देखभाल तथा पठन-पाठन की व्यवस्था भद्रबाहु के अन्य तीन स्थविर करते थे जिनके नाम अग्नि-दत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त थे। ये सभी स्थविर काश्यप गोत्रीय थे। जो समुदाय 'स्थविर गोदास' की देखभाल में था उसका नाम "गोदास गण" हो गया, उसकी चार शाखाएँ थीं, ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्ध-नीया और दासीकर्पटिका।

शाखाओं के नाम बहुधा श्रमणों के अधिक विहार अथवा अधिक निवास के कारण नगर अथवा गांवों के नामों से प्रचलित हो जाते थे, जैसे ताम्रलिप्ति नगरी से ताम्रलिप्तिका, पुण्ड्रवर्धन नगर से पौण्ड्रवर्धनिका, कोटिवर्ष नगर से कोटिवर्षीया, दासीकर्पट नामक स्थान से दासीकर्पटिका। आर्य गोदास के समय में श्रमणों की संख्यावृद्धि के कारण गण पृथक् निकला, शाखाएँ प्रसिद्ध हुईं। परन्तु कुल उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि तब तक मुख्य आचार्य के अतिरिक्त किसी भी स्थविर ने अपने नाम से शिष्य बनाने का प्रारंभ नहीं किया था, परन्तु मौर्यकाल में श्रमणों की अत्यधिक वृद्धि और दूर दूर प्रदेशों में विहार प्रचलित हो चुका था, परिणाम यह हुआ कि पट्टधर के अतिरिक्त अन्य योग्य स्थविर भी अपने नाम से पुरुषों को दीक्षा देकर उनके समुदाय को अपने "कुल" के नाम से प्रसिद्ध करने लगे और उसकी व्याख्या निश्चित हुई, कि "कुल एकाचार्यसन्ततिः" जब तक साधु-संख्या अत्यधिक बढ़ी नहीं थी, तब तक आचार्य की आज्ञा में रहने वाले साधुसमुदाय गण के नाम से ही पहिचाने जाते थे। परन्तु आचार्य के गुरु-

भाई अथवा तो उनके शिष्यों ने अपने अपने नाम से शिष्य बनाकर अपने नाम से 'कुल" प्रसिद्ध किये तब आचार्यों को 'कुल' तथा 'गणो' के सम्बन्ध मे नये नियम निर्माण करने पड़े ।

"एत्थ कुलं विण्णेयं, एयायरियस्स संतती जाउ ।
तिण्ह कुलाणमिहो पुण, साविक्खाण गणो होइ ॥"

अर्थात् : एक आचार्य का शिष्यपरिवार 'कुल' कहलाता है, ऐसे परस्पर सापेक्ष याने-एक दूसरे से सभी प्रकार के साम्भोगिक व्यवहार रखने वाले तीन कुलो का समुदाय "गण" कहलाता है ।

ऊपर की गाथा मे "कुल" तथा "गण" की सूचना की है; शास्त्रो मे कुल की परिभाषा यह बाधी गयी है कि "आठ साधुओ के ऊपर नवमा उनका गुरु स्थविर हो, तभी उसका नाम "कुल' कहलाता था, आठ मे एक भी सख्या कम होने पर वह कुल कहलाने का अधिकारी नही होता था। यह कुल की कम से कम सख्या मानी गयी। उससे अधिक कितनी भी हो सकती थी, परन्तु इस प्रकार के कम से कम तीन 'कुल' सम्मिलित होते, तभी अपने सघटन को 'गण' कह सकते थे। जिस प्रकार एक कुल मे ९ श्रमणों का होना आवश्यक माना गया था, उसी प्रकार एक गण मे "अट्ठाईस २८ साधु सम्मिलित होते," तीन कुलो के २७ और २८ वां "गणस्थविर" तभी वह संघटन "गण" नाम से अपना व्यवहार कर सकता था, और गण को जो जो अधिकार प्राप्त थे वे उसको मिलते थे। इस प्रकार "कुल" तथा "गण" की व्याख्या शास्त्रकारो ने बाँधी है, जब तक "युगप्रधान शासन-पद्धति" चलती रही तब तक इसी प्रकार की 'कुल' तथा "गण" की परिभाषा थी, सघ स्थविर-शासन पद्धति विच्छेद होने के बाद कुल, गण की परिभाषाएँ भी धीरे धीरे भुलायी जाने लगी और परिणामस्वरूप 'गण' शब्द का स्थान 'गच्छ' ने ग्रहण किया। वास्तव मे गच्छ शब्द प्राचीन काल में 'राशि' के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। दो साधुओ की सम्मिलित सख्या 'सघाटक' कहलाती थी, तब तीन, चार, पांच आदि से लेकर हजारो तक की सम्मिलित सख्या 'गच्छ' नाम से व्यवहृत होती थी। 'गच्छ' शब्द का

व्यावहारिक अर्थ हम 'टुकडी' कर सकते हैं, "बृहत्कल्पभाष्य" में तीन से लेकर ३२ हजार तक की श्रमणसख्या को 'गच्छ' के नाम से निर्दिष्ट किया है। धीरे धीरे 'गण' शब्द व्यवहार में से हटता गया और उसका स्थान 'गच्छ' शब्द ने ग्रहण किया, परन्तु वास्तव मे 'गण' का प्रतिनिधि 'गच्छ' नही है। गण मे जो आचार्य, उपाध्याय, गणी, स्थविर, प्रवर्तक और गणावच्छेदक प्रमुख अधिकारी माने गये हैं, वे गच्छ मे नही माने, क्योकि गच्छ शब्द का अर्थ ही साधुओ की टुकड़ी माना गया है और सूत्रकाल मे तो गच्छ के स्थान पर "गुच्छ" शब्द ही प्रयुक्त होता था। परन्तु भाष्यकारो ने "गुच्छ" को 'गच्छ' बना दिया, स्थविर-शासन-पद्धति उठ जाने के बाद "कुल" 'गण' शब्द बेकार बने और "गच्छ" शब्द ने 'गण' शब्द के स्थान मे अपनी सत्ता जमा ली। यही कारण है कि पिछले सूत्र-टीकाकारों को "गच्छाना समूहः कुलं" यह व्याख्या करनी पड़ी। स्थविर-शासन-पद्धति बद पडने के बाद 'कुल' तथा 'गणों' के 'आभवद् व्यवहार' 'प्रायश्चित्त व्यवहार' आदि सभी प्रकार के व्यवहार अनियमित हो गये थे, सभी समुदायों के पास अपने अपने कुल, गण; के नाम रह गए थे, उनका उपयोग प्रव्रज्या के समय अथवा तो महापरिठावणिया के समय में 'दिक्श्रावण' मे होता था और होना है।

ऊपर हम लिख आये हैं कि 'सापेक्ष तीन कुलों का एक गण बनता था।' इसका तात्पर्य यह है, कुल में साधु सख्या कितनी भी अधिक क्यो न हो. तीन कुलो से कम दो अथवा एक कुल 'गण' का नाम नही पा सकता था। तीन अथवा उससे कितने भी अधिक कुल एक गण मे हो सकते थे, परन्तु तीन से कम कुल गण में नही होते थे। 'एत्थ कुल विण्णेय' यह उपर्युक्त गाथा कल्पसूत्र की अनेक टीकाओ मे उद्धृत की हुई दृष्टिगोचर होती है। 'कल्पसुबोधिका' मे भी जब वह पहले छपी थी उपर्युक्त गाथा शुद्ध रूप में छपी थी, परन्तु बाद की आवृत्तियों में संपादको की अनभिज्ञता से अथवा एक दूसरे के अनुकरण से यह गाथा अशुद्ध हो गयी है। 'तिण्ह कुलाण मिहो पुण' इस चरण मे "तिण्ह" के स्थान मे "दुण्ह" हो गया है जो अशुद्ध है, सर्वप्रथम "कल्पकिरणावली" में "दुण्ह कुलाण मिहोपुण" यह अशुद्ध पाठ

छपा, कल्पकिरणावली के बाद छपने वाली अनेक कल्पटीकाओं में "दुण्ढ कुलाणमिहो" यह अशुद्ध रूप छपा है जो परिमार्जनीय है।

१. मूल कल्पस्थविरावली सानुवाद :

मू० : "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा इक्कारस गणहरा होत्था ॥२०१॥"

अर्थ : उस काल और उस समय में श्रमण भगवन्त महावीर के ९ गण और ११ गणधर हुए।

"से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चई–समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा इक्कारस गणहरा होत्था ? समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे इंदभूई अणगारे गोयमे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, मज्झिमे अणगारे अग्गिभूई नामेणं गोयमे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, कणीयसे अणगारे नामेणं वाउभूई गोयमे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, थेरे अज्जवियत्ते भारद्दाये गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, थेरे अज्जसुहम्मे अग्गिवेसायणे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, थेरे मंडियपुत्ते वासिट्ठे गोत्तेणं अद्धुट्ठाइं समणसयाइं वाएइ, थेरे मोरियपुत्ते कासवे गोत्तेणं अद्धुट्ठाइं समणसयाइं वाएइ, थेरे अकंपिए गोयमे गोत्तेणं, थेरे अयलभाया हारियायणे गोत्तेणं एते दुन्नि थेरा तिन्नि तिन्नि-समणसयाइं वाइंति, थेरे मेयज्जे थेरे अज्जपभासे एए दोन्निवि थेरा कोडिन्ना गोत्तेणं तिन्नि तिन्नि समणसयाइं वाएंति, से एतेणं अट्ठेणं अज्जो एवं वुच्चइ-समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा, एक्कारस गणहरा होत्था ॥२०२॥"

'भगवान् महावीर के ९ गण और ११ गणधर होने की बात सुनकर शिष्य गुरु से पूछता है : 'भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि भगवान् महावीर के नव गण थे और ग्यारह गणधर ? प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं : भगवान् महावीर के शिष्य जिनका नाम इन्द्रभूति था और जो तीन भाइयों में बड़े थे तथा गोत्र से गौतम थे, ५०० श्रमणों को सूत्रवाचना देते थे। अग्निभूति नामक अनगार जो गोत्र

से गौतम और मझोले थे, ५०० श्रमणों को आगम पढ़ाते थे। कनिष्ठ वायुभूति नामक गोत्र से गौतम थे जो ५०० साधुओ को वाचना देते थे। स्थविर-आर्यव्यक्त जो गोत्र से भारद्वाज थे और ५०० श्रमणों को वाचना देते थे, स्थविर आर्य सुधर्मा जो गोत्र से अग्निवेश्यायन थे और ५०० श्रमणो को वाचना देते थे, स्थविर मंडिकपुत्र जो गोत्र से वासिष्ठ थे और साढे तीन सौ श्रमणो को वाचना देते थे, स्थविर मौर्य्यपुत्र जो गोत्र से काश्यप थे साढे तीन सौ श्रमणो को वाचना देते थे, स्थविर अकम्पित गोत्र से गौतम, स्थविर अचलभ्राता गोत्र से हारितायन, ये दोनों स्थविर तीन-तीन सौ श्रमणो को सम्मिलित रूप से वाचना देते थे। स्थविर मेदार्य और स्थविर प्रभास ये दोनों स्थविर गोत्र से कौण्डिन्य थे, और अपने तीन-तीन सौ श्रमणो को एकत्र वाचना देते थे। इस कारण से हे आर्य ! यह कहा जाता है कि श्रमण भगवन्त महावीर के ९ गण और ११ गणधर थे।

स्पष्टीकरण :

आठवें तथा नवमे गणधरो के तीन-तीन सौ शिष्य थे परन्तु उनकी वाचना एक ही साथ होती थी। अतः एक गण कहलाता था, इसी प्रकार दसवें तथा ग्यारहवें गणधरो के भी तीन-तीन सौ श्रमण शिष्य थे, परन्तु वे ६००-६०० श्रमण सम्मिलित वाचना लेते थे, इसलिये "एकवाचनिको गणः" इस नियमानुसार पिछले ४ गणधरो के २ ही गण माने गए हैं। परिणामस्वरूप ९ गण और ११ गणधर बताए है।

"जे इमे अज्जत्ताते समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्ज-सुहम्मस्स अणगारस्स आहावच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वोच्छिन्ना ॥२०४॥"

"सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोद्दसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मासि-एणं भत्तेणं अपाणएणं कालगया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा। थेरे इंदभूई, थेरे अज्जसुहम्मे, सिद्धि गए महावीरे पच्छा दोन्निवि परिनिव्वुया ॥२०३॥

'ये सर्व श्रमण भगवन्त महावीर के ग्यारह ही गणधर द्वादशांगधारी चतुर्दश पूर्वी सम्पूर्ण गणिपिटक के धारक राजगृह नगर के परिसर मे मासिक भोजन-पानी का त्याग कर निर्वाणप्राप्त हुए, सर्वदुःख रहित हुए। इनमें स्थविर इन्द्रभूति और स्थविर आर्यसुधर्मा ये दो स्थविर महावीर के निर्वाण के वाद निर्वाण प्राप्त हुए थे।' अर्थात् शेप नौ गणधर महावीर की विद्यमानता मे ही मोक्ष प्राप्त हो चुके थे। २०३।'

'जो ये आजकल श्रमण निर्ग्रन्थ विचर रहे हैं वे सभी आर्य सुधर्मा के सन्तानीय कहलाते है, अवशेष गणधरों की परम्परा विच्छिन्न हो चुकी है २०४।'

"समणे भगवं महावीरे कासवे गोत्तेणं।

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्जसुहम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणसगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणसगोत्तस्स अज्ज जंबू नामे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जजंबुनामस्स कासवगोत्तस्स अज्जपभवे थेरे अंतेवासी कच्चायणसगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जप्पभवस्स कच्चायणसगोत्तस्स अज्जसेज्जंभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जसेज्जंभवस्स मणगपिउणो वच्छसगोत्तस्स अज्जजसभद्दे थेरे अंतेवासी तुंगीयायणसगोत्ते ॥२०५॥"

'श्रमण भगवान् महावीर काश्यप-गोत्रीय थे, काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य अग्निवेश्यायन सगोत्र आर्य-सुधर्मा हुए, अग्निवेश्यायन सगोत्र आर्य-सुधर्मा स्थविर के शिष्य काश्यप गोत्रीय आर्य जम्बू हुए, काश्यप गोत्रीय स्थविर आर्य जम्बू के शिष्य कात्यायन सगोत्र आर्य प्रभव हुए, कात्यायन गोत्रीय स्थविर आर्य प्रभव के शिष्य वत्स-सगोत्रीय स्थविर आर्य शय्यम्भव हुए, जो मनक मुनि के पिता थे, वत्ससगोत्र और

मनक पिता स्थविर आर्य शय्यम्भव के शिष्य तुगियायनसगोत्र आर्य यशोभद्र हुए।२०५'

'इसके आगे स्थविरावली दो प्रकार की देखने में आती है एक संक्षिप्त और दूसरी विस्तृत, पहले सक्षिप्त स्थविरावली दी जा रही है :

"संखित्तवायणाए अज्जजसभद्दाओ अग्गओ एवं थेरावली भणिया तं जहा-थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-थेरे अज्जसंभूयविजए माढरसगोत्ते, थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स माढरसगोत्तस्स अंतेवासी अज्जथूलभद्दे थेरे गोयमसगोत्ते, थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी-दुवे थेरा-थेरे अज्जमहागिरी, एलावच्छसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते, थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-सुट्ठिय-सुपडिबुद्धा कोडियकाकंदगा-वग्घावच्चसगोत्ता। थेराणं सुट्ठिय-सुपडिबुद्धाणं कोडिय-काकदगाणं वग्घावच्चसगोत्ताण अंतेवासी थेरे अज्जइंददिन्ने कोसियगोत्ते॥"

'संक्षिप्त वाचना से आर्य यशोभद्र के आगे की स्थविरावली इस प्रकार कही है यथा तुगियायणसगोत्र स्थविर यशोभद्र के दो स्थविर शिष्य थे : माठरसगोत्रीय स्थविर सभूतविजय और प्राचीन-सगोत्र स्थविर भद्रबाहु, स्थविर आर्य सभूतविजय के स्थविर शिष्य गौतम सगोत्र आर्य स्थूलभद्र हुए, स्थविर स्थूलभद्र के स्थविर शिष्य दो हुए, स्थविर एलावत्ससगोत्रीय आर्य महागिरि और वासिष्टसगोत्र आर्य सुहस्ती। स्थविर सुहस्ती के स्थविर शिष्य दो हुए : स्थविर सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध, गृहस्थाश्रम में सुस्थित स्थविर कोटिवर्ष नगर के निवासी होने से कोटिक कहलाते थे और सुप्रतिबुद्ध गृहस्थाश्रम मे काकन्दीनगरी निवासी होने से काकन्दक नाम से प्रसिद्ध हुए थे। ये दोनो स्थविर व्याघ्रापत्यसगोत्र थे, इन दोनो स्थविरो के स्थविर शिष्य कौशिकगोत्रीय 'इन्द्रदिन्न' थे।'

"थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कोसियगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जदिन्ने गोयमसगोत्ते, थेरस्स णं अज्जदिन्नस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते, थेरस्स णं अज्जसिहगिरिस्स जातिसरस्स

ौसियगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरे गोयमसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जवइ-रस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी चत्तारि थेरा-थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपोमिले, थेरे अज्जजयंते, थेरे अज्जतावसे । थेराओ अज्जनाइलाओ अज्जनाइला साहा निग्गया, थेराओ अज्जपोमिलाओ अज्जपोमिला साहा निग्गया, थेराओ अज्जजयंताओ अज्जजयंती साहा निग्गया, थेराओ अज्जतावसाओ अज्जतावसी साहा निग्गया इति ॥२०५॥"

'कौशिक गोत्रीय स्थविर आर्य इन्द्रदिन्न के शिष्य स्थविर गौतमसगोत्र आर्य दिन्न हुए, आर्य दिन्न के स्थविर शिष्य आर्य सिंहगिरि कौशिक गोत्रीय हुए, जिनको जाति-स्मरण ज्ञान था । स्थविर आर्य सिंहगिरि के स्थविर शिष्य आर्य वज्र गौतमगोत्रीय हुए, स्थविर आर्य वज्र के स्थविर शिष्य चार थे : स्थविर आर्य नागिल, स्थविर आर्य पद्मिल, स्थविर आर्य जयन्त और स्थविर आर्य तापस । स्थविर आर्य नागिल से आर्यनागिला शाखा निकली, स्थविर आर्य पद्मिल से आर्यपद्मिला शाखा निकली, स्थविर आर्य जयन्त से आर्यजयन्ती शाखा निकली और स्थविर आर्य तापस से आर्यतापसी शाखा निकली । २०६ '

"वित्थरवायणाए पुण अज्जजसभद्दाओ परओ थेरावली एवं पलोइज्जइ, तंजहा-थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था तंजहा-थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरे अज्जसंभूयविजये माढरसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं० थेरे गोदासे, थेरे अग्गिदत्ते, थेरे जण्णदत्ते, थेरे सोमदत्ते कासवेगोत्तेणं । थेरेहिंतो णं गोदासेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो एत्थ णं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं० तामलित्तिया, कोडीवरिसिया, पोंडवद्धणिया, दासीखब्बडिया ॥२०७॥"

'सविस्तर वाचना के अनुसार आर्य यशोभद्र के आगे स्थविरावली इस प्रकार देखी जाती है, जैसे आर्य यशोभद्र स्थविर के ये दो स्थविर अपत्यसमान और प्रख्यात शिष्य हुए, स्थविर आर्य भद्रबाहु प्राचीन

गोत्रीय और सभूतविजय स्थविर माठर गोत्रीय, स्थविर आर्य भद्रबाहु के ये चार स्थविर शिष्य हुए, जो निजसन्तान तुल्य और प्रख्यात थे। उनके नाम स्थविर गोदास, स्थविर अग्निदत्त, स्थविर यज्ञदत्त और स्थविर सोमदत्त थे ये सभी काश्यप गोत्रीय थे, स्थविर गोदास से यहा गोदास नामक गण निकला। उसकी ये चार शाखाएँ इस प्रकार कही जाती है, जैसे :

ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्धनिका और दासीकर्पटिका❀। ॥२०७॥

"थेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमे दुवालसथेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तंजहा।

नंदणभद्दुवनंदणभद्द तह तीसभद्द जसभद्दे।
थेरे य सुमणभद्दे, मणिभद्दे पुण्णभद्दे य ॥१॥
थेरे य थूलभद्दे, उज्जुमती जंबुनामधेज्जे य।
थेरे य दीहभद्दे, थेरे तह पंडुभद्दे य ॥२॥"

थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नाताओ होत्था, तंजहा :

जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह होइ भूयदिन्ना य।
सेणा, वेणा, रेणा, भगिणीओ थूलभद्दस्स ॥१॥२०८॥

❀ इनमे पहली शाखा "ताम्रलिप्तिका" की उत्पत्ति वग देश की उस समय की राजधानी ताम्रलिप्ति वा ताम्रलिप्तिका से थी जो दक्षिण वगाल का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। आजकल यह स्थान "तमलुक" जिला मेदिनीपुर वगाल मे है। दूसरी शाखा "कोटिवर्षीया" की उत्पत्ति कोटिवर्ष नगर से थी, यह नगर 'राढ' देश (आजकल का मुर्शिदाबाद जिला पश्चिमी बंगाल) की राजधानी थी। तीसरी शाखा "पौण्ड्रवर्धनिका" थी जो पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी वगाल की राजधानी गगा के उत्तरी तट स्थित पौण्ड्रवर्धन नगर) से उत्पन्न हुई थी। पुण्ड्रवर्धन को आजकल 'पाण्डुग्रा" कहते है (फिरोजाबाद) मालदा से ६ मील उत्तर की ओर था। इसमे राजशाही, दीनाजपुर, रगपुर, नदिया, वीरभूम, मिदनापुर, जगलमहल, पचेत और चुनार सामिल थे। और चौथी शाखा पूर्व वंगाल के समुद्र समीपवर्ती "दासीकर्पट" नामक स्थान से प्रसिद्ध हुई थी।

स्थविर आर्य सभूतविजयजी के ये १२ स्थविर शिष्य हुए, जो सन्तान-तुल्य प्रसिद्धिप्राप्त थे। उनके नाम ये हैं : नन्दनभद्र, उपनन्दनभद्र, तिष्यभद्र, यशोभद्र, स्थविर सुमनोभद्र, मणिभद्र, पूर्णभद्र*, स्थविर स्थूलभद्र, ऋजुमति, जम्बूनामा, स्थविर दीर्घभद्र तथा स्थविर पाण्डुभद्र ॥२॥

स्थविर आर्य सभूतविजयजी की ये सात शिष्याएँ हुईं, जो अपत्य-समान प्रसिद्धिप्राप्त थी, उनके नाम ये हैं यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेना और रेणा ये आर्य स्थूलभद्र की बहने थी ॥२०८॥

"थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स इमे दो थेरा अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तंजहा-थेरे अज्जमहागिरी एलावच्छसगोत्ते, थेरे सुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स ण अज्जमहागिरिस्स एलावच्छसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तंजहा : थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिड्ढे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छडुलूए रोहगुत्ते कोसिए गोत्तेणं। थेरेहिंतो ण छडुलूएहिंतो रोहगुत्ते-हिंतो-कोसियगोत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया। थेरेहिंतो णं उत्तर-बलिस्सहेहिंतो तत्थ ण उत्तरबलिस्सहगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा : कोसंबिया, सोत्तिवत्तिया, कोडवाणी, चंदनागरी ॥२०९॥"

'स्थविर आर्य स्थूलभद्र के ये दो स्थविर शिष्य थे, जो यथापत्य अभिज्ञात थे। इनके नाम स्थविर आर्य महागिरि एलावत्सगोत्रीय और स्थविर आर्य सुहस्ती वासिष्ठगोत्रीय, स्थविर आर्य महागिरि के ये आठ स्थविर शिष्य थे, जो यथापत्य और अभिज्ञात थे। उनके नाम ये हैं : स्थविर उत्तर, स्थविर बलिस्सह, स्थविर धनाढ्य, स्थविर श्रीआढ्य, स्थविर कौडिन्य, स्थविर नाग, स्थविर नागमित्र, स्थविर षडुलूक रोहगुप्त कौशिक गोत्रीय। स्थविर षडुलूक रोहगुप्त से त्रैराशिक निकले, स्थविर उत्तर और बलिस्सह से उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला। उसकी ये शाखाएँ चार इस प्रकार कही जाती है जैसे : कौशाम्बिका*, शुक्तिमतीया, कोडम्बाणी, चन्द्रनागरी ।२०९।'

* कौशाम्बी नगरी से प्रसिद्ध होने वाली शाखा कौशाम्बिका कहलाई। कौशाम्बी

"थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तंजहा ।

थेरेत्थ अज्जरोहण-भद्दजसे मेहगणी य कामिड्ढी ।
सुट्ठियसुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते य ॥१॥
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते, गणी य बंभे गणी य तह सोमे ।
दस दो य गणहरा खलु, एए सीसा सुहत्थिस्स ॥२॥२१०॥"

'स्थविर आर्य सुहस्ती के ये १२ स्थविर शिष्य हुए, जो यथापत्य अभिज्ञात थे । उनके नाम ये हैं :

स्थविर आर्यरोहण, स्थविर भद्रयशा, आर्य मेघगणि, स्थविर कामर्द्धि, स्थविर सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, आर्यरक्षित और स्थविर रोहगुप्त ।१। ऋषिगुप्त, श्रीगुप्त, ब्रह्मगणि तथा सोमगणि, ये १२ गणधर आर्यसुहस्ती के शिष्य हुए ।।२।।२१०।।'

"थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे नामं गणे निग्गए । तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ छच्चकुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जति उदुंबरिज्जिया, मासपुरिया, मइपत्तिया, पुन्नपत्तिया, से तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तंजहा :

इस समय "कौसम" इस नाम से अधिक प्रसिद्ध है- जहानपुर से दक्षिण १२ मील, इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम ३१ मील है । पभोसा नामक पहाडी पर एक स्तम्भ और एक मन्दिर है जो कौसम से तीन मील पश्चिम मे है । शुक्तिमती दक्षिण मालवा की एक प्रसिद्ध नगरी थी, उससे प्रसिद्ध होने वाली शाखा शौक्तिमतीया कहलाई ।

कोडम्बाण स्थान कहां था इसका पता नही लगा, सभव है यह स्थान युक्तप्रदेश मे कही होना चाहिये ।

चन्द्रनगर सेवडाफुली जंक्शन से ७ मील (हावडा से २१ मील) उत्तर चन्द्रनगर का रेल्वे स्टेशन है । फ्रासीसियो के भूतपूर्व राज्य मे २२/५१/४० उत्तर अक्षाश पर और ८८/२४/५० पूर्व देशान्तर मे हुगली नदी के दाहिने किनारे पर चन्द्रनगर एक छोटा सुन्दर शहर है, हुगली के रेल्वे स्टेशन से ३ मील दक्षिण मे चन्द्रनगर रेल्वे स्टेशन है ।

पढमं च नागभूयं, बीयं पुण सोमभूइय होई।
अह उल्लगच्छ तइयं, चउत्थय हत्थिलिज्ज तु ॥१॥

पंचमग नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासियं होई।
उद्देहगणस्सेते, छच्च कुला होंति नायव्वा ॥२॥२११॥"

'स्थविर आर्यरोहण काश्यपगोत्रीय से उद्देहगण नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ और छ कुल निकले जो ये हैं .

प्रथम शाखाओं के नाम लिखे जाते है : उदुम्बरीया[1], मासपुरिया, माथुरीया[3], पूर्णपत्रिका, ये शाखाएँ हैं। अब कुल क्या हैं सो कहते है : १ नागभूत, २ सोमभूतिक, ३ आर्द्रकच्छ, ४ हस्तलेह्य ॥१॥ ५ नन्दीय, ६ पारिहासिक, उद्देहगण के उक्त छ. कुल जानने चाहिए ॥२॥२११॥

"थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो एत्थ णं चारणगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं त साहातो? साहातो एवमाहिज्जंति-तजहा : हारियमालागारी, सकासिया, गवेधूया, वज्जनागरी, से तं साहाओ। से किं त कुलाइं? कुलाइं एवमाहिज्जंति तजहा .

पढमेत्थ वच्छलिज्जं, बीय पुण पीइधम्मय होइ।
तइयं पुण हालिज्ज चउत्थग पूसमित्तिज्ज ॥१॥

---

१ उदुम्बरीया आजकल का डोमरिया गञ्ज समझना चाहिए, यह स्थान रापती नदी के दाहिने किनारे तहसील का सदर मुकाम है। इसके पूर्व मे करीब १६-१७ मील पर बासी, पश्चिमोत्तर मे उतने ही फासले पर उत्तरौली तहसील का सदर मुकाम है। इसके पश्चिम मे करीब ४८ मील पर जिले का सदर मुकाम गोंडा है। अक्षाश २७/१२ रेखाश ८२/३४/३९ पर डोमरिया गंज अवस्थित है।

२ 'मासपुरीया' वर्त देश की राजधानी "मासपुर" थी जिससे "मासपुरिया" शाखा निकली।

३ 'माथुरीया' यह शाखा मथुरा नगरी से प्रसिद्ध हुई है, आगरा से मथुरा ३१ मील पश्चिमोत्तर मे अक्षाश २७'३० रेखाश ७७/४१ पर अवस्थित है।

पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जचेडयं होइ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्तकुला चारणगणस्स ॥२॥२१२॥"

स्थविर श्रीगुप्त हारितगोत्रीय से यहा चारणगण नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ और सात कुल इस प्रकार कहे जाते हैं . प्रथम : १. वत्सलीय, २. प्रीतिधर्मक, ३. हालीय, ४. पुष्यमित्रीय, ५ मालीय, ६. आर्य चेटक और ७. सातवा कृष्णसख ये चारण गण के ७ कुलो के नाम हैं। २१२।'

"थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियगणे निग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति तं० : चंपिज्जिया, भद्दिज्जिया, काकंदिया, मेहिलिज्जिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइ? कुलाइं एवमाहिज्जंति :

भद्दजसियं तह भद्द-गुत्तियं-तइयं च होइ जसभद्दं।
एयाइं उडुवाडिय*गणस्स तिन्नेव य कुलाइं ॥१॥२१३॥"

'स्थविर भद्रयशा भारद्वाज गोत्रीय से यहा ऋतुवाटिक* नामक गण निकला, जिसकी ये चार शाखाएँ और तीन कुल इस प्रकार कहे जाते हैं : शाखाएँ : चपोया, भद्दीया, काकन्दिका और मैथिलीया इस नाम से हुई और कुल : भद्रयशीय, भद्रगुप्तीय, यशोभद्रीय ये ऋतुवाटिका गण के ३ कुल है। २१३।'

"थेरेहिंतो णं कामिड्ढिहिंतो कुंडिल (कोडिल) सगोत्तेहिंतो एत्थ णं वेसवाडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ,

* उडुवाडिय' (ऋतुवाटिक) नामक स्थान आजकल का उलवडिया है। कलकत्ता से १५ मील दक्षिण भागीरथी गंगा के वायें किनारे पर हावडा जिले के सवडिविजन का सदर स्थान 'उलवडिया' एक छोटा कस्वा है। स्टीमर हर रोज कलकत्ते के आरमेनियन घाट से खुलकर उलवडिया से नहर द्वारा मेदनीपुर जाती है। उलवडिया से एक अच्छी सडक मेदनीपुर बालासोर और कटक होकर जगन्नाथपुरी तक पहुची है उलवडिया से आगे दामोदर नदी के मुहाने के सामने फुल्य नामक एक वडी वस्ती है।

चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एव० सावत्थिया, रज्जपालिया, अन्तरज्जिया, खोमिलिज्जिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति तंजहा :

गणियं मेहिय कामड्ढियं च तह होइ इंदपुरगं च।
एयाइं वेसवाडिय-गणस्स चत्तारि उ कुलाइं ॥१॥२१४॥"

'स्थविर कामर्द्धि कोडालगोत्रीय से यह वैशवाटक नामक गण निकला, इसकी चार शाखाएँ तथा ४ कुल कहे जाते हैं। शाखाएँ : श्रावस्तिका, राज्यपालिता, अन्तरजिया, क्षौमिलीया ये शाखाओं के नाम हैं और गणिक, मेघिक, कामर्द्धिक और इन्द्रपुरक ये वैशवाटिक गण के ४ कुल हैं। २१४।'

"थेरेहिंतो णं इसिगुत्तेहिंतो णं काकंदएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो एत्थ णं माणवगणे नाम गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ तिण्णि य कुलाइं एव०। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति : कासवज्जिया, गोयमिज्जिया, वासिट्ठिया, सोरट्ठिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति तंजहा :

इसिगुत्तियत्थ पढमं, बिइयं इसिदत्तियं मुणेयव्वं।
तइयं च अभिजयंतं, तिन्नि कुला माणवगणस्स ॥१॥२१५॥"

'काकन्दक स्थविर ऋषिगुप्त वासिष्ठगोत्रीय से यहां मानव नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएं और तीन कुल इस प्रकार कहे जाते हैं, शाखाएं : काश्यपीया, गौतमीया, वासिष्ठीया, सौरट्ठीया ये शाखाओं के नाम हैं। १ ऋषिगुप्तिक, २ ऋषिदत्तिक और तीसरा अभिजयंत ये मानवगण के कुल हैं। २१५।'

"थेरेहिंतो णं सुट्ठिय-सुपडिबुद्धेहिंतो कोडिय-काकन्दएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो एत्थ णं कोडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ चत्तारि कुलाइं एव०। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति तंजहा :

उच्चानागरी विज्जा-हरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य ।
कोडियगणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥

से किं त कुलाइं ? कुलाइ एवमाहिज्जति तजहा :

मढमेत्थ बभलिज्ज (बभदासिय) तिय नामेण वच्छलिज्ज तु ।
ततिय पुण ठाणिज्जं चउत्थय पन्नवाहणय ॥ १ ॥ २१६ ॥"

'स्थविर सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध जो कि गृहस्थाश्रम मे क्रमशः कोटिवर्ष और काकन्दी नगरी के रहने वाले और व्याघ्रापत्य गोत्रीय थे । उनसे यहा "कोटिक गण" नामक एक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ तथा चार कुल हैं, जैसे शाखाएँ : उच्चानागरी, विद्याधरी, वाज्री और मध्यमा तथा पहला ब्रह्मलीय, २ वस्त्रलीय, ३ वाणिज्य, ४ प्रश्नवाहन नामक कुल हुए । २१६ ।'

"थेराण सुट्ठिय-सुपडिबुद्धाण कोडिय काकदयाण वग्घावच्चसगोत्ताण इमे पच थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तजहा : थेरे अज्जइंददिन्ने, थेरे पियगथे, थेरे विज्जाहर गोवाले कासवे गोत्तेण, थेरे इसिदत्ते थेरे अरहदत्ते । थेरेहिंतो णं पियगथेहिंतो एत्थ ण "मज्झिमा" साहा निग्गया । थेरेहिंतो ण विज्जाहर गोवालेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो एत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया ॥२१७॥"

'स्थविर सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के ये पाच स्थविर शिष्य हुए, जो अपत्य तुल्य और अभिज्ञात थे । उनके नाम : स्थविर आर्य इन्द्रदत्त, स्थविर प्रिय-ग्रन्थ, स्थविर विद्याधर गोपाल काश्यपगोत्रीय, स्थविर ऋषिदत्त और स्थविर अर्हद्दत्त । स्थविर प्रिय-ग्रन्थ से यहाँ "मध्यमा शाखा" निकली और स्थविर विद्याधर गोपाल से "विद्याधरी शाखा" निकली । २१७ ।'

"थेरस्स ण अज्जइददिन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्ने थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते । थेरस्स ण अज्जइददिन्नस्स कासवगोत्तस्स इमे दो थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, त० थेरे अज्जसतिसेणिए माढरसगोत्ते, थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते । थेरेहिंतो ण अज्जसति-

सेणिएहिंतो ण माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ ण उच्चानागरी साहा निग्गया ॥ २१८ ॥"

'स्थविर आर्य इन्द्रदत्त काश्यप गोत्रीय के आर्यदत्त स्थविर गोतम गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यदत्त के ये दो स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य और अभिज्ञात थे, पहले स्थविर आर्य शान्तिश्रेणिक माठर गोत्रीय और दूसरे स्थविर सिंहगिरि जातिस्मरण वाले कौशिक गोत्रीय, स्थविर आर्य शान्तिश्रेणिक से यहा उच्चानागरी शाखा निकली । २१८ ।'

"थेरस्स णं अज्जसंतिसेणियस्स माढरसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था तं० : थेरे अज्जसेणिए, थेरे अज्ज-तावसे, थेरे अज्जकुबेरे, थेरे अज्जइसिपालिते । थेरेहिंतो णं अज्जसेणिए-हिंतो एत्थ णं अज्ज सेणिया साहा निग्गया । थेरेहिंतो णं अज्जतावसेहिंतो एत्थ णं अज्जतावसी साहा निग्गया । थेरेहिंतो णं अज्ज कुबेरेहिंतो एत्थ ण अज्जकुबेरा साहा निग्गया । थेरेहिंतो णं अज्जइसिपालिएहिंतो एत्थ णं अज्जइसिपालिया साहा निग्गया ॥२१९॥"

'स्थविर शान्तिश्रेणिक के ये चार स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य और अभिज्ञात थे, इनके नाम ये हैं : स्थविर आर्य श्रेणिक, स्थविर आर्य तापस, स्थविर आर्य कुबेर और स्थविर आर्य ऋषिपालित । स्थविर आर्य श्रेणिक से यहां आर्य श्रेणिका शाखा निकली, स्थविर आर्य कुबेर से यहाँ आर्य कुबेरा शाखा निकली और स्थविर आर्य ऋषिपालित से यहा आर्य ऋषिपालिता शाखा निकली । २१९ ।'

"थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जातिसरस्स कोसियगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था तं० : थेरे धणगिरी, थेरे अज्जवइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरहदिन्ने । थेरेहिंतो णं अज्जसमिए-हिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो एत्थ णं बंभदीविया साहा निग्गया । थेरेहिंतो णं अज्जवइरेहिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो एत्थ णं अज्जवइरा साहा निग्गया ॥ २२० ॥"

'स्थविर आर्य सिंहगिरि के ये चार स्थविर शिष्य यथापत्य तथा आभिजात्य हुए, जिनके नाम : स्थविर धनगिरि, स्थविर आर्य वज्र, स्थविर आर्य समित, आर्य अर्हद्दत्त, स्थविर आर्य समित से यहा ब्रह्मद्वीपिका शाखा निकली, स्थविर आर्य वज्र गौतम गोत्रीय से यहां आर्य वाज्री शाखा निकली। २२०।'

"थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोतमसगोत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं० : थेरे अज्जवइरसेणे, थेरे अज्जपउमे, थेरे अज्जरहे। थेरेहिंतो णं अज्जवइरसेणेहिंतो एत्थ णं अज्जनाइलो साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जपउमेहिंतो एत्थ णं अज्ज पउमा साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जरहेहिंतो एत्थ णं अज्ज जयंती साहा निग्गया॥२२१॥"

स्थविर आर्य वज्र गौतम गोत्रीय के ये तीन स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य अभिज्ञात थे। उनके नाम: आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ थे। स्थविर आर्य वज्रसेन से यहा आर्यनागिली शाखा निकली, स्थविर आर्य पद्म से आर्य पद्मा और स्थविर आर्य रथ से यहां आर्य जयन्ती शाखा निकली। २२१।'

"थेरस्स णं अज्जरहस्स वच्छसगोत्तस्स अज्जपूसगिरी थेरे अंतेवासी कोसियगोत्ते। थेरस्स णं अज्जपूसगिरिस्स कोसियगोत्तस्स अज्जफग्गुमित्ते थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते॥२२२॥"

'स्थविर आर्य रथ वत्सगोत्रीय के कौशिक गोत्रीय शिष्य आर्य पुष्यगिरि हुए स्थविर आर्य पुष्यगिरि के शिष्य आर्य फल्गुमित्र गौतम गोत्रीय हुए॥२२२॥'

"थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते॥३॥ थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगोत्ते॥४॥ थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगोत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते॥५॥ थेरस्स णं अज्ज-

भद्दस्स कासवगुत्तस्स अज्जनक्खत्ते थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥६॥ थेरस्स णं अज्जनक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥७॥ थेरस्स णं अज्जरक्खस्स कासवगुत्तस्स अज्जनागे थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते ॥८॥ थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते ॥९॥ थेरस्स णं अज्जजेहिलस्स वासिट्ठसगुत्तस्स अज्ज विण्हू थेरे अंतेवासी माढरसगोत्ते ॥१०॥ थेरस्स णं अज्जविण्हुस्स माढरसगुत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते ॥११॥"

'स्थविर आर्य फल्गुमित्र के स्थविर शिष्य आर्य धनगिरि वासिष्ठ गोत्रीय हुए। स्थविर आर्य धनगिरि के आर्य शिवभूति स्थविर कौत्स गोत्रीय हुए। स्थविर शिवभूति के स्थविर शिष्य आर्यभद्र काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यभद्र के स्थविर शिष्य आर्य नक्षत्र काश्यप गोत्रीय हुए। स्थविर आर्य नक्षत्र के स्थविर शिष्य आर्यरक्ष काश्यप गोत्रीय हुए। स्थविर आर्यरक्ष के स्थविर शिष्य आर्य नाग गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य नाग के स्थविर शिष्य आर्य जेहिल वासिष्ठ गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य जेहिल के स्थविर शिष्य आर्य विष्णु माठर गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य विष्णु के स्थविर शिष्य आर्यकालक गौतम गोत्रीय हुए। ११।'

"थेरस्स णं अज्जकालगस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगुत्ता: थेरे अज्जसपलिए, थेरे अज्जभद्दे ॥१२॥ एएसिं दुण्हवि थेराणं गोयमसगुत्ताणं अज्जवुड्ढे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते ॥१३॥ थेरस्स णं अज्ज वुड्ढस्स गोयमसगोत्तस्स अज्ज संघपालिए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते ॥१४॥ थेरस्स णं अज्ज संघपालियस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जहत्थी थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१५॥ थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते ॥१६॥ थेरस्स णं अज्जधम्मस्स सुव्वयगोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१७॥ थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१८॥ थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्ज संडिल्ले थेरे अंतेवासी ॥१९॥"

'स्थविर आर्य कालक के ये दो स्थविर शिष्य गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य सम्पलित और स्थविर आर्यभद्र, इन दो स्थविरों के स्थविर

शिष्य आर्यवृद्ध गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य वृद्ध के आर्य संघपालित गौतम गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यसंघपालित के आर्य हस्ती स्थविर शिष्य काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य हस्ती के आर्य धर्मस्थविर शिष्य सुव्रत गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यधर्म के आर्यसिंह स्थविर शिष्य काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यसिंह के आर्यधर्म काश्यप गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यधर्म के आर्य शाण्डिल्य स्थविर शिष्य हुए । १६ ।'

"वंदामि फग्गुमित्तं च, गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं ।
कोच्छं सिवभूइं पिय, कोसियदोज्जितकण्हे य ॥ १ ॥

ते वंदिऊण सिरसा, भद्दं वंदामि कासवसगोत्तं ।
णक्खं कासवगोत्तं, रक्खं पि य कासवं वंदे ॥ २ ॥

वंदामि अज्जनागं च, गोयमं जेहिलं च वासिट्ठं ।
विण्हुं माढरगोत्तं, कालगमवि गोयमं वंदे ॥ ३ ॥

गोयमगोत्तकुमारं, संपलियं तह य भद्दयं वंदे ।
थेरं च अज्ज वुड्ढं गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ४ ॥

तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च संघवालिय, गोयमगुत्तं पणिवयामि ॥ ५ ॥

वंदामि अज्जहत्थि च, कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाण पढममासे, कालगयं चेव सुद्धस्स ॥ ६ ॥

वंदामि अज्जधम्मं च, सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं ।
जस्स निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥ ७ ॥

हत्थि कासवगुत्तं, धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगुत्तं, धम्मं पि य कासवं वंदे ॥ ८ ॥

तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च अज्जजंबुं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ९ ॥

मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाण-दंसण-चरित्ते ।
थेरं च नंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि ॥ १० ॥

तत्तो ऽ य थिरचरित्तं, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं ।
देसिगणि खमासमणं, माढरगुत्तं नमंसामि ॥ ११ ॥

तत्तो अणुओगधरं, धीरं मइसागरं महासत्तं ।
थिरगुत्तखमासमणं, वच्छसगुत्तं पणिवयामि ॥ १२ ॥

तत्तो य नाण-दंसण-चरित्त-तव सुट्ठियं गुणमहंतं ।
थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणि गुणोवेयं ॥ १३ ॥

सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥"

'गौतमगोत्रीय फल्गुमित्र, वासिष्ठगोत्रीय धनगिरि, कुत्सगोत्रीय शिवभूति और कौशिकगोत्रीय दुर्जयन्तकृष्ण को वन्दन करता हूं। उनको मस्तक से वन्दन कर काश्यपगोत्रीय भद्र, नक्षत्र और रक्ष को नमस्कार करता हूँ। गौतमगोत्रीय आर्य नाग, वासिष्ठगोत्रीय आर्य जेष्ठिल, माठरगोत्रीय विष्णु और गौतमगोत्रीय कालक स्थविर को वन्दन करता हूँ। गौतमगोत्रीय कुमारधर्म, सपलित और आर्यभद्र को वन्दन करता हूँ, उनको मस्तक से वन्दन कर स्थिरसत्त्ववान् तथा चारित्र, ज्ञान से सम्पन्न गौतमगोत्रीय अपराजित स्थविर को प्रणिपात करता हूँ। काश्यपगोत्रीय आर्यहस्ती को वन्दन करता हूँ, जो क्षमा के सागर और धीर पुरुष थे और जो चैत्र मास के शुक्ल पक्ष मे कालधर्म प्राप्त हुए थे। शीललब्धि से सम्पन्न, सुव्रतगोत्रीय आर्यधर्म को नमस्कार करता हूँ, कि जिनकी दीक्षा के समय मे देव ने उनके ऊपर छत्र धारण किया था, काश्यपगोत्रीय हस्ती और शिवसाधक धर्म को प्रणिपात करता हूँ तथा काश्यपगोत्रीय सिंह तथा काश्यपगोत्रीय धर्म को भी वन्दन करता हूँ। उनको नमन करने के उपरान्त स्थिर सत्त्ववान् और चारित्र-ज्ञान से सम्पन्न गौतमगोत्रीय स्थविर आर्य जम्बू को नमस्कार करता हूँ। कोमलप्रकृति, मार्दवसम्पन्न, ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे उपयोगवान् ऐसे काश्यपगोत्रीय स्थविर नन्दित को भी प्रणिपात करता हूँ। इनके बाद स्थिरचारित्र, उत्तम सम्यक्त्व तथा सत्त्व-संयुक्त माठरगोत्रीय देसिगणि क्षमाश्रमण को नमन करता हूँ, तदनन्तर

अनुयोगधारक, धीर, मतिसागर और महासत्त्ववन्त वत्सगोत्रीय स्थिर-गुप्त क्षमाश्रमण को प्रणिपात करता हूँ, फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सुस्थित गुणों से महान् और गुणोपेत स्थविर कुमारधर्म गणि को वन्दन करता हूँ। सूत्र तथा अर्थ रूप रत्नो से भरे क्षमा, दम, मार्दवगुणों से सम्पन्न ऐसे काश्यपगोत्रीय देवर्द्धि क्षमाश्रमण को प्रणिपात करता हूँ।



श्री देवर्द्धिगणि की गुरु-परम्परा

कल्प-स्थविरावली वास्तव मे स्थविर देवर्द्धि की गुरु-परम्परा है। कल्प-स्थविरावली मे आर्यवज्र का नम्बर १३वा आता है और इनके तृतीय शिष्य आर्यरथ से परम्परा आगे चलती है: १३—आर्य वज्र, १४—आर्य रथ, १५—आर्य पुष्यगिरि, १६—आर्य फल्गुमित्र, १७—आर्य धनगिरि, १८—आर्य शिवभूति, १९—आर्य भद्र, २०—आर्य नक्षत्र, २१—आर्य रक्ष, २२—आर्य नाग, २३—आर्य जेहिल, २४—आर्य विष्णु, २५—आर्य कालक, २६—आर्य सपलित, २७—आर्य वृद्ध, २८—आर्य सघपालित, २९—आर्य हस्ती, ३०—आर्यधर्म, ३१—आर्यसिंह, ३२—आर्यधर्म, ३३—आर्य शाण्डिल्य।

इस प्रकार गद्य कल्पस्थविरावली में सुधर्मा से लेकर शाण्डिल्य तक ३३ पट्टधर आर्य सुहस्ती की परम्परा मे होते हैं। श्री देवर्द्धिगणि ने इसमे अपना नाम नही लिखा- क्योकि वे स्वय स्थविरावली के सकलनकार हैं। वास्तव मे देवर्द्धिगणि इस पट्टावली के ३४वें पट्टधर हैं, इसमे कोई विवाद नही है। स्थविरावली के गद्यसूत्र मे शाण्डिल्य के आगे किसी भी स्थविर का नाम नही मिलता। फल्गुमित्र से लेकर आर्यसिंह तक के सभी स्थविरों के नाम पद्यो मे निवद्ध कर वन्दन किया है, परन्तु अन्तिम दो सूत्रो में निर्दिष्ट आर्यधर्म और शाण्डिल्य के नाम नही मिलते, तव पद्यों मे शिवभूति के वाद दुर्जयन्त कृष्ण का नाम अधिक उपलव्व होता है। इसके अतिरिक्त आर्यसिंह के आगे आर्यजम्बू और आर्यधर्म के आगे आर्यनन्दित की स्तुति की गई है। इसके उपरान्त देसिगणि, स्थिरगुप्त क्षमाश्रमण कुमारधर्म गणि और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की नामावली पद्यों मे दी है। इससे प्रमाणित होता है कि स्थविरावली के उपर्युक्त गद्य-सूत्र देवर्द्धिगणि के पुस्तक-लेखन के पहले ही निर्मित हो चुके थे। कल्प के टीकाकार लिखते

हैं कि गद्य मे लिखा हुआ अर्थ पद्यो मे दिया गया है । यह कथन अधिकाश मे ठीक है, परन्तु कतिपय स्थविरो के नाम गद्य मे न होते हुए भी पद्यो मे दिये गये हैं, जैसे : दुर्जयन्त कृष्ण, धर्म के बाद आर्यहस्ती, आर्यधर्म, सिंह के बाद आर्यजम्बू और आर्यनन्दित नाम के स्थविर पट्टधर न होते हुए भी अपने समय में अनुयोगधर होने से प्रसगवश उनका स्मरण किया गया है और देसिगणि, स्थिरगुप्त, क्षमाश्रमण, कुमारधर्मगणि और देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण इन चार स्थविरों की स्तुति देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पुस्तक-लेखन के बाद परवर्ती किसी विद्वान् ने बना कर गाथाओ के साथ जोड दी मालूम होती है ।



कल्प-स्थविरावली की प्राचीनता की कसौटी

कल्प-स्थविरावली मे आर्यसुधर्मा गणधर से लेकर अन्तिम श्रुतधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक के स्थविरो के नाम आते हैं। इससे कतिपय अदीर्घदर्शी विद्वान् श्वेताम्बरमान्य जैनसिद्धान्त देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय मे लिपिबद्ध किये मानते हैं, तब दिगम्बरीय 'कषाय-पाहुड" तथा "षट्खण्डागम" जैसे अर्वाचीन दिगम्बर जैन-मान्य निबन्धो को ईसा के पूर्व चतुर्थ शती मे लिखे गए मानते हैं, जो प्राचीनसाहित्यविहीन अपने साधर्मिक दिगम्बर भाइयो को झूठा आश्वासन देने के अतिरिक्त कुछ भी नही है : यह चर्चा बड़ी गम्भीर है, अत. अन्य प्रसग के लिए छोड कर आज हम प्रस्तुत "कल्प-स्थविरावली" की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए कुछ विवरण देंगे।

प्रकृत-स्थविरावली मे कोई आठ नये गण उत्पन्न होने की सूचना मिलती है। इनमे सर्वप्रथम भद्रबाहु के शिष्य स्थविर गोदास की तरफ से 'गोदास गण' का प्रादुर्भाव और इसकी ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पुण्ड्रवर्धनिका और दासीकर्पटिका नामक ४ शाखाओ से बगाल के सुदूरवर्ती पूर्व उत्तर तथा दक्षिण प्रदेशो मे उसका विकास हो रहा था। श्रद्धालु दिगम्बर विद्वानो की मान्यतानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी अपने शिष्यो के साथ दक्षिण भारत मे चले गए होते तो 'गोदास गण' और उसकी उक्त चार शाखाएँ गगा नदी के तट पर तथा पूर्वी समुद्र के समीप भद्रबाहु के शिष्यो द्वारा प्रचलित और दृढमूल नही होती।

इसी प्रकार आर्यसुहस्ती के बडे गुरुभ्राता आर्यमहागिरि के शिष्य उत्तर और बलिस्सह स्थविरो से प्रसिद्धिप्राप्त 'उत्तर-बलिस्सह गण' और

उसकी चार शाखाएँ प्रसिद्ध हुईं थी जिनके नाम कौशाम्बीया १, शुक्तिमतिका २, कोडम्बाणी ३ और चन्द्रनागरी ४ थे। इन शाखाओ से ज्ञात होता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी की दो पीढ़ो के बाद भी जैन श्रमणो का विहार मध्यभारत मे कौशाम्बी तथा शुक्तिमती नगरी तक—जो मध्यभारत के दक्षिण-विभाग मे विन्ध्याचल की घाटियो की तराई मे थी—पहुच चुका था और पूर्व मे कोडम्बाण नगर और उसके आगे चन्द्रनगर तक हो रहा था। यदि भद्रबाहु स्वामी १२००० श्रमणो के साथ दक्षिण मे पहुँच गये होते तो भारत के मध्यप्रदेश मे तथा पूर्व देशो मे जैन श्रमणो की शाखाएँ कैसे प्रचलित होती, यह बात मध्यस्थबुद्धि से विद्वानों को विचारने योग्य है।

आर्यसुहस्ती के शिष्य आर्यरोहण से "उद्देहगण" नामक श्रमणों का एक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और छः कुल थे। शाखाओ के नाम : उदुम्बरीया, मासपुरीया, माहुरिज्जीया, पोण्णपत्तीया थे। इनमे उदुम्बरीया, प्राचीन श्रावस्ती के निकट प्रदेश से निकली थी, मासपुरीया वर्त देश की राजधानी मासपुर से निकली थी, माहुरिज्जीया-माथुरीया-मथुरा से प्रसिद्ध हुई थी, पौर्णपत्रीया शाखा का पता नही लगा, फिर भी "प्रारम्भ की तीन शाखाओं" से इतना तो निश्चित रूप से जाना जा सकता है कि भद्रबाहु और उनके परम्परा-शिष्यो के समय से ही निर्ग्रन्थ श्रमणसघ धीरे-धीरे पूर्व से मध्यभारत और उससे भी पश्चिम की तरफ आ रहा था। आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती के समय में अवन्ती नगरी मे सम्प्रति का राज्य था, इसी कारण से उस समय मे जैन श्रमण मध्यभारत मे अधिक फैले थे।

आर्य सुहस्ती के शिष्य श्रीगुप्त स्थविर से चारण गण नामक एक श्रमणो का गण प्रसिद्धि मे आया था, जिसकी चार शाखाएँ और तीन कुल थे। शाखाएँ : हारियमालाकारी, साकाश्यिका, गवेधुका और वज्रनागरी नामो से प्रसिद्ध थी। इन शाखाओ के नामो से ज्ञात होता है कि चारण गण के श्रमण भी कान्यकुब्ज के समीपवर्ती प्रदेशो में अधिक विचरते थे।

स्थविर भद्रयशा नामक आर्य सुहस्ती के एक शिष्य से ऋतुवाटिक नामक एक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और तीन कुल थे। शाखाएँ · चम्पीया, भद्रीया, काकन्दीया और मैथिलीया नामक थी जो क्रमश. अंग देश की राजधानी चम्पा, मलय देश की राजधानी भद्रिका, विदेह स्थित काकन्दी और विदेह की राजधानी मिथिला से प्रसिद्ध हुई थी। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि भद्रबाहु ही नही किन्तु उनके परवर्ती आर्य सुहस्ती के शिष्य भी अग, मगध, विदेह आदि देशो मे विचरते हुए जैन-धर्म का प्रचार कर रहे थे।

आर्य सुहस्ती के शिष्य कामर्द्धि स्थविर से वेशवाटिक नामक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी' चार शाखाएँ और चार कुल थे। शाखाओ के नाम : श्रावस्तीया, राज्यपालिता, अन्तरञ्जिया और क्षौमिलीया थे। आर्य कामर्द्धि के वेशवाटिक गण की प्रथम तथा तृतीय शाखाओं के नामो पर से ज्ञात होता है कि उनके शिष्य बस्ती तथा गोरखपुर जिलो मे अधिक विचरे थे। वेशवाटिक गण की द्वितीय शाखा का पता नही लगा, परन्तु चौथी शाखा पूर्व बगाल के "क्षौमिल नगर" से निकली थी जो स्थान आजकल "कोमिला" के नाम से प्रसिद्ध है।

आर्य सुहस्ती सूरिजी के शिष्य ऋषिगुप्त स्थविर से भी 'मानवगण' नामक एक गण निकला था, जिसकी शाखाएँ ४ और कुल ३ प्रसिद्ध थे। मानवगण की प्रथम द्वितीय और तृतीय शाखा काश्यप, गौतम और वासिष्ठ इन गोत्रो से प्रसिद्ध होने वाले स्थविरो के नामो से प्रसिद्ध हुई थी, तब चौथी शाखा 'सारट्ठिया' यह एक स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई जो 'सोरठ नगर' कहलाता था। यह स्थान मधुबनी से उत्तर-पश्चिम आठ मील पर "सोरठ" इस नाम से प्रख्यात है।

स्थविर आर्य सुहस्ती के शिष्यो से निकलने वाले गणो मे अन्तिम "कोटिक गण" है, इसकी उत्पत्ति सुस्थित सुप्रतिबुद्ध नामक दो स्थविरो से हुई थी। उक्त दोनो स्थविर गृहस्थाश्रम मे क्रमशः 'कोटिवर्ष नगर' और 'काकन्दी नगरी' के रहने वाले होने से "कोटिक" तथा "काकन्दक"

इन उपनामों से विख्यात हुए थे और इनसे निकलने वाला श्रमरणगण भी "कोटिक" नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। कोटिक गण की भी चार शाखाएँ और चार कुल थे। शाखाओ के नाम : उच्चानागरी, विद्याधरी, वइरी और मध्यमिका थे। उच्चानागरो शाखा प्राचीन "उच्चानगरी" से प्रसिद्ध हुई थी। उच्चानगरी को आजकल "बुलन्द शहर" कहते हैं, माध्यमिका शाखा "मध्यमिका नगरी" से प्रसिद्ध हुई थी जो चित्तौड़ के समीपवर्ती प्रदेश मे थी। विद्याधरी और वइरी शाखाओ के नामो का प्रवृत्तिनिमित्त जानने मे नही आया। यद्यपि विद्याधर गोपाल से विद्याधरी और आर्य वज्र से आर्य वज्री शाखा निकलने का कारण स्थविरावली में आगे लिखा है, परन्तु वे 'शाखाएँ' स्वतन्त्र हैं, गच्छप्रतिबद्ध नही। तब प्रस्तुत विद्याधरी और 'वैरी' शाखा कोटिक गण से प्रतिबद्ध हैं।

वेशवाटिक गण' की क्षोमिलीया और मानवगण की सौरट्ठीया शाखाओ से ज्ञात होता है, कामर्द्धि और ऋषिगुप्त आचार्यो के कुछ शिष्य बगाल की तरफ विचरते थे, तब "कोटिक गण" की "उच्चानागरी" और "माध्यमिका" शाखाओं से निश्चित होता है कि "सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध" के शिष्य "मध्य-भारत" और "पश्चिम-भारत" के प्रदेशों तक पहुँच चुके थे।

उपर्युक्त गण तथा शाखाओं से जो फलितार्थ निकलता है उसका सारांश यह है कि आर्य भद्रबाहु स्वामी, जिनका युगप्रधानत्व समय जिन-निर्वाण से २०८ से २२२ तक माना गया है। भद्रबाहु के शिष्य गोदास स्थविर ने अपने नाम से जो गण प्रसिद्ध किया, उसका समय भी निर्वाण से २२२ से २३० का होना चाहिए, जो विक्रमपूर्व की तीसरी शताब्दी मे पडता है। गोदास गण की तथा आचार्य महागिरि के शिष्य "उत्तर" तथा "बलिस्सह" से निकलने वाले "उत्तर-बलिस्सह गण" की शाखाएँ हैं, परन्तु कुल नही। इसका कारण यही है कि तब तक दीक्षित होने वाले सभी साधु पट्टधर आचार्य के ही शिष्य माने जाते थे। श्रमणसमुदाय अधिक होने से भिन्न २ स्थानो को अपना केन्द्र बना कर उसके आसपास धर्म का प्रचार करते थे। उन्ही केन्द्रो के नाम से उनकी शाखाओं के नाम पड़ते थे। आर्य महागिरि का समय जिननिर्वाण से २६८–२९८ तक था।

इस दशा मे इनके शिष्य उत्तर और बलिस्सह का समय भी यही अथवा इससे कुछ परवर्ती विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी मे आएगा।

स्थविरावलीसूचित आठ गणो मे से 'गोदासगण" और "उत्तर-बलिस्सहगण" के अतिरिक्त "उद्देहगण, चारणगण, ऋतुवाटिकगण, वेशवाटिकगण, मानवगण" और "काटिकगण" ये छ. गण आर्य सुहस्ती सूरि के भिन्न-भिन्न शिष्यो से प्रसिद्ध हुए है। आर्य सुहस्तीजी का युग-प्रधानत्व समय 'जिननिर्वाण' २९८ मे ३४३ तक का माना है। इससे इनके शिष्यो का समय भी यही अथवा कुछ परवर्ती विक्रमपूर्व के द्वितीय शतक मे पड़ता है। यह समय मौर्य्य राजा सम्प्रति के राजत्वकाल के साथ ठीक मिल जाता है। आर्य सुहस्ती के शिष्यो से छ गणो, २४ शाखाओ और २७ कुलो का प्रादुर्भाव होना यह बताता है कि उस समय मे जैन श्रमणो की सख्या पर्याप्त बढी हुई थी और धर्म-प्रचार के केन्द्र पूर्व मे पूर्व बगाल, दक्षिण मे विन्ध्याचल की घाटियो, पश्चिम मे पूर्व-पंजाब और उत्तर मे गोरखपुर और श्रावस्ती के प्रदेश तक स्थापित हुए थे और अपने अपने केन्द्रो से निर्ग्रन्थ श्रमण जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। यद्यपि राजा सम्प्रति की प्रेरणा से आर्य सुहस्ती ने अपने श्रमणो को दक्षिण भारत मे भी विहार करवाया था, परन्तु उस प्रदेश मे उस समय मे व्यवस्थित केन्द्र नियत नही हुए थे।

अब हम कल्प-स्थविरावलीगत गण, शाखा और कुलो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करेगे कि इन गण आदि का प्राचीनत्व-साधक स्थविरावली के अतिरिक्त भी कोई प्रमाण है या नही ?

स्थविरावली के गण आदि के प्राचीनत्व का विचार करते ही हमे मथुरा का देवनिर्मित स्तूप याद आ जाता है। यो तो जैनो के अनेक प्राचीन तीर्थस्थान हैं जिनमे देवनिर्मित स्तूप भी एक प्राचीन तीर्थ है, परन्तु अन्य जैन प्राचीन तीर्थ धर्म-चक्र, गजाग्रपद, अहिच्छत्रा नगरी आदि प्राचीन स्थानो की अब तक शोध-खोज नही हुई है, जितनी कि मथुरा समीपवर्ती-देवनिर्मित स्तूप की, जो आजकल "कंकाली टीला" के नाम से प्रसिद्ध है,

अंग्रेजो के शासनकाल में हुई है। देवनिर्मित स्तूप विक्रम की १४वी शती तक जैनतीर्थ के रूप में प्रसिद्ध था परन्तु विदेशियो के आक्रमण से और खास करके इस देश मे मुसलमानो की राज्यसत्ता स्थापित होने के बाद यह स्थान धीरे-धीरे भूला जाने लगा था। जैनधर्मियो का उत्तर भारत से सामूहिक रूप से दक्षिण की तरफ प्रयाण हो गया और उत्तरीय जैन-तीर्थ धीरे-धीरे स्मृतिपट से उतर गए। अंग्रजो के शासन मे प्राचीन स्मारको की जाच करते हुए ककाली टाला भी खोदा गया और भीतर से जैन स्तूप के अतिरिक्त अनेक जैन-मूर्तिया, पूजापाट, अन्यान्य स्मारक, प्राचीन लेखो के साथ हाथ लगे और उन प्राचीन लेखो मे ज्ञात हुआ कि यह एक अति-प्राचीन जैन-स्तूप है, जो कुषाणवशीय राजा कनिष्क आदि के समय मे उत्तर भारत का एक अतिप्रसिद्ध जैनतीर्थ था।

ककाली टाला में मे प्रकट हुए जो प्राचीन लेख मिले थे, वे डा० कनिंघहाम के आर्चिओ लॉजिकल रिपोर्ट के ३ वॉल्यूम मे छपे थे और वहाँ से उद्धृत कर अन्यान्य शोधको ने उन पर प्रकाश डाल कर अपनी तरफ मे छपाये थे। यहा हम "श्री माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थ-माला" के ४५वे ग्रन्थ के रूप मे छपे हुए "जैन शिलालेख-सग्रह" के द्वितीय भाग मे प्रकाशित उक्त स्तूप के शिलालेखो के आधार से कल्प-स्थविरावलीगत गणों, शाखाओ और कुलो की प्राचीनता के सम्बन्ध में ऊहापोह करके प्रमाणित करेंगे कि "कल्प-स्थविरावली" आर्य देवर्द्धिक्षमाश्रमण के समय का सन्दर्भ नही है, अपितु भगवान् महावीर के निर्वाण की तीसरी शती मे लिखी हुई एक प्राचीन पट्टावली है।

मथुरा के स्तूप से निकले हुए कुषाणकालीन लगभग ८३ लेखो मे 'जैनधर्म सम्बन्धी विवरण है' उनमे से ४८ लेखो मे गण, कुल, शाखाओ के उल्लेख हैं, स्थविरावलीगत आठ गणो मे से इन लेखो मे ३ गणो के उल्लेख हुए हैं, कोटिकगण के २० बार, चारणगण के १२ बार और उद्देहगण के २ बार। स्थविरावलीगत ४४ स्थविर शाखाओ में से ८ शाखाओ का २५ लेखो मे उल्लेख हुआ है और स्थविरावलीगत २७ कुलों मे से १३ कुलों का ३२ लेखो मे उल्लेख मिलता है।

इन लेखो मे जिन आठ शाखाओ के उल्लेख हुए हैं, वे उल्लेख संख्या के साथ नीचे दिये जाते हैं :

३ वज्रनागरी, २ आर्यवज्री, ७ वइरी, ६ उच्चानागरी, १ पूर्ण-पत्रिका, १ मध्यमा, १ साकाश्यिका, १ हारितमालाकारी।

शिलालेखो मे १३ कुलो के ३२ लेखो मे जो उल्लेख हुए है, वे इस प्रकार से हैं : ६ ब्रह्मदासिक, ४ आर्यहट्टीय, १० स्थानीय, २ प्रीति-धर्मक, १ मेघिक, १ पुष्यमित्रीय, १ आर्यचेटक, १ आर्यमित्र, १ वात्सलिक, १ प्रश्नवाहन, १ पारिहासिक, १ कृष्णसख, १ नाड़िक।



गण-शाखा-कुलों में परिमार्जन

मथुरा के शिलालेखो मे 'चारणगण' का आदि अक्षर "चा" सर्वत्र "वा" पढा गया है; जो यथार्थ नही है। क्योकि "वारण" शव्द की गण के साथ कोई अर्थ-संगति नही बैठती, जब कि "चारण" शब्द गण के साथ बिल्कुल सगत हो जाता है जैन सूत्रो मे "विद्याचारण, जघाचारण, जलचारण" आदि अनेक प्रकार के आत्म-शक्ति-सम्पन्न श्रमणो के नाम मिलते हैं। उन्ही में से किसी प्रकार की चारणलब्धि से सम्पन्न गण-प्रवर्तक श्रीगुप्त स्थविर होगे, जिससे उनके "गण' का नाम "चारण गण" पड गया है।

शाखाओ मे उच्चानागरी शाखा का उल्लेख अधिकांश स्थानो मे "उच्चे नागरी" के रूप मे किया गया है। सम्भव है उच्चानागरी शाखा के वाचको को "उच्चैर्नागर वाचक" नाम से सम्बोधित किया जाता था, उसी के अनुकरणों मे लेखको ने "उच्चा" के स्थान पर "उच्चे" कर दिया हैं। हमने स्थविरावलीगत "उच्चानागरी" नाम ही कायम रखा है।

कोटिक गण को "वडरी" शाखा "वइरी" अथवा "वइरा" इस प्रकार से शिलालेखो मे उत्कीर्ण मिलती है। परन्तु दो लेखो मे "कोटिक गण" के साथ इसका आर्य वज्री के रूप में उल्लेख हुआ है। कतिपय स्थविरावलीगत कुल-नामो के साथ शिलोत्कीर्ण नाम अधिक जुदा पड़ जाते हैं। "कोटिक गण" के "बभलिज्जिय" नाम के स्थान मे लेखो मे कोई सात जगह "ब्रह्मदासिका" नाम मिलता है, इधर पट्टावलीगत "बभलि-ज्जिय" शव्द से भी कोई विशिष्ट अर्थ नही निकलता। संभव है "कोटिक गण" के जन्मदाता "सुस्थित-सुप्रतिवुद्ध के गुरुभ्राता "ब्रह्मगणी" का पूरा नाम "ब्रह्मदास गणि" हो और उन्ही के नाम से "ब्रह्मदासिक कुल" प्रसिद्ध

हुआ हो, परन्तु स्थविरावली की प्रति मे लेखक की भूल से "वंभलिज्जिय" हो गया हो। कुछ भी हो, हमारी राय में "ब्रह्मदामीय" नाम ही शुद्ध प्रतीत होता है।

मुद्रित स्थविरावलियो मे अधिकाश मे 'वच्छलीज्ज' के स्थान मे "वत्थलिज्ज" नाम दृष्टिगोचर होता है. कुल का सही नाम 'वत्सलीय" है, जिसका प्राकृत रूप "वच्छलिज्ज" है न कि "वत्थलिज्ज"।

कोटिक गण के "वाणिज्ज" कुल के स्थान पर शिलालेखो मे कोई ५ स्थानो पर "ठाणियातो" और पाच ही स्थानो पर "स्थानिकातो कुलातो" उत्कीर्ण मिलता है। जहां तक स्मरण है किसी प्राचीन ग्रन्थ की प्रशस्ति मे भी "स्थानीय" नाम "कुल" के अर्थ मे पढा है। इससे हम "वाणिज्य" अथवा "वणिदि" कुल के स्थान पर "स्थानीय" कुल विशेष ठीक समझते हैं, "चारण गण" के "प्रीतिधर्मक" कुल के स्थान पर पाठान्तर "विचिधम्मय" और शिलालेखो मे "प्रीतिधामिके' आदि अशुद्ध नाम मिलते हैं। वास्तव मे इस कुल का खरा नाम "प्रीतिधर्म्मक" ही है। चारण गण के एक कुल का नाम मुद्रित स्थविरावलियो मे "हालिज्ज" आता है, तव शिलालेखो मे कही "अर्यहाट्टकीय", कही "हट्टियातो", कही "आर्यहट्टिकीय" और कही "अयहट्टीये" इत्यादि खुदे हुए मिलते हैं। नाम की आदि मे 'अय्य' अथवा 'आर्य' शब्द होने से हमारा अनुमान है कि यह नाम किसी आचार्य का है, जो शुद्ध रूप मे "आर्यहस्ती" यह नाम हो तो इसका खरा रूप 'आर्यहस्तीय-कुल" होना चाहिए। स्थविरावली मे "आर्य" शब्द न होने के कारण मूल नाम बिगड कर कुछ का कुछ हो गया है। वास्तव मे इसका प्राकृत रूप "अज्जहत्थिअ" होना चाहिए।

चारण गण के एक कुल का नाम स्थविरावली की पुस्तको मे "अज्जवेडय" और "अज्जचेडय" इन दो रूपो मे उपलब्ध होता है। मथुरा के एक शिलालेख मे इस कुल का नाम "आर्य-चेटके-कुले" इस प्रकार उल्लिखित हुआ है। इससे निश्चित है कि स्थविरावली का खरा पाठ "अज्जचेडय" है।

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप के शिलालेखो में "वाचक" शब्द और "गणि" शब्द अधिक प्रयुक्त हुए है, और उनके उपदेश से जो कार्य हुए हैं; उनके अन्त मे "निर्वर्तन" अथवा निर्वर्तना" शब्दो का प्रयोग किया गया है। कही कही "दान" तथा "धर्म" शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। लेखो की भाष. तथा शैली का कुछ आभास देने वाले कतिपय वाक्य-खण्ड उद्धृत करके प्रस्तुत प्रकरण को पूरा कर देगे।

"अय्य जेष्ठ हस्तिस्य वाचक×, ज्येष्ठ हस्ती शिष्य×, गणिस्य, अर्य्य वुडुसिरिस्य॥ वाचकस्य अर्य्य संघसिघस्य×, वाचकस्य अर्य्य मातृदिनस्य×, वाचकस्य हरिनन्दिसोसो नागसेनस्य निवर्तनम्॥ वाचकस्य ओहर्नदिस्य सीसस्य सेनस्य निर्वर्तना॥" इत्यादि लेखो मे "वाचक" और "गणि" शब्द सब से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वाचक श्री देवर्द्धिगणि ने अपनी नन्दी-स्थविरावली मे वाचक वंश का जो वर्णन किया है, उसका मथुरा के इन शिलालेखो से समर्थन होता है।

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप के शिलालेख राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के समय के लिखे हुए हैं और उन सभी मे कुषाण राजाओ के सवत्सर का प्रयोग किया गया है। कुषाण राजा कनिष्क का राज्य सवत्सर ई० स० ५८ से प्रारम्भ होता है, जो टाईम विक्रम के सवत्सर का प्रारम्भ है। मथुरा के प्राचीन सभी कुषाणकालीन लेख विक्रम को प्रथम शताब्दी के हैं और वे "मूर्तियों, आयागपट्टो" तथा अन्यान्य धार्मिक कार्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं। कई विद्वान् भारत मे मूर्तिपूजा के प्रचारक जैनो को मानते हैं, वह मान्यता मथुरा स्तूप के लेखो से किसी अंश में सत्य प्रतीत होती है। जैन होते हुए भो कतिपय जैन-सम्प्रदाय प्रतिमा-पूजा से विमुख बने बैठे हैं उनको प्रस्तुत मथुरा के स्तूप की हकीकत से बोधपाठ लेना चाहिए और जो नग्नता मे ही परमधर्म मानने वाले दिगम्बर विद्वान् आर्य स्थूलभद्र से श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उद्भव मानते हैं, वे कल्प-स्थविरावली के गणो, कुलो और शाखाओ का मथुरा के लेखो से मिलान करके देखे कि ये सब गण, कुलादि श्वेताम्बर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के

हैं या दिगम्बर सम्प्रदाय के ? "षट्खण्डागम, कषाय-पाहुड" अथवा इनकी टीकाओ मे इन बातो का कही भी सूचन तक न होने पर भी अतिश्रद्धावान् भक्त दिगम्बरो के आगमो को ईसा के पूर्व चतुर्थ शती मे लिपिवद्ध होने और श्वेताम्बरसम्मत आगमो का पुस्तको पर लेखन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण का कहने वाले अपनी मान्यता पर विचार करेंगे, तो उनको अपनी खरी स्थिति का ज्ञान होगा ।

मथुरा के स्तूप मे से निकली हुई जैन-प्रतिमाओ के सम्बन्ध मे कतिपय विद्वानो का कथन है कि वे दिगम्बर मूर्तिया हैं, वह कथन यथार्थ नही । क्योकि आज से २००० वर्ष पहले मूर्तिया इस प्रकार से बनाई जाती थी कि गद्दी पर बैठी हुई तो क्या खडी मूर्तियाँ भी खुले रूप मे नग्न नही दिखती थी । उनके वामस्कन्ध से देवदूष्य वस्त्र का अचल दक्षिण जानु तक इस खूबी से नीचे उतारा जाता था कि आगे तथा पीछे का गुह्य अग-भाग उससे आवृत हो जाता था और वस्त्र भी इतनी सूक्ष्म रेखाओ मे दिखाया जाता था कि ध्यान से देखने से ही उसका पता लग सकता था । विक्रम की छठवी तथा सातवी शती की खड़ी जिनमूर्तिया इसी प्रकार से बनी हुई आज तक दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उसके परवर्ती समय मे ज्यो-ज्यो दिगम्बर सम्प्रदाय व्यवस्थित होता गया त्यो-त्यो उसने अपनी जिनमूर्तियों का अस्तित्व पृथक् दिखाने के लिए जिनमूर्तियो मे भी प्रकट रूप से नग्नता दिखलाना प्रारम्भ कर दिया । गुप्तकाल से बीसवी शती तक की जितनी भी जिनमूर्तिया दिगम्बर-सम्प्रदाय द्वारा बनवाई गई हैं वे सभी नग्न हैं । मथुरा के स्तूप मे से भी गुप्तकाल मे बनी हुई इस प्रकार की नग्न मूर्तियो के कतिपय नमूने मिले हैं, परन्तु वे सभी विक्रम की आठवी शती के बाद की हैं, कुषाणकाल की नही । मथुरा के स्तूप मे से निकले हुए कई आयागपट्ट तथा प्राचीन जिनप्रतिमाओ के छायाचित्र हमने देखे हैं, उनमे नग्नता का कही भी आभास नही मिलता और यह भी सत्य है कि उन मूर्तियो के "कच्छ" तथा "अचलि" आदि भी नही होते थे, क्योंकि श्वेताम्बर मूर्तियों की यह पद्धति विक्रम की ग्यारहवी शती के बाद की है ।

इसके अतिरिक्त मथुरा के स्तूप मे से एक जैन श्रमण की मूर्ति मिली है, जिस पर "कण्ह" नाम खुदा हुआ मिलता है। ये "कण्ह" आचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय प्रवर्तक शिवभूति मुनि के गुरु "कृष्ण" हो तो आश्चर्य नही, क्योंकि वह मूर्ति अर्धनग्न होते हुए भी उसके कटिभाग में प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमणो द्वारा नग्नता ढाँकने के निमित्त रक्खे जाते "अग्रावतार" नामक वस्त्र-खण्ड की निशानी देखी जाती है। यह "अग्रावतार" प्रसिद्ध स्थविर आर्य रक्षित के समय तक श्रमणों में व्यवहृत होता था। बाद में धीरे-धीरे छोटा कटिवस्त्र जिसे "चुल्लपट्टक" (छोटा पट्टक) कहते थे, श्रमण कमर मे बाधने लगे तब से प्राचीन "अग्रावतार वस्त्रखण्ड" व्यवहार में से निकल गया।



स्थविरावली की प्राचीनता

उपर्युक्त कल्प-स्थविरावली मे स्थविरों के सत्ता-समय के सम्बन्ध मे कुछ भी सूचन नही मिलता, अपितु भिन्न गाथाओ मे इनका समय निरूपण किया हुआ है। युगप्रधानो की पट्टावलिया भी दो प्रकार की मिलती है, एक माथुरीवाचनानुयायिनी और दूसरी वालभीवाचनानुयायिनी। माथुरी वाचनानुयायिनी पट्टावली मे युगप्रधानो के नाम मात्र दिये हुए हैं, उनका समयक्रम नही लिखा, तब वालभीवाचनानुयायिनो पट्टावली मे स्थविरो के नामो के साथ उनके युगप्रधानत्व पर्याय का समय भी दिया हुआ है। इन गाथाओ मे गोविन्द वाचक का नाम भी सम्मिलित किया है और आर्य सुहस्ती का नाम कम करके आर्य महागिरि के बाद बलिस्सह से प्रारम्भ कर देवर्द्धिगणि तक २७ नामो की सूची दी है। इस सूची मे आर्य सुहस्ती को छोड देना और गोविन्द-वाचक को ग्रहण करना ये दोनो बातें अयथाथ है। यह पट्टावली गुरुपरम्परा नही किन्तु वाचक स्थविर-परम्परा है। आर्य महागिरि के बाद आर्य सुहस्ती वाचक रहे हुए हैं, जब कि गोविन्द वाचक का नाम नन्दि-स्थविरावली मे प्रक्षिप्त गाथा मे आया है, मूल में नही। इसलिए हमने इस माथुरी वाचना के अनुयायी स्थविरो के नामो मे आय सुहस्ती का नाम कायम रक्खा है और "गोविन्द वाचक" नाम हटा दिया है। इस प्रकार "बलिस्सह को ११वा वाचक मानने से देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक के वाचको की सख्या २७ हो जाती है। पहले हम माथुरीवाचनानुयायिनी स्थविरावली के नाम बताने वाली शाखाओ को उद्धृत करेगे, आर्य महागिरि के परवर्ती स्थविर वाचको के नाम निम्न प्रकार से हैं :

'सूरि बलिस्सह साई, सामज्जो सडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मंगू, नंदिल्लो नागहत्थी य ॥

रेवइसिंहो खंदिल - हिमवं नागज्जुणा य तेवीसं ।
सिरिभूइ–दिन्न–लोहिच्च–दूसगणिणो य देवड्ढी ॥"

अर्थात्: 'आचार्य बलिस्सह ११, स्वाति १२, श्यामाचार्य १३, जीतधर शाण्डिल्य १४, आर्य समुद्र १५, आर्य मगू १६, नंदिल्ल १७, नागहस्ती १८, रेवतिनक्षत्र १९, ब्रह्मद्वीपिकसिंह २०. स्कन्दिल २१, हिमवान् २२, नागार्जुनवाचक २३, श्री भूतिदिन्न २४, श्री लौहित्य २५, श्री दूष्यगणि २६ और श्री देवर्द्धिगणि २७, ये २७ स्थविर माथुरीवाचना के अनुसार युगप्रधान वाचक हुए।

अब हम वालभीवाचनानुयायिनी स्थविर परम्परा का निरूपण करते हैं :

"सिरि वीराउ सुहम्मो, वीसं चउचत्त वास जंबुस्स ।
पभवेगारस सिज्जं, –भवस्स तेवीस वासाणि ॥ १ ॥
पन्नास जसोभद्दे, सभूयसट्ठि भद्दबाहुस्स ।
चउदस य थूलभद्दे, पणयालेवं दुसगसट्ठी ॥ २ ॥
अज्ज महागिरि तीसं, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला ।
इगचालीसं जाणसु, निगोयवक्खाय सामज्जे ॥ ३ ॥
रेवइमित्ते वासा, होंति छत्तीस उदहि नामम्मि ।
वासाणि नवमगू – थेरमि वीसव साणि ॥ ४ ॥
चउयाल अज्जधम्मे, एगुणचालीस भद्दगुत्ते अ ।
सिरिगुत्ति पनर वइरे, छत्तीसं हुंति वासाणि ॥५॥
तेरस वासा सिरिअज्ज, –रक्खिए वीस पूसमित्तस्स ।
सिरि वज्जसेणि तिण्णि य गुणसत्तरि नागहत्थिस्स ॥६॥"

अर्थात्: 'वीरनिर्वाण से २० वर्ष व्यतीत होने पर सुधर्मा का निर्वाण हुआ, सुधर्मा से ४४ वर्ष के बाद जम्बू का निर्वाण हुआ, जम्बू से ११ वर्ष के बाद प्रभव का और प्रभव से २३ वर्ष के बाद शय्यम्भव का स्वर्गवास हुआ। शय्यम्भव से ५० वर्ष बाद यशोभद्र का तथा यशोभद्र से

६० वर्ष के बाद सम्भूतविजय का स्वर्गवास हुआ। सम्भूतविजय से १४ वर्ष के बाद भद्रबाहु और उनसे ४५ वर्ष के बाद स्थूलभद्र स्वर्ग प्राप्त हुए, इस प्रकार स्थूलभद्र के स्वर्गवास तक २६७ वर्ष महावीर-निर्वाण को हुए।

स्थूलभद्र से आर्य महागिरि ३० और महागिरि से आर्य सुहस्ती ४६ वर्ष तक युगप्रधान रहे और आर्य सुहस्ती के बाद ४१ वर्ष तक निगोद व्याख्याता श्यामार्य का युगप्रधानत्व रहा। श्यामार्य के स्वर्गवासानन्तर रेवतिमित्र ३६ वर्ष, रेवतिमित्र के बाद ६ वर्ष आर्य समुद्र और आर्य समुद्र से २० वर्ष तक आर्य मगू युगप्रधान रहे, आर्य मगू के बाद ४४ आर्यधर्म के, ३९ वर्ष भद्रगुप्त के, भद्रगुप्त के बाद १५ वर्ष श्री गुप्त के, श्री गुप्त के अनन्तर ३६ वर्ष आर्यवज्र के, १३ वर्ष श्री आर्यरक्षित के, २० वर्ष पुष्यमित्र के, ३ वर्ष श्री वज्रसेन के, ६९ नागहस्ती के, ५९ रेवतिमित्र के; ७८ सिंहसूरि के और ७८ वर्ष नागार्जुन वाचक के।

"रेवइमित्तो गुणसट्ठि, सिंहसूरिम्मि अट्ठहत्तरी य।
नागज्जुणि अडहत्तरि, भूयदिन्ने य इगुणयासी ॥७॥
एगारस कालगज्जे, सिद्धतुद्धारुकारि वलहीए।
एवं नवसय तिणउइ, वासा वालब्भ संघस्स ॥८॥"

और ७९ भूतदिन्न आचार्य के मिलकर वीरनिर्वाण से ९८२ वर्ष हुए, इनमे वलभी मे सिद्धान्त का उद्धार करने वाले आचार्य कालक के ११ वर्ष मिलाने पर वालभ्य संघ की मान्यतानुसार ९९३ वर्ष होते हैं, परन्तु माथुरी गणना मे ९८० वर्ष आते हैं। वलभी मे किये गये पुस्तक लेखन के समय दो गणनाओ मे जो १३ वर्ष का अन्तर पड़ा, उसका कारण यह है कि माथुरी वाचनानुयायी संघ ने अपनी गणना में श्रीगुप्त स्थविर को स्थान नही दिया और आर्य मगू के युगप्रधानत्व पर्याय के ४१ वर्ष माने हैं जिससे गणना का अंक ९८० का होता है। दूसरी तरफ वलभी-वाचनानुयायियों ने आर्य मगू का युगप्रधानत्व पर्याय ३९ वर्ष का माना और श्रीगुप्त को अपनी गणना मे स्थान देकर उनके १५ वर्ष माने, फलस्वरूप दोनो वाचनानुयायियो मे १३ वर्ष का अन्तर अमिट हो गया।

वलभी के पुस्तक लेखन मे माथुरी वाचना को मुख्य माना था, अतः समय के निर्देश मे :

"समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइ विइक्कताइं दसमस्स य वाससयस्स अय असीइमे सवच्छरे काले गच्छइ"

इस प्रकार माथुरी-वाचना की कालविषयक मान्यता का प्रथम निर्देश किया, परन्तु वालभ्य वाचना वाले अपनी मान्यता को गलत मानकर उक्त मान्यता को स्वीकार करने के लिए तैयार नही हुए, परिणामस्वरूप :

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए सवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ ।"

यह सूत्रान्तर लिख कर वालभ्य सघ की मान्यता का भी उल्लेख करना पडा ।

ऊपर जिन गाथाओ द्वारा हमने दोनो स्थविरावलियो की कालविषयक मान्यता का प्रतिपादन किया है, वे गाथाएँ प्राचीन होने पर भी उनमें कई स्थानो मे सशोधन करना पड़ा है ।

राजकाल गणना सम्बन्धी "तित्थोगालीपयन्ना" की गाथाओ मे एक दो स्थानो पर परिमार्जन करना पडा है । नन्दो की वर्षगणना मे ५ वर्ष कम किये है, "पणपन्नसय" के स्थान मे "पुण पण्णसय", "अट्ठसय मुरियाणं" के स्थान मे "सट्ठिसयमुरियाण", "तीसा पुण पूसमित्तस्स" के स्थान में "पणतीसा पूसमित्तस्स" करके पुस्तकलेखको द्वारा प्रविष्ट अशुद्धियो का परिमार्जन किया है ।

गाथा के अशुद्ध पाठानुसार नन्दो का काल १५५ और मौर्यों का काल १०८ वर्ष परिमित माना जाता था, जो ठीक नही था । गणनाविषयक इस गडबडो के कारण से ही आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने "परिशिष्ट पर्व" मे चन्द्रगुप्त मौर्य को वीरनिर्वाण से १५५ मे मगध के साम्राज्य पर आसीन होने का लिखा है जो असगत है, क्योकि जिननिर्वाण

से ६० वर्ष व्यतीत होने के वाद नन्द को पाटलीपुत्र के राज्य पर बैठाकर १५५ मे चन्द्रगुप्त को उस गादी पर बैठाने का अर्थ तो यही हो सकता है, कि नन्द ने पाटलीपुत्र पर केवल ७४ वर्ष ही राज्य किया था, परन्तु पौराणिक तथा जैन गणनाओ के अनुसार यह मान्यता असंगत प्रमाणित होती है। पुराणों मे 'विम्वसार-श्रेणिक के उत्तराधिकारी अजातशत्रु' का राज्यकाल ३७, वशक का २४, उदायिन् का ३३, नन्दिवर्द्धन का ४२, महानन्दिन का ४३ और नव नन्दो का १०० वर्ष का माना है। श्रमण-भगवन्त महावीर अजातशत्रु के राज्य के २२वे वर्ष मे निर्वाण प्राप्त हुए थे, अतः उसके राजत्वकाल मे से २२ वर्ष कम करने पर भी भगवान् महावीर के निर्वाण से २५७ वर्ष मे मौर्य राज्य का प्रारम्भ आता है, जब कि आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी नन्दो का राज्य समाप्त कर १५५ में ही चन्द्रगुप्त को मगध की गद्दी पर वैठाते हैं। संशोधित जैनकाल गणना के अनुसार नन्दो के राज्य की समाप्ति २१० वर्ष में होती है और मौर्य चन्द्रगुप्त मगध का राजा वनता है। बौद्धो की गणनानुसार मौर्य्य राज्य का समय जल्दी आता है, परन्तु इस विपय को बौद्ध काल-गणना सर्वथा अविश्वसनीय है, क्योकि सुदूर लका में बैठे हुए बौद्ध स्थविरो ने जो कुछ सुना उसी को लेखवद्ध कर दिया, औचित्य अथवा सगति का कुछ भी विचार नही किया। उदाहरणस्वरूप हम नवनन्दो के राजत्वकाल के सम्बन्ध मे ही दो शब्द कहते हैं।

बौद्धो ने नवनन्दों का राज्यकाल केवल २२ वर्ष लिखा है, जो किसी प्रकार से ग्राह्य नही हो सकता।

जिस प्रकार राजाओं के राजत्वकाल के सम्वन्ध मे लेखको की असावधानी से समय विपयक अनेक अशुद्धियाँ होने पाई है, उसी प्रकार स्थविरो की काल-गणना मे भी लेखको के प्रमाद से अशुद्धिया घुस गई हैं जिनके कारण से कई वातो में विसवाद उपस्थित होते हैं।

ऊपर हमने स्थविरो के काल सम्वन्धी जो गाथाएँ लिखी हैं उनमे आर्य सम्भूतविजयजी के युगप्रधानत्व समय में लेखकों ने वड़ा घोटाला कर

दिया है : "सम्भूयसट्ठी' इस शुद्ध पाठ को बिगाड़ कर किसी लेखक ने "सम्भूयस्सट्ठ" बना दिया, जिसका अर्थ किया गया सम्भूत के ८ आठ वर्ष, बस एक इकार के अकार के रूप में परिवर्तन होने से ६० के ८ बन गये। मजा तो यह है कि यह भूल आज की नही, कोई ८०० सौ वर्षों से भी पहले की है। इसी भूल के परिणामस्वरूप आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने भद्रबाहु स्वामी को जिननिर्वाण से १७० वर्ष मे स्वर्गवासी होना लिखा है और इसी भूल के कारण से पिछले पट्टावली-लेखको ने आर्य स्थूलभद्रजी को निर्वाण से २१५ मे स्वर्गबासी हाना लिखा है, इस भूल का परिणाम बहुत ही व्यापक बना है, इस सम्बन्ध में हम एक दो ही उदाहरण देकर इस प्रसग को समाप्त कर देगे।

सभी पट्टावलीकारो ने आर्य स्थूलभद्रजी का स्वर्गवास वीरनिर्वाण २१५ में माना है। स्वर्गवास की मान्यता के अनुसार इनकी दीक्षा १४६ मे आती है, क्योकि उन्होने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और ६९ वर्ष तक ये जीवित रहे थे, इस प्रकार १४६ में दीक्षित स्थूलभद्र मुनि अपने गुरु सम्भूतविजयजी के पास अनेक वर्षों तक रह कर पूर्वश्रुत का अध्ययन कर सकते थे परन्तु पठन-पाठन के सम्बन्ध में सर्वत्र भद्रबाहु स्थूलभद्र का ही गुरु-शिष्य भाव दृष्टिगोचर होता है, इससे ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा का समय पट्टावलीकारो के माने हुए समय से बहुत परवर्ती है। शायद सम्भूतविजयजी के अन्तिम वर्ष मे ही स्थूलभद्र दीक्षित हुए होगे।

आर्य सुहस्ती स्थूलभद्रजी के हस्तदीक्षित शिष्य थे। उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था मे स्थूलभद्रजी के पास दीक्षा ली थी और १०० वर्ष की अवस्था मे जिननिर्वाण से २९१ के वर्ष मे उनका स्वर्गवास हुआ था, ऐसा पट्टावलीकार लिखते हैं। पट्टावलीकारो के उक्त लेखानुसार आर्य सुहस्ती की दीक्षा और स्थूलभद्र के पास इनके शिष्य आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती का १० पूर्व पढ़ना असम्भव हो जाता है। इससे मानना होगा कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास २१५ मे नही पर २२१ के बहुत पीछे हुआ है। स्थूलभद्रजी ने आर्य सुहस्ती को जुदा गण दिया था, ऐसा निशीथ विशेष-

चूर्णि आदि मे लेख है। इससे भी ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र के स्वर्गवास के समय मे आर्य सुहस्ती कम से कम १०-११ वर्ष के पर्यायवान् गीतार्थ होंगे। इन सब बातो के पर्यालोचन से यही सिद्ध होता है कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास का समय माने हुए समय से बहुत पीछे का है।

सप्रति के जीव द्रमक को 'कोशम्बाहार' मे आर्य सुहस्ती ने दीक्षा दी, उस समय आर्य महागिरिजी जीवित थे और उस समय मे मगध की राजगद्दी पर मौर्य अशोक था, क्योंकि द्रमक साधु उसी रात को मर कर राजकुमार कुणाल की रानी की कोख मे पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ माना गया है।

प्रचलित पट्टावलियो मे आर्य महागिरि का स्वर्गवास निर्वाण से २४५ मे माना गया है। यदि यह समय ठीक होता तो द्रमक के दीक्षा-प्रसग पर उनकी विद्यमानता के उल्लेख नहीं मिलते, क्योंकि २४५ मे चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का पाटलिपुत्र मे राज्य था, अशोक का नही। शास्त्र मे अशोक के राज्यकाल मे द्रमक को दीक्षा देने का लिखा है।

उपर्युक्त असगतिया तो उदाहरण के रूप मे लिखी हैं। इस प्रकार की और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण असगतिया प्रचलित माथुरी तथा वालभी पट्टावलियो मे दृष्टिगोचर होती है, जो आर्य सभूतविजयजी के ६० वर्षों के स्थान पर ८ वर्ष मान लेने का परिणाम है। इसलिए हमने प्राचीन गाथा मे "सम्भूयसट्ठि" इस प्रकार का पाठ स्वीकार कर उक्त प्रकार की असगतियो को दूर किया है।

हमने गाथाओ मे से आर्य सुहस्ती के बाद के स्थविर "गुणसुन्दर" और निगोदव्याख्याता श्यामार्य के बाद के "स्कन्दिल" के नाम कम किये हैं, क्योंकि ये दोनों नाम "प्राचीन वालभी वाचना" की थेरावली मे नही हैं। आचार्य मेरुतुग कहते हैं, "मूल स्थविरावली मे न होते हुए भी सम्प्रदाय से ये दोनों नाम लिए गए हैं"। वालभी स्थविरावली मे आर्य समुद्र का नाम हमने दाखिल किया है, क्योंकि सूत्रो की चूर्णियो मे आर्य समुद्र तथा आर्य मगू के नाम युगप्रधान के रूप मे लिखे मिलते हैं।

"प्रचलित पट्टावली की गाथाओं में आर्य मंगू के वर्ष २० और आर्य धर्म के २४ लिखे हुए हैं। कहीं-कहीं आर्य धर्म का युगप्रधानत्व समय ४४ वर्ष का भी लिखा है। आर्य धर्म के ४४ वर्ष मानने वाले आर्य मंगू को उड़ाकर २० वर्ष कम कर देते हैं, परन्तु हमने आर्य मंगू को भी कायम रक्खा है, और आर्य धर्म के भी ४४ वर्ष माने है। "गुणसुन्दर" तथा "स्कन्दि०" को कम करने के बाद इस मान्यता के अनुसार ऐतिहासिक सगति ठीक मिल जाती है।"

वालभी वाचना के अनुयायियों तथा लेखकों ने भी आचार्य देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण को २७वां पुरुष माना है। हमारी संशोधित वालभी पट्टावली मे कालकाचार्य का नाम २७वा आता है और नन्दी-स्थविरावली की माथुरी गणना के अनुसार भी देवर्द्धि क्षमाश्रमण का नाम २७वा ही आता है। देवर्द्धिगणि युगप्रधान के रूप मे २७वे हैं, परन्तु गुरु-शिष्य क्रम के अनुसार ३४वें पुरुष हैं।

नन्दीसूत्रकार द्वारा अगीकृत २७ स्थविरों के नामों में से वालभी वाचनानुयायिनी स्थविरावली मे ९ नाम भिन्न प्रकार के है। आर्य सुहस्ती तक के ११ नामो मे कोई फरक नहीं है, परन्तु इसके बाद के वालभी के नामों मे १५ से २१ तक के स्थविर धर्म, भद्रगुप्त, श्रीगुप्त, वज्र, रक्षित, पुष्यमित्र और वज्रसेन के नाम वालभी मे जुदे पड़ते हैं। ये सात नाम वास्तव मे युगप्रधान-स्तोत्र में से वालभी स्थविरावली में जोड़ दिये हैं। अन्तिम नाम कालकाचार्य का भी माथुरी से जुदा पड़ता है। वालभी मे १२वां नाम रेवतिमित्र का है, जब कि माथुरी मे "स्वाति" का। इस प्रकार माथुरी के २७ नामों मे से वालभी के ९ नाम जुदे पड़ते है, इसका कारण तत्कालीन जैन श्रमणसंघ के दो विभाग हैं, प्रथम दुष्काल के समय श्रमणो की छोटी-छोटी टुकड़िया समुद्रतट तथा नदी मातृक देशों मे पहुँची थी और दुष्काल के अन्त मे फिर सम्मिलित हो गई थी, परन्तु सम्प्रति मौर्य के समय मे सुदूर दक्षिण में पहुंचे हुए श्रमण तथा आर्य वज्र के समय के दुर्भिक्ष में दक्षिण, मध्यभारत तथा पश्चिम भारत में पहुँचे हुए श्रमण उत्तर-भारतीय श्रमणगणों से वहुत दूर विचर रहे थे, इस कारण

से तत्कालीन जैन-श्रमणो मे चलती हुई "सघ स्थविर शासन पद्धति" के अनुसार उत्तरीय श्रमणगणो के "सघस्थविर" के स्थान मे अपना नया सघस्थविर नियुक्त करके सघ स्थविर-पद्धति को निभाते थे। आर्य धर्म से लेकर आर्य वज्रसेन तक के ७ ही स्थविर बहुधा भारत के मध्य तथा दक्षिण प्रदेश मे विन्ध्याचल के आसपास विचरने वाले थे, इसलिए उधर के श्रमणगणो ने इन स्थविर आचार्यों को अपनी वाचक-परम्परा मे मान लिया था। स्थविर वज्रसेन के बाद दाक्षिणात्य श्रमणसघ पश्चिमोत्तर की तरफ मुडकर जब विदर्भ मे होता हुआ सौराष्ट्र की तरफ पहुँचा तब उत्तरीय श्रमणसघ भी पश्चिम की तरफ विचरता हुआ मथुरा के आसपास के प्रदेशो मे पहुँच चुका था, फलस्वरूप फिर दोनो सघो का एक दूसरे से सम्पर्क हुआ और स्थविर शासन-पद्धति फिर एक हो गई। आर्य वज्रसेन के बाद के उत्तरीय सघ के आर्य नागहस्ती, आर्य रेवतिनक्षत्र, ब्रह्मदीपिकसिंहसूरि, नागार्जुन वाचक और भूतदिन्न इन पाच सघस्थविरो को अपनी स्थविरावली मे स्थान देकर श्रमणसघ का अखण्डत्त्व कायम किया। इस प्रकार दाक्षिणात्य श्रमणसघ ने १७० वर्ष तक अपनी सघस्थविर शासन-पद्धति को स्वतन्त्र रूप से निभा कर विक्रम को दूसरी शताब्दी के मध्य मे फिर वे उत्तरीय सघ मे सम्मिलित हुए और ३६० से अधिक वर्षो तक सघ स्थविर-पद्धति अखण्डित रही। इस समय के दर्मियान दुर्भिक्षादि विपमकाल के वश जैन श्रमणो का आगमाध्ययन अव्यवस्थित बन गया था, अत उत्तरीय सघ के नेता आर्य स्कन्दिल और दाक्षिणात्य सघ के नायक नागार्जुन वाचक ने क्रमश. मथुरा तथा वलभी मे अपने श्रमणगणो को इकट्ठा कर आगमो को व्यवस्थित करके ताडपत्रो पर लिखवाया। कालान्तर मे उत्तरीय तथा दाक्षिणात्य सघ फिर वलभी मे सम्मिलित हुए और दोनो वाचनाओ के अनुगत आगमो का समन्वय किया, इस समन्वयकारक सम्मेलन मे माथुरी वाचनानुयायी श्रमणसघ के प्रमुख स्थविर 'देवर्द्धिगणि वाचक' थे, तब वालभी वाचनानुयायी श्रमणसघ के नेता आर्य "कालक", यह समय वीरनिर्वाण से दशम शतक का अन्तिम चरण था।

आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण-निरूपित :

१. नन्दी-स्थविरावली : सानुवाद

नन्दीसूत्र के प्रारम्भ मे सूत्रकार ने अपनी परम्परा के अनुयोगधरों का सविस्तर वर्णनपूर्वक वन्दन किया है। ये स्थविर अनुयोगधर वाचक थे, न कि गुरु-शिष्य के क्रम से आए हुए पट्टधर, किसी अनुयोगधर के वाद उनका शिष्य ही अनुयोगधर वना है तो अनेक अनुयोगधरो के बाद अन्य श्रुतधर वाचक पद प्राप्त कर वाचको की परम्परा मे आए है। यह परम्परा अनुयोगधरो की है, यह वात देवर्द्धिगणिजी ने स्वय अन्तिम गाथा ४३वी मे सूचित की है।

नन्दी-स्थविरावली की मूल गाथाएँ नीचे दी जाती है। गाथाओ का अंक सूत्रोक्त ही दिया गया है :

"सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबूनामं च कासवं ।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥२३॥
जसभद्दं तुंगियं वंदे, संभूयं चेव माढरं ।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥२४॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च ।
तत्तो कोसिअगोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥२५॥"

अर्थ : 'अग्निवैश्यायनगोत्रीय सुधर्मा, काश्यपगोत्रीय जम्बू, कात्यायनगोत्रीय प्रभव तथा वत्सगोत्रीय शय्यम्भव को वन्दन करता हूँ। तुंगियायनगोत्रीय यशोभद्र, माठरगोत्रीय सम्भूत, प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु

और गौतमगोत्रीय स्थूलभद्र को वन्दन करता हूं। ऐलापत्यगोत्रीय महागिरि (वासिष्ठगोत्रीय) सुहस्ती और कौशिकगोत्रीय बहुल के समवयस्क बलिस्सह को वन्दन करता हूं।२३।२४।२५॥'

"हारियगुत्तं साइं च, वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वंदे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥२६॥
तिसमुद्दखायकित्ति, दीवसमुद्देसु गहियपेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभिय-समुद्द-गंभीरं ॥२७॥
भणगं करगं झरगं, पभावगं णाण-दंसण-गुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥"

'हारितगोत्रीय स्वाति और श्यामार्य को वन्दन करते हैं। कौशिक-गोत्रीय आर्य जीतधर शाण्डिल्य को वन्दन करता हूं। तीन समुद्रपर्यन्त जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध है और द्वीप-समुद्र सम्बन्धी ज्ञान मे जो गहरे उतरे हुए हैं ऐसे अक्षुब्ध-समुद्र के जैसे गम्भीर आर्य समुद्र को वन्दन करता हूँ। प्रतीच्छको को सूत्रो का पाठ देने वाले, शास्त्रोक्त क्रियामार्ग मे प्रवृत्तिमान् ज्ञान-दर्शन के गुणो को शोभाने वाले और श्रुत-समुद्र के पारंगत धीर पुरुष आर्य मगू को वन्दन करता हूँ।२६।२७।२८॥'

"नाणम्मि दंसणम्मि अ, तव-विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
अज्जं नन्दिलखमणं, सिरसा वन्दे, पसन्नमणं ॥२९॥
वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं।
वागरणकरण - भंगिय - कम्मपयडीपहाणाणं ॥ ३० ॥
जच्चंजणधाउ - सम-प्पहाण मुद्दियकुवलयनिहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्तनामाणं ॥ ३१ ॥"

अर्थ : 'ज्ञान, दर्शन तथा तप विनय में नित्यकाल उद्यमवन्त और प्रसन्नचित्त आर्य नन्दिल क्षपक को सिर नवा कर वन्दन करता हूँ। व्याकरण, चरण-करण, भगिकसूत्र और कर्मप्रकृति मे प्रधान, ऐसे आर्य नागहस्तो का यशस्वी वाचक वश वृद्धिगत हो, जात्य अजनधातु के समान

तेजस्वी और द्राक्षा तथा नीलकमल के समान कान्ति वाले ऐसे रेवतिनक्षत्र अर्थात् रेवतिमित्र नामक आचार्य का वाचकवंश वृद्धि को प्राप्त हो। ।२९।३०।३१॥'

"अयलपुरा णिक्खते, कालियसुयआणुओगिए धीरे।
बंभद्दीवगसीहे, वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥ ३२ ॥

जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥

तत्तो हिमवन्तमहन्त-विक्कमे धिइपरक्कममणंते।
सज्झाय मणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३४॥"

अर्थ : 'अचलपुर से निकल कर प्रव्रजित होने वाले, कालिक श्रुत के अनुयोगधर, धीर और उत्तम वाचक पद को प्राप्त ब्रह्मद्वीपिकसिंह स्थविर को वन्दन करता हूँ। जिनका यह अनुयोग आज भी इस अर्द्ध भरतक्षेत्र में प्रचलित है और अनेक नगरो मे जिनका यश फैल रहा है, उन श्री स्कन्दिलाचार्य को वन्दन करता हूँ। स्कन्दिल के बाद हिमवन्त के समान महाविक्रमशाली अमर्यादित-धृतिपराक्रम वाले और अपरिमित स्वाध्याय के धारक आचार्य हिमवन्त को सिर नवां कर वन्दन करते हैं। ।३२।३३।३४।'

"कालियसुयअणुओगस्स, धारए धारए य पुव्वाणं।
हिमवंतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ॥ ३५ ॥

मिउमद्दवसंपन्ने, अणुपुव्वि वायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥ ३६ ॥"

अर्थ : 'कालिक श्रुतानुयोग के और पूर्वों के धारक हिमवन्त क्षमाश्रमण को वन्दन करता हूँ। जो मृदुमार्दव से सम्पन्न, उत्सर्गश्रुतानुसार चलने वाले तथा अनुक्रम से वाचक-पद पाने वाले हैं, उन नागार्जुन वाचक को वन्दन करता हूँ ।३५।३६॥

"वरकणग तविय चपग-विमलयर कमलगब्भसरिवन्ने ।
भविअजणहियग्रदइए, दयागुणविसारए धीरे ॥ ३७ ॥

अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविह सज्झाय सुमुणिय पहाणे ।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंशनंदिकरे ॥ ३८ ॥

भूयहिअप्पगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए ।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ३९ ॥"

अर्थ : 'अग्नितप्त श्रेष्ठ सुवर्णतुल्य, चम्पकपुष्पसदृश, कमलपुष्प के गर्भसदृश वर्ण वाले, भाविक जनो के हृदयप्रिय, दयागुण मे विशारद, धैर्यवन्त, दक्षिणार्धभरत मे प्रधान, अनेकविध स्वाध्याय से यथार्थज्ञाततत्त्व, पुरुषो मे प्रधान, अनुयोगधर पुरुषो मे श्रेष्ठ, नागिल कुल की परम्परा के वृद्धिकारक, प्राणियो का हित करने मे दक्ष, ससार के भय का नाश करने वाले ऐसे नागार्जुन ऋषि के शिष्य आचार्य भूतदिन्न को वन्दन करता हूँ । ।३७।३८।३९।।'

"सुमुणियनिच्चाऽनिच्चं, सुमुणियसुत्तत्थधारयं वंदे ।
सब्भावुब्भावणया - तत्थ लोहिच्चणामाणं ॥४०॥

अत्थमहत्थक्खाणि, सुसमणवक्खाण-कहणनिव्वाणि ।
पयईइ महुरवाणि, पयओ पणमामि दूसगणि ॥४१॥

सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छ (ग) सएहि पणिवइए ॥४२॥"

अर्थ : 'जिन्होंने पदार्थों की नित्यानित्य अवस्था को अच्छी तरह जाना है, जो यथार्थसूत्र अर्थ के धारक हैं और जो सद्भावो के प्रकाशन मे यथार्थ हैं, ऐसे "लोहित्य" नामक अनुयोगधर को वन्दन करता हूँ । पदार्थो के अर्थविस्तार की जो खान हैं, उत्तम श्रमणो को सूत्रों की व्याख्या द्वारा निवृत्तिदायक हैं और प्रकृति से मधुरभाषी हैं, ऐसे दूष्यगणि को प्रयत्नपूर्वक नमन करता हूँ । जिन प्रावचनिक दूष्यगणि के चरण सुकुमाल और कोमल तल वाले तथा शुभ लक्षणो से प्रशस्त हैं और जो

सैकडो प्रतीच्छको से वन्दित है, उन दूष्यगणि के चरणो में नमन करता हूँ ।४०।४१।४२।।'

"जे अन्ने भगवन्ते, कालिअसुयआणुओगिए धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स पख्वण वोच्छ ॥४३॥"

अर्थ : 'उक्त अनुयोगधरो के अतिरिक्त जो कालिक श्रुत के अनुयोगधारी धीर पुरुष हैं, उन सब भगवन्तो को सिर से प्रणाम कर ज्ञान का प्ररूपण करूगा ।४३।'

कल्प-स्थविरावली का वर्णन शाण्डिल्य तक सर्वप्रथम दिया है। उसके बाद माथुरी वाचनानुयायी स्थविरावलीगत अनुयोगधरों की नामावली बताने वाली मौलिक गाथाएँ लिखकर उनकी चर्चा की है। माथुरी के बाद वालभी वाचनानुगत स्थविरों का निरूपण करने वाली गाथाएँ समय-प्रतिपादन के साथ लिखी हैं। इन सब वातों को कोष्टको के रूप में लिख कर अन्त में स्थविर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली का कोष्टक देकर इस लेख को पूरा करेंगे।

माथुरी-वाचनानुगत-स्थविर-क्रम

१ सुधर्मा	१० सुहस्ती	१९ रेवतिनक्षत्र
२ जम्बू	११ वलिस्सह	२० ब्रह्मद्वीपिकसिंह
३ प्रभव	१२ स्वाति	२१ स्कन्दिलाचार्य
४ शय्यम्भव	१३ श्यामार्य	२२ हिमवन्त
५ यशोभद्र	१४ शाण्डिल्य	२३ नागार्जुन वाचक
६ सम्भूतविजय	१५ समुद्र	२४ भूतदिन्न
७ भद्रवाहु	१६ मगू	२५ लौहित्य
८ स्थूलभद्र	१७ नन्दिल	२६ दूष्यगणि
९ महागिरि	१८ नागहस्ती	२७ देवर्द्धिगणि

वालभी-वाचनानुगत-स्थविर-क्रम

श्री महावीरनिर्वाण विक्रम पूर्व ४७० ई० स० पू० ५२७ ।

क्रमांक	नाम	नि से नि तक	वि० पू०	ई० स० पू०	तक
१	सुधर्मा	२०	४७०–४५०	५२७–५०७	,,
२	जम्बू	२०–६४	४५०–४०६	५०७–४६३	,,
३	प्रभव	६४–७५	४०६–३९५	४६३–४५२	,,
४	शय्यम्भव	७५–९८	३९५–३७२	४५२–४२९	,,
५	यशोभद्र	९८–१४८	३७२–३२२	४२९–३७९	,,
६	सम्भूतविजय	१४८–२०८	३२२–२६२	३७९–३१९	,,
७	भद्रबाहु	२०८–२२२	२६२–२४८	३१९–३०५	,,
८	स्थूलभद्र	२२२–२६७	२४८–२०३	३०५–२५९	,,
९	महागिरि	२६७–२९७	२०३–१७३	२५९–२२९	,,
१०	सुहस्ती	२९७–३४३	१७३–१२७	२२९–१८४	,,
११	कालकाचार्य	३४३–३८४	१२७–८६	१८४–१४३	,,
१२	रेवतिमित्र	३८४–४२०	८६–५०	१४३–१०७	,,
१३	आर्य समुद्र	४२०–४२९	५०–४१	१०७–९८	,,
१४	आर्य मगू	४२९–४४९	४१–२१	९८–७८	,,
१५	आर्य धर्म	४४९–४९३	२१ से वि स २३	७८–३४	,,
१६	भद्रगुप्त	४९३–५३२	२३–६२	३४ ई स. ५	,,
१७	श्रीगुप्त	५३२–५४७	६२–७७	५–२०	,,
१८	आर्य वज्र	५४७–५८३	७७–११३	२०–५६	,,
१९	आर्य रक्षित	५८३–५९६	११३–१२६	५६–६९	,,
२०	पुष्यमित्र	५९६–६१६	१२६–१४६	६९–८९	,,
२१	वज्रसेन	६१६–६१९	१४६–१४९	८९–९२	,,
२२	नागहस्ती	६१९–६८८	१४९–२१८	९२–१६१	,,
२३	रेवतिमित्र	६८८–७४७	२१८–२७७	१६१–२२०	,,
२४	ब्रह्मद्वीपिक सिंहसूरि	७४७–८२५	२७७–३५५	२२०–२९८	,,
२५	नागार्जुन	८२५–९०३	३५५–४३३	२९८–३७६	,,

क्रमांक	नाम	नि से तक	वि० स०	ई० स०	तक
२६	भूतदिन्न	९०३–६८२	४३३–५१२	३७६–४५५	,,
२७	कालकाचार्य	६८२–९९३	५१२–५२३	४५५–४६६	,,※

श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली

१ सुधर्मा	११ आर्य दिन्न	२३ जेष्ठिल
२ जम्बू	१२ आर्य सिंहगिरि	२४ आर्य विष्णु
३ प्रभव	१३ आर्य वज्र	२५ आर्य कालक
४ शय्यम्भव	१४ आर्य रथ	२६ संपलित तथा आर्यभद्र
५ यशोभद्र	१५ आर्य पुष्यगिरि	२७ आर्य वृद्ध
६ संभूतविजय भद्रबाहु	१६ फल्गुमित्र	२८ आर्य संघपालित
	१७ आर्य धनगिरि	२९ आर्य हस्ती
७ स्थूलभद्र	१८ आर्य शिवभूति	३० आर्य धर्म
८ महागिरि तथा सुहस्ती	१९ आर्यभद्र	३१ आर्य सिंह
	२० आर्य नक्षत्र	३२ आर्य धर्म
९ सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध	२१ आर्य रक्ष	३३ आर्य शाण्डिल्य
१० आर्य इन्द्रदिन्न	२२ आर्य नाग	३४ देवर्द्धिगणि



※ १५ वें आर्य धर्म से विक्रमपूर्व का समय समाप्त होकर विक्रम के पश्चात् का समय आरम्भ होता है और १६ वें समुद्रगुप्त से ई० पू० का काल समाप्त होकर बाद का प्रारम्भ होता है।

श्वेताम्बर जैनों के आगम

दिगम्बर जैन-लेखक कहा करते हैं कि श्वेताम्बर मतप्रवर्तक जिनचन्द्र ने अपने आचरण के अनुसार नये शास्त्र बनाये और उनमे स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति और महावीर का गर्भापहार आदि नई बाते लिखी। इस आक्षेप के ऊपर हम शास्त्रार्थ करना नही चाहते, क्योकि "केवलिभुक्ति" का निषेध पहले-पहल दिगम्बराचार्य देवनन्दी ने किया है, जो विक्रम की छठी सदी के विद्वान् ग्रन्थकार माने जाते है। "स्त्रीमुक्ति" का निषेध दशवी शती के दिगम्बर ग्रन्थकारो ने किया है। इनके पहले के किसी भी दिगम्बर जैन ग्रन्थकार ने उक्त दो बातो का निषेध नही किया था, इसलिए इन बातो की प्रामाणिकता स्वय सिद्ध है।

श्वेताम्बर जैन-सघमान्य वर्तमान आगमो की प्रामाणिकता और मौलिकता के विषय मे हम यहा कुछ भी नही लिखेगे, क्योकि हमारे पहले ही जैन आगमों के प्रगाढ अभ्यासी डॉक्टर हर्मन जेकोवि जैसे मध्यस्थ यूरोपियन स्कॉलरो ने ही इन आगमो को वास्तविक "जैन-श्रुत" मान लिया है और इन्ही के आधार से जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने मे वे सफल हुए हैं। इस बात को बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे दिगम्बर सम्प्रदायी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। वे "भगवान् महावीर" नामक अपनी पुस्तक मे लिखते है "जर्मनी के डॉक्टर जैकोबिसदृश विद्वानो ने जैन-शास्त्रो को प्राप्त किया और उनका अध्ययन करके उनको सभ्य ससार के समक्ष प्रकट भी किया कि "ये श्वेताम्बराम्नाय के अगग्रन्थ हैं। और डॉ० जैकोवि इन्हीं को वास्तविक जैन श्रुतशास्त्र समझते है।"

हम यह दावा भी नही करते कि जैनसूत्र जिस रूप मे महावीर के मुख्य शिष्य गणधरो के मुख से निकले थे, उसी रूप मे आज भी है और,

न हमारे पूर्वाचार्यों ने ही यह दावा किया है, बल्कि उन्होंने तो भिन्न-भिन्न समयों मे अगसूत्र किस प्रकार व्यवस्थित किये और लिखे गये, यह भी स्पष्ट लिख दिया है।

गुरु-शिष्य क्रम से आये हुए सूत्रों की भाषा और शैली मे हजार आठ सौ वर्षों में कुछ भी परिवर्तन न हो यह सम्भव भी नही है। यद्यपि सूत्रो में प्रयुक्त प्राकृत भाषा उस समय की सीधीसादी लोकभाषा थी, परन्तु समय के प्रवाह के साथ ही उसकी सुगमता ओझल हो गई और समझने के लिए व्याकरणो की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ मे व्याकरण तत्कालीन भाषानुगामी बने, परन्तु पिछले समय मे ज्यो-ज्यो प्राकृत का स्वरूप अधिक मात्रा मे बदलता गया त्यो-त्यो व्याकरणो ने भी उसका अनुगमन किया। फल यह हुआ कि हमारी "सौत्र-प्राकृत" पर भी उसका असर पड़े विना नही रहा। यही कारण है कि कुछ सूत्रो की भाषा नयी-सी प्रतीत होती है।

प्राचीन सूत्रों मे एक ही आलापक, सूत्र और वाक्य को बार-बार लिखकर पुनरुक्ति करने का एक साधारण नियम-सा था। यह उस समय की सर्वमान्य शैली थी। वैदिक, बौद्ध और जैन उस समय के सभी ग्रन्थ इसी शैली मे लिखे हुए हैं, परन्तु जैन आगमो के पुस्तकारूढ़ होने के समय यह शैली कुछ अशो मे बदलकर सूत्र संक्षिप्त कर दिये गये और जिस विषय की चर्चा एक स्थल मे व्यवस्थित रूप से हो चुकी होती, उसे अन्य स्थल मे सक्षिप्त कर दिया जाता था और जिज्ञासुओ के लिए उसी स्थल मे सूचना कर दी जाती थी कि "यह विषय अमुक सूत्र अथवा अमुक स्थल मे देख लेना"। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें, जो उस समय शास्त्रीय मानी जाने लगी थी, उचित स्थान मे यादी के तौर पर लिख दी गई जो आज तक उसी रूप मे दृष्टिगोचर होती हैं और अपने स्वरूप से ही वे नयी प्रतीत होती हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय भी पहले उन्ही आगमो को प्रमाण मानता था, जिन्हें आज तक श्वेताम्बर जैन मानते आए हैं। परन्तु छठी शताब्दी से जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय बहुत-सी बातो में श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुदा

पड गया था, खासकर केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति आदि वातो के एकान्त निपेध की प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी, तब से इन्होंने इन आगमों को अप्रामाणिक कह कर छोड दिया और नई रचनाओ से अपनी परम्परा को समृद्ध करने लगे थे।

दिगम्बर विद्वान् महावीर के गर्भापहार की बात को अर्वाचीन मानते हैं; परन्तु यह मान्यता दो हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है, ऐसा कथन डॉ० हर्मन जैकोबि आदि विद्वानो का है। यह कथन अटकल मात्र नही, ठोस सत्य है। इस विपय मे जिनको शका हो, वे मथुरा के ककाली टीला मे से निकले हुए "गर्भापहार का शिलापट्ट" देख लें, जो आजकल लखनऊ के म्युजियम मे सुरक्षित हैं। प्राचीन लिखित कल्पसूत्रों की पुस्तको मे जैसा इस विपय का चित्र मिलता है, ठीक उसी प्रकार का दृश्य उक्त शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। माता त्रिसला और पंखा झलने वाली दासी को अवस्वापिनी निद्रा मे सोते हुए और हिरन जैसे मुख वाले हरिनैगमेषी का अपने हस्त-सपुट मे महावीर को लेकर ऊर्ध्वमुख जाता हुआ बताया है। इस दृश्य के दर्शनार्थी लखनऊ के म्युजियम मे नं० जे ६२६ वाली शिला की तलाश करें।

इसी प्रकार भगवान् महावीर की "आमलकीक्रीडा" सम्बन्धी वृत्तान्तदर्शक तीन-शिलापट्ट कंकाली टीला मे से निकले हैं और इस समय मथुरा के म्युजियम में सुरक्षित हैं। इन पर नम्बर १०४६ F ३७ तथा १११५ है, उपर्युक्त दोनो प्रसगो से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख भी वहां मिलते हैं।

पाठकगण को ज्ञात होगा कि महावीर की "आमलकीक्रीडा" का वर्णन भी जैन श्वेताम्बर शास्त्रो में ही मिलता है, दिगम्बरो के ग्रन्थो मे इसका कही भी उल्लेख नही है।

उपर्युक्त दो प्रसंगो के प्राचीन लेखो और चित्रपटो से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि श्वेताम्बर जैन आगमों में वर्णित गर्भापहार और आमलकी क्रीडा का वृत्तान्त दो हजार वर्षों से भी अधिक प्राचीन है।

इस प्रकार श्वेताम्बर जैन-शास्त्रोक्त वृत्तान्तो के प्रामाणिक सिद्ध होने से उनके शास्त्रो की प्राचीनता और प्रामाणिकता स्वय सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बर जैनसघ के मान्य कल्पसूत्रो मे पुस्तक लिखने के समय की स्मृति मे लिखे हुए, वीर निर्वाण स० ९८० और ९९३ के उल्लेख मिलते हैं। और इस सूत्र की थेरावली मे भगवान् देवर्द्धिगणि तक की गुरु-परम्परा का भी वर्णन है। इन दो बातो के आधार पर दिगम्बर विद्वान् कह बैठते हैं कि कल्पसूत्र देवर्द्धिगणि की रचना है। पर वे यह जानकर आश्चय करेंगे कि इसी सूत्र की थेरावली मे वर्णित कतिपय गण, शाखा और कुलो के निर्देश राजा कनिष्क के समय मे लिखे गए मथुरा के शिलालेखो मे भी मिलते हैं। जिज्ञासु पाठक इसके लिए हमारी सम्पादित "कल्प-स्थविरावली" पढ़ें।

ऊपर हमने मथुरा के जिन लेखो और चित्रपटो का उल्लेख किया हैं, वे सब मथुरा के कंकाली टीला के नीचे दबे हुए एक जैन-स्तूप मे से सरकारी शोधखाता वालो को उपलब्ध हुए हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थ "आचाराग" की निर्युक्ति मे तथा "निशीथ" "बृहत्कल्प" और "व्यवहार" सूत्रो के भाष्यो और चूर्णियो मे इस स्तूप का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों के रचनाकाल मे यह स्तूप जैनों का अत्यन्त प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। चूर्णिकारो के समय मे यह "देवनिर्मित स्तूप" के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था, "व्यनहारचूर्णि" मे इसकी उत्पत्ति-कथा भी लिखी मिलती है। इस स्तूप मे से उक्त लेखो से भी सैकड़ो वर्षों के पुराने अन्य अनेक लेख तीर्थङ्करों की मूर्तियां, पूजा-पट्टक, प्राचीन पद्धति की अग्रावतार वस्त्र वाली जैन-श्रमण की मूर्ति आदि अनेक स्मारक मिले हैं जो सभी श्वेताम्बर जैन परम्परा के हैं और लखनऊ तथा मथुरा के अजायबघरो मे संरक्षित हैं। इन अतिप्राचीन स्मारको मे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला कोई स्मारक अथवा उनके चतुर्दश पूर्वधर, दश पूर्वधर, एकादशांगधर, अंगधर या उनके बाद के किसी प्राचीन आचार्य का नाम या उनके गण, गच्छ, या संघ का कहीं नामोल्लेख

तक नहीं है। गुप्तकालीन कुछ नग्न जिनप्रतिमाएँ भी वहां से हाथ लगी हैं, उसका कारण यह है कि मिहिरगुल हूण राजा के उपद्रवो के समय उत्तर तथा पश्चिम भारत के श्वेताम्वर सम्प्रदाय राजस्थान, मेवाड़ और मालवा की तरफ आ गये थे, उस समय दिगम्बरो ने कही-कही अपने सम्प्रदाय की नग्न मूर्तियां मथुरा के स्तूप में वैठा दी थी, जो गुप्तकालीन, विक्रम की सप्तम तथा अष्टम शती मे वनी हुई है, इससे प्राचीन नही। श्वेताम्बर जैन परम्परा कितनी प्राचीन है और उसके वर्तमान आगम कैसे प्रामाणिक हैं इसके निर्णय के लिए हमारा उपर्युक्त थोड़ा सा विवेचन ही पर्याप्त होगा।



निह्नवों का निरूपण

भगवान् महावीर के समय में जैन-संघ अविभक्त था। पर आज जैन-धर्म का अनुयायी वर्ग दो विभागों में बंटा हुआ है : १. श्वेताम्बर सम्प्रदाय में और २. दिगम्बर सम्प्रदाय में। महावीर के केवलज्ञान प्राप्त कर अपना तीर्थ स्थापित करने के पूर्व जैन धर्म का अनुयायी वर्ग साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का अनुयायी था।

विक्रम सवत् के पूर्व ५०० (ई० ५५७) मे जब भगवान् महावीर ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया और वैशाख शुक्ला ११ को पावामध्यमा के महासेन उद्यान मे चतुर्विध संघ की स्थापना की, तब से जैन-संघ पर भगवान् महावीर का धर्मशासन आरम्भ हुआ था। पार्श्वनाथ के कतिपय श्रमणगण जो तत्काल महावीर के शासन के नीचे नही आये थे, वे धीरे-धीरे सशय दूर करके महावीर के उपदेशानुसार चलने लगे थे और भगवान् महावीर का धर्मशासन व्यवस्थित रूप से चलता था।

भगवान् महावीर के जीवनकाल में दो साधु ऐसे निकले जिन्होंने भगवान् के वचन मे सदेह किया और अपना नया मत प्रचलित किया। इन दो मे पहले का नाम "जमालि और दूसरे का नाम "तिष्यगुप्त" था। इन दो के अतिरिक्त ५ व्यक्तियो ने महावीर के निर्वाण के बाद भिन्न-भिन्न विषयो मे महावीर के कथन से अपना मतभेद व्यक्त किया था। वे सात ही मतवादी "निह्नव" कहे गये हैं, इनका कालक्रम से विशेष विवरण नीचे दिया जाता है :

(१) बहुसमयवादी जमालि

भगवान् महावीर के धर्मशासन के १४ वर्ष के अन्त में सर्वप्रथम जमालि नामक एक शिष्य ने भगवान् के एक आदेश का उल्लंघन किया।

जमालि क्षत्रियकुण्डपुर का रहने वाला क्षत्रियपुत्र था। वह महावीर का जामाता लगता था, पाच सौ क्षत्रियपुत्रो के साथ महावीर के पास निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म को स्वीकार किया था और एकादशांगश्रुत पढ़ा था।

एक बार जमालि ने अपने सहप्रव्रजित पांच सौ साधुओ के साथ पृथक् विहार करने की महावीर से आज्ञा मागी, पर महावीर ने उसे कोई उत्तर नही दिया। दूसरी, तीसरी बार पूछने पर भी भगवान् की तरफ से कोई उत्तर नही मिला, तब जमालि ५०० श्रमणो को साथ ले महावीर से पृथक् हो विचरने लगा।

एक बार वह श्रावस्ती नगरी के "तिन्दुकोद्यान के कोष्टक चैत्य" मे ठहरा हुआ था। वहां तप और रूक्ष आहारादि के कारण इसका स्वास्थ्य बिगडा और ज्वर आने लगा। शाम का प्रतिक्रमणादि नित्यकर्म करने के बाद उसने सोने की इच्छा व्यक्त की। वैयावृत्यकर साधु उसके लिए सस्तारक बिछाने लगा, आतुरतावश जमालि ने पूछा: 'सस्तारक हो गया?' वैयावृत्यकर ने कहा: 'हो गया' जमालि उठा, पर खड़े होने के बाद मालूम हुआ कि संस्तारक बिछ रहा है। जमालि ने कहा: सस्तारक हो रहा था तब कैसे कह दिया कि हो गया? गीतार्थ स्थविरो ने उत्तर दिया कि 'यह नयसापेक्ष वचन है, ऋजुसूत्रनय के मत से इस प्रकार के वचन सत्य माने गये हैं।' भगवान् महावीर ने इसी नय की अपेक्षा से "करेमाणे कडे, डज्झमाणे डड्ढे, गम्ममाणे गए, णिज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे" (क्रियमाणं कृत, दह्यमानं दग्धं, गम्यमानं गतं, निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णं; इत्यादि वचनप्रयोग किये हैं और इसी नय के अनुसार "संथरिज्जमाणे संथरिये" अर्थात् "संस्तारक करना शुरु किया था, इसे किया कहा, यह वचन निश्चय नय के मत से सत्य है। निश्चय नय के मत से

जो क्रिया जिस कार्य के लिए प्रवृत्त होती है वह अपने पीछे कुछ कार्य करके ही विराम पाती है, क्योकि निश्चय नय क्रिया-काल और निष्ठा-काल को अभिन्न मानता है, परन्तु रुग्ण जमालि के दिमाग में यह नयवाद नही उतरा और कहने लगा : जब तक कोई भी कार्य अर्थ-साधक नहीं बनता, तब तक उसे "हुआ" नही कहना चाहिए। संस्तारक हो रहा था, उसे हुआ कहा पर वह "शयनक्रियोपयुक्त" नही हुआ, फिर "हुआ" कहने से क्या मतलब निकला ? सत्य बात तो यह है कि "पूर्ण हुए को ही 'हुआ' कहना चाहिए जो ऐसा नही कहते वे असत्यभाषी हैं।" कार्य एक समय मे नही बहुतेरे समयो के अन्त मे निष्पन्न होता है।

जमालि का उक्त अभिनिवेश देख कर अधिकांश श्रमण उसे छोड़ कर महावीर के पास चले गये। फिर भी जमालि आप जीवनपर्यन्त अपने दुराग्रह के कारण अकेला ही "बहुरत" वाद का प्रतिपादन करता हुआ निह्नव के नाम से प्रसिद्ध हुआ और महावीर के वचन का विरोध करता रहा।

प्रियदर्शना साध्वी, जो गृहस्थाश्रम में महावीर की पुत्री और जमालि की भार्या थी, एक हजार स्त्रीपरिवार के साथ दीक्षित होकर महावीर के श्रमणीसघ में दाखिल हुई थी। वह भी जमालि के राग से उसके मत को खरा मानती थी और अपनी हजार श्रमणियों के परिवार से परिवृत हुई प्रियदर्शना श्रावस्ती मे ढक नामक महावीर के कुंभकार श्रमणोपासक की भाण्डशाला मे ठहरी हुई थी। वह जमालि के बहुसामयिक सिद्धान्त का उपदेश कर रही थी। कुभकार ढंक ने अपने आपाक-स्थान (निवाहे) से एक आग की चिनगारी साध्वी की संघाटी पर फेंकी, सघाटी के सुलगते ही प्रियदर्शना ने कहा : श्रावक ! यह क्या किया ? मेरी सघाटी (चद्दर) जला दी ! ढक ने कहा : यह क्या कहती हो, संघाटो जलाई ? अभी तो संघाटी जलने लगी है, जली कहां ? यहा साध्वी समझ गई, बोली : अच्छा उपदेश दिया ढक ! अच्छा उपदेश दिया। वह अपनी हजार साध्वियो के साथ जाकर महावीर के श्रमणी-सघ में मिल गई, फिर भी जमालि ने अपने नूतन सिद्धान्त का त्याग नही किया।

(२) जीवप्रदेशवादी तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुए १६ वर्ष हुए तब ऋषभपुर अर्थात् राजगृह मे जीवप्रदेशवादी दर्शन उत्पन्न हुआ। इसका विशेष विवरण इस प्रकार है :

एक समय चतुर्दश पूर्वधर वसु नामक आचार्य राजगृह नगर के गुणशिलक-चैत्य मे ठहरे हुए थे। वसु के तिष्यगुप्त नामक शिष्य था, जो आत्मप्रवाद पूर्वगत यह आलापक शिष्यो को पढा रहा था, जैसे :

"एगे भते ! जीवपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया ? नो इणमट्ठे समट्ठे, एव दो जीवपएसा-तिण्णि-सखेज्जा-असखेज्जा वा, जाव एगेणावि पदेसेण ऊणो णो जीवोत्ति वत्तव्वं सिया, जम्हा कसिणे-पडिपुण्णे-लोगागासपदेस-तुल्लपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं।"

अर्थात् 'हे भगवन् ! एक आत्मप्रदेश को जीव कह सकते हैं ?, इस प्रश्न का उत्तर मिला, यह बात नही हो सकती। इसी प्रकार दो जीव-प्रदेश, तीन जीवप्रदेश, सख्येय जीवप्रदेश, असख्येय जीवप्रदेश भी जीव नाम को प्राप्त नही कर सकते। यावत् आत्म-प्रदेशो के पिण्ड मे से एक भी प्रदेश कम हो, तब तक उसको जीव नही कहा जा सकता, क्योकि सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण लोकाकाश-प्रदेशतुल्य प्रदेश वाला जीव ही "जीव" इस नाम से व्यवहृत होता है।'

जीव सम्बन्धी उक्त व्याख्या पर चिन्तन करते हुए, तिष्यगुप्त के मन मे यह विचार आया—जब कि एक आदि प्रदेशहीन 'जीव', 'जीव' नही है। यावत् एक प्रदेशहीन आत्मप्रदेशपिण्ड भी 'जीव' नाम को नही पाता, किन्तु अन्तिम प्रदेशयुक्त ही जीव नाम प्राप्त करते है, तो वह एक अन्तिम प्रदेश ही जीव है, यह क्यो न मान लिया जाय ? क्योकि वही प्रदेश जीवभाव से भावित है। इस प्रकार का प्रतिपादन करते हुए तिष्यगुप्त को गुरु ने कहा . यह बात ऐसी नही है जैसी तुम समझ रहे हो। ऐसा मानने पर जीव का ही अभाव मानना पड़ेगा, क्योकि तुम्हारे अभिमत "अन्त्य जीव-

प्रदेश को भी अजीव ही मानना पडेगा। क्योंकि अन्य प्रदेशों से इसका कोई भेद नही है अथवा प्रथमादि प्रत्येक प्रदेश को जीव मानना पडेगा, इत्यादि अनेक युक्तियो से आचार्य ने तिष्यगुप्त को समझाया, फिर भी उसने अपने दुराग्रह को नही छोडा। तब गुरु ने उसे अपने समुदाय से पृथक् कर दिया, फिर भी वह अनेक प्रकार की असत्कल्पनाओ से अपने अभिनिवेश को पुष्ट करता और लोगो को व्युद्ग्राहित करता हुआ कालान्तर में 'आमलकल्पा' नगरी गया। वहा अम्बशाल वन मे ठहरा। आमलकल्पा में "मित्रश्री" नामक एक श्रमणोपासक रहता था। वह जानता था कि "तिष्यगुप्त" प्रदेशवादी है, उसने तिष्यगुप्त को निमन्त्रण दिया कि आप स्वय मेरे घर पधारियेगा। तिष्यगुप्त कुछ साधुओ के साथ गया। मित्रश्री ने उसे आसन पर बिठाया और बैठने पर अनेक प्रकार के खाद्य पक्वान वहा लाये। प्रत्येक पदार्थ मे से थोड़ा-थोड़ा टुकड़ा पात्र मे रखा, भात में से चावल का एक दाना, दाल शाक में से एक-एक बूंद। इसी प्रकार वस्त्र का अन्तिम धागा उसको देकर पैरो मे सिर नवांया और अपने मनुष्यों को कहा : आओ, वन्दन करो, साधु महाराज को दान दिया है। आज मैं पुण्यवान् तथा भाग्यशाली हुआ जो आप स्वय मेरे घर आए। तब साधु बोले : हे महानुभाव! क्या तुम आज हमारा ठट्ठा कर रहे हो? श्रावक ने कहा : मैंने आपके सिद्धान्तानुसार आपको दान दिया है, यदि आप कहे तो वर्धमान स्वामी के सिद्धान्त से दान दूँ? यहां पर "तिष्यगुप्त" समझा और बोला : आर्य, तुमने बहुत अच्छी प्रेरणा की, बाद मे श्रावक ने विधिपूर्वक अन्नवस्त्रादि का दान दिया और अन्त मे मिथ्यादुष्कृत दिया।

उक्त रीति से 'तिष्यगुप्त' और उनके शिष्य ठिकाने आये और अपनी भूल का प्रायश्चित्त कर विचरने लगे।

ऊपर लिखे बहुरत जमालि और प्रदेशवादी तिष्यगुप्त इन दोनों ने भगवान् महावीर की जीवित अवस्था में ही उनके सिद्धान्त से अमुक विषयों में अपना नया मत प्रचलित किया था। इनमे से तिष्यगुप्त और उनके शिष्य कालान्तर में अपना मत छोड़कर महावीर के सिद्धान्त से अनुकूल हो

गये थे, पर जमालि अन्त तक अपने मत को पकडे रहा था और महावीर के श्रमणो की दृष्टि में वह बिलकुल गिर गया था ।

महावीर के केवलिजीवन के ३० वर्षो मे गोशालक के साथ जो खटपट हुई थी, उसका परिणाम महावीर को भोगना पडा था । फिर भी उस प्रकरण की समाप्ति छः महीनो के अ त मे हो गई थी, पर जमालि के विरोध की समाप्ति जमालि की जीवित अवस्था मे नही हुई थी ।

उक्त तीन प्रसगो के अतिरिक्त महावीर की जिनावस्था मे कोई भी अनिष्ट प्रसग नही बना था ।

(३) अव्यक्तवादी आषाढाचार्य शिष्य

भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए दो सौ चौदह वर्ष बीतने पर आषाढाचार्य के शिष्यो ने श्वेतविका नगरी मे महावीर के शासन मे अव्यक्त-वादी दर्शन की उत्पत्ति की । इस घटना का विवरण इस प्रकार है :

श्वेतविका नगरी के पोलासोद्यान मे आर्य आषाढ नामक आचार्य आए हुए थे । वहा पर उनके अनेक शिष्यो ने आगाढ योग मे प्रवेश किया था । आषाढाचार्य ही उन योगवाहियो के वाचनाचार्य थे, एक रात्रि मे हृदयशूल से आषाढाचार्य मरकर सौधर्म देवलोक मे "नलिनीगुल्म" नामक विमान मे देव हुए । उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान से उपयोग लगाया तो अपने पूर्वभविक शरीर को देखा, आगाढ योगवाही साधुओ को तब तक पता नही है कि आचार्य काल कर गए हैं । तब आचार्य के जीव देव ने "नलिनि-गुल्म" से आकर अपने उस शरीर मे प्रवेश कर योगवाही साधुओ को उठाया और वैरात्रिक काल लिवाया । इस प्रकार देव ने अपने दिव्य प्रभाव से निर्विघ्नतापूर्वक योगवाही साधुओं का कार्य पूरा करवाया । बाद में उसने कहा : "खमिएगा भगवन्त ! आज तक मैंने असयत होते हुए भी आपसे वन्दन करवाया । मैं अमुक दिन की रात्रि मे कालधर्म प्राप्त हुआ था और तुम्हारे ऊपर दया लाकर आया था । इस प्रकार वह अपनी सर्व हकीकत व्यक्त करके साधुओ से क्षमा मांग कर चला गया । साधु भी

आचार्य के शरीर का विसर्जन कर सोचने लगे : "इतने समय तक हमने असयत को वन्दन किया। वे अव्यक्तभाव की प्ररूपणा करते हुए बोले : कौन जानता है कि यह साधु है या देव ? इसलिए किसी को वन्दन नही करना चाहिए, क्योकि निश्चय विना असयत को नमन करना अथवा अमुक असयत को सयत कहना मृषावाद है। इस पर स्थविरो ने उनको समझाया . यदि सयत के विषय मे देव होने की शंका होती है तो देव के विषय मे साधु की शका क्यो नही होती ? अथवा तो देव के विषय मे अदेव की शका क्यो नही होती ? देव ने अपना रूप बता कर कहा कि मैं देव हूँ, तो साधु साधु के रूप मे रहा हुआ कहे कि मैं साधु हूँ, तो इसमे शंका क्यो की जाती है ? क्या देव का वचन ही सच हैं ? और साधुरूपधारी का नहो ? जो जानते हुए भी परस्पर वन्दना नही करते हो, "इत्यादि अनेक प्रकार से स्थविरों ने योगवाही साधुओ को समझाया परन्तु उन्होने अपना 'अव्यक्तवाद' नही छोड़ा। तव अपने गच्छ से उन्हे पृथक् कर दिया। विचरते हुए वे राजगृह नगर गए। वहा मौर्य्यवंशीय वलभद्र नामक राजा श्रमणोपासक था। उसने जाना कि अव्यक्तवादी साधु यहां आए हुए है, तव उसने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि जाओ गुणशिलक चैत्य से साधुओ को वुला लाओ। राजसेवक साधुओं को राजा के पास ले आये। राजा ने अपने पुरुषो को आज्ञा दी : जल्दी इन्हे सैन्य से मरवा डालो। राजा की आज्ञा होते ही वहा हाथी आदि सैन्यदल आया देख कर अव्यक्तवादी बोले : हम जानते हैं कि तुम श्रावक हो, फिर हम साधुओ को कैसे मरवाते हो ? राजा ने कहा : तुम चोर हो, चारिक हो अथवा अभिमर हो, कौन जानता है ? अव्यक्तवादी वोले : हम साधु हैं। राजा ने कहा : तुम कैसे साधु हो, जो अव्यक्तवाद को पकड़े हुए परस्पर वन्दन तक नही करते। तुम श्रमण हो या चारिक, यह कौन कह सकता है ? मैं भी श्रावक हूँ या नही, यह निश्चय से कौन कह सकता है ? यहा अव्यक्तवादी समझे। लज्जित हुए और अव्यक्तवाद को छोड़ कर निश्शंकित हुए। तव राजा ने कठोर और कोमल वचनो से उपालम्भ देते हुए कहा : तुमको समझाने के लिए यह सब प्रवृत्ति की है, माफ करना, यह कह कर उन्हे मुक्त किया।

(४) सामुच्छेदिक - अश्वमित्र

भगवान् महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ३२० वर्ष के बाद मिथिलापुरी मे "सामुच्छेदिक दर्शन" उत्पन्न हुआ।

उपर्युक्त दर्शन के सम्बन्ध मे "आवश्यक भाष्यकार" ने निम्नलिखित विशेष विवरण दिया है :

मिथिला नगरी के लक्ष्मीधर चैत्य मे महागिरि आचार्य के शिष्य कौडिन्य नामक ठहरे हुए थे। कौडिन्य का शिष्य अश्वमित्र था, वह आत्मप्रवाद पूर्व का नैपुणिक वस्तु पढ रहा था। वहा छिन्नछेद नय की वक्तव्यता का आलापक आया, जैसे :

'पडुप्पन्नसमयनेरइया वोच्छिज्जिस्सति, एवं जाव वेमाणियत्ति, एवं विइयादिसमएसु वत्तव्वं, एत्थ तस्स वितिगिच्छा जाया।"

अर्थात् 'वर्तमान समय के नारकीय जीव समयान्तर मे व्युच्छिन्न हो जावेगे एव असुरादि यावत् वैमानिक समझना। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीयादि समयो मे उत्पन्न होने वालो का व्युच्छेद कहना। यहा अश्वमित्र को शका उत्पन्न हुई, जैसे : "सर्व वर्तमान समय मे उत्पन्न होने वालो का व्युच्छेद हो जायगा, तब सुकृत-दुष्कृत कर्मों के अणुओ का वेदन कैसे होगा, क्योकि उत्पाद के अनन्तर तो सब का विनाश ही हो जायगा।'

इस प्रकार की प्ररूपणा करते हुए "अश्वमित्र' को आचार्य कौडिन्य ने कहा : यह सूत्र एक नयमताश्रित है। इसको सिद्धान्त समझ कर शेष नयो से निरपेक्ष होकर मिथ्यात्व का समर्थक न बन। हृदय से विचार कर, कालपर्याय के नाश मे किसी का सर्वथा विनाश नही होता, वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। वह अनेक स्वपर पर्यायो से युक्त होती है। सूत्र में ऐसा लिखा है कि इस बात पर भी निर्भर न बन, क्योकि सूत्र में तो उन्ही द्रव्यो को शाश्वत भी कहा है। जो भी वस्तु द्रव्य रूप से शाश्वत है, वही पर्यव रूप से अशाश्वत भी है। उसमे भी समयादि का विशेषण

होने से सर्वनाश नहीं समझना चाहिए, अन्यथा सर्वनाश मे रामयादि के विशेषण का उपन्यास निरर्थक होता, इत्यादि अनेक युक्तियों से समझाने पर भी अपना हठाग्रह नही छोड़ा, तब उसे समुदाय मे से निकाल दिया। वह समुच्छेदवाद का प्रचार करता हुआ, काम्पिल्यपुर गया। काम्पिल्यपुर मे "खण्डरक्ष" नामक श्रावक रहते थे। वे शुल्कपाल भी थे। उन्होने वहां आए हुए सामुच्छेदिको को पकडवाया और मरवाना शुरु किया। भयभीत होकर वे बोले : हमने तो सुना था कि तुम श्रावक हो, फिर भी इस प्रकार साधुओ को मरवाते हो? 'खण्डरक्षक' ने कहा : जो साधु थे वे उसी समय व्युच्छिन्न हो गए। तुम्हारा ही तो यह सिद्धान्त है, इसलिए तुम दूसरे कोई चोर हो। उन्होने कहा : मत मरवाओ, हम वे ही साधु हैं जो पहले थे। इस प्रकार उन्होने सामुच्छेदिकता का त्याग कर सिद्धान्त मार्ग को स्वीकार किया।

(५) द्विक्रियावादी आर्य गंग

भगवान् महावीर को सिद्धि प्राप्त होने के बाद ३२८ वर्ष व्यतीत होने पर उल्लुकातीर नगर मे "द्विक्रियावादियो का दर्शन" उत्पन्न हुआ।

इसका विशेष विवरण भाष्यकार निम्न प्रकार से देते हैं :

उल्लुका नाम की नदी थी। उसके आसपास का प्रदेश भी उल्लुका जनपद के नाम से पहिचाना जाता था। नदी के दोनों तटों पर दो नगर बसे हुए थे, एक का नाम "खेट" दूसरे का नाम "उल्लुका तीर" नगर था। वहां पर महागिरि के शिष्य "धनगुप्त" नामक आचार्य रहे हुए थे, धनगुप्त के शिष्य आचार्य गग थे। वह नदी के पूर्वी तट पर थे, तब उनके गुरु आचार्य धनगुप्त पश्चिम तट स्थित नगर मे। शरत्काल मे आचार्य "गग" अपने गुरु को वन्दन करने के लिए चले। वे सिर मे गजे थे। उल्लुकानदी को उतरते हुए उनका गंजा सिर धूप से जलता था, तब नीचे पगो मे शीतल पानी से शैत्य का अनुभव होता था। गंग सोचने लगे : सूत्रो में कहा है : एक समय मे एक ही क्रिया का ज्ञान होता है, शीत-

स्पर्श अथवा उष्ण-स्पर्श का। परन्तु मैं तो दो क्रियाओ का अनुभव कर रहा हूँ, इसलिये एक समय मे एक नही, दो क्रियाओ का अनुवेदन होता है। आचार्य गग की वात सुनकर आचार्य धनगुप्त ने कहा : "आर्य, ऐसी प्रज्ञापना न कर, एक समय मे दो क्रियाओ का वेदन नही होता। क्योकि समय और मन बहुत सूक्ष्म होते हैं, वे भिन्न-भिन्न होते हुए भी स्थूलबुद्धि मनुष्य को एकसमयात्मक प्रतीत होते हैं, उत्पलपत्रशतवेधकी तरह'। इत्यादि प्रकार से गग को समझाने पर भी जब उसने अपना हठवाद न छोड़ा तब उसे श्रमणसघ से पृथक् कर दिया। वह चलता हुआ राजगृह पहुंचा। वहा पर "महातपोतीर प्रभव" नामक एक बडा पानी का झरना हैं, उसके निकट "मणिनाग" नामक नागजाति के देव का चैत्य है। आचार्य गग "मणिनाग चैत्य" के निकट ठहरे और एक समय मे दो क्रियाओ के अनुभव की वात कहने लगे, तब मणिनाग ने उस परिषद् के मध्य मे कहा : "अरे दुष्ट शिष्य! अप्रज्ञापनीय का प्रज्ञापन कैसे करता है? इसी स्थान मे ठहरे हुए भगवान् वर्धमान स्वामी ने कहा है : एक समय मे एक ही क्रिया का वेदन होता है, क्या तू उनसे भी बढकर हो गया? छोड़ दे इस वाद को। तेरे इस दोष से मुझे शिक्षा करनी न पडे इसलिए कहता हूँ। मणिनाग की धमकी और उपपत्ति से समझ कर गग बोला . हम चाहते हैं कि गुरु के पास जाकर अपनी इस विरुद्ध प्ररूपणा की क्षमा माग ले।

(६) त्रैराशिक - रोहगुप्त

महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ५४४ वर्ष व्यतीत होने पर "अन्तरजिका नगरी" मे त्रैराशिक दर्शन उत्पन्न हुआ, इस दर्शन की उत्पत्ति का विशेष वर्णन इस प्रकार है :

अन्तरजिका नगरी के वाहर "भूतगुहा" नामक चैत्य था, जहा पर श्रीगुप्त नामक आचार्य ठहरे हुए थे। उस नगर के तत्कालीन राजा का नाम था "वलश्री"। "स्थविर श्रीगुप्त" का "रोहगुप्त" नामक शिष्य था। वह अन्य गाव मे ठहरा हुआ था। एक समय अपने अध्यापक श्रीगुप्त को

वन्दन करने "अन्तरजिका" को जा रहा था, उस समय एक परिव्राजक अपने पेट पर लोह का पट्टा बाधकर जामुन की टहनी हाथ में लिये चल रहा था। पूछने पर वह कहता था, ज्ञान से पेट फट न जाय इसलिए पेट पर लोहे का पट्टा बाधा है। जम्बू की टहनी के सम्बन्ध में कहा : जबू-द्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नही है। उसने नगर मे ढिढोरा पिटवाया कि परप्रवाद सभी शून्य हैं, लोगो ने उसकी इस स्थिति को देख "पोट्टसाल" नाम रख दिया। गुरु के पास जाते रोहगुप्त ने ढिण्ढोरे को रोका और कहा : मैं वाद करूगा, बाद में वह अपने आचार्य के पास गया और कहा : मैंने परिव्राजक का ढिण्ढोरा रुकवाया है। आचार्य ने कहा : बुरा किया, क्योंकि वह विद्याबली है, बाद मे पराजित हो जायगा तो भी विद्याओ से सामना करेगा। आचार्य ने रोहगुप्त को परिव्राजक की विद्याओं का पराजय करने वाली प्रतिविद्याओ को देकर अपना रजोहरण दिया और कहा : विद्याओ के अतिरिक्त कोई उपद्रव खड़ा हो जाय; तो इसको घुमाना, अजेय हो जायगा। विद्याओ को लेकर रोहगुप्त राजसभा मे गया और बोला, यह क्या जानता है ? भले ही यह अपना पूर्वपक्ष खड़ा करे। परिव्राजक ने सोचा, ये लोग चतुर होते हैं। अतः इन्ही का सिद्धान्त ग्रहण कर वाद करूँ। उसने कहा : ससार मे "जीव" और "अजीव" ये दो राशियां होती हैं। रोहगुप्त ने विचार किया, इसने हमारा ही सिद्धान्त स्वीकार किया है तो इसकी बुद्धि को चक्कर मे डालने के लिए मैं तीन राशियो की स्थापना करूं, यह सोचकर वह बोला : राशि दो नही पर तीन हैं—जीव, अजीव, नोजीव। इनमे शरीरधारी मनुष्य, पशु आदि संसारी जीवों का समावेश जीव राशि मे होता है। घर, वस्त्रादि प्राणहीन सभी पदार्थ "अजीव राशि" मे आते हैं और तत्काल मूल शरीर से जुदा पड़ी हुई छिपकली की पूंछ आदि "नोजीव" मे जानना चाहिये। जिस प्रकार दण्ड का आदि, मध्य, अन्त भाग होता है उसी प्रकार सर्व पदार्थ तीन राशियों मे बटे हुए हैं—जीवों मे, अजीवो मे और नोजीवो मे। इस प्रकार रोहगुप्त द्वारा तर्क-वाद मे निरुत्तर हो जाने से परिव्राजक ने रुष्ट होकर अपनी विद्याएँ रोहगुप्त पर छोड़ी, रोहगुप्त ने भी उन पर प्रतिपक्ष-विद्याएँ छोड़ी। जब परिव्राजक का कोई वश नहीं चला तब उसने अपनी संरक्षित गर्दभी विद्या

छोडी। रोहगुप्त ने उसको अपने रजोहरण से परास्त किया। सभा मे रोहगुप्त की जीत और परिव्राजक पोट्टशाल की हार उद्घोषित हुई। परिव्राजक को पराजित करके रोहगुप्त अपने आचार्य के पास गया और अपनी युक्ति-प्रयुक्तियो का वर्णन किया। आचार्य ने कहा : सभा से उठते हुए तुझे स्पष्टीकरण करना चाहिये था कि हमारे सिद्धान्त मे तीन राशिया नही हैं, मैंने जो यहा तीन राशियो की प्ररूपणा की है, वह वादी की बुद्धि को पराभूत करने के लिए। आचार्य ने कहा : अब भी राजसभा मे जाकर खरी स्थिति का स्पष्टीकरण कर दे। पर रोहगुप्त जाने के लिए तैयार नही हुआ। आचार्य के बार-बार कहने पर वह बोला : अगर तीन राशिया कही तो इसमे कौनसा दोष लग गया, क्योकि तीन राशिया तो हैं ही। आचार्य श्रीगुप्त ने कहा, आर्य ! तू जो बात कह रहा है वह असद्भावविषयक है, इससे तीर्थङ्करों की आशातना होती है। फिर भी उसने आचार्य का वचन स्वीकार नही किया और उनके साथ वाद करने लगा, तब आचार्य राजकुल मे गए और कहा : मेरे उस शिष्य ने आपकी सभा मे जो तीन राशियो की प्ररूपणा की है वह अपसिद्धान्त है। हमारे सिद्धान्त मे दो ही राशि मानी गई हैं, परन्तु इस समय हमारा वह शिष्य हमसे भी विरुद्ध हो गया है। अत आप हमारे बीच होने वाले वाद को सुनें। राजा ने स्वीकार किया और उन दोनो गुरु-शिष्यो का वाद राजसभा मे आरम्भ हुआ। एक-एक दिन करते छः मास निकल गए। राजा ने कहा : मेरे राज्यकार्य बिगड़ते हैं, आचार्य ने कहा : इतने दिन मैंने अपनी इच्छा से विलम्ब किया, अब आप देखिए ! कल ही इसको निगृहीत कर दूंगा। दूसरे दिन आचार्य ने राजा से कहा : कुत्रिकापण मे ससार भर के सब द्रव्य रहते हैं, आप वहां से जीव, अजीव और नोजीव, इन तीनो द्रव्यों को मगवाइये। राजपुरुष कुत्रिकापण को भेजे गए और उन्होने उक्त तीनो पदार्थों को वहां मांगा। कुत्रिकापण की अधिष्ठायिका देवता ने "जीव" मागने पर "सजीव पदार्थ" दिया, "अजीव" के मागने पर "निर्जीव पदार्थ" दिया, पर नोजीव के मागने पर कुछ नही दिया। इस ऊपर से "राजसभा मे रोहगुप्त का सिद्धान्त अपसिद्धान्त माना गया।"

आचार्य श्रीगुप्त ने अपना खेलमात्रक रोहगुप्त के सिर पर फोड़ा और उसे निकाल दिया। राजा ने नगर मे उद्घोषणा करवाई कि "वर्द्धमान जिन का शासन जयवन्त है" और पराजित रोहगुप्त को राजा ने अपने राज्य की हद छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी।

रोहगुप्त ने "मूल छः पदार्थो को पकड़ा, जैसे : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय"। द्रव्य उसने नौ माने, "पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।" गुण उसने १७ माने हैं, जैसे : "रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।" कर्म पाच प्रकार का माना है : उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण और गमन। सामान्य दो प्रकार का, "महासामान्य-सत्तासामान्य और सामान्य-विशेष।" विशेष अनेक प्रकार के माने हैं, 'इह' इस प्रकार के प्रत्यय का हेतु समवाय है।

रोहगुप्त ने वैशेषिक दर्शन का प्रणयन किया, दूसरो ने आगे से आगे प्रसिद्ध किया। इसको औलुक्य दर्शन भी कहते हैं, क्योकि रोहगुप्त गोत्र से औलुक्य थे।

(७) अबद्धिक - गोष्ठामाहिल

महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ५८४ वर्ष बीते तब दशपुर नगर में "अबद्धिक दर्शन" उत्पन्न हुआ, इसका विवरण नीचे लिखे अनुसार है :

दशपुर नगर मे इक्षुघर मे आर्यरक्षित के तीन पुष्यमित्र नामक साधु और गोष्ठामाहल आदि ठहरे हुए थे। विन्ध्य नामक साधु आठवें "कर्मप्रवादपूर्व" मे लिखे अनुसार कर्म का स्वरूपवर्णन करता था, जैसे : "कुछ कर्म जीवप्रदेशो से बद्ध मात्र होता है, कालान्तर में वह जीवप्रदेशो से जुदा पड़ जाता है। कुछ कर्म बद्ध और स्पष्ट होता है, वह कुछ विशेष कालान्तर के बाद जुदा पड़ता है। कुछ कर्म बद्ध-स्पष्ट और निकाचित होता है जो जीव के साथ एकत्वप्राप्त होकर कालान्तर में अपना फल बताता है। विन्ध्य की यह व्याख्या सुनकर गोष्ठामाहिल बोला : कर्मबन्ध की

व्याख्या इस प्रकार से करोगे तब तो कर्म से जीव वियुक्त होगा ही नही, अन्योन्य अविभक्त होने से जीवप्रदेशो की तरह। इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करो, जैसे : कचुकी-पुरुष का कंचुक स्पृष्ट होकर रहता है, वद्ध होकर नही। इसी प्रकार कर्म भी जीव से बद्ध न होकर स्पृष्ट होकर उसके साथ रहता है। इस प्रकार गोष्ठामाहिल की व्याख्या सुनकर विन्ध्य ने कहा : गुरु ने तो हम लोगो को इसी प्रकार का व्याख्यान सिखाया है। गोष्ठामाहिल ने कहा : वह इस विषय को नही जानता, व्याख्यान क्या करेगा। इस पर विन्ध्य शकित होकर पूछने को गया, इसलिए कि शायद मेरे समझने मे गलती हुई हो। उसने जाकर दुर्वलिका पुष्यमित्र को पूछा, तव उन्होने कहा : जैसा मैंने कहा था वैसा ही तुमने समझा है. इस पर गोष्ठामाहिल का वृत्तान्त कहा, तब गुरु ने कहा : गोष्ठामाहिल का कथन मिथ्या है। यहां पर उसकी प्रतिज्ञा ही प्रत्यक्ष विरोधिनी है, क्योकि आयुष्यकर्म-वियोगात्मक मरण प्रत्यक्षसिद्ध है, उसका हेतु भी अनैकान्तिक है, क्योकि अन्योन्य अविभक्त पदार्थ भी उपाय से वियुक्त होते हैं, जैसे : दूध से पानी, दृष्टान्त भी साधनधर्मानुगत नही है। स्वप्रदेश का युक्तत्व असिद्ध होने से अपने स्वरूप से अनादि काल से कर्म जीव से भिन्न है। अपने अनुयोगधर के पास कर्मवध सम्बन्धी विवरण सुनने के वाद विन्ध्य ने गोष्ठामाहिल को कहा : आचार्य इस प्रकार कहते है, इस पर वह मौन हो गया। मन मे वह सोचता था, अभी इसको पूरा होने दो, वाद मे मैं इसकी गलतियां निकालूंगा।

एक दिन नवम पूर्व मे साधुओ के प्रत्याख्यान का वर्णन चलता था, जैसे : "प्राणातिपात का त्याग करता हूं, यावज्जीवनपर्यन्त" गोष्ठामाहिल ने कहा : इस प्रकार प्रत्याख्यान की सीमा वांधना अच्छा नही है, किन्तु प्रत्याख्यान के कालपरिमाण की सीमा न वांध कर प्रत्याख्यान कालपरिमाणहीन करना ही श्रेयस्कर है। जिनका परिमाण किया जाता है, वे प्रत्याख्यान दुष्ट हैं, क्योंकि उनमे आशसा दोष होता है। इस प्रकार प्रज्ञापन करते हुए गोष्ठामाहिल को विन्ध्य ने कहा : जो तुमने कहा वह यथार्थ नही है। इतने में नवम पूर्व का जो अवशेष भाग था वह समाप्त

हो गया, तब वह अभिनिवेश पूर्वक पुष्यमित्र के पास जाकर कहने लगा : आचार्य ने अन्यथा पढ़ाया है और तुम इसकी अन्यथा प्ररूपणा करते हो। इस पर आचार्य पुष्यमित्र ने गोष्ठामाहिल को अनेक प्रकार से समझाया और उसकी मान्यता का खण्डन किया, फिर भी आचार्य का कथन उसने मान्य नही किया, इस पर अन्यगच्छीय बहुश्रुत स्थविरो को पूछा गया, तो उन्होने भी पुष्यमित्र की बात का समर्थन किया। गोष्ठमाहिल ने कहा : तुम क्या जानते हो, तीर्थङ्करो ने वैसा ही कहा है. जैसा मैं कहता हू। स्थविरो ने कहा : तुम पूरा जानते नही और तीर्थङ्करों का नाम लेकर उनकी आशातना करने हो। जब गोष्ठामाहिल अपने दुराग्रह से पीछे नहीं हटा, तब संघसमवाय किया गया। सर्व सघ ने देवता को लक्ष्य कर कायोत्सर्ग किया। जो भद्रिक देवता थी वह आई और बोली : आदेश दीजिये क्या कार्य है ? तब उसे कहा गया : तीर्थङ्कर के पास जाकर उन्हे पूछो कि गोष्ठामाहिल का कहना सत्य है अथवा दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रमुख संघ का। देवता ने कहा : मुझे बल देने के लिए कायोत्सर्ग करे, जिससे मेरे गमन का प्रतिघात न हो। सघ ने कायोत्सर्ग किया। देवता तीर्थङ्कर भगवन्त को पूछ कर आई और कहा : संघ सम्यक्वादी है और गोष्ठामाहिल मिथ्यावादी, यह सप्तम निह्नव है। इस पर गोष्ठामाहिल ने कहा : यह बेचारी अल्पर्द्धि देवता है, इसकी क्या शक्ति जो वहां जाकर आ सके। यह सब होने पर भी गोष्ठामाहिल ने सघ के कथन पर विश्वास नही किया, तब सघ ने उसे संघ से बहिष्कृत उद्घोषित कर दिया। गोष्ठामाहिल अपनी विरुद्ध प्ररूपणा की आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना ही कालधर्म के वश हुआ।

उपर्युक्त जमालि से गोष्ठामाहिल तक के सात मतप्रवर्तको को पूर्वाचार्यो ने "निह्नव" कहा है और इनकी नामावलि "स्थानाग" और "औपपातिक" उपाग मे लिखी मिलती है, सभव है कि आगमों की युगप्रधान स्कन्दिलाचार्य द्वारा की गई वाचना के समय मे निह्नवो के नाम आगमो मे लिखे गये होंगे।

प्राचीन स्थविरकल्पी जैन श्रमणों का आचार

वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष के बाद रथवीर नामक नगर में आचार्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने सर्वथा नग्न रहने के सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित किया। उसके पूर्वकाल में जैन श्रमणों मे सर्वथा नग्न रहने का व्यवहार बन्द सा हो गया था, जो कि "आचारांग" सूत्र मे श्रमणो को तीन, दो, एक वस्त्रो से निर्वाह करने का आदेश था और सर्वथा वस्त्रत्याग की शक्ति होती वह एक वस्त्र भी नही रखता था, परन्तु ये वस्त्र सर्दी मे ओढ़ने के काम मे लिये जाते थे, परन्तु इस प्रकार का कठिन आचार महावीर निर्वाण की प्रथम शती में ही व्यवच्छिन्न हो चुका था। अन्तिम केवली जम्बू के निर्वाण तक "वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ स्थविर कल्पी" और "सर्वथा वस्त्रत्यागी निर्ग्रन्थ जिनकल्पी" कहलाते थे। दोनों प्रकार के श्रमण महावीर के निर्ग्रन्थ श्रमण-सघ में विद्यमान थे, परन्तु जम्बू के निर्वाणानन्तर संहनन, देश, काल आदि की हानि होती देखकर सर्वथा नग्न रहने का सिद्धान्त स्थविरों ने बन्द कर दिया था। दिगम्बर परम्परा को मौलिक मानने वाले विद्वानों की मान्यता है कि "महावीर के तमाम श्रमण निर्ग्रन्थ महावीर के समय मे और उसके बाद भी श्रुतधर श्री भद्रबाहु स्वामी के समय तक नग्न ही रहते थे, परन्तु मौर्यकाल में होने वाले १२ वार्षिक दुर्भिक्ष के समय मे जो जैन श्रमण दक्षिण मे न जाकर मध्यभारत के प्रदेशों मे रहे, उन्होने परिस्थितिवश वस्त्र धारण किये और तब से "श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।"

दिगम्बर विद्वानों का उपर्युक्त कथन केवल निराधार है, क्योंकि महावीर के समय में भी अधिकांश निर्ग्रन्थ साधु "स्थविर-कल्प" का ही

पालन करते थे। यद्यपि वर्तमान काल मे श्वेताम्बर जैन साधु जितना वस्त्र, पात्र आदि का परिग्रह रखते है, उतना उस समय नही रखते थे। तत्कालीन स्थविर-कल्पी एक-एक पात्र, एक-एक नग्नता ढांकने का वस्त्र-खण्ड और शरदी की मौसम में दो सूती और एक ऊर्णामय वस्त्र रखते थे। रजोहरण और मुखवस्त्र तो उनका मुख्य उपकरण था ही, परन्तु इनके अतिरिक्त अपने पास अधिक उपकरण नही रखते थे। लज्जावरण का वस्त्रखण्ड नाभि से चार अगुल नीचे से घुटनो से ४ अगुल ऊपर तक लटकता रहता था। बौद्धवाली त्रिपिटको में इस वस्त्र को "शाटक" नाम दिया है और इस वस्त्र को धारण करने वाले जैन निर्ग्रन्थो को "एक-शाटक" के नाम से सम्बोधित किया है। स्थविरकल्पियों की परम्परा इस वस्त्र को "अग्रावतार" के नाम से व्यवहार करती थी। विक्रम की दूसरी शती के मध्यभाग तक 'अग्रावतार' का स्थविरकल्पियो मे व्यवहार होता रहा, ऐसा मथुरा के देवनिर्मित स्तूप मे से निकली हुई "जैन आचार्य कृष्ण" को प्रस्तर मूर्ति से ज्ञात होता है।

जैन निर्ग्रन्थो का बौद्ध पिटकों मे "एकशाटक" के नाम से अनेक स्थानों में उल्लेख मिलता है। दिगम्बरो की मान्यतानुसार महावीर के सर्व साधु "नग्न" ही रहते होते तो बौद्ध ग्रन्थकार उनको "एकशाटक" न कहकर 'दिगम्बर" अथवा "नग्न" ही कहते, परन्तु यह बात नही थी। इससे सिद्ध है कि महावीर के समय में निर्ग्रन्थ श्रमणगण वस्त्रधारी रहते थे, नग्न नही। यह बात ठीक है कि उस समय का वस्त्रधारित्व नाम मात्र का होता था। इस समय के बाद स्थविरकल्पियो के उपकरणों की सख्या फिर से निश्चित की गई। विक्रम की दूसरी शती के प्रथम चरण मे युगप्रधान आचार्य श्री आर्यरक्षितजी ने जैन आगमों मे चार अनुयोगों का पृथक्करण किया। इतना ही नही देशकाल का विचार करके आचार्य ने श्रमणो के उपकरणो की संख्या तक निश्चित की। स्थविरकल्पियो के लिए कुल चौदह उपकरण निश्चित किए : पात्र १, पात्रबन्धन २, पात्र-स्थापनक ३, पात्रप्रमार्जनिका ४, पात्रपटलक ५, पात्ररजस्त्राण ६, गोच्छक ७ ये सात प्रकार के उपकरण "पात्रनिर्योग" के नाम से निश्चित

किये गये और १ रजोहरण, २ मुखवस्त्रिका, ३-४-५ कल्पत्रिक (२ सूती वस्त्र, १ ऊर्णामय), ६ चोलपट्टक, ७ मात्रक (छोटा पात्र विशेष) ये सात प्रकार के उपकरण व्यवहार मे लेने के लिए रक्खे गए। इनके अतिरिक्त 'दण्ड" और "उत्तरपट्टकादि" कतिपय "औपग्रहिक" उपकरणो के रखने की आज्ञा दी।

उपर्युक्त उपधि का परिमाण विक्रम की द्वितीय शती तक निश्चित हो चुका था। "दण्डाऊञ्छन" आदि "औपग्रहिक" उपकरण उसके बाद मे भी श्रमणो की उपधि मे प्रविष्ट हुए हैं। इस नयी व्यवस्था से प्राचीन व्यवस्था मे बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ जो निम्नलिखित गाथा से ज्ञात होगा :

"कप्पाणं पावरणं, अग्गोयरच्चाओ झोलियाभिक्खा।
ओवग्गहिअकडाहय – तुंबअमुंहदाणदोराई ॥"

अर्थ : १ "कल्प" अर्थात् वस्त्रत्रय जो पहले शीत ऋतु मे ओढा जाता और शेषकाल मे पड़ा रहता था उसका मालिक श्रमण कहीं बाहर जाता तब अन्य किसी साधु को सभलाकर जाता अथवा तो अपने कन्धे पर रखकर जाता, परन्तु ओढता नहीं था। जब से नये उपकरणो की व्यवस्था प्रचार मे आयी तब से वस्त्रों का ओढना भी शुरु हुआ। २ 'अग्रावतार वस्त्र' जो सदाकाल लज्जा-निवारणार्थ कमर पर लटका करता था, उनका चोलपट्टक के स्वीकार करने के बाद त्याग कर दिया गया। ३ पहले साधु भिक्षा-पात्र हाथ मे रखकर उस पर पटलक ढाकते थे और पटलक का दूसरा आंचल दाहिने कन्धे के पिछली तरफ लटकता रहता था। जब से भिक्षा-पात्र झोली मे रखकर भिक्षा लाने का प्रचार हुआ, तब से पटलक वाम हस्त मे भराई हुई झोली के ऊपर ढाकने का चालू हुआ और पडले का एक छोर कन्धे पर रखना बन्द हुआ। ४ दण्डाऊँछण (दण्डासन) आदि औपग्रहिक उपकरणों का उपयोग किया जाने लगा। ५ पहले साधु दिन मे एक बार ही भोजन करते थे, परन्तु जब श्रमणसंख्या बढ़ी और उसमें बाल, वृद्ध, ग्लान आदि के लिए दूसरी बार खाद्य, पेय,

औषधादि वस्तु की आवश्यकता प्रतीत हुई तब मध्याह्न का लाया हुआ खाद्य पेय पदार्थ रखने के लिए शिक्यक (सिक्का) रखने लगे। ६ तुबे के मुह पर लगाने का दोरा रखने आदि की गीतार्थ पूर्वाचार्यों ने आचरणा की।

शिवभूति गुरु को छोड़ कर जाने के बाद कुछ समय उत्तर-भारत में विचर कर दक्षिण की तरफ विचरे, क्योकि दक्षिण मे पहले से ही "आजीविक" सम्प्रदाय के भिक्षु विचर रहे थे। वहा के लोग नग्नता का आदर करते थे। शिवभूति के दक्षिण मे जाने के बाद कौन-कौन शिष्य हुए, इसका कही भी श्वेताम्बर या दिगम्बर जैन साहित्य मे उल्लेख नही मिलता। श्वेताम्बर साहित्य मे सर्वप्रथम आवश्यक मूल-भाष्य में आर्य शिवभूति तथा इसके उत्तराधिकारियो के सम्बन्ध मे विस्तृत वर्णन दिया है, जो कि शिवभूति के नग्नता धारण करने के बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भाष्य आदि अनेक शिष्ट ग्रन्थ बने है, परन्तु किसी ने भी इस विषय में कुछ नही लिखा, क्योकि एक तो शिवभूति ने किसी मूल सिद्धान्त के विरुद्ध कोई प्ररूपणा नही की थी, दूसरा इनके दक्षिणापथ में दूर चले जाने के कारण स्थविरकल्पियो को शिवभूति तथा उनके अनुयायियो के साथ सघर्ष होने का प्रसंग ही नही था। शिवभूति ने दक्षिणापथ में कहां-कहां विहार किया, कितने शिष्य किये इत्यादि बातो का प्राचीन जैन साहित्य से पता नही चलता। शिवभूति के परम्परा शिष्य कौण्डकुन्द अपने परम्परा-गुरु शिवभूति से कितने समय के बाद हुए, इसके सम्बन्ध मे ऊहापोह किये बिना दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियां देना अशक्य है।



श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

अब हम देखेंगे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं या नही ?

बौद्धों के प्राचीन पाली ग्रन्थो मे आजीविक मत के नेता गोशालक के कुछ सिद्धान्तो का वर्णन मिलता है, जिसमे मनुष्यो की कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छ अभिजातिया बताई है। इनमें से दूसरी नीलाभिजाति मे बौद्ध भिक्षुओ और तीसरी लोहिताभिजाति में निर्ग्रन्थो का समावेश किया है। उस स्थल मे निर्ग्रन्थो के लिए प्रयुक्त बौद्ध सूत्र के शब्द इस प्रकार के हैं :

"लोहिताभिजाति नाम निगन्था एकसाटकातिवदति" अ०) अर्थात् "एक चिथड़े वाले निर्ग्रन्थो को गोशालक "लोहिताभिजाति" कहता है।" (अ० नि० भा० ३ पृ० ३८३)

इस प्रकार गोशालक ने निर्ग्रन्थो के लिए जहा "एक चिथड़े वाले" यह विशेषण प्रयुक्त किया है और इसी प्रकार दूसरे स्थलो मे भी अति-प्राचीन बौद्ध लेखको ने जैन निर्ग्रन्थो के लिए "एकशाटक" विशेषण लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध के समय मे भी महावीर के साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, तभी अन्य दार्शनिको ने उनको उक्त विशेषण दिया है।

"एकशाटक" विशेषण उदासीन जैन श्रावको के लिए प्रयुक्त होने की सम्भावना करना भी बेकार है, क्योकि बौद्ध त्रिपिटको मे "निगन्थ" शब्द केवल जैन साधुओ के लिए प्रयुक्त हुआ है, श्रावको के लिए नही।

जहां कही जैन श्रावकों का प्रसंग आया है वहां सर्वत्र "निगण्ठस्स नाथ-पुत्तस्स सावका" अथवा "निगण्ठ-सावका" इस प्रकार श्रावक शब्द का ही उल्लेख हुआ है, केवल निग्गन्थ शब्द का नही। इस दशा मे "निगण्ठ" शब्द का श्रावक अर्थ करना कोरी हठधर्मी है।

बौद्ध सूत्र "मज्झिम-निकाय" मे निर्ग्रन्थ संघ के साधु "सच्चक" के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशाल मखलिपुत्त तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससकिच्च के अनुयायियों मे पाले जाने वाले आचारों का वर्णन कराया है। सच्चक कहता है :

"ये सर्व वस्त्रों का त्याग करते हैं (अचेलका) सर्व शिष्टाचारों से दूर रहते हैं (मुक्ताचारा), आहार अपने हाथो मे ही चाटते है (हस्तापलेखणा)" इत्यादि।

सोचने की बात है कि यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सच्चक स्वयं अचेलक और हाथ मे भोजन करने वाला होता, तो वह आजीविक भिक्षुओ का (हाथ चाटने वाले) आदि कह कर उपहास कभी नही करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्र पात्र अवश्य रखते थे।



कषायप्राभृतकार गुणधर आचार्य श्वेताम्बर थे

श्रुतावतार कथाकार इन्द्रनन्दी का कथन बिल्कुल ठीक है कि उसके पास "गुणधर" और "धरसेन" की वंश-परम्परा जानने का कोई साधन नही था, क्योकि उक्त दोनो आचार्य श्वेताम्बर परम्परा के अनुयायी श्रुतधर थे। गुणधर निर्वृति परम्परा के आचार्य थे, जो विक्रम की सप्तम शती के आरम्भ मे होने वाले "कर्मप्राभृत" के जानने वाले विद्वान् थे और "कर्म-प्राभृत" के आधार से ही आपने गाथाओ मे "कषायपाहुड" बनाया था। इन्ही की परम्परा मे होने वाले "गर्गर्षि" आदि आचार्यों ने विक्रम की नवमी और दशमी शती के मध्यभाग में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला "पंचसग्रह" नामक मौलिक ग्रन्थ बनाया था, जिसके आधार से ग्यारहवी शती तथा इसके परवर्ती समय में अमितगति, नेमिचन्द्र, पद्मनन्दी आदि विद्वानो ने सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ मे "पंच-सग्रहो" की रचनाएँ की हैं।

इसी प्रकार आचार्य धरसेन भी श्वेताम्बर परम्परा के स्थविर थे। इनका विहार बहुधा सौराष्ट्र भूमि मे होता था। आप "योनि-प्राभृत" के पूर्ण ज्ञाता थे और "योनि-प्राभृत" नामक श्रुतज्ञान का ग्रन्थ आप ही ने बनाया था, जो आज भी पूना के एक पुस्तकालय में खण्डित अवस्था में उपलब्ध होता है। अधिक सभव है कि आचार्य वृद्धवादी, सिद्धसेन दिवाकर आदि प्रखर विद्वान् इन्ही धरसेन की परम्पराखनि के मूल्यवान् रत्न थे, क्योकि आचार्य "सिद्धसेन दिवाकर" के पास भी "योनिप्राभृत" का विषय पूर्णरूपेण विद्यमान था, ऐसा "निशीथ" चूर्णि के आधार से जाना जाता

है। आचार्य धरसेन का सत्तासमय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अन्त-भाग और चौथी का प्रारम्भ भाग था।

श्रुतावतार के लेखानुसार "वीरनिर्वाण से ६८३ के बाद श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त, अर्हद्बलि और माघनन्दी मुनि का क्रमिक समय व्यतीत होने के बाद कर्मप्राभृत के जानकार धरसेन आचार्य का अस्तित्व लिखा है। इस क्रम से धरसेन का सत्ता-समय निर्वाण की आठवीं शती तक पहुँचता है। धरसेन से भूतबलि पुष्पदन्त कर्म-प्राभृत पढे थे और उन्होने उसके आधार से "षट्खण्डागम" का निर्माण किया है, इस क्रम से भूतबलि, पुष्पदन्त का समय जिन-निर्वाण की नवम शती तक अर्थात् विक्रम की पंचमी शती के अन्त तक गुणधर आचार्य का समय पहुँचता है और पल्लीवाल गच्छीय प्राकृत-पट्टावली के आधार से भी गुणधर आचार्य का समय विक्रम की छठीं शती में ही पड़ता है।

"कषाय-प्राभृत" ऊपर के चूर्णिसूत्र भी वास्तव में किसी श्वेताम्बर आचार्य निर्मित प्राकृत चूर्णि है, जो बाद में शौरसेनी भाषा के संस्कार से दिगम्बरीय चूर्णि-सूत्र बना दिए गए हैं। "यतिवृषभ" और "उच्चारणा-चार्य" ये दो नाम भट्टारक वीरसेन के कल्पित नाम हैं। "जंदिवसहं" इत्यादि गाथाएँ भट्टारक श्री वीरसेन ने चूर्णि के प्रारम्भ मे लिखकर "यतिवृषभ" को कर्ता के रूप में खड़ा किया है। वास्तव में चूर्णिकर्त्ताओं की चूर्णियों के प्रारम्भ में इस प्रकार का मङ्गलाचरण करने की पद्धति ही नहीं है।

इसी प्रकार सैद्धान्तिक श्रीमाघनन्दी और बालचन्द्र ने "तिलोय-पण्णत्ति" नामक एक संग्रह ग्रन्थ का सन्दर्भ बनाकर उसे "यतिवृषभ" के नाम चढ़ा दिया है जो वास्तव में १३वीं शती की कृति है और दिगम्बर ग्रन्थों का ही नहीं, विशेषकर श्वेताम्बर ग्रन्थों में से सैकड़ों विषयों का संग्रह करके दिगम्बर जैन साहित्य मे एक कृति की वृद्धि की है। इसमें जैन श्वेताम्बर मान्य "आवश्यक निर्युक्ति" "बृहत्संग्रहणी" और "प्रवचन-सारोद्धार" आदि ग्रन्थों को संगृहीत करके इसका कलेवर बढ़ाया गया है। इसमें लिखे गये २४ तीर्थङ्करो के चिह्न (लांछन) "प्रवचनसारोद्धार" के

ऊपर से लिये गए हैं। २४ तीर्थङ्करो के यक्ष-यक्षिणियों की नामावलि पादलिप्तसूरि की "निर्वाण कलिका" से ली गई है। तीर्थङ्करों की दीक्षा भूमि, निर्वाण भूमि, जन्म-नक्षत्र आदि सैकड़ो बातो का श्वेताम्बरो की "आवश्यक-निर्युक्ति" से सग्रह किया गया है। यह पद्धति दिगम्बरो मे एक सांकेतिक परम्परा सी हो गई है, कि कोई भी अच्छा जैन दिगम्बर विद्वान् कुछ अपनी रचनाएँ अपने पूर्वाचार्यों के नाम से अंकित करके अपने भडारो मे रख दे। 'कषाय-पाहुड" की चूर्णि का कर्त्ता कौन था, यह कहना तो कठिन है, परन्तु इस चूर्णि मे "स्त्रीवेद" वाला जीव सयोगी केवली पर्यन्त के गुणस्थानो का स्पर्श करने की जो बात कही है, वह श्वेताम्बर मान्य है, इससे इतना तो निश्चित है कि इस चूर्णि का निर्माता श्वेताम्बराचार्य अथवा तो यापनीय सम्प्रदाय को मानने वाला कोई विद्वान् साधु होना चाहिए। यही कारण है कि भट्टारक वीरसेन ने चूर्णि के कई मन्तव्यो पर अपनी असम्मति प्रकट की है।

"श्वेताम्बर" तथा "यापनीय" सघ के अनुयायी सदा से स्त्रीनिर्वाण को मानते आये हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियो ने विक्रम की दशवीं शती से स्त्रीनिर्वाण का विरोध प्रारम्भ किया था, क्योंकि इसके पूर्वकालीन किसी भी ग्रन्थ मे दिगम्बर जैन विद्वान् ने स्त्री-निर्वाण का खण्डन नही किया। "तत्वार्थ-सूत्र" की "सर्वार्थसिद्धि" टीका मे आचार्य देवनन्दी ने "केवली को कवलाहार मानने वालो को साशयिक मिथ्यात्वी कहा है", परन्तु स्त्री-निर्वाण के विरोध मे कुछ भी नही लिखा। इसी प्रकार विक्रम की अष्टम शती के आचार्य अकलकदेव ने अपने "सिद्धिविनिश्चय" "न्याय-विनिश्चय" आदि ग्रन्थो मे छोटी-छोटी बातो की चर्चा की है, परन्तु स्त्री-निर्वाण के सम्बन्ध मे कुछ भी नही लिखा। दशवी शती के यापनीय आचार्य की कृति "केवलिभुक्ति-स्त्रीमुक्ति" नामक ग्रन्थ मे केवली के कवलाहार और स्त्री के निर्वाण का समर्थन किया है और इस समय के बाद के बने हुए दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रत्येक न्याय के ग्रन्थ मे स्त्री-निर्वाण का खण्डन किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि स्त्री-निर्वाण न मानने वालो मे अग्रगामी दशवी-ग्यारहवी शती के दिगम्बर आचार्य थे।

यापनीय शिवभूति के वंशज थे

हम पहले ही कह आये है कि आर्य शिवभूति जिन्होने कि विक्रम सं० १३९ मे नग्नता के व्यवहार को मथुरा के समीपवर्ती "रथवीरपुर" नामक स्थान मे फिर प्रचलित किया था और कालान्तर में वे दक्षिणापथ में चले गये थे। दक्षिणापथ-प्रदेश में जाने पर उनकी कदर हुई और कुछ शिष्य भी हुए होंगे, परन्तु व्यवस्थित उनकी परम्परा वताना कठिन है। शिवभूति अथवा तो उनके शिष्यो की उस प्रदेश में "यापनीय" नाम से प्रख्याति हुई थी। कोई-कोई विद्वान् "यापनीय" शब्द का अर्थ निर्वाह करना बताते हैं, जो यथार्थ नही है। यापनीय नाम पड़ने का खास कारण उनके गुरुवन्दन में आने वाला "जावणिज्जाए" शब्द है। निर्ग्रन्थ श्रमण अपने बड़ेरों को वन्दन करते समय निम्नलिखित पाठ प्रथम बोलते हैं:

"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए, अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि।"

अर्थात् "मैं चाहता हूं, हे पूज्य ! वन्दन करने को, शरीर की शक्ति के अनुसार। इस समय मैं दूसरे कार्यो की तरफ का ध्यान रोकता हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए, परिमित स्थान मे आने की।"

उपर्युक्त वन्दनक सूत्र मे आने वाले "यापनीय" शब्द के बारम्बार उच्चारण करने के कारण लोगो मे उनकी "यापनीय" नाम से प्रख्याति हो गई। लोगों को पूरे सूत्र पाठ की तो आवश्यकता थी नही। उसमें जो विशिष्ट शब्द वारम्वार सुना उसी को पकड़ कर श्रमणो का वही नाम रख दिया, ऐसा होना अशक्य भी नही है। मारवाड़ के यतियों का इसी

प्रकार "मत्थेण" यह नामकरण हुआ है। जब वे एक दूसरे से मिलते हैं अथवा जुदे पड़ते हैं तब "मत्थएण वदामि" यह शब्द संक्षिप्त वन्दन के रूप मे बोला जाता है। इसको बार-बार सुनकर बोलने वालों का नाम ही लोगो ने "मत्थेण" रख दिया। यही बात "यापनीय" नामकरण में समझ लेना चाहिए।

शिवभूति के अनुयायियो ने यापनीयो के नाम से प्रसिद्ध होने के बाद भी सैकड़ो वर्षों तक श्वेताम्बर मान्य "आगम" सूत्रों को माना। श्वेताम्बरो मे और यापनीयो मे मुख्य भेद नग्नता और पाणिपात्रत्व मे था। दूसरी मामूली बातो का भी साम्प्रदायिक भेद रहा होगा, परन्तु सिद्धान्त भेद नाम मात्र का था। जिस प्रकार श्वेताम्बर संघ मे वार्षिक पर्व पर "पर्युषणाकल्प" पढ़ा जाता है, वैसे यापनीयो में भी पढ़ा जाता था। श्वेताम्बर केवली का कवलाहार और स्त्री का निर्वाण मानते थे, उसी प्रकार यापनीय भी मानते थे। आजकल श्वेताम्बर-दिगम्बरो के बीच जितनी मतभेदो की खाई गहरी हुई है, इसका एक शतांश भी उस समय नही थी। मानवस्वभावानुसार संयम मार्ग मे धीरे-धीरे शिथिलता अवश्य प्रविष्ट होने लगी थी। श्वेताम्बरो के इस प्रदेश मे चैत्यवास की तरह दक्षिण मे श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय श्रमणो मे भी उसी प्रकार की शिथिलता घुस गई थी। उद्यत विहार के स्थान मठपति बनकर एक स्थान मे अधिक रहना, राजा आदि को उपदेश देकर मठ मन्दिरों के लिए भूमिदान आदि ग्रहण करना और आय-व्यय का हिसाब ठीक रखना, रखवाना इस प्रकार की प्रवृत्तिया दक्षिण मे भी होने लगी थी। यह बात उस प्रदेश से प्राप्त होने वाले शिलालेखो तथा शासनपत्रो से जानी जा सकती है। उपर के लेखो मे निर्ग्रन्थ, श्वेताम्बर, यापनीयो के सम्बन्ध में कुछ विवेचन की आवश्यकता नही, परन्तु निर्ग्रन्थ कूर्चको के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने आवश्यक हैं। जहा केवल निर्ग्रन्थ शब्द का ही उपादान है, वहां "श्वेताम्बर" और "यापनीय मान्य" सिद्धान्तो को न मानने वाले दिगम्बरो को समझना चाहिए, तब "कूर्चक" सम्प्रदाय से उन निर्ग्रन्थ श्रमणो को समझना चाहिए जो वर्ष भर मे एक ही बार सांवत्सरिक

तिथि को अपने केशों का लुंचन करते थे। श्वेताम्बरो के "पर्युषणा-कल्पसूत्र" में षाण्मासिक और सांवत्सरिक केश लुंचन करने का विधान है। इसके अनुसार जो श्रमण वर्ष में एक ही बार लुंचन करते थे, उनकी दाढ़ी-मूंछों के बाल लम्बे बढ जाने के कारण से लोग उन्हे "कूर्चक" इस नाम से पुकारते थे।



शिवभूति से दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव

आवश्यक मूल भाष्यकारादि श्वेताम्बर जैन ग्रन्थकार दिगम्बरो की उत्पत्ति का वर्णन नीचे लिखे अनुसार करते है :

'भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त किये छ सौ नौ वर्ष व्यतीत हुए तब रथवीरपुर मे वोटिको का दर्शन उत्पन्न हुआ।'

'रथवीरपुर नगर के बाहर दीपक नामक उद्यान था। वहां पर आर्यकृष्ण नामक आचार्य ठहरे हुए थे। आर्यकृष्ण के एक शिष्य का नाम था "सहस्रमल्ल शिवभूति"। शिवभूति गृहस्थावस्था मे वहां के राजा का कृपापात्र सेवक था। दीक्षा लेने के बाद जब वह गुरु के साथ विहार करता हुआ रथवीरपुर आया, तब वहा के राजा ने उसको कम्बलरत्न का दान दिया। आचार्य आर्यकृष्ण को जब इस बात का पता लगा, तो उन्होने उपालम्भ के साथ कहा : "साधुओ को ऐसा कीमती वस्त्र लेना वर्जित है, तुमने क्यो लिया ?" यह कह कर आचार्य ने उस कम्बल को फाड़ कर उसकी निषद्याये (बैठने के आसन) बनाकर साधुओ को दे दी। शिवभूति को गुस्सा तो आया, पर कुछ बोला नही।

एक दिन सूत्रानुयोग मे जिनकल्प का वर्णन चला, जैसे : "जिनकल्पिक दो प्रकार के होते हैं, करपात्री और पात्रधारी। वे दोनो दो प्रकार के होते हैं - वस्त्रधारी और वस्त्र न रखने वाले। वस्त्र न रखने वाले जिनकल्पिको की उपधि आठ प्रकार की होती है - दो प्रकार की, तीन

प्रकार की, चार प्रकार की, नव प्रकार की, दस प्रकार की, ग्यारह प्रकार की और बारह प्रकार की, जिनकल्पिक उपधि के ये आठ विकल्प होते है। कोई रजोहरण मुखवस्त्रिका रूप दो प्रकार की ही उपधि रखते हैं, तब कोई इन दो उपकरणो के उपरान्त एक चद्दर भी ओढने के लिए रख कर त्रिविध उपधिधारी होते हैं, कोई उपर्युक्त एक वस्त्र के स्थान में दो रखते है, तब चतुर्विध उपधि होती है और तीन वस्त्र रखने वालो की पचविध उपधि होती है। ये चार उपधि के प्रकार करपात्री जिनकल्पी के होते हैं। जो पात्रधारी होते है, उनके नवविध, दशविध, एकादशविध और द्वादशविध उपधि होती है, जैसे : पात्र, पात्रबन्धन, पात्रस्थापनक, पात्रप्रमार्जनिका, पटलक, रजस्त्राण और गोच्छक, ये सप्तविध पात्रनिर्योग और रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका मिलकर पात्रभोजी की नवविध उपधि होती है। इसमे एक वस्त्र बढ़ाने से दशविध, दो वस्त्र वढाने से एकादशविध और तीन वस्त्र रखने वालो की उपधि १२ प्रकार की होती है।"

यहाँ शिवभूति ने पूछा : "इस समय उपधि अधिक क्यो रखी जाती हैं ? जिनकल्प क्यो नही किया जाता ?" गुरु ने कहा : जिनकल्प करना आज शक्य नही है, वह विच्छिन्न हो गया है। शिवभूति ने कहा . विच्छेद कैसे हो सकता है ? मैं करता हूँ। परलोकहितार्थी को जिनकल्प ही करना चाहिए। इतना उपधि का परिग्रह क्यो रखना चाहिये ? परिग्रह के सद्भाव में कषाय, मूर्च्छा, भय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। शास्त्र में अपरिग्रहत्व ही हितकारी बताया है। जिनेश्वर भगवन्त भी अचेलक ही रहते थे। अतः अचेलक रहना ही अच्छा है। गुरु ने कहा : देख, शरीर के सद्भाव मे भी किसी को मूर्च्छा आदि दोष होते हैं, तो क्या शरीर का भी त्याग कर देना ? सूत्र मे अपरिग्रहत्व कहा है, उसका अर्थ इतना ही है कि धर्मोपकरणो में भी मूर्च्छा नही करनी चाहिये, जिन-भगवान् भी एकान्त अचेलक नही थे। दीक्षा के समय सभी तीर्थङ्कर एक वस्त्र के साथ निकलते हैं, इत्यादि स्थविरो ने उसको बहुत समझाया, फिर भी वह वस्त्रो का त्याग कर चला गया। उसकी "उत्तरा" नामक बहन साध्वी उद्यान में ठहरे हुए शिवभूति को वन्दनार्थ गई। उनकी यह स्थिति देखकर उत्तरा ने

उन्हे अपने लिए पूछा। शिवभूति ने कहा: सघाटी तेरे पास रहने दे। शिवभूति ने कौडिन्य-कोट्टवीर नामक दो शिष्य किये और वहां से आगे शिष्य-परम्परा चली, भाष्यकार कहते हैं:

"वोडियसिवभूईओ, वोडियलिंगस्स होई अप्पत्तो।

कोडिण्ण-कोट्टवीरा, परंपराफासमुप्पण्णा ॥१४८॥" (मू. भा.)

अर्थात्—'वोटिक-शिवभूति से वोटिक-लिंग की उत्पत्ति हुई और उनकी परम्परा को स्पर्श करने वाले कौण्डकुन्द, वीर नामक शिष्य हुए।'

टीकाकारो ने "कोडिन्य" और "कोट्टवीर' इस प्रकार पदों का विश्लेष किया है। हमारे विचारानुसार "कौडिन्यकोट्ट" यह कौण्डकुण्ड का अपभ्रंश है और "वीर" ये भी इनके परम्परा-शिष्य हैं।

निह्नव वक्तव्यता का निगमन करते हुए भाष्यकार कहते है: वर्तमान अवसर्पिणी काल मे महावीर के धर्मशासन मे होने वाले सात निह्नवों का वर्णन किया है: महावीर को छोडकर किसी तीर्थङ्कर के शासन में निह्नव नही हुए। उक्त निर्ग्रन्थ रूपधारी निह्नवो के दर्शन संसार का मूल और जन्म-जरा-मरण गर्भावास के दुःखों का कारण है। प्रवचन-निह्नवो के लिए कराये हुए आहार आदि के ग्रहण मे निर्ग्रन्थो के लिए भजना है, अर्थात् वे उक्त आहार आदि ले सकते है और नही भी ले सकते।

दिगम्बर सम्प्रदायप्रवर्तक शिवभूति का नाम निह्नवों की नामावलि में नही मिलता। आवश्यक-भाष्यकार और उसके टीकाकार कहते हैं: "वोटिक सर्वविसंवादी होने के कारण अन्य निह्नवों के साथ इनका नाम नही लिखा।" कुछ भी हो, पर इस सम्प्रदाय के उत्पन्न होने के समय मे इसको कही भी "निह्नवसंप्रदाय नही लिखा, न शिवभूति को आचार्य कृष्ण द्वारा अपने गण या सघ से वहिष्कृत करने का उल्लेख मिलता है", वल्कि "एवपि पण्णविओ कम्मोदएण चीवराणि छड्डे त्ता गओ" अर्थात् स्थविर आचार्यों ने उसको वहुत समझाया तो भी कर्मोदयवश होकर शिवभूति अपने वस्त्रो का त्याग कर चला गया; इससे भी ज्ञात होता है कि

शिवभूति को उसके गुरु तथा संघ ने अन्य निह्नवों की तरह संघ से बहिष्कृत नही किया था, बल्कि वह स्वय नग्न होकर चला गया था। यही कारण है कि सूत्रोक्त निह्नवों की नामावलि में इनका नाम सम्मिलित नहीं किया। भाष्यकार तथा टीकाकारों ने इन्हें निह्नव ही नही "मिथ्यादृष्टि" तक लिख डाला है। इसका कारण यह है कि तब तक दोनों परम्पराओं के बीच पर्याप्त मात्रा मे कटुता बढ़ चुकी थी। दिगम्बर आचार्य "देवनन्दी" ने केवली को कवलाहारी मानने वालों को "साशयिक मिथ्यात्वी" ठहराया, तब जिनभद्र आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने "देवनन्दी" के अनुयायियो को भी मिथ्यादृष्टि करार दिया था। यह आपसी तनातनी छठवीं शती से प्रारम्भ होकर तेरहवी शती तक अन्तिम कोटि को पहुँच चुकी थी।



कुन्दकुन्द के गुरु

आचार्य श्री कुन्दकुन्द के दीक्षा-गुरु अथवा श्रुतपाठक-गुरु कौन थे, इस विषय मे भी विद्वान् एकमत नही हैं। श्रवणवेलगोला के ४०वें लेख के दो पद्यो मे कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों के नाम दिये हैं, जो इस प्रकार हैं :

"मूल सघ मे नन्दी सघ था और नन्दी संघ मे बलात्कार गण। उस गण मे पूर्वपदो का अश जानने वाले श्री माघनन्दी हुए। माघनन्दी के पद पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए और जिनचन्द्र के पद पर पचनामधारी श्री पद्मनन्दी मुनि हुए।" इस लेखांश से इतना ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द के प्रगुरु माघनन्दी और गुरु जिनचन्द्रसूरि थे। इसके विपरीत पट्टावली मे माघनन्दी के अतेवासी का नाम गुणचन्द्र लिखा है और उसके शिष्य अथवा उत्तराधिकारी के रूप मे कुन्दकुन्द का वर्णन किया है।

कुन्दकुन्द कृत "पचास्तिकाय प्राभृत" के व्याख्यान मे श्री जयसेनाचार्य ने पद्मनन्दी जिनका नामान्तर है ऐसे कुन्दकुन्द को कुमारनन्दी सैद्धान्तिक देव का शिष्य बताया है।

श्रुतावतार कथा मे अर्हद्वलि के बाद माघनन्दी का और उनके बाद धरसेन आदि आचार्यों का वर्णन किया है, माघनन्दी का नही, न माघनन्दी के बाद गुणचन्द्र और कुमारनन्दी के नामोल्लेख हैं। श्रवणवेलगोला के लेखो मे कुन्दकुन्द के गुरु का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु राजा चन्द्रगुप्त के वर्णन के बाद सीधा कुन्दकुन्द का वर्णन किया है। परम्परा का वर्णन भी कुन्दकुन्द से ही प्रारम्भ किया है, अर्थात् नन्दी संघ के प्रधान

आरातीय मुनि श्री कुन्दकुन्द ही माने गए हैं। यह किसी ने सोचा ही नहीं कि कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे। अपने ग्रन्थों मे कुन्दकुन्द ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नही किया। इस परिस्थिति मे कुन्दकुन्द के गुरु, प्रगुरु आदि का निर्णय करना असम्भव है और पिछली पट्टावली और शिलालेखों मे भले ही कुन्दकुन्द के गुरु का नाम कुछ भी लिखा हो, परन्तु वह निर्विवाद माननीय नही हो सकता।

नन्दी सघ की पट्टावली में जो आचार्य-परम्परा लिखी हैं, वह भी उपर्युक्त कुन्दकुन्द के गुरु आदि के नामो के साथ सहमत नही होती। नन्दी संघ की पट्टावली का क्रम यह है :

उमास्वाति, लोहाचार्य, यश:कीर्ति, यशोनन्दी, देवनन्दी, गुणनन्दी इत्यादि।

पट्टावली-लेखक के मत से लोहाचार्य के बाद होने वाले अर्हद्वलि, माघनन्दी, भूतवलि, पुष्पदन्त ये आचार्य भी अग-ज्ञान के जानने वाले थे, परन्तु पट्टावली-लेखक का उक्त कथन प्रामाणिक मालूम नही होता। इस परिस्थिति मे आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे, यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहता है।



आचार्य कुन्दकुन्द का सत्ता-समय

आचार्य कुन्दकुन्द के सत्ता-समय के सम्बन्ध मे दिगम्बर जैन विद्वान् भी एकमत नही हैं। कोई उनको विक्रम की प्रथम शती मे हुआ मानते हैं, कोई दूसरी शती मे, तब कोई विद्वान् दूसरी शती से भी परवर्ती समय के कुन्दकुन्दाचार्य होने चाहिए ऐसे विचार वाले हैं। परन्तु हमने दिगम्बर जैन साहित्य का परिशीलन कर इस विषय मे जो निर्णय किया है, वह उक्त सभी विचारको से जुदा पडता है। जितने भी कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्धि पाए हुए "प्राभृत" आदि ग्रन्थ पढ़े हैं, उन सभी से ही प्रमाणित हुआ है कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम को षष्ठी शती के पूर्व के व्यक्ति नही हैं। हमारी इस मान्यता के साधक प्रमाण निम्नोद्धृत हैं :

(१) कुन्दकुन्दाचार्य-कृत "पंचास्तिकाय" की टीका मे "जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिए रचा था। डा० पाठक के विचार से यह "शिवकुमार" ही कदम्बवंशी "शिवमृगेश" थे जो सम्भवतः विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के व्यक्ति हो सकते हैं।

(२) "समय-प्राभृत" की गाथा ३५० तथा ३५१ मे कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं. "लोगो के विचार मे देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियों को विष्णु बनाता है, तथा श्रमणो (जैन साधुओ) के मत से षट्निकाय के जीवो का कर्त्ता आत्मा है।"

"इस प्रकार लोक और श्रमणो के सिद्धान्त मे कोई विशेष भेद नहीं है। लोगो के मत मे कर्त्ता विष्णु है और श्रमणो के मत में "आत्मा"।

कहने की जरूरत नही है कि "विष्णु" को कर्त्ता पुरुष मानने वाले "वैष्णव" सम्प्रदाय की उत्पत्ति विष्णु स्वामी से ई० स० की तीसरी शताब्दी मे हुई थो। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोक-सिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पडेगा कि कुन्दकुन्द विक्रम की चौथी सदी के पहले के नही हो सकते।

(३) "रयणसार" की १८वी गाथा मे सात क्षेत्र मे दान करने का उपदेश है, श्वेताम्बर जैन साहित्य मे सात क्षेत्रो मे दान देने का उपदेश प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ 'उपदेशपद' में है, जो ग्रन्थ विक्रम की अष्टमी शती की प्राचीन कृति है। दिगम्बर ग्रन्थो मे भी इसके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ मे सात क्षेत्रो में दान देने का उपदेश हमने नही पढ़ा। उपरान्त उसी प्रकरण की गाथा २८वी मे कुन्दकुन्द कहते हैं: "पचम काल में इस भारतवर्ष में यत्र, मत्र, तत्र, परिचर्या (सेवा या खुशामद), पक्षपात और मीठे वचनो के ही कारण से दान दिया जाता है; मोक्ष के हेतु नही।"

इससे यह साबित होता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे, जब कि इस देश में तान्त्रिक मत का खूब प्रचार हो गया था और मोक्ष की भावना की अपेक्षा से सासारिक स्वार्थ और पक्षापक्षी का बाजार गर्म हो रहा था। पुरातत्त्ववेत्ताओं को कहने की शायद ही जरूरत होगी कि भारतवर्ष की उक्त स्थिति विक्रम की पांचवी सदी के बाद में हुई थी।

(४) "रयणसार" की गाथा ३२वी मे जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थवन्दन विषयक द्रव्य भक्षण करने वालो को नरक-दु:ख का भोगी बता कर कुन्दकुन्द कहते हैं: "पूजा दानादि का द्रव्य हरने वाला, पुत्र-कलत्रहीन, दरिद्र, पंगु, गूंगा, बहरा और अन्धा होता है और चाण्डालादि कुल मे जन्म लेता है। इसी प्रकार अगली ३३–३६ वीं गाथाओं में पूजा और दानादि द्रव्य भक्षण करने वालो को विविध दुर्गतियों के दुःख-भोगी होना बतलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय मे देवद्रव्य और दान दिये हुए द्रव्यो की दुर्व्यवस्था होना एक सामान्य बात हो गई थी। मन्दिरों की व्यवस्था में साधुओं का पूरा दखल हो चुका था और वे अपना

आचार-मार्ग छोड कर गृहस्थोचित चैत्य-कार्यो मे लग चुके थे। जैन इतिहास से यह बात सिद्ध है कि विक्रम की छठी-सातवी सदी से साधु चैत्यो मे रह कर उनकी व्यवस्था करने लग गए थे और छठी से दसवी सदी तक उनका पूर्ण साम्राज्य रहा था। वे अपने-अपने गच्छ सम्बन्धी चैत्यों की व्यवस्था मे सर्वाधिकारी के ढंग से काम करते थे। उस समय के सुविहित आचार्य इस प्रवृत्ति का विरोध भी करते थे, परन्तु उन पर उसका कोई असर नही होता था। इस समय को श्वेताम्बर ग्रथकारो ने "चैत्यवास प्रवृत्ति-समय" के नाम से उद्घोपित किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे विक्रम की ग्यारहवी शती से "भट्टारकीय समय" की प्रसिद्धि हुई है। आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्व उक्त समय के बाद का है, इसी से तत्कालीन प्रवृत्तियो का खण्डन किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे छठी सदी के पूर्व के व्यक्ति नही थे।

(५) "रयणसार" की १०५ तथा १०८ से १११ वी तक की गाथाओ मे कुन्दकुन्द ने साधुओ की अनेक शिथिल प्रवृत्तियो का खण्डन किया है, जिनमे "राजसेवा, ज्योतिष-विद्या, मन्त्रो से आजीविका, धनधान्य का परिग्रह, मकान, प्रतिमा, उपकरण आदि का मोह, गच्छ का आग्रह, वस्त्र और पुस्तक की ममता" आदि बातो का खण्डन लक्ष्य देने योग्य है। कहने की शायद ही जरूरत होगी कि उक्त खराबिया साधु समाज में छठी और सातवी सदी मे पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो चुकी थी। पाचवी सदी मे इनमे से बहुत कम प्रवृत्तिया साधु-समाज में प्रविष्ट होने पायी थी और विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी तक तो ऐसी कोई भी बात जैन निर्ग्रन्थों में नही पायी जाती थी। इससे यह निस्सदेह सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की छठी शताब्दी के बाद के ग्रन्थकार है। यदि ऐसा न होता और दिगम्बर जैन पट्टावलियो के लेखानुसार वे विक्रम की प्रथम अथवा दूसरी शती के ग्रन्थकार होते तो छठी शती की प्रवृत्तियो का उनके ग्रन्थो मे खण्डन नहीं होता।

(६) कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानो पर "गच्छ" शब्द का प्रयोग किया है, जो विक्रम की पाचवी सदी के बाद का पारिभाषिक

शब्द है। श्वेताम्बरो के प्राचीन भाष्यों तक में "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नही हुआ है। हाँ, छठी-सातवी शताब्दी के बाद के भाष्यों, चूर्णियों और प्रकीर्णकों में "गच्छ" शब्द का व्यवहार अवश्य हुआ है। यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी है। जहा तक हमे ज्ञात है उनके तीसरी-चौथी शताब्दी के साहित्य मे तो क्या आठवीं सदी तक के साहित्य मे भी "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नही हुआ।

(७) विक्रम की नवीं सदी के पहले के किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रन्थ मे कुन्दकुन्दाचार्य का नामोल्लेख न होना भी सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे, जितना कि आधुनिक दिगम्बर विद्वान् समझते हैं। यद्यपि मर्करा के एक ताम्रपत्र मे; जो शक सवत् ३८८ का लिखा हुआ माना जाता है, कुन्दकुन्द का नामोल्लेख है, तथापि हमारी उक्त मान्यता मे इससे कुछ भी विरोध नही आ सकता, क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यो के नामो के पहले "भटार" (भट्टारक) शब्द लिखा गया है, जो विक्रम की सातवी सदी के बाद शुरु होता है। इस दशा में ताम्र-पत्र वाला सवत् कोई अर्वाचीन सवत् होना चाहिये अथवा तो यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिए।

श्रमण भगवान् महावीर के "जिनकल्प और स्थविरकल्प" नामक एक परिशिष्ट मे मर्करा का ताम्रपत्र जाली होने की हमने सभावना की थी। उस पर "कषायप्राभृत' के प्रथम भाग के सम्पादक महोदय ने हमारी उस सम्भावना पर नाराजगी प्रकट करते हुए लिखा था कि ताम्रपत्र को जाली कहना कल्याणविजयजी का साहस है।" उस समय तक ताम्रपत्र प्रकाशित नही हुआ था, परन्तु अन्यान्य प्रमाणों से कुन्दकुन्दाचार्य की अर्वाचीनता निश्चित होती थी और मुझे उन प्रमाणो पर पूरा विश्वास था। जब "जैन शिलालेख-सग्रह" का द्वितीय भाग मेरे पास आया, तब उसमे मुद्रित मर्करा का ताम्रपत्रीय लेख पढ़ने को मिला। मैंने उसको ध्यान से पढ़ा और विश्वास हो गया कि वास्तव मे यह ताम्रपत्र जाली ही है, क्योकि उसमे माघ सुदि पचमी को पूर्वाभाद्रपद उत्तराभाद्रपद अथवा

रेवती इन तीनों मे से कोई भी एक नक्षत्र हो सकता है, परन्तु स्वाति तो किसी हालत मे नही आ सकता ।

माघ सुदो पचमी के दिन सोमवार होने की बात ताम्रपत्र में लिखी थी, परन्तु शक सवत् ३८८ के समय मे वार शब्द का भारतवर्ष मे प्रयोग ही नही होता था। भारतीय साहित्य मे विक्रम की नवमी शती के बाद मे "वार" शब्द का प्रयोग होने लगा है। इन बातो के आधार पर हमने ताम्रपत्र को जाली होने की सम्भावना की थी; वह सत्य प्रमाणित हुई।

कुछ समय के वाद "जैन शिलालेख संग्रह" का तृतीय भाग मिला और डा० श्री गुलाबचन्द्र चोधरी एम. ए. पी-एच. डी., आचार्य की प्रस्तावना पढ़ी तो मर्करा-ताम्रपत्र के सम्बन्ध मे उनका निम्नलिखित अभिप्राय पाया। उसमे चौधरी महोदय लिखते हैं :

"कुछ विद्वान् मर्करा के ताम्रपत्रों ६५ को प्राचीन (सन् ४६६ ई०) मान कर देशीयगण कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व एवं उल्लेख बहुत प्राचीन मानते हैं, पर परीक्षण करने पर उक्त लेख बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा वहां दी गई है, वह लेख न० १५० के वाद की मालूम होती है।"

श्रीयुत् चौवरी ने अपने कथन के समर्थन मे स्वर्गीय बी. एल. राइस महोदय द्वारा स० १८७२ में "इण्डियन एण्टिक्वेरी" (भाग १ पृ० ३६३ –३६५) मे मूल तथा अनुवाद के साथ प्रकाशित करवाये गए इन ताम्रपत्रो के सम्बन्व मे व्यक्त किये गए अभिप्राय को टिप्पण मे उद्धृत किया है जिसका साराश मात्र यहां देते हैं :

वर्जेस महाशय का कथन है कि "लेख का संवत् विल्सन सा० के (मैकेन्जी कलेक्शन) के आधार पर शक संवत् है, पर ज्योतिष शास्त्र के आधार पर उक्त सवत् के दिन "सोमवार और नक्षत्र स्वाति" लिखा है, वह ठीक नहीं। "वार बुध और नक्षत्र उत्तराभाद्रपद" होना चाहिए था।

इन्ही ताम्रपत्रों के सम्बन्ध में चौधरी महोदय का निम्नलिखित तर्क भी ध्यान देने योग्य है :

"यदि किन्ही कारणो से मर्करा के ताम्रपत्रो को प्राचीन भी मान लिया जाय तो उस लेख के सन् ४६६ के बाद और लेख न० १५० के सन् ९३१ के पहले चार-पाच सौ वर्षो तक बीच के समय मे कोण्डकुन्दान्वय और देशीयगण का एक साथ लेखगत कोई प्रयोग न मिलना आश्चर्य की बात है और इतने पहले उस लेख मे उक्त दोनो का एकाकी प्रयोग मर्करा के ताम्रपत्रो की स्थिति को अजीब सी बना देता है।"

मर्करा के ताम्रपत्रो में "कोण्डकुन्दान्वय" शब्द प्रयोग से कुन्दकुन्दाचार्य के सत्ता-समय को विक्रम की दूसरी शती तक खीच ले जाने वाले विद्वानों को आचार्य चौधरी महोदय के कथन पर विचार करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में "जैन शिलालेख सग्रह" के तृतीय भाग के प्राक्कथन मे प्रो० हीरालालजी जैन डायरेक्टर प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर (बिहार) की निम्नलिखित सूचनायें भी इतिहाससंशोधको को अवश्य विचारणीय है :

(१) "मर्करा के जिस ताम्रपत्र लेख के आधार पर कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व पांचवी शती में माना जाता है, वह लेख परीक्षण करने पर बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा उस लेख मे दी गई है, वही लेख न० १५० (सन् ९३१) के बाद की मालुम होती है।

(२) कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवी-नौवी शती के लेख मे देखा गया है तथा मूल सघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग ले० नं० १८० (लगभग १०४४ ई०) मे हुआ पाया जाता है।

(३) डॉ० चौधरी की प्रस्तावना मे प्रकट होने वाले तथ्य हमारी अनेक सास्कृतिक और ऐतिहासिक मान्यताओ को चुनौती देने वाले हैं। अतएव इनके ऊपर गम्भीर- विचार करने तथा उनसे फलित होने वाली

वातो को अपने इतिहास मे यथोचित रूप से समाविष्ट करने की आवश्यकत। है।"

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विद्वानों का निर्णय लिखने के वाद इसी समय एक अन्य जैन विद्वान् का कुन्दकुन्दाचार्य का सत्ता-समय विक्रम की षष्ठी शती मे होने का निर्णय दृष्टिगोचर हुआ, जो नीचे उद्धृत किया जाता है :

कुन्दकुन्दाचार्य विरचित सटीक "समयप्राभृत" का प्रथम संस्करण जो ईसवी सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ था, उसकी प्रस्तावना मे उसके सम्पादक न्यायशास्त्री प० श्री गजाधरलालजी जैन लिखते हैं :

"श्रीशिवकुमार-महाराज-प्रतिवोधनार्थं विलिलेख भगवान् कुंदकुंदः स्वीयं ग्रंथमिति, समाविर्भावितं च पंचास्तिकायस्य क्रमश. कार्णाटिक-संस्कृत-टीकाकारैः श्रीवालचन्द्र-जयसेनाचार्यैः. ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुंदकुंदसमयः तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तमशकसंवत्सर एव सिद्धयति, स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति ॥" (पृ० ८)

अर्थात् 'श्री शिवकुमार महाराज को प्रतिवोध देने के लिए भगवान् कुदकुद ने अपने इस ग्रन्थ को रचा था, ऐसा "पचास्तिकाय सार" के क्रमशः कार्णाटिक-सस्कृत टीकाकार श्री वालचन्द्र, जयसेनाचार्य ने प्रकट किया है, इस युक्ति से भी भगवान् कुदकुद का समय शिवमृगेशवर्म के समकालीन होने से ४५० वां शक सवत्सर सिद्ध होता है और इसके स्वीकार मे कुछ वाधक भी नही है।'

प० गजाधरलालजी के उपर्युक्त विचार के अनुसार भी कुदकुदाचार्य का सत्ता-समय शक सवत् ४५० मे सिद्ध होता है, जो हमारे मत से ठीक मिल जाता है।

श्रवणवेलगोल तथा उसके आसपास के जैन शिलालेखो मे शक की आठवी शती के पहले के किसी भी लेख मे कुदकुद का नामनिर्देश न मिलना

भी यही प्रमाणित करता है कि प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द विक्रम की षष्ठी शती के उत्तरार्ध के विद्वान् थे ।

कुंदकुद ने "समयसार-प्राभृत" आदि मे जो दार्शनिक चर्चा की है, उससे भी वे हमारे अनुमानित समय से पूर्ववर्तिकालभावी नही है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने समय-प्राभृत की ३८३ आदि गाथाओ मे श्वेत-मृत्तिका के दृष्टान्त से अद्वैतवाद का जो खण्डन किया है, वह अद्वैतवाद वास्तव में बौद्धो का विज्ञानवाद समझना चाहिए। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने अपने "प्रमाणवार्तिक" ग्रन्थ में बौद्ध-विज्ञानवाद का जो प्रतिपादन किया है उसी का "जहसेटियादु" इत्यादि गाथाओ में कुन्दकुन्द ने निरसन किया है, धर्मकीर्ति का कथन था कि ज्ञान और ज्ञान का विषय भिन्न नही है। जो नील पीत आदि पदार्थों से नीलाभास, पीताभास वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, वह विज्ञान-मात्र है। इसके उत्तर मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं · जिस प्रकार श्वेतमृत्तिका से मकान पोता जाता है और सारा मकान श्वेतमृत्तिका के रूप में देखा जाता है, फिर भी मकान मृत्तिकामय नहीं वन जाता। मकान मकान ही रहता है और उस पर पोती हुई श्वेतमृत्तिका उससे भिन्न मृत्तिका ही रहती है। इन गाथाओ की व्याख्या मे टीकाकारों ने अपनी व्याख्याओ मे "ब्रह्माद्वैतवाद" का खण्डन बताया है, जो यथार्थ नही है, क्योकि शंकराचार्य का "ब्रह्माद्वैतवाद" कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती समय का है न कि पूर्ववर्ती समय का। अतः "जहसेटियादि" गाथाओ की व्याख्या विज्ञानवाद-खण्डनपरक समझना चाहिए। समयसार के इस निरूपण से भी विक्रम की षष्ठी शती के पूर्वार्धवर्ती बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद का खण्डन करने से कुन्दकुन्दाचार्य का सत्ता-समय निर्विवाद रूप से विक्रम की षष्ठी शती का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है ।

भट्टारक जिनसेनसूरि का शक-संवत् कलचूरी संवत् है

भट्टारक वीरसेनसूरि ने हरिवंश-पुराणकार आचार्य जिनसेनसूरि का, जो कि पुंनाट वृक्षगण के आचार्य थे, अपने ग्रन्थ मे स्मरण किया है। जिनसेन ने शक ७०५ में हरिवंश-पुराण समाप्त किया है। उसमें वर्धमान नगर के राजा धरणीवराह का उल्लेख किया है। धरणीवराह चापवंशी राजा था और उसका सत्तासमय विक्रम स० ९७१ (शक ८३६) था। हरिवंश का शक ७०५ विक्रम सवत् ८४० होता है जो धरणीवराह के समय के साथ संगत नही होता। इस परिस्थिति मे जिनसेन के शक को शालिवाहन शक के अर्थ मे न लेकर केवल सवत् के अर्थ मे लेना चाहिए और इस संवत् को विक्रम, वलभी वा गुप्त सवत् न मान कर 'कलचूरी" सवत् मानना चाहिए। पुन्नाटगणीय जिनसेन उसी प्रदेश से आये हुए थे, जहाँ "कलचूरी सवत्" चलता था। इसलिए जिनसेन की कलचूरी सवत् की पसदगी स्वाभाविक थी। कलचूरी सवत् ईसा से २४९ और विक्रम से ३०६ वर्षों के बाद प्रचलित हुआ था। इस प्रकार जिनसेन के हरिवंश-पुराण को समाप्ति के ७०५ संवत् मे कलचूरी के ३०६ वर्ष मिलाने पर ७०५ + ३०६ = १०११ विक्रम वर्ष बनेंगे, इससे धरणीवराह के और जिनसेन के समय की सगति भी हो जायगी।

इसी प्रकार धवला की समाप्ति का समय शक सवत् ७०३ माना जाता है। इसमे कलचूरी के ३०६ वर्ष मिला कर ७०३ + ३०६ = १००९ बना लिये जाये तो वीरसेन का जिनसेन से परवर्तित्व सिद्ध हो सकता है।

धनंजय, प्रभाचन्द्र और जिनसेन के नामोल्लेख भी संगत हो जाते हैं, मात्र वीरसेन स्वामी को विक्रम की ग्यारहवी शती के ग्रन्थकार मानने पड़ेगे।

दिगम्बर ग्रन्थकारों मे से अनेक लेखको ने अपने ग्रन्थों में समय-निर्देश मे संवत् के अर्थ मे 'शक विक्रम-नृप' आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं, उदाहरणस्वरूप भट्टारक श्री देवसेनसूरि ने "दर्शनसार" मे श्वेताम्बर मत आदि को उत्पत्ति को सूचना "विक्रम नृप" शब्द से की है। पहले दिगम्बर विद्वान् इस समय-निर्देश को "विक्रम संवत्" मानते थे, पर वर्तमान में डॉ० ज्योतिप्रसाद आदि ने इसे शक सवत् मान कर भट्टारक देवसेन का समय विक्रम सवत् १०२५ का निश्चित किया है, इसी प्रकार सर्वत्र विशाल दृष्टि रख कर विद्वानो को वास्तविकता समझ कर मतभेदों का समन्वय करना चाहिए।



आधुनिक दिगम्बर समाज के संघटक आचार्य कुन्दकुन्द और भट्टारक वीरसेन

हम ऊपर देख आये हैं कि दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था, यद्यपि कर्नाटक देशो मे इसका पर्याप्त मान और प्रचार था, तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग इसके साधु, राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लगे थे। कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नही लगी। उन्होने केवल स्थूल-परिग्रह का ही नही बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय मे जो "आपवादिक उपधि" के नाम से वस्त्र, पात्र की छूट थी उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाते श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो को भी उद्धारको ने अप्रामाणित ठहराय, और उन्ही आगमो के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थो का निर्माण शुरु किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान् थे, उन्होने प्राकृत मे और देवनन्दी आदि संस्कृत के विद्वानो ने सस्कृत में ग्रन्थ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया।

यद्यपि शुरु-शुरु में उन्हे पूरी सफलता प्राप्त नही हुई। यापनीय सघ का अधिक भाग इनके क्रियोद्धार मे शामिल नही हुआ और शामिल होने वालो मे से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक क्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नही हुआ। इनके ग्रन्थ और विचार धीरे-धीरे विद्वानो के हृदय मे घर करते जाते थे। विक्रम की आठवी, नवी और दशवी सदी के अकलङ्कदेव, विद्यानन्दो आदि दिग्गज दिगम्बर विद्वानो के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त

वे और भी आकर्षक हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तो के आधार से बने नये ग्रन्थो और सिद्धान्तो का सार्वत्रिक प्रसार हो गया।

इस प्रकार आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्तो की नीव विक्रम की छठी शताब्दी के अन्त मे कुन्दकुन्द ने और ग्यारहवी शती मे भट्टारक वीरसेन ने डाली।

हमारे उक्त विचारो का विशेष समर्थन नीचे की बातो से होगा :

(१) परम्परागत श्वेताम्बर जैन आगम जो विक्रम की चौथी शती मे मथुरा और वलभी मे और छठी सदी के प्रथम चरण मे माथुर और वालभ्य सघ की सम्मिलित सभा मे वलभी मे व्यवस्थित किये और लिखे गए थे, उनमे से स्थानाग में औपपातिक उपाग सूत्र मे और आवश्यक-निर्युक्ति मे सात निह्नवों के नामो और उनके नगरो के भी उल्लेख किये गये हैं। ये ७ निह्नव मात्र साधारण विरुद्ध मान्यता के कारण श्रमणसंघ से बाहर किये गये थे, उनमे अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल था; जो वीर सवत् ५८४, विक्रम सवत् ११४ मे सघ से बहिष्कृत हुआ था। यदि विक्रम की चतुर्थ शताब्दी तक भी दिगम्बर परम्परा मे केवलिकवलाहार का और स्त्री तथा सवस्त्र की मुक्ति का निषेध प्रचलित हो गया होता तो उनको निह्नवो की श्रेणि मे परिगणित न करने का कोई कारण नही था, परन्तु ऐसा नही हुआ, इससे जान पडता है कि विक्रम की पाचवी शताब्दी तक श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादक वर्तमान दिगम्बर परम्परा का प्रादुर्भाव नही हुआ था।

(२) विक्रम की सातवी सदी के पहले के किसी भी लेख-पत्र में वर्तमान दिगम्बर-परम्परा सम्मत श्रुतकेवलि, अगपाठी, आचार्यों, गणो, गच्छो और सघो का नामोल्लेख नही मिलता।

(३) दिगम्बर परम्परा के पास एक भी प्राचीन पट्टावली नहीं है। इस समय जो पट्टावलिया उसके पास विद्यमान बताई जाती हैं, वे सभी बारहवी सदी के पीछे की है और उनमे दिया हुआ प्राचीन गुरुक्रम बिल्कुल

अविश्वसनीय है, बल्कि यह कहना चाहिए कि महावीर-निर्वाण से एक हजार वर्ष तक का इन पट्टावलियों में जो आचार्यक्रम दिया हुआ है, वह केवल कल्पित है। पाच चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशागधर, एकांग-पाठी, अगैकदेशपाठी आदि आचार्यों का जो नाम, समय और क्रम लिखा है उसका मूल्य दन्तकथा से अधिक नही है। इनके विषय मे पट्टावलिया एक मत भी नही हैं। श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, अगपाठी और उनके बाद के बहुत समय तक के आचार्यो का नाम-क्रम और समय-क्रम बिलकुल अव्यवस्थित है। कही कुछ नाम लिखे हैं और कही कुछ, समय भी कही कुछ लिखा है और कही कुछ। कही भी व्यवस्थित समय या नामावली तक नही मिलती।

इन बातो पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि दिगम्बर पट्टावली-लेखकों ने विक्रम की पाचवी-छठी सदी से पहले के प्राचीन आचार्यो की जो पट्टावलियां दी हैं, वे केवल दन्तकथायें हैं और अपनी परम्परा की जड़ को महावीर तक ले जाने की चिंता से अर्वाचीन आचार्यो ने इधर-उधर के नामो को आगे-पीछे करके अपनी परम्परा के साथ जोड़ दिया है। प्रसिद्ध जैन दिगम्बर विद्वान् प० नाथूरामजी प्रेमी भगवती आराधना की प्रस्तावना मे लिखते हैं : "दिगम्बर सम्प्रदाय मे अंगधारियो के बाद की जितनी परम्पराएँ उपलब्ध हैं वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओ को जानने का कोई साधन न रह गया था।" परन्तु वस्तुस्थिति तो यह कहती है कि दिगम्बर सम्प्रदाय मे महावीर के बाद एक हजार वर्ष पर्यन्त की जो परम्परा उपलब्ध मानी जाती है वह भी उस समय सग्रह की गई थी जब मूल सघ आदि भेद हो चुके थे, क्योकि पट्टावली सग्रहकर्त्ताओं के पास जब अपने निकटवर्ती आचार्यो की परम्परा जानने के भी साधन नही थे, तो उनके भी पूर्ववर्ती अगपाठी और पूर्वधरों की परम्परा का जानना तो इससे भी कठिन था यह निश्चित है।

(४) श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण मे जाने के सम्बन्ध में जो कथा दिगम्बर ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है, वह विक्रम की ग्यारहवी सदी के पीछे

की है। दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे। यह बात श्रवणबेलगोला की पार्श्वनाथवसति के शक संवत् ५२२ के आसपास के लिखे हुए एक शिलालेख से और दिगम्बर सम्प्रदाय के "दर्शनसार", "भावसंग्रह" आदि ग्रन्थो से सिद्ध हो चुकी है, अतएव श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाते दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता विषयक विद्वानो के अभिप्राय निर्मूल हो जाते हैं और निश्चित होता है कि श्रुत-केवली भद्रबाहु के वृत्तान्त मे दिगम्बर सम्प्रदाय का कुछ भी सम्बन्ध नही था। दिगम्बर विद्वानो ने जो-जो बातें उनके नाम पर चढ़ाई है, वास्तव मे उन सब का सम्बन्ध द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु के साथ है और ज्योतिषी भद्रबाहु का सत्तासमय विक्रम की छठी शती था। वे सप्तमी शती के प्रारम्भ मे परलोकवासी हुए थे।

(५) बौद्धो के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओ का कही उल्लेख नही है और विशाखावत्थु, धम्मपद, अट्ठकथा, दिव्यवावदान आदि मे जहा नग्न निर्ग्रन्थो के उल्लेख मिलते है, वे ग्रन्थ उस समय के है जब कि यापनीय संघ और आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। "डायोलोग्स् ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रन्थो मे वर्णित कुछ आचार (भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध) नामक पुस्तक मे (पृष्ठ ६१-६५) दिए गए है जिनमे नग्न रहने और हाथ मे खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसादजी की दृष्टि मे ये आचार प्राचीन जैन साधुओ के हैं, परन्तु वास्तव में यह बात नही है। "मज्झिमनिकाय" मे साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविक संघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्स-संकिच्च के है जिनका बुद्ध के समक्ष निग्गंथ श्रमण "सच्चक" ने वर्णन किया था।

(६) दिगम्बरो के पास प्राचीन साहित्य नही है। इनका प्राचीन से प्राचीन साहित्य षट्खण्डागमसूत्र, कषायप्राभृत, भगवती आराधना और कतिपयप्राभृत, जो कुन्दकुन्दाचार्यकृत माने जाते हैं, परन्तु उक्त कृतियो मे विक्रम की षष्ठ शती से पहिले की शायद ही कोई कृति हो।

उपर्युक्त एक-एक बात ऐसी है जो वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय को अर्वाचीनता की तरफ लाती हुई विक्रम की छठी सदी तक पहुँचा देती है।

इनके अतिरिक्त स्त्री तथा शूद्रों को मुक्ति के लिए अयोग्य मानना, जैनो के सिवाय दूसरो के घर जैन साधुओं को आहार लेने का निषेध, आहवनीयादि अग्नियो की पूजा, सन्ध्यातर्पण, आचमन और परिग्रह मात्र का त्याग करने का आग्रह करते हुए भी कमण्डलु प्रमुख शौचोपधि का स्वीकार करना आदि ऐसी बातें हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के पौराणिक कालीन होने का साक्ष्य देती हैं।

श्वेताम्बर जैन आगमो में जब कि पुस्तको को उपधि मे नही गिना और उनके रखने मे प्रायश्चित्त-विधान किया गया है, तब नाम मात्र भी परिग्रह न रखने के हिमायती दिगम्बर ग्रन्थकार साधु को पुस्तकोपधि रखने की आज्ञा देते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि साधुओ में पुस्तक रखने का प्रचार होने के बाद यह सम्प्रदाय व्यवस्थित हुआ है।



दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियाँ

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पट्टावलियो का आधार कुछ प्राचीन शिलालेख और कतिपय इनके ग्रन्थ, जिनके नाम "तिलोयपण्णत्ति", "वेदनाखण्ड की धवला टीका", "जयधवला टीका", "आदिपुराण" और "श्रुतावतार कथा" हैं, इन सभी मे दी हुई आचार्यपरम्पराएँ केवली, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, आचारांगधर और उसका एक अंश जानने वाले आचार्यों तक की हैं।

ले० न० १ (अनुमित ७ शती)	ले० नं० १०५ श० स० १३२०	हरिवंश पुराण शक सं० ७०५	
१ गौतम	१ इन्द्रभूति	१ गौतम	केवली ३
२ लोहाचार्य	२ सुधर्मा	२ सुधर्मा	
३ जम्बू	३ जम्बू	३ जम्बू	
१ विष्णुदेव	१ विष्णु	१ विष्णु	श्रुतकेवली ५
२ अपराजित	२ अपराजित	२ नन्दिमित्र	
३ गोवर्धन	३ नन्दिमित्र	३ अपराजित	
४ भद्रबाहु	४ गोवर्धन	४ गोवर्धन	
	५ भद्रबाहु	५ भद्रबाहु	

१ विशाख	१ क्षत्रिय	१ विशाख	
२ प्रौष्ठिल	२ प्रौष्ठिल	२ प्रौष्ठिल	
३ कृत्तिकार्य (क्षत्रिकार्य)	३ गगदेव	३ क्षत्रिय	
४ जय	४ जय	४ जय	
५ नाम (नाग)	५ सुधर्म	५ नाग	
६ सिद्धार्थ	६ विजय	६ सिद्धार्थ	११ दशपूर्वी
७ धृतिषेण	७ विशाख	७ धृतिषेण	
८ बुद्धिलादि	८ बुद्धिल	८ विजय	
	९ धृतिषेण	९ बुद्धिल	
	१० नागसेन	१० गगदेव	
	११ सिद्धार्थ	११ धर्मसेन	

उक्त लेखो मे इन आचार्यों का समय नही बतलाया तथापि इन्द्रनन्दी कृत "श्रुतावतार" से जाना जाता है कि महावीर स्वामी के बाद ३ केवली ६२ वर्षों मे, ५ श्रुतकेवली १०० वर्षों मे, ११ दशपूर्वी १८३ वर्षो मे, पाच एकादशांगधर २२० वर्षो मे और चार आचारागधर ११८ वर्षों मे हुए हैं, इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष व्यतीत हुए थे।

ले. न १०५, श १३२०	हरिवश पु०	
१ नक्षत्र	१ नक्षत्र	
२ पाण्डु	२ यश.पाल	
३ जयपाल	३ पाण्डु	एकादशांगधर ५
४ कसाचार्य	४ ध्रुवसेन	
५ द्रुमसेन (धृतिसेन)	५ कसाचार्य	

१ लोह	१ सुभद्र	आचारांगधर ४
२ सुभद्र	२ यशोभद्र	
३ जयभद्र	३ यशोबाहु	
४ यशोबाहु	४ लोहाचार्य	

बहुत से लेखों मे उपर्युक्त आचार्यों की परम्परा के बाद कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा लिखी गई है। किसी भी लेख में उपर्युक्त श्रुतज्ञानियों और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच की पूरी गुरु-परम्परा नही पायी जाती, केवल उपर्युक्त लेख नं० १०५ मे ही इनके बीच के आचार्यों के कुछ नाम पाए जाते है, वे इस प्रकार हैं :

१ कुम्भ
२ विनीत (अविनीत ?)
३ हलधर
४ वसुदेव
५ अचल
६ मेरुधीर
७ सर्वज्ञ
८ सर्वगुप्त
९ महीधर
१० धनपाल
११ महावीर
१२ वीर
१३ कोण्डकुन्द

नन्दी सघ की पट्टावली में कुन्दकुन्दाचार्य की गुरु-परम्परा इस प्रकार पायी जाती है :

भद्रबाहु
गुप्तिगुप्त

माघनन्दी

जिनचन्द्र

कुन्दकुन्द

इन्द्रनन्दी-कृत श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्द उन आचार्यो मे हुए हैं जिन्होने अगज्ञान के लोप होने के पश्चात् आगम को पुस्तकारूढ़ किया था।

कुन्दकुन्द प्राचीन और नवीन परम्परा के बीच को एक कड़ी हैं, इनसे पहले जो भद्रवाहु आदि श्रुतज्ञानी हो गए हैं, उनके नाम मात्र के सिवाय उनके कोई ग्रन्थ आदि अब तक प्राप्त नही हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य से कुछ प्रथम जिन पुष्पदन्त भूतबलि आदि आचार्यों ने आगम को पुस्तकारूढ किया था, उनके भी ग्रन्थो का अब तक कुछ पता नही चलता। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य के अनेक ग्रन्थ हमे प्राप्त हैं। आगे के प्राय. सभी आचार्यों ने इनका स्मरण किया है और अपने को कुन्दकुन्दान्वयी कह कर प्रसिद्ध किया है।

अनुमित शक स० १०२२ के शिलालेख नं० ५५ में कुन्दकुन्द को मूल सघ का आदि आचार्य लिखा है।

लेख नं० १०५ की कुन्दकुन्दाचार्य की गुरु-परम्परा ऊपर दी जा चुकी है। आगे हम इसी लेख की कुन्दकुन्द के शिष्यो की परम्परा देते हैं, वह इस प्रकार है.

कुन्दकुन्द के शिष्यों की परम्परा

कुन्दकुन्द

उमास्वाति (गृद्धपिच्छ)

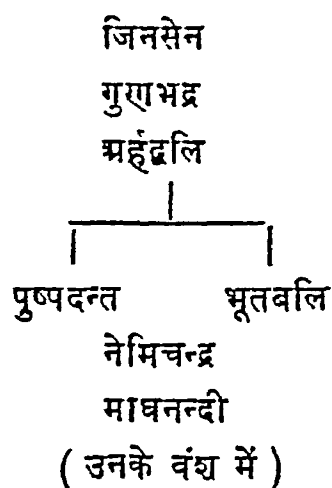
वलाकपिच्छ

समन्तभद्र

शिवकोटि

देवनन्दी

भट्टाकलंक



सिद्धर वसति के शक स० १३२० के लेख नं० १०५ मे भट्टाकलङ्क जिनसेन और गुणभद्रसूरि पर्यन्त पट्टावलि देने के बाद लेखक सघ-विभाजन की हकीकत लिखते हैं :

"यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्या-ख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।
फलप्रदानाय जगज्जनानां, प्राप्तोंऽकुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥२५॥
अर्हद्वलिस्संघ चतुर्विधं स, श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघं ।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥
सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसंघे वितनोतु भेदं ।
तत्सेन-नन्दि-त्रिदिवेश-सिंह-संघेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः ॥२५॥

अर्थात्—'लक्षण, व्यजन, स्वर, आन्तरिक्ष, शारीरिक, छिन्नाग, भोम, शाकुन, अगविद्या, आदि निमित्तो से त्रिकालवर्ती सुख, दु:ख, जय, पराजय आदि समस्त बातों को जानने वाले आचार्य अर्हद्वलि शिष्यद्वय से नवाकुर कल्पवृक्ष तुल्य पृथ्वी पर शोभित थे। ऐसे आचार्य अर्हद्वलि ने कालस्वभाव से होने वाले रागद्वेष को कम करने के लिए श्री कौण्डकुन्दान्वय मूल संघ को सेन, नन्दी, देव और सिंह इन चार विभागों मे विभक्त किया, इन चारो में जो भेद मानता है वह कुदृष्टि है।

उपर्युक्त लेख मे अर्हद्वलि द्वारा मूल सघ को चार विभागों मे बाटने की बात कही गई है। यह बात कहां तक सत्य हो सकती है, इसका

निर्णय में विद्वान् पाठको पर छोड़ता हूँ। क्योंकि एक तरफ तो दिगम्बर ग्रन्थकार भूतबलि और पुष्पदन्त को आचार्य "धरसेन" के पास पढ़ने की बात कहते हैं और दूसरी तरफ पट्टावली और प्रशस्तिलेखक उनके गुरु अर्हद्वलि द्वारा चार संघों का विभाजन करवाते हैं। इन बातो मे काल का समन्वय किसी ने नही किया। क्या आचार्य "धरसेन" और "अर्हद्वलि" समकालीन थे ? यदि यह बात नही है तो "अर्हद्वलि" के समय मे जिनका विभाजन किया गया है उन "सेन", "नन्दो", "देव" और "सिंह" नामक चार सघो का उत्पत्ति-समय क्या है ?, यह कोई बता सकता है ? यदि सचमुच ही अर्हद्वलि के समय मे चार सघ विभक्त हुए है, तो अर्हद्वलि का समय विक्रमीय अष्टम शती के पहले का नही हो सकता और इस स्थिति में "भूतवलि" और "पुष्पदन्त" ने "धरसेन" से कर्मसिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया, इस कथन का मूल्य दन्तकथा से अधिक नही हो सकता।

एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि जिन धरसेन, अर्हद्वलि, पुष्पदन्त, भूतवलि, गुणधर, आर्य मंखू, नागहस्ती आदि आचार्यों का कर्म-सिद्धान्त "कषायप्रभृत" "षट्खण्डागम" आदि के साथ सम्बन्ध जोडा जाता है, इनका प्राचीन शिलालेखों मे कही भी नाम-निर्देश तक नही मिलता, इसका कारण क्या हो सकता है ? क्योकि इतने बड़े भारी लेख-संग्रहो में अर्हद्वलि, भूतवलि और पुष्पदन्त का नाम निर्देश केवल एक शिलालेख में उपलब्ध होता है और जिस लेख मे नाम मिलते हैं वह लेख भी शक सं० १३२० मे लिखा हुआ है, अर्थात् विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे आता है। इस परिस्थिति को देखते हुए पूर्वोक्त आचार्यों के सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त लिखने की बातें प्रचलित हुई हैं उनका आधार मात्र भट्टारक इन्द्रनन्दी की "श्रुतावतार-कथा" है। इसके पहले के किसी भी श्वेताम्वर अथवा दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ में उक्त बातो का उल्लेख नही मिलता और इन्द्रनन्दी ने "श्रुतावतार" के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, उसका मूल्य दन्तकथाओं से अधिक नही आकना चाहिए।

जिस प्रकार श्वेताम्वर परम्परा मे "मथुरा" और "वलभी" में आगमो के लिखने सम्बन्धी प्रसंग बने थे, उसी प्रकार शायद उन्ही प्रसंगों

"श्रुतावतार" के लेखानुसार आरातीय मुनियो के बाद "अर्हद्वलि" आचार्य हुए थे। आरातीय मुनि वीर निर्वाण से ६८३ (विक्रम संवत् २१३) तक विद्यमान थे, इसके बाद क्रमश: अर्हद्वलि, माघनन्दी, घरसेन, पुष्पदन्त, भूतवलि नामक आचार्य हुए। पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्-खण्डागम सूत्र की रचना की। उधर गुणधर मुनि ने नागहस्ती और आर्य मक्षु को "कषाप्राभृत" का सक्षेप पढ़ाया। उनसे "यतिवृषभ" और "यतिवृषभ" से "उच्चारणाचार्य" ने "कषायप्राभृत" सीखा और गुरु-परम्परा से दोनो प्रकार का सिद्धान्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) तक पहुंचा।

श्रुतावतार कथा के अनुसार आरातीय मुनि वीर निर्वाण स० ६८३ तक विद्यमान थे। इनके वाद अर्हद्वलि, माघनन्दी, घरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि आचार्य हुए हो तो इन पाच आचार्यों मे कम से कम १२५ वर्ष और वढ जाते हैं और वीर निर्वाण स० ८०८ तक समय पहुँचता है। दोनो प्रकार के सिद्धान्त कुन्दकुन्दाचार्य तक पहुँचाने वाली गुरु-परम्परा मे भी पाच-छः आचार्य तो रहे ही होगे और इस प्रकार निर्वाण के बाद की समय-शृङ्खला लगभग दशवी शती तक पहुँचती है और इस प्रकार भी आचार्य कुन्दकुन्द का समय विक्रम की छठी शती के उत्तरार्ध तक पहुच जाता है। इसके बाद लगभग १०० वर्षों के उपरान्त दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रन्थ पुस्तको पर लिखे गये हो तो यह घटना विक्रम की सातवी शती के मध्यभाग मे पहुँचेगी। यहा तक हमने जो ऊहापोह किया है, वह दिगम्बरीय पट्टावलियो और दन्तकथाओ के आधार पर, यह ऊहापोह अन्तिम सिद्धान्त ही है यह दावा तो नही कर सकते, क्योकि दिगम्बर पट्टावलियां तथा दन्तकथाये इतनी अव्यवस्थित और छिन्नमूलक है कि उनके आधार पर कोई भी सिद्धान्त निश्चित हो ही नही सकता। जितने भी दिगम्बरीय सम्प्रदाय के शिलालेख तथा ग्रन्थप्रशस्तियां प्रकाशित हुई हैं, वे सभी विक्रम की नवमी शती और उसके बाद की हैं। इन शिलालेखो, ग्रन्थ-प्रशस्तियों के आधार से दिगम्बरो की अविच्छिन्न परम्परा-सूचक पट्टावलियों का तैयार होना असम्भव है। निर्वाण से ६८३ वर्षो के अन्दर होने वाले केवलियो, श्रुतकेवलियो, दशपूर्वधरों, एकादशागधरो और एकागधरो की

दी गई यादियां कहा तक ठीक हैं, यह कहना विचारणीय है। क्योकि एक तो इनके सम्प्रदाय मे मौलिक साहित्य नही, दूसरा ऐसी कोई पट्टावली नही कि जिसका विश्वास किया जाय।

उपर्युक्त केवलियो, श्रुतकेवलियों आदि के व्यक्तिगत सत्ता-समय के पृथक्-पृथक् वर्ष न देकर तीन, पांच, ग्यारह आदि के वर्षों का समुदित पिण्ड बताना यह सूचित करता है कि ये सभी नाम इस परम्परा ने सैकड़ों वर्षों के बाद लिखे हैं। "मूलगच्छ" की जो "प्राकृत पट्टावली" बताई जाती है, वह भी वास्तव मे भट्टारक-कालीन कृत्रिम पट्टावली है, मौलिक नही। यही कारण है कि कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती श्रमणो की परम्परा क्रमिक शृङ्खला की कड़ियो की तरह नही मिलती। हम पहले ही दो शिलालेखो और हरिवंशपुराण के आधार से कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का विवरण दे आये हैं जो व्यवस्थित नही है। उक्त लेखो और पुराण के अतिरिक्त "तिलोयपण्णत्ति", षट्खण्डागम के वेदना खण्ड की "धवला टीका" 'कषायपाहुड' की "जयधवला टीका" जिनसेन के "आदि-पुराण" और इन्द्रनन्दी के "श्रुतावतार" मे भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पट्टावलिया दी गई हैं, परन्तु वे सभी अन्तिम आचारांगधारी "लौहाचार्य" तक जाकर समाप्त हो जाती हैं। "तिलोय-पण्णत्ति" विक्रम की १३ वी शती का एक संगृहीत संदर्भ है, यह बात पहले ही कह आये हैं। "श्रुताव-तार कथा" भी विक्रम की १३वी शती से पहले की प्रतीत नही होती, क्योंकि इसमे "पुस्तक के लिए साधु को थोड़ा द्रव्य सग्रह करने की छूट दी है"। साधुओ की यह स्थिति १३ वी शती के पहले नही थी। अब रही धवलादि तीन ग्रन्थो की बात, इसमे धवला की समाप्ति भट्टारक वीरसेन ने शक स० ७०२ मे की थी यह माना जा रहा है। "जयधवला" भी उनके शिष्य जिनसेन ने पूर्ण की है और आदिपुराण जिनसेन का ही है। इस परिस्थिति मे उक्त छः ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे सब से प्राचीन "धवला" की प्रशस्ति है, शेष ग्रन्थकारो ने प्रायः इसी प्रशस्ति का अनु-सरण किया है। इस दशा मे केवली जम्बू के उपरान्त के भद्रबाहु को छोड़ कर शेष श्रुतकेवलियो, एकादशपूर्वधरो, पाच एकादशागधरो और

चार एकागधरों के नाम भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी ने ईजाद किये हो तो आश्चर्य नही है, क्योकि ऐसे कामो मे आप सिद्धहस्त थे। चूर्णिकार को आप ही ने "यतिवृषभ" के नाम से प्रसिद्ध किया है। दिगम्बर परम्परा मे व्यवस्थित और अविच्छिन्न परम्परा-सूचक पट्टावली नही है। अतः अब दो चार अपूर्ण पट्टावलिया देकर इस अधिकार को पूरा कर देंगे।

नन्दिसंघ, द्रमिलगण, अरुङ्गलान्वय की पट्टावलियाँ

महावीर स्वामी
गोतम गणधर
समन्तभद्र स्वामी
एकसन्धि सुमति भट्टारक
अकलंकदेव वादीभसिंह
वक्रग्रीवाचार्य
श्रीनन्द्याचार्य
सिंहनन्द्याचार्य
श्रीपाल भट्टारक
कनकसेन वादिराज देव
श्री विजयशान्तिदेव
पुष्पसेन सिद्धान्तदेव
वादिराज
शान्तिषेण देव
कुमारसेन सिद्धान्तिक
मल्लिषेण मलधारी
श्रीपाल त्रैविद्यदेव (शक स० १०४७ में विष्णुवर्द्धन नरेश ने शल्य ग्राम का दान दिया।)

देशीयगण के आचार्यों की परम्परा

त्रैकाल्य योगीश
देवेन्द्रमुनि (सिद्धान्तभट्टार)

चन्द्रायरणद भट्टार
गुरणचन्द्र
अभयरणन्दि
शीलभद्र भटार
जयरणन्दि
गुरणनन्दि
चन्द्रणन्दि

शक संवत् १०५० के लेख न० ५४ मे निर्दिष्ट आचार्यपरम्परा

वर्द्धमानजिन
गौतम गरणधर
भद्रवाहु
चन्द्रगुप्त
कुन्दकुन्द
समन्तभद्र – वाद मे धूर्जटि की जिह्वा को भी स्थगित करने वाले
सिंहनन्दि
वक्रग्रीव – छः मास तक "अथ" शब्द का अर्थ करने वाले
वज्रनन्दि (नव स्तोत्र के कर्त्ता)
पात्रकेसरिगुरु (त्रिलक्षण सिद्धान्त के खण्डनकर्त्ता)
सुमतिदेव (सुमति-सप्तक के कर्त्ता)
कुमारसेन मुनि
चिन्तामरिण (चिन्तामरिण कर्त्ता)
श्री वर्द्धदेव (चूडामरिण काव्य के कर्त्ता दण्डी द्वारा स्तुत्य)
महेश्वर (ब्रह्मराक्षसो द्वारा पूजित)
अकलक (बौद्धो के विजेता साहसतुग नरेश के सन्मुख हिमशीतल नरेश की सभा में)
पुष्पसेन (अकलक के सधर्मा)
विमलचन्द्र मुनि – इन्होंने शैव पाशुपतादि वादियो के लिए "शत्रुभयंकर" नाम से भवन द्वारपर नोटिस लगा दिया था।

इन्द्रनन्दि

परवादिमल्ल (कृष्णराज के समक्ष)

आर्य्यदेव

चन्द्रकीर्ति (श्रुतविन्दु के कर्त्ता)

कर्मप्रकृति – भट्टारक

श्रीपालदेव मतिसागर	वादिराज-कृत पार्श्वनाथ चरित (शक ९४७ से विदित होता है कि वादिराज के गुरु मतिसागर थे और मतिसागर के गुरु श्रीपाल ।

हेमसेन विद्याधनञ्जय महामुनि

दयापाल मुनि	(रूपसिद्धि के कर्त्ता मतिसागर के शिष्य) वादिराज-(दयापाल के सब्रह्मचारी चालुक्य चक्रेश्वर जयसिंह के कटक मे कीर्ति प्राप्त की ।)

श्रीविजय (वादिराज द्वारा स्तुत्य हेमसेन गुरु के समान)

कमलभद्रमुनि

दयापाल पण्डित महासूरि

शान्तिदेव	(विनयादित्य होयसल नरेश द्वारा पूज्य) चतुर्म्मुखदेव (पाण्ड्य नरेश द्वारा स्वामी की उपाधि और आहवमल्ल नरेश द्वारा चतुर्मुखदेव की उपाधि प्राप्त थी)

गुणसेन (मुल्लूर के)

अजितसेन - वादीभसिंह

शान्तिनाथ कविताकान्त	पद्मनाभ वादिकोलाहल

कुमारसेन

मल्लिषेण मलधारि (अजितसेन पण्डित देव के शिष्य, स्वर्गवास शक सं० १०५०)

मूल संघ के देशीय गण की पट्टावली :

कुन्दकुन्दाचार्य (पद्मनन्दि)
उमास्वाति (गृध्द्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनन्दि
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
चतुर्मुखदेव (वृषभनन्दी)
माघनन्दि
मेघचन्द्र

मूल संघ के नन्दिगण की पट्टावली :

कुन्दकुन्दाचार्य
उमास्वाति (गृध्द्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनन्दि
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
कलधौतनन्दि मुनि
महेन्द्रकीर्ति
वीरनन्दि
गोल्लाचार्य
त्रैकाल्य योगी
अभयनन्दि
सकलचन्द्र
मेघचन्द्र
वीरनन्दि
अनन्तकीर्ति
मल० रामचन्द्र
शुभचन्द्र
पद्मनन्दि

उपसंहार :

दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियो से हमको सन्तोष नही हुआ । एक भी सम्पूर्ण पट्टावली मिल गई होती तो हम इस प्रकरण को सफल हुआ मानते, अस्तु ।

दिगम्बर सम्प्रदाय के सम्बन्ध में लिखते हुए, हमको अनेक स्थानों पर खण्डनात्मक शैली का आश्रय लेना पड़ा है, इसका कारण दिगम्बर विद्वानो के श्वेताम्बर-परम्परा-विरुद्ध किये गये आक्षेपो के प्रत्याघात मात्र है । दिगम्बर समाज मे आज सैकड़ो पण्डित हैं और वे साहित्य सेवा मे लगे हुए हैं, परन्तु इस पण्डितसमाज मे शायद ही दो-चार विद्वान् ऐसे होगे, जो सत्य बात को सत्य और असत्य को असत्य मानते हो । कुछ पण्डित तो ऐसे हैं, जो श्वेताम्बर जैन परम्परा के मन्तव्यों का खण्डन करके आत्म-सन्तोष मानते हैं । पण्डित नाथूरामजी प्रेमी, जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ० हीरालालजी जैन और ए० एन० उपाध्याय आदि कतिपय स्थितप्रज्ञ विद्वान् भी है जो सत्य वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, शेष पण्डितमण्डली के विद्वानों मे ऐसी उदारता दृष्टिगोचर नही होती । इनमें से कतिपय तो ऐसे भी ज्ञात हुए हैं, जो अपनी अशक्ति को न जानते हुए, धुरन्धर श्वेताम्बर जैनाचार्यो पर आक्षेप करते भी विचार नही करते । कुछ समय पहले की बात है, एक पण्डितजी का "ज्ञानार्णव" ग्रन्थ पर लिखा हुआ वक्तव्य पढ़ा और बड़ा आश्चर्य हुआ । आपने लिखा था कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने "योगशास्त्र" मे "ज्ञानार्णव" के कई श्लोक ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं", उस समय हमारे पास मुद्रित "ज्ञानार्णव" नही था । ग्रन्थसंग्रह में से हस्तलिखित "ज्ञानार्णव" को मंगवाकर पढा तो हमारे आश्चर्य का पार नही रहा । पण्डितजी ने जो कुछ लिखा था वह असत्य ही नही बिल्कुल विपरीत था ।

"ज्ञानार्णव" के कर्त्ता भट्टारक शुभचन्द्राचार्य ने "हेमचन्द्रसूरि के योगशास्त्र" के कई श्लोक अपने ग्रन्थ मे ज्यो के त्यो ले लिए देखे गए ।

आचार्य हेमचन्द्र का समय विक्रम की बारहवी और तेरहवी शती का मध्यभाग था, तब भट्टारक शुभचन्द्र सोलहवी-सत्रहवी शती के मध्यवर्ती ग्रन्थकार थे। कृति का मिलान करने से ही ज्ञात होता था कि यह श्लोक भट्टारकजी के हैं और अमुक श्लोक पूर्वाचार्य कृत। भट्टारकजी की कृति बिल्कुल साधारण कोटि की है, तब हेमचन्द्र आदि विद्वानो की कृति ओजस्वी होने से छिपी नही रहती। पण्डितजी की उक्त विचारणा से मुझे बड़ी ग्लानि हुई, क्योकि ऐसे लेखको से ही सम्प्रदायों के बीच कटुता बढती और बनी रहती है।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस लेख के अन्तर्गत किसी कथन से किसी को दुःख नही लाना चाहिए, क्योकि मेरा अभिप्राय अपने सम्प्रदाय की सत्यता प्रतिपादन करने का है, न कि दिगम्बर सम्प्रदाय के खण्डन का।



द्वितीय परिच्छेद

[तपागच्छीय पट्टावलियाँ]

श्री तपागच्छ-पट्टावली-सूत्र

कर्ता : उपाध्याय धर्मसागर गणी

"सिरिमंतो सुहहेऊ, गुरु-परिवाडीइ आगओ संतो।
पज्जोसवणाकप्पो, वाइज्जइ तेण तं वुच्छं ॥१॥"

'पट्टावली सूत्रकार उपाध्याय श्री धर्मसागरजी महाराज पट्टावली सूत्र लिखने के पहले अपनी इस प्रवृत्ति का कारण बताते हुए कहते हैं, श्रीमान् "पर्युषणाकल्प" जो सुख का हेतु है और गुरु परम्परा से हम तक आया है, इसलिए मैं गुरु-परिपाटी का निरूपण करूंगा।१।'

"गुरुपरिवाडीमूलं, तित्थयरो वद्धमाणनामेणं ।
तप्पट्टोदय-पढमो, सुहम्मनामेण १ गणसामी ॥२॥
बीओ जंबू २ तइओ, पभवो ३ सिज्जंभवो चउत्थो अ।
पंचमओ जसभद्दो ५, छट्ठो संभूय-भद्दगुरू ६ ॥३॥"

'गुरुपरिपाटी का मूल तीर्थङ्कर महावीर है, जिनके पट्ट पर सुधर्म-नामा प्रथम गणधर हुए। सुधर्मा के पट्ट पर जंबूस्वामी, जंबूस्वामी के पट्ट पर तीसरे पट्टधर प्रभव, प्रभव के पट्टधर शय्यम्भव, शय्यम्भव के उत्तराधिकारी पांचवें यशोभद्र और यशोभद्र के पट्टधारी छठवे संभूतविजय और भद्रबाहु हुए। २। ३।'

गणधर सुधर्मा ने पचास वर्ष की अवस्था में महावीर के पास प्रव्रज्या ली थी। ३० वर्ष तक श्रीमहावीर की सेवा में रहे, वीरनिर्वाण के बाद १२ वर्ष तक छद्मस्थपर्याय में विचरे और अन्त में आठ वर्ष तक

केवलीपर्याय भोगा। इस प्रकार १०० वर्ष का आयुष्य भोगकर जिन-निर्वाण से २० वर्ष के अन्त में सुधर्मा गणधर सिद्धि को प्राप्त हुए।

सुधर्मा के पट्टधर श्री जम्बूस्वामी, जो राजगृह नगर के श्रेष्ठिपुत्र थे, गणधर सुधर्मा के पास १६ वर्ष की वय मे दीक्षा लेकर २० वर्ष तक अपने गुरु सुधर्मा की सेवा में रहे और सुधर्मा के बाद ४४ वर्ष तक युगप्रधान रहकर ८० वर्ष की अवस्था मे वीरनिर्वाण से ६४ वर्ष व्यतीत होने पर निर्वाण-प्राप्त हुए थे।

जम्बू के पट्टधर आचार्य श्री प्रभव ३० वर्ष की अवस्था मे दीक्षा लेकर ४४ वर्ष तक व्रतपर्याय मे रहे और जम्बू का निर्वाण होने के बाद ११ वर्ष युगप्रधान रह कर ८५ वर्ष की उम्र मे वीरनिर्वाण से ७५ वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुए।

आचार्य प्रभव के उत्तराधिकारी श्री शय्यम्भवसूरि २८ वर्ष की उम्र मे दीक्षा लेकर ११ वर्ष सामान्य व्रत-पर्याय मे और २३ वर्ष तक युगप्रधान पर्याय मे रहकर वीरनिर्वाण के ९८ वर्ष के अन्त मे स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री शय्यम्भव स्वामी के पट्टधर श्री यशोभद्रसूरि हुए – २२ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ली थी और १४ वर्ष तक सामान्य व्रती की अवस्था मे रहकर ५० वर्ष तक युगप्रधान रहे और ८६ वर्ष की अवस्था मे जिननिर्वाण के बाद १४८ वर्ष व्यतीत होने पर स्वर्गवासी हुए।

आचार्य यशोभद्रसूरिजी के पट्टधर दो समर्थ आचार्य हुए। पहले श्री सम्भूतविजयजी और दूसरे श्री भद्रबाहु स्वामी। सभूतविजयजी २२ वर्ष की अवस्था मे दीक्षित हुए थे और ८ वर्ष तक सामान्यव्रती-पर्याय भोगकर युगप्रधान बने और ६० वर्ष तक युगप्रधान रहकर ९० वर्ष की अवस्था मे जिननिर्वाण से २०८ वर्ष के अन्त मे स्वर्गवासी[१] हुए।

---

(१) आचार्य सभूतविजयजी के युगप्रधान पर्याय के वर्ष सर्व पट्टावलियो मे ८ लिखे मिलते हैं, परन्तु हमने यहा ६० लिखे हैं, क्योकि पुस्तक लेखक के प्रमाद से "सट्ठि" के स्थान पर "अट्ठ" बन जाने से ६० को आठ (८) मान लिया गया, यह भूल

आचार्य भद्रबाहु ने ४५ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा लेकर, १७ व
तक सामान्य व्रतीपर्याय मे रहे और १४ वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा
७६ वर्ष की अवस्था मे जिननिर्वाण से २२२ वर्ष मे आपश्री ने स्व
प्राप्त किया।

"सिरिथूलभद्दसत्तम७, अट्ठमगा महगिरी सुहत्थी ८ अ।
सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धा, कोडिय-काकंगदा नवमा ९ ॥४॥"

'आचार्य सभूतविजय और भद्रबाहु के पट्ट पर सातवे पट्टधर स्थूल-भद्रजी हुए और स्थूलभद्रजी के पट्ट पर आर्यमहागिरि तथा आर्य सुहस्ती नामक दो आचार्य हुए और आर्य सुहस्ती के पट्ट पर कोटिक काकन्द नाम से प्रसिद्ध सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध नामक दो आचार्य हुए.'

आचार्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थाश्रम मे रहकर आर्य सभूत-विजयजी के हाथ से प्रव्रजित हुए थे और २४ वर्ष तक व्रत-पर्याय मे रहक भद्रबाहु के बाद युगप्रधान बने और ४५ वर्ष तक युगप्रधान पद भोग और जिननिर्वाण से २६७ वर्ष के अन्त मे ९९ वर्ष की आयु मे स्वर्गवासी हुए

श्री स्थूलभद्रजी के पट्टधर आर्य महागिरि और सुहस्ती दो गुरु-भा थे। इनमे आर्यमहागिरिजी ६० वर्ष की उम्र में प्रव्रज्या लेकर ४० व तक सामान्य श्रमण रहे और ३० वर्ष तक युगप्रधान पद भोगकर १० वर्ष की अवस्था मे जिननिर्वाण से २६७ के अन्त मे स्वर्गवासी हुए।

स्थूलभद्र के द्वितीय पट्टधर आर्य सुहस्तीजी ३० वर्ष की वय मे दीक्षि होकर २४ वर्ष तक सामान्य व्रती रहे। अनन्तर ४६ वर्ष तक युगप्रधान प भोगा, और १०० वर्ष का आयुष्य पूरा करके आर्य सुहस्ती जिननिर्वाण ३४३ वर्ष मे स्वर्गवासी हुए।

आधुनिक नही वल्कि १०००–८०० वर्षो की पुरानी है और इसी भूल के परिणाम स्वरूप हमारी पट्टावलियो मे अनेक विषयो मे विसवाद उपस्थित होते थे, परन्तु इ परिमार्जन के बाद सभी विसगतिया मिट जाती है, इतना ही नही, परन्तु "तित्थोगाल पइन्नय" मे लिखी हुई, "राजत्वकाल गणना" के साथ भी परिमार्जित स्थविर काल गणना ठीक बैठ जाती है।

आर्य सुहस्ती के पट्टधर श्री सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध जो कोटिक और काकन्दक कहलाते थे, करोडो वार सूरिमन्त्र का जाप करने से अथवा कोट्य श सूरिमन्त्रधारक होने से उनका गण कोटिक कहलाता था। कोटिक नाम के सम्बन्ध में आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरिजी महाराज कहते हैं : आर्य वज्रस्वामी तक सूरिमन्त्र करोडो वार तक जपा जाता था, इसीलिये सुस्थित-सुप्रतिवुद्ध के गण का नाम "कोटिक" प्रसिद्ध हुआ था। तव आचार्य श्री गुणरत्नसूरि अपने गुरुपर्व-क्रम के वर्णन मे लिखते है – "उस समय सूरि-मन्त्र का ध्यान करने वाला श्रमण "चार ज्ञानवान्" वनकर सर्वज्ञदृष्ट द्रव्यों मे से एक कोट्य श लगभग द्रव्य देखता था, इस कारण से लोक मे सुस्थित सुप्रतिवुद्ध और उनका "गण" "कोटिक" नाम से प्रसिद्ध हुए।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने अपनी "सन्देहविषौपधि" नामक "कल्प-टोका" मे कोट्य श शब्द का प्रयोग किया था और उन्ही के अनुकरण मे पिछले लेखको ने "कोटीश" "कोट्य श" आदि शब्द सूरिमन्त्र के साथ जोड़ कर, अपनो-अपनी समझ के अनुसार "कोटिक" शब्द की व्याख्या की है। इस सम्बन्ध मे हमारी राय मे "कोटिक" शब्द "कोटिवर्षीय" शब्द का संक्षिप्त रूप है। आचार्य सुस्थित कोटिवर्ष नगर के रहने वाले थे, इसीलिये "कोटिक" कहलाते थे और उनसे प्रचलित होने वाला गण भी "कोटिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ था। सूरिमन्त्र आदि जाप की कल्पनाएं कल्पना मात्र हैं।

सिरिइंददिन्न सूरी, दसमो १० इक्कारसो अ दिन्नगुरू ११।
बारसमो सीहगिरी १२, तेरसमो वयरसामी गुरू १३ ॥१५॥

'आचार्य सुस्थित सुप्रतिवुद्ध के पट्ट पर दसवें इन्द्रदिन्नसूरि, इन्द्रदिन्न-सूरि के पट्ट पर ग्यारहवें आर्य दिन्नगुरु, आर्य दिन्न के पट्ट पर बारहवे सिंह-गिरि और सिंहगिरि के पट्टधारी तेरहवे आचार्य श्री वज्रस्वामी हुए।

आर्य सुस्थित[१] सुप्रतिवुद्ध, इन्द्रदिन्न, दिन्न और सिहगिरि के समय के सम्बन्ध मे पट्टावलियो मे कोई भी उल्लेख नही मिलता। आर्य वज्रस्वामी

(१)–अंचल गच्छ की बृहत् पट्टावली मे आचार्य सुस्थित सुप्रतिवुद्ध का स्वर्ग-

के समय विषयक प्राचीन गाथाओ के आधार से पट्टावली-लेखको ने ऊह पोह अवश्य किया है, परन्तु आवश्यक-निर्युक्ति के साथ आर्य वज्र का समय भी ठीक नही मिलता। आवश्यक-निर्युक्ति मे गोष्ठामाहिलनिह्नव का समय वीरनिर्वाण से ५८४ मे बताया है। आर्य रक्षितसूरि दशपुर नगर मे चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, तब गोष्ठामाहिल वर्षाचातुर्मास्य मे मथुरा मे थे, आर्य रक्षितजी उसी चातुर्मास्य मे स्वर्गवासी हुए थे, तब गोष्ठामाहिल ने चातुर्मास्य के बाद मथुरा से दशपुर आकर ५८४ मे "अबद्धिक मत" की प्ररूपणा की थी। वीरनिर्वाण का सवत्सर कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को बैठता है; इसमे पाया गया कि आर्य रक्षितजी का स्वर्गवास ५८३ मे हुआ था और आर्य-रक्षित, आर्य वज्रस्वामी के अनन्तर १३ वर्ष तक युगप्रधान रहे थे। इस परिस्थिति मे निश्चित हो जाता है कि आर्य वज्रस्वामी का स्वर्गवास ५८४ मे नही किन्तु ५७० मे हुआ था और उसके १३ वर्ष के बाद दशपुर मे आर्यरक्षित ने जिननिर्वाण से ५८३ मे स्वर्गवास प्राप्त किया था। हमारी गणना के अनुसार आर्य वज्रका जन्म वीर-निर्वाण से ४८२ मे हुआ। इनकी दीक्षा ४९० मे हुई, ५३४ मे युगप्रधान पद प्राप्त हुआ। और स्वर्ग-वास ५७० मे हुआ।

इस प्रसग पर उपाध्यायजी श्री धर्मसागरजी महाराज एक शंका उपस्थित करते हैं और उसका समाधान न होने से प्रश्न बहुश्रुतों के ऊपर छोड़ते हैं। सागरजी की वह शका निम्नोद्धृत है :

"तत्र श्रीवीरात् त्रयस्त्रिंशदधिकपंचशत ५३३ वर्षे श्री आर्यरक्षित-सूरिणा श्री भद्रगुप्ताचार्यो निर्यामितः स्वर्गभागिति पट्टावल्यां दृश्यते। परं

समय वीर निर्वाण से ३२७ मे लिखा है। इनमे हमारे परिशोधित आर्य सभूत के ६० वर्ष के अनुसार ५२ वर्ष मिलाने से सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का समय ३७९ आता है जो सगत ठहरता है। हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली मे जो कि १८ वी शती के अन्तिम भाग मे लिखी हुई भाषा पट्टावली है, उसमे स्थविर सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का समय वीर निर्वाण से ३७२ वर्ष का लिखा है। इसी पट्टावली मे आर्य इन्द्रदिन्न का स्वर्ग समय ३७८, आर्य दिन्न सूरि का समय ४५८ और सिहगिरि का ५२३ वर्ष लिखा है, इन वर्षो मे आर्य सभूतसूरि के परिगणित ५२ वर्षों को मिलाने से क्रमश. ४३०,५१०, और ५७५ निर्वाण के वर्ष आते है।

दुष्षमासंघस्तवयंत्रकानुसारेण चतुश्चत्वारिंशदधिक पंचशत ५४४ वर्षातिक्रमे श्रीआर्यरक्षितसूरीणां दीक्षा विज्ञायते तथा चोक्तसंवत्सरे निर्यामणं न संभवतीत्येतद्बहुश्रुतगम्यम् ॥"

सागरजी का प्रश्न वास्तविक है, परन्तु इसका समाधान अशुद्धिपूर्ण यन्त्रको के आधार से नही हो सकता। हमारी गणना के अनुसार आर्य-रक्षितजी का स्वर्गवास जिननिर्वाण से ५८३ मे आता है। आर्यरक्षितजी के सर्वायुष्य का अक ७५ वर्ष और कुछ महीनो का था। उन्होने २२ वर्ष की उम्र मे "तोसलिपुत्राचार्य" के पास दीक्षा ली थी। ५८३ वर्ष मे से ७५ वर्ष बाद करने पर आर्य रक्षितजी का जन्म समय ५०८ का आता है, उसमें २२ वर्ष गृहस्थाश्रम के जोडने पर ५३० मे दीक्षा का समय आता है। दीक्षा लेकर दो-ढ़ाई वर्ष तक अपने गुरु के पास पढ़कर विशेप अध्ययन के लिये वज्रस्वामी के पास जा रहे थे, जबकि उज्जैनी मे स्थविर भद्रगुप्त की निर्यामणा करने का अवसर मिला था और भद्रगुप्त के स्वर्गवास के बाद वज्रस्वामी के पास पहुँचे थे। इस प्रकार से उपाध्यायजी की शका का समाधान ठीक ढग से हो जाता है।

इसी प्रकार आर्यरक्षितसूरि के स्वर्गवास समय के बारे मे भी उपाध्यायजी महाराज ने अपने पट्टावली-सूत्र की टीका मे एक शका उपस्थित की है जो निम्न शब्दों मे है :

"श्रीमदार्यरक्षितसूरि सप्तनवत्यधिकपंचशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्ग-भागिति पट्टावल्यादौ दृश्यते, परमावश्यकवृत्त्यादौ श्रीमदार्यरक्षितसूरीणां स्वर्गगमनानन्तरं चतुरशीत्यधिकपचशत ५८४ वर्षान्ते सप्तमनिह्नवोत्पत्ति-रुक्तास्ति तेनैतद् बहुश्रुतगम्यमिति।"

उपाध्याय की यह शका भी वास्तविक है और इसका समाधान भी यही है कि आर्यवज्र तथा आर्यरक्षितसूरि के स्वर्गवास के समय मे जो १४-१४ वर्ष अधिक आए हैं, उनको हटा दिया जाय, क्योकि इस प्रकार की अशुद्धिया प्रकीर्णक अशुद्ध गाथाओ के ऊपर से पट्टावलियो मे घुस गई हैं, जिनका परिमार्जन करना आवश्यक है।

"सिरिवज्जसेणसूरी १४, चउदसमो चंदसूरि पंचदसो १५।
सामन्तभद्दसूरी, सोलसमो १६ रण्णवासरइ १६ ॥६॥"

'आचार्य वज्रस्वामी के प्रथम पट्टधर श्री वज्रसेनसूरि, जो पट्टक्रम से चौदहवें होते थे। वज्रसेनसूरि के पट्टधर श्री चन्द्रसूरि पन्द्रहवें पट्टधर आचार्य हुए और चन्द्रसूरि के पट्टधारी सोलहवें आचार्य श्रीसमन्तभद्रसूरि हुए जो वसति के बाहर रहने के कारण वनवासी कहलाते थे ॥६॥

आचार्य वज्रस्वामी के मुख्य शिष्य श्री वज्रसेनसूरि दुर्भिक्ष के समय मे वज्रस्वामी के वचन से सोपारक नगर की तरफ गए थे। सोपारक मे वज्रसेन ने जिनदत्त श्रेष्ठी के पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृति, विद्याधर को उनके कुटुम्ब के साथ दीक्षा दी थी और उन चारो के नामों से चार कुलो की उत्पत्ति हुई थी। आचार्य वज्रसेन दीर्घजीवी थे। आर्य वज्रसेन का जन्म जिननिर्वाण से ४७७ मे, दीक्षा ४८६ वर्ष में, सामान्य श्रमणपर्याय ११६ वर्ष, अर्थात् ६०२ तक, युगप्रधानपर्याय मे वर्ष ३ रहकर ६०५ के उपरान्त स्वर्गवासी हुए।

आचार्य वज्रसेन के पट्टधर श्री चन्द्रसूरि हुए, इन्ही चन्द्रसूरि से "चन्द्रकुल"१ की उत्पत्ति हुई, जो आज तक यह कुल इसी नाम से श्रमणो के दीक्षादि प्रसगो में व्यवहृत होता है। आचार्य चन्द्रसूरि के आयुष्य अथवा सत्ता समय के सम्बन्ध मे पट्टावलियो में कुछ भी उल्लेख नही है, फिर भी वज्रसेन के शिष्य होने के कारण से इनका सत्ता-समय वज्रसेन के जीवन का ही उत्तरार्द्ध अर्थात् विक्रम की दूसरी शती का मध्यभाग मान लेना वास्तविक होगा।

पट्टावली सूत्र की प्रस्तुत गाथा मे श्री चन्द्रसूरि के पट्टधर का नाम "सामन्तभद्र" लिखा है। वह छन्दोनुरोध से समझना चाहिये, वास्तव मे

१ अञ्चलगच्छ की बृहत्पट्टावली मे श्री चन्द्रसूरिजी का स्वर्गवास विक्रम सवत् १७० वर्ष के बाद होना लिखा है।

इन तपस्वी आचार्य का नाम "समन्तभद्र" था। इनके सत्ता-समय के सम्बन्ध मे पट्टावलियो मे वर्णन नही मिलता।

वास्तव में वज्रसेनसूरि के बाद के श्री चन्द्रसूरि से लेकर विमलचन्द्र-सूरि तक के २० आचार्यों का सत्ता समय अन्धकारावृत है। विचला यह समय चैत्यवासियो के साम्राज्य का समय था। उग्रविहारिक सविज्ञ श्रमणो की संख्या परिमित थी, तब शिथिलाचारी तथा चैत्यवासियो के अड्डे सर्वत्र लगे हुए थे, इस परिस्थिति मे विहारिक श्रमणो के हाथ मे कालगणना-पद्धति नही रही। इसी कारण से वज्रसेन के बाद और उद्योतनसूरि के पहले के पट्टधरो का समय व्यवस्थित नही है, दर्मियान कतिपय आचार्यों का समय गुर्वावलीकारो ने दिया भी है तो वह संगत नहीं होता, जैसे-तपागच्छ-गुर्वावलीकार आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरजी ने आचार्य श्री वज्रसेन सूरि का स्वर्गवास समय जिन निर्वाण से ६२० में लिखा है, जो विक्रम वर्षों की गणनानुसार १५० मे पड़ता है। तब वज्रसेन से चतुर्थ पुरुष श्री वृद्धदेव-सूरिजी द्वारा विक्रम संवत् १२५ मे कोरण्ट नगर मे प्रतिष्ठा होना बताया है, इसी प्रकार १८ वें पट्टधर प्रद्योतनसूरि के बाद श्री मानदेवसूरि को पट्टधर बताया है। मानदेव के बाद श्री मानतुंगसूरि जो बाण और मयूर के समकालीन थे, उनको २० वा पट्टधर माना है, मयूर का आश्रम दाता कन्नौज का राजा श्रीहर्ष था, जिसका समय विक्रम की सातवी शती का उत्तरार्द्ध था, यह समय श्रीमान तुंगसूरि के पट्टगुरु मानदेवसूरि के और मानतुंगसूरि के पट्टधर वीरसूरि के साथ संगत नही होता, क्योकि मानतुंग-सूरि के बाद के पट्टधर श्री वीरसूरि का समय गुर्वावलीकार श्री मुनिसुन्दरजी ने निम्नोद्धृत श्लोक मे प्रकट किया है :

"जज्ञे चैत्ये प्रतिष्ठा कृन्नमेनागिपुरे नृपात्।
त्रिभिर्वर्षशतै. ३०० किंचिदधिकै वीर सूरिराट् ॥३७॥"

आचार्य मानतुंग कवि बाण मयूर का समकालीन मानना और मानतुंग के उत्तराधिकारी वीरसूरि का समय विक्रम वर्ष ३०० से कुछ अधिक वर्ष मानना युक्ति संगत नही है, वीरसूरि के बाद के आचार्य जयदेव,

देवानन्द विक्रम और नरसिंह इन चार आचार्यों के समय की चर्चा गुर्वावली तथा पट्टावली मे नही मिलती।

गुर्वावलीकार द्वारा लिखित आचार्यों के सत्तासमय की विसंगति का समन्वय :

ऊपर हमने गुर्वावली सूचित पट्टधरो के समय मे जो विसगतिया दिखाई हैं उनका समन्वय निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

यद्यपि मुनिसुन्दरसूरिजी ने श्री वज्रसेनसूरि का समय वीरनिर्वाण ६२० में माना है, परन्तु हमारी गणना से वज्रसेन का समय जिननिर्वाण से ६०५ तक पहुँचता है, उसके बाद चन्द्रसूरि, समन्तभद्रसूरि और वृद्धदेवसूरि का समय विक्रम से १२५ तक सूचित किया है, परन्तु हमारा अनुमान है कि गुर्वावलीकार को जो १२५ का अंक मिला है, वह विक्रम सवत् का न होकर शक सवत् का होना चाहिए।

गुर्वावलीकार के लेखानुसार विक्रम संवत् १५० मे वज्रसेन का स्वर्गवास हुआ है, तब उनके बाद के तीन आचार्यों के समय के १२५ वर्ष वज्रसेन के समय सहित नही लिखते, पर लिखा है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वज्र के बाद के वज्रसेन चन्द्र समन्तभद्र और वृद्धदेवसूरि की प्रतिष्ठा तक के १२५ वर्ष की सख्या सूचित की है, प्रतिष्ठा के बाद भी वे पूर्ण वृद्धावस्था तक जीवित रहे थे, इस दशा मे १० वर्ष अधिक जीवित रहे ऐसा मान लेने पर वृद्धदेवसूरि का स्वर्ग–समय विक्रम सवत् ३७५ तक पहुँच सकता है और इनके बाद प्रद्योतनसूरि, मानदेवसूरि, मानतुगसूरि और वीरसूरि इन चार आचार्यो का सत्ता-समय ३०० वर्ष के लगभग मान लिया जाय तो एकत्रित समयांक ६७५ तक पहुँचेगा और इस प्रकार से मानतुगसूरि बाण, मयूर और राजा श्रीहर्ष के समय मे विद्यमान हो सकते हैं। वीरसूरि के अनन्तर जयदेवसूरि, देवानन्दसूरि, विक्रमसूरि, नरसिहसूरि और समुद्रसूरि इन ५ आचार्यो के सम्मिलित १०० वर्ष मान लेने पर खोमाण राजा के कुलज समुद्रसूरि का समय वि० स० ७७५ मे आ सकता है, और हरिभद्र के मित्र द्वितीय मानदेवसूरि का समय भी

७८० के लगभग रह सकता है। इसके बाद विबुधप्रभ जयानन्द, रविप्रभ, यशोदेवसूरि, प्रद्युम्नसूरि, उपधान-प्रकरणकार मानदेवसूरि इन ६ आचार्यों के सत्तासमय के सम्मिलित १७५ वर्ष मान लेने पर पट्टधरों का सत्तासमय ९५५ तक पहुँचेगा। इस प्रकार उपधानप्रकरणकार मानदेवसूरि का भी अन्तिम समय ९५५ में पहुँचता है, जो सगत है। इनके बाद आचार्य विमलचन्द्र, उनके पट्टधर आचार्य श्री उद्योतनसूरि और इनके पट्टधर सर्वदेव-सूरि का समय विक्रम की ११वीं शती के प्रथम चरण तक पहुँचता है, क्योंकि ९५६ से विमलचन्द्रसूरि का समय प्रारम्भ हो जाता है और ९९४वें में उनके शिष्य उद्योतनसूरि, सर्वदेवसूरि को पट्ट पर स्थापित करते हैं, तब विक्रम सं० १०१० में सर्वदेवसूरि रामसैन्यपुर में चन्द्रप्रभ जिन की प्रतिष्ठा करते हैं।

ऊपर लिखे अनुसार मुनिसुन्दरसूरि की गुर्वावली में दिये हुए समय में संशोधन करने से सत्तासमय का समन्वय होकर पारस्परिक विरोध मिट सकता है।

"सत्तरस वुड्ढदेवो १७, सूरी पज्जोअणो अठारसमे १८।
एगूणवीसइमो, सूरी सिरिमाणदेवगुरू १९ ॥ ७ ॥
सिरिमाणतुंगसूरि २०, वीसइमो एगवीस सिरिवीरो २१।
बावीसो जयदेवो २२, देवाणंदो य तेवीसो २३ ॥ ८ ॥
चउवीसो सिरिविक्कम २४, नरसिंहो पंचवीस २५ छव्वीसो।
सूरीसमुद्द २६ सत्तावीसो सिरिमाणदेव गुरू २७ ॥ ९ ॥"

'आचार्य समन्तभद्र के पट्टधर १७वें श्री वृद्धदेवसूरि, वृद्धदेवसूरि के पट्ट पर १८वें प्रद्योतनसूरि, प्रद्योतन के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि, मानदेव-सूरि के पट्ट पर श्री मानतुंगसूरि, मानतुंगसूरि के पट्ट पर श्री वीरसूरि, वीरसूरि के पट्ट पर श्री जयदेवसूरि, जयदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवानन्दसूरि, देवानन्दसूरि के पट्ट पर श्री विक्रमसूरि, विक्रमसूरि के पट्ट पर श्री नरसिंह-सूरि; नरसिंहसूरि के पट्ट पर श्री समुद्रसूरि, समुद्रसूरि के पट्ट पर श्री मान-देवसूरि २७वें पट्टधर हुए।

समुद्रसूरि को गुर्वावलीकार खोमाण राजा का कुलज बताते है। मेवाड राणाओं मे खोमाण नामक तीन राणे हुए है, "बापा रावल" नामक मेवाड़ के राणाओ मे प्रथम था, जो खोमाण भी कहलाता था। यदि हम समुद्रसूरि को खोमाण कुलज मान लें, तो भी समुद्रसूरिजी का समय विक्रम की सप्तम शती के बाद मे आता है। इनके उत्तराधिकारी द्वितीय मानदेव-सूरि को प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्रसूरिजी का मित्र बताते हैं और हरिभद्र-सूरिजी का समय विक्रम की अष्टम शती का उत्तरार्द्ध निश्चित हो चुका है, इस दशा मे द्वितीय मानदेवसूरि से चतुर्थ पीढ़ी पर आने वाले श्री रविप्रभा-चार्य का सत्ता-समय विक्रम की सप्तम शती बताना संगत नही होता।

"अट्ठावीसो विबुहो २८, एगुणतीसो गुरू जयाणंदो २६।
तीसो रविप्पहो ३०, इगतीसो जसदेवसूरिवरो ३१ ॥१०॥
वत्तीसो पज्जुण्णो ३२, तेतीसो माणदेव जुगपवरो ३३।
चउतीस विमलचंदो ३४, पणतीसुज्जोअणो सूरी ३५ ॥११॥"

'मानदेवसूरि के पट्टधर श्री विबुधप्रभसूरि, विबुधप्रभसूरि के पट्टधर श्री जयानन्दसूरि, जयानन्दसूरि के पट्ट पर श्री रविप्रभसूरि, रविप्रभसूरि के पट्ट पर श्री यशोदेवसूरि, यशोदेवसूरि के पट्ट पर श्री प्रद्युम्नसूरि, प्रद्युम्न-सूरि के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर श्री विमलचन्द्र-सूरि और विमलचन्द्रसूरि के पट्ट पर श्री उद्योतनसूरि ३५वे हुए ।१०।११।।'

विमलचन्द्रसूरि के सत्ता-समय की गुर्वावली आदि मे चर्चा नही है; परन्तु प्रभावकचरित्रान्तर्गत वीरसूरि के प्रबन्ध मे विमलचन्द्रसूरि के हस्त-दीक्षित वीरसूरि का स्वर्गवास विक्रम सवत् ६६१ मे होना लिखा है, इससे प्रतीत होता है कि वीरसूरि के दीक्षा-गुरु श्री विमलचन्द्र का समय विक्रम की दशवी शती का मध्यभाग हो सकता है।

आचार्य श्री उद्योतनसूरि का समय विक्रम की दशवी शती का उत्तर-भाग गुर्वावलीकार ने बताया है, लिखा है कि विक्रम सवत् ६६४ में आचार्य उद्योतनसूरि ने आबू के निकट एक वट के नीचे बैठे हुए सर्वदेव प्रमुख अपने

आठ शिष्यों को सर्वश्रेष्ट लग्न मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। कितनेक आचार्य केवल सर्वदेवसूरि को ही वट के नीचे सूरि पद देने की बात कहते हैं। प्रारम्भ मे सर्वदेवसूरि के श्रमणगण को लोगो ने "वट गच्छ' इस नाम से प्रसिद्ध किया और धीरे-धीरे गुणी श्रमणों की वृद्धि होने से "वटगच्छ" का ही नामान्तर "वृहद्गच्छ" प्रसिद्ध हुआ।

"सिरिसव्वदेवसूरी, छत्तीसो ३६ देवसूरि सगतीसो ३७।
अडतीसइमो सूरी, पुणोवि सिरिसव्वदेव गुरू ३८ ॥१२॥
एगुणचालीसइमो, जसभद्दो नेमिचंद गुरुवधू ३९।
चालीसो मुणिचदो ४०, एगुआलीसो अजिअदेवो ४१ ॥१३॥"

'श्री उद्योतनसूरि के पट्ट पर श्री सर्वदेवसूरि, सर्वदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि, देवसूरि के पट्ट पर फिर श्री सर्वदेवसूरि, द्वितीय सर्वदेवसूरि के पट्ट पर श्री यशोभद्रसूरि तथा नेमिचन्द्र ये दो आचार्य हुए और इस आचार्य युगल के पट्ट पर श्री मुनिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्रसूरि के पट्ट हर ४१वे श्री अजितदेवसूरि हुए। १२। १३॥'

आचार्य श्री सर्वदेवसूरि से महावीर की मूल परम्परा का नाम 'वट गच्छ' हुआ, तव से इस गच्छ मे विद्वान् आचार्यो और श्रमणो की सख्या प्रतिदिन वढती ही गई। परिणामस्वरूप चन्द्रकुल वट की तरह अनेक शाखाओ मे विस्तृत हुआ और इसके मुकाविले मे इसके सहजात 'नागिल' 'निर्वृत्ति' और 'विद्याधर' ये तीन कुल इसके विस्तार के नीचे ढक से गए।

वडे शिष्य सर्वदेवसूरि लब्धिधारी थे। इन्होने विक्रम सवत् १०१० मे रामसैन्य नगर मे चन्द्रप्रभजिन की प्रतिष्ठा की थी, इतना ही नही वल्कि चन्द्रावती नरेश के नेत्र-तुल्य उच्च ऋद्धिमान् "कुकण मन्त्री" को प्रतिवोध देकर अपना श्रमण शिष्य वनाना था।

सर्वदेवसूरि के पट्ट पर जो देवसूरि हुए उनको अचलगच्छ पट्टावली-कार ने "पद्मदेवसूरि" लिखा है। देवसूरि के पट्टधारी द्वितीय सर्वदेवसूरि ने यशोभद्र आदि आठ साधुओ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था,

जिनमे यशोभद्र और नेमिचन्द्रसूरि ये दोनो गुरु-भाई थे और द्वितीय सर्व-देवसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित थे।

श्री यशोभद्रसूरि और नेमिचन्द्रसूरि के पट्ट पर चालीसवे आचार्य श्री मुनिचन्द्रसूरि थे, जो विद्वान् होने के उपरान्त बड़े त्यागी थे। मुनिचन्द्र-सूरि का स्वर्गवास ११७८ के वर्ष मे हुआ था।

मुनिचन्द्रसूरि के अनेक विद्वान् शिष्य थे। श्री अजितदेवसूरि के अतिरिक्त वादी श्री देवसूरि जैसे प्रखर विद्वान् आप ही के शिष्य थे। वादी देवसूरि के नाम से २४ शाखाएँ प्रसिद्ध हुई थी, जो 'वादि देवसूरि-पक्ष' के नाम से प्रख्यात थी। वादिदेवसूरि का जन्म ११३४ मे, दीक्षा ११५२ मे, आचार्य-पद ११७४ मे और स्वर्गवास १२२६ के वर्ष मे हुआ था।

मुनिचन्द्रसूरि के पट्ट पर ४१वें श्री अजितदेवसूरि हुए, जिनके समय मे १२०४ मे "खरतर", १२१३ मे "आचलिक", १२३६ मे "सार्द्धपौर्ण-मियक" और १२५० मे "आगमिक" मतों की उत्पत्ति हुई।

"बायालु विजयसिंहो ४२, तेआला हुंति एगगुरुभाया।
सोमप्पह-मणिरयणा ४३, चउआलीसो अ जगचंदो ४४ ॥१४॥
देविंदो पणयालो ४५, छायालीसो अ धम्मघोसगुरू ४६।
सोमप्पह सगचत्तो, ४७, अड़चत्तो सोमतिलग गुरू ४८ ॥१५॥"

'अजितदेवसूरि के पट्ट पर विजयसिंहसूरि, विजयसिंहसूरि के पट्ट पर सोमप्रभसूरि तथा मणिरत्नप्रभसूरि नामक दोनो गुरु-भाई ४३वें पट्टधर हुए और उनके पट्टधर श्री जगच्चन्द्रसूरि हुए, जगच्चन्द्र के पट्ट पर श्री देवेन्द्रसूरि, देवेन्द्रसूरि के पट्ट पर श्री धर्मघोषसूरि, धर्मघोषसूरि के पट्ट पर श्री सोमप्रभसूरि और सोमप्रभसूरि के पट्ट पर ४८वें सोमतिलकसूरि हुए। १४। १५॥

जगच्चन्द्रसूरि के समय मे साधुओ मे शिथिलाचार की वृद्धि हो रही थी, यह देखकर जगच्चन्द्रसूरि को दुःख हुआ और चैत्रगच्छीय उपाध्याय

देवभद्र गणि की सहायता से क्रियोद्धार करके उग्रविहार करने लगे। जगच्चन्द्रसूरि बडे तपस्वी थे। जीवनपर्यन्त आचाम्ल तप का अभिग्रह धारण करके विहार कर रहे थे, आपको आचाम्ल करते १२ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। आपकी इस उग्र तपस्या और विद्वत्ता की बाते सुनकर आपको आघाटपुर (मेवाड़) के राणाजी ने 'महातपा" के नाम से सम्बोधित किया। "महातपा" मे से 'महा' शब्द निकल कर आपका "तपा" यह विरुद रह गया। यह घटना वि० स० १२८५ मे घटी थी, तब तक महावीर की शिष्य-परम्परा मे ६ नाम रूढ़ हो गए थे। आर्य सुहस्ती तक महावीर की शिष्य-सन्तति "निर्ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध थी, सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के समय मे वह "कोटिक गण" के नाम से पहिचानी जाने लगी। वज्रसेन के शिष्य श्री चन्द्रसूरि के समय मे श्रमण गण का मुख्य भाग "चन्द्रकुल" के नाम से प्रख्यात हुआ। श्री समन्तभद्र के समय मे वह "वनवासी गण" के नाम से सम्बोधित होने लगा, श्री सर्वदेवसूरि के समय मे उसका नाम "वटगच्छ" पड़ा, श्री जगच्चन्द्रसूरि के समय से वही श्रमण-समुदाय "तपागण" अथवा "तपागच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जगच्चन्द्रसूरि के पट्ट पर ४५वे आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि हुए। देवेन्द्रसूरि विद्वान् होने के उपरान्त बड़े त्यागी साधु थे, इनका विहार बहुधा गुजरात और मालवा की तरफ होता था। आपने उज्जैन के जिनभद्र[1] सेठ के पुत्र वीरधवल को विवाहोत्सव दर्मियान प्रतिबोध देकर विक्रम सवत् १३०२ मे दीक्षा दी थी और उसका नाम "विद्यानन्द" रक्खा था। कुछ समय के बाद उसके भाई को भी श्रमणधर्म मे दीक्षित किया था और उसका नाम "धर्मकीर्ति" रक्खा था। लम्बे काल तक मालवे मे विचर कर देवेन्द्रसूरिजी गुजरात मे स्तम्भतीर्थ पधारे। देवेन्द्रसूरिजी ने जब खम्भात से मालवा की तरफ विहार किया था, उस समय उनके छोटे गुरु-भाई श्री विजयचन्द्रसूरि खभात मे थे और १२ वर्ष से अधिक समय तक मालवा मे विचर कर वापस गुजरात आकर खम्भात पहुचे तो विजयचन्द्रसूरि उस समय तक खम्भात मे ही रहे हुए थे, इतना ही नही उन्होने धीरे-धीरे साधुओ के आचार मे अनेक

१ धवल के पिता श्रेष्ठी का नाम मुनिसुन्दर-गुर्वावली में जगच्चन्द्र लिखा है।

शिथिलताएँ कर दी थी, जैसे प्रत्येक गीतार्थ को अपनी निश्रा मे वस्त्र की गठरी रखने की आज्ञा, नित्य विकृति ग्रहण की आज्ञा, हर एक साधु को वस्त्र धोने की आज्ञा, फल-शाक ग्रहण करने की आज्ञ, साधु-साध्वी को नीवी के प्रत्याख्यान मे निर्विकृतिक ग्रहण करने की छूट, नित्य दुविहाहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना, गृहस्थो को आकृष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण कराने की आज्ञा, सविभाग के दिन श्रावक के घर गीतार्थ को जाना चाहिये, साध्वी का लाया हुआ आहार लेना ऐसी प्ररूपणा, लेप की सन्निधि न मानना, तत्काल उतारा हुआ गर्म जल लेने को आज्ञा, इत्यादि अनेक बातें जो क्रियामार्ग मे शिथिल साधुओ के लिए अनुकूल हो ऐसी प्ररूपणाएँ करके उन्हे अपने अनुकूल किया। श्री जगच्चन्द्रसूरिजी ने देव-द्रव्यादि दूषित जिस पोषधशाला मे उतरना निषिद्ध किया था, उसी वृद्ध पोषधशाला मे १२ वर्ष तक विजयचन्द्रसूरि ठहरे रहे। जिन प्रव्रज्यादि कृत्यो के करने मे गुरु की आज्ञा ली जाती थी, उन कार्यो को भी गुरु-आज्ञा के विना करने लगे थे। इन सब बातो का देवेन्द्रसूरिजी को पता लग चुका था, इसलिये वे विजयचन्द्रसूरि वाली पोषधशाला मे न जाकर एक दूसरी शाला मे ठहरे, जो विजयचन्द्रसूरि वाली शाला से अपेक्षाकृत छोटी थी। इस प्रकार देवेन्द्रसूरि तथा विजयचन्द्रसूरि भिन्न-भिन्न शाला मे उतरे, तब से उन दोनो गुरु-भाइयो का साधु परिवार लघु पोषधशालिक और वृद्ध पोषधशालिक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक समय पालनपुर के श्रावक-संघ ने श्री देवेन्द्रसूरि को आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति कर पालनपुर पधारने और पदस्थापनादि-शासनोन्नति के कार्यो द्वारा पालनपुर के सघ को कृतार्थ करने की प्रार्थना की, आचार्य श्री ने पालनपुर के संघ की बीनती स्वीकृत की और पालनपुर जाकर सवत् १३२३ के वर्ष में "श्रीविद्यानन्द" को आचार्य पद दिया[1] और उनके छोटे

[1] गुर्वावली तथा पट्टावली सूत्र की टीका में विद्यानन्द का आचार्य पद मतान्तर से १३०४ में होना सूचित किया है, एक तो विद्यानन्द का दीक्षापर्याय उस समय केवल २ वर्ष का था, इतने अल्प पर्याय में आचार्य पद देने की पद्धति तव तक तपागच्छ में प्रचलित नही हुई थी, दूसरा कारण यह भी है कि, 'खरतर वृहद् गुर्वावली' मे सवत् १३-

भाई "धर्मकीर्ति" को उपाध्याय पद प्रदान किया, शासन की बड़ी उन्नति हुई, आचार्य श्री विद्यानन्दसूरि ने "विद्यानन्द" नामक एक व्याकरण बनाया जो स्वल्पसूत्र बह्वर्थ युक्त होने से विद्वानो में पसन्दगी पाया ।

आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिजी ने गुजरात से फिर मालवे की तरफ विहार किया और विक्रम सवत् १३२७ के वर्ष मे आप वही स्वर्गवासी हुए। दैवयोग से श्रीविद्यानन्दसूरि भी केवल १३ दिन के बाद बीजापुर मे स्वर्गवासी हो गए; इसलिये छ महीने के वाद "विद्यानन्द" के समान गोत्रीय किसी आचार्य ने "श्री धर्मकीर्ति" उपाध्याय को आचार्य पद दिया और "श्री धर्मघोषसूरि" यह नाम रक्खा ।

आचार्य देवेन्द्रसूरिजी ने "श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति" "नव्य पाच कर्म ग्रन्थ" सवृत्ति, "सिद्धपंचाशिका" सवृत्ति, "धर्मरत्न-प्रकरण" बृहद्वृत्ति, "सुदर्शना-चरित्र" "चैत्यवन्दनादि तीन भाष्य" "वन्दारु वृत्ति" आदि अनेक संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों की रचना की है ।

श्री देवेन्द्रसूरिजी के पट्ट पर ४६ वें धर्मघोषसूरिजी हुए। धर्मघोषसूरि भी वड़े विद्वान् और प्रभावक आचार्य थे। धर्मघोषसूरि ने भी "सघाचार भाष्य" "कायस्थितिस्तव" "भवस्थितिस्तव" ',चतुर्विंशतिजिनस्तव सग्रह" "स्तुतिचतुर्विंशति" यमकमय इत्यादि अनेक छोटे बडे ग्रन्थो की रचना की थी। संवत् १३५७ के वर्ष मे धर्मघोषसूरिजी स्वर्गवासी हुए।

धर्मघोषसूरि के पट्टधर श्रीसोमप्रभसूरि भी विद्वान् आचार्य हो गए हैं, आपने "नमिऊणं भणइ" इत्यादि आराधना प्रकरण की रचना की थी, वि.

---

१६ के वर्ष मे खरतर उपाध्याय अभयतिलक के साथ विद्यानन्द की उज्जैन मे श्रमण-योग्य जल के सम्बन्ध मे चर्चा होना लिखा है, और उस स्थल मे "तपोमतीय पडित विद्यानन्द" इस प्रकार का शब्दप्रयोग किया गया है, यदि उस समय विद्यानन्द आचार्य होते तो गुर्वावलीकार विद्यानन्द के लिये "प०" शब्द का प्रयोग न कर आचार्य अथवा सूरि आदि शब्द का प्रयोग करते, इससे प्रमाणित होता है कि १३२३ मे ही श्रीविद्यानन्द आचार्य बने थे और १३२७ में उनका देहान्त हो गया था।

सं. १३१० मे आपका जन्म, १३२१ मे दीक्षा, १३३२ मे आचार्य पद प्राप्त हुआ।

आचार्य सोमप्रभसूरि ने अप्काय की विराधना के भय से जलप्रचुर कुंकुणदेश में और शुद्ध जल की दुर्लभता से मारवाड़ मे अपने साधुओ का विहार निषिद्ध किया था।

वि० संवत् १३३४ के वर्षा चातुर्मास्य मे शास्त्र की मर्यादानुसार द्वितीय कार्तिक की पूर्णिमा को चातुर्मास्य पूरा होता था, परन्तु उसके पहले ही भाविनगर-भंग को जानकर सोमप्रभसूरिजी प्रथम कार्तिक की चतुर्दशी को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके दूसरे दिन वहा से विहार कर गए थे, अन्य गच्छीय आचार्य जो वहा चातुर्मास्य मे ठहरे हुए थे, उन्होने प्रथम कार्तिक की चतुर्दशी को चातुर्मास्य पूरा नही किया था, परिणामतः उनके वहा रहते-रहते नगरभग हुआ और विहार न करने वाले आचार्यों को मुसीबत मे उतरना पड़ था।

सोमप्रभसूरि के गुरु धर्मघोषसूरि १३५७ मे स्वर्गवासी हुए थे, उसी वर्ष सोमप्रभसूरि ने अपने मुख्य शिष्य विमलप्रभ को आचार्य पद दिया था। सोमप्रभसूरि के विमलप्रभ के अतिरिक्त तीन शिष्य और आचार्य थे, जिनके नाम – श्री परमानन्दसूरि, श्री पद्मतिलकसूरि और श्री सोमतिलकसूरि थे। सोमप्रभसूरि के प्रथम शिष्य अल्पजीवो थे, इसलिये उन्होने अपना जीवन अल्प समझ कर १३७३ में श्री परमानन्द और सोमतिलक को सूरि-पद दिये और आपने तीन महीनो के बाद उसी वर्ष स्वर्गवास प्राप्त किया। श्री परमानन्दसूरि भी आचार्य-पद प्राप्त करने के बाद ४ वर्ष तक जीवित रहे थे, इस लिये सोमप्रभ के पट्ट को श्री सोमतिलकसूरिजी ने सम्हाला, सोमतिलकसूरिजी स० १३५५ मे जन्मे, १३६६ मे दीक्षित हुए, १३७३ मे सूरि बने और १४२४ में स्वर्गवासी हुए। "बृहद् नव्य क्षेत्र समास", "सत्तरिसयठाणं" आदि अनेक ग्रन्थ और स्तुति स्तोत्रादि की रचना की थी, तथा श्री पद्मतिलक, श्रीचन्द्रशेखरसूरि, श्री जयानन्दसूरि और श्री देवसुन्दरसूरि को आचार्य पद दिए थे।

"एगुणवण्णो सिरिदेव-सुन्दरो ४६ सोमसुन्दरो पण्णो ५० ।
मुनिसुन्दरेगवण्णो ५१, बावण्णो रयणसेहरश्रो ५२ ॥१६॥"

'सोमतिलक सूरि के पट्ट पर ४६ वें श्री देवसुन्दरसूरि हुए और देवसुन्दरसूरि के पट्ट पर श्री सोमसुन्दरसूरि, सोमसुन्दर के पट्ट पर श्री मुनिसुन्दरसूरि और मुनिसुन्दरसुरि के पट्ट पर श्री रत्नशेखरसूरि ५२ वें पट्टधर हुए ॥१६॥

आचार्य देवसुन्दरसूरि का जन्म १३६६ मे, दीक्षा १४०४ मे, आचार्यपद १४२० मे अणहिल पाटन मे हुआ।

आचार्य देवसुन्दरसूरिजी के ५ शिष्य थे जिनके नाम श्री ज्ञानसागरसूरि, श्री कुलमण्डनसूरि, श्री गुणरत्नसूरि, श्री सोमसुन्दरसूरि और श्री साधुरत्नसूरि थे। ज्ञानसागरसूरि का जन्म १४०५ मे, दीक्षा १४१७ मे, आचार्यपद १४४१ में और स्वर्गवास १४६० मे हुआ था।

ज्ञानसागरसूरि ने आवश्यक और ओघनिर्युक्ति पर अवचूर्णिया लिखी थी और अनेक तीर्थङ्करो के स्तव स्तोत्रादि बनाये थे।

श्री कुलमण्डनसूरि का जन्म १४०६ मे, दीक्षा १४१७ मे, सूरिपद १४४२ मे और १४५५ मे स्वर्गवास हुआ था।

श्री कुलमण्डनसूरि ने "सिद्धान्तालापकोद्धार" और अनेक "चित्रकाव्य स्तवो" की रचना की थी।

आचार्य श्री गुणरत्नसूरि ने "क्रियारत्नसमुच्चय" "षड्दर्शनसमुच्चय-बृहद्वृत्ति" आदि ग्रन्थ रचे थे और साधु रत्नसूरि ने "यतिजीतकल्पवृत्ति" आदि का निर्माण किया था।

आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरिजी का जन्म १४३० मे, दीक्षा १४३७ मे, वाचकपद १४५० मे और सूरिपद १४५७ मे हुआ था। सोमसुन्दरसूरि बड़े भाग्यशाली और क्रियापरायण थे। इनकी निश्रा मे १८०० क्रियापात्र साधु विचरते थे। श्री सोमसुन्दरसूरिजी ने "योगशास्त्र" "उपदेशमाला"

"षडावश्यक" "नवतत्त्वादि" ग्रन्थो पर बालावबोध-भाष्य लिखे थे, कई ग्रन्थों पर अवचूर्णिया लिखी थी और "कल्याणस्तोत्रादि" अनेक "जिन-स्तोत्र" बनाए थे।

श्री सोमसुन्दरसूरिजी के चार शिष्य आचार्यपद पर स्थित थे, श्री मुनिसुन्दरसूरि १, श्री जयसुन्दरसूरि २, श्री भुवनसुन्दरसूरि ३ और जिन-सुन्दरसूरि ४।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी ने अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया था।

आचार्य श्री भुवनसुन्दरसूरि ने "महाविद्याविडम्बन" का टिप्पन लिखा था।

श्री जिनसुन्दरसूरि ने "दीपावली कल्प" बनाया था।

अपने इन विद्वान शिष्यो के परिवार से परिवृत श्री सोमसुन्दरसूरिजी ने राणकपुर के श्रीधरणचतुर्मुख विहार मे संवत् १४९५ मे ऋषभादि अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की थी और १४९९ मे आप स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरि का १४३६ मे जन्म, १४४३ मे दीक्षा, १४६६ मे वाचक पद और १४७८ मे सूरि पद हुआ था।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरि प्रखर जैन विद्वानो मे से एक थे, आपने सैकडो चित्र-स्तोत्रो की रचना की थी जिनकी सख्या हो नही है, आपने "त्रिदश-तरगिणी" नामक १०८ एक सौ आठ हस्तपरिमित विज्ञप्ति-लेखन अपने गुरु पर भेजा था, "उपदेशरत्नाकर" "चातुर्वैद्यवैशारद्यनिधि" "विजयचन्द्रकेवलि-चरित्र" आदि अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना की थी, आपका स्वर्गवास १५०३ के कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन हुआ था।

श्री मुनिसुन्दरसूरि के पट्टधर श्री रत्नशेखरसूरि का जन्म १४५७ मे और मतान्तर से १४५२ मे हुआ, १४६३ मे व्रतग्रहण, १४८३ मे पण्डित पद, १४९३ मे वाचक पद, १५०२ मे सूरिपद और १५१७ मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

रत्नशेखरसूरि के "श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति" "श्राद्धविधिसूत्रवृत्ति" "आचारप्रदीप" नामक तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

आचार्य रत्नशेखरसूरि के समय मे १५०८ मे जिनप्रतिमा का विरोधी "लुकामत" प्रवृत्त हुआ और लुकामत मे १५३३ मे "भाणा" नामक प्रथम "साधुवेशधारी" हुआ।

"तेवण्णो पुण लच्छीसायरसूरीसरो मुणेयव्वो ५३।
चउवण्णु सुमइसाहू, ५४ पणवण्णो हेमविमल गुरू ५५ ॥ १७ ॥

'रत्नशेखरसूरि के पट्ट पर ५३ वें लक्ष्मीसागरसूरि, लक्ष्मीसागरसूरि के पट्ट पर ५४ वें सुमतिसाधुसूरि और सुमतिसाधु के पट्ट पर ५५ वें हेमविमलसूरि हुए।।१७।।'

श्री लक्ष्मीसागरसूरि का १४६४ मे जन्म, १४७७ मे दीक्षा, १४९६ मे पन्यासपद, १५०१ मे वाचकपद, १५०८ मे सूरिपद और १५१७ मे गच्छनायक पद हुआ था।

श्री लक्ष्मीसागरसूरि के पट्टधर श्री सुमतिसाधुसूरिजी ने "दशवैकालिक" पर "लघुटीका" बनाई थी, जो छप कर प्रसिद्ध हो गई है।

श्री सुमतिसाधु के पट्टधर श्री हेमविमलसूरि के समय मे साधु-समुदाय मे पर्याप्त शिथिलता फैल गई थी, फिर भी हेमविमलसूरि की निश्रा मे रहने वाले साधु ब्रह्मचर्य तथा निष्परिग्रहपन मे सर्वप्रसिद्ध थे। क्षमाश्रमण आदि विधि से श्रावक के घर से लाया हुआ आहार हेमविमलसूरि नही लेते थे और अपने समुदाय मे कोई द्रव्यधारी यति ज्ञात होता तो उसे गच्छ से निकाल देते थे, आपकी इस निस्पृहवृत्ति को देखकर लुकागच्छ के ऋषि हाना. ऋषि श्रीपति, ऋ० गणपति प्रमुख अनेक आत्मार्थी वेशधारी लुकामत का त्याग कर श्री हेमविमलसूरि की शरण मे आए थे और समयानुसार चारित्र पालकर आत्महित करते थे।

आचार्य हेमविमल के समय मे 'आजकल शास्त्रोक्त साधु दृष्टिगोचर नही होते" इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले कटुक नामक त्रिस्तुतिक

गृहस्थ से १५६२ मे "कटुक" (कडुआ) मत की उत्पत्ति हुई। १५७० में लुकामत से निकल कर विजय ऋषि ने "बीजा मत" प्रचलित किया और संवत् १५७२ मे नागपुरीय तपागच्छ से निकल कर उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने अपने नाम से मत निकाला जो आजकल "पायचदगच्छ" के नाम से प्रसिद्ध है।

"सुविहिय मुणिचूडामणि,-कुमयतमोमहणमिहिरसममहिमो।
आणदविमलसूरी-सरो अ छावण्णपट्टवरो ॥ १८ ॥"

श्री हेमविमलसूरि के पट्टधर सुविहित-मुनिचूडामणि और कुमत-रूपी अधकार को मथन करने मे सूर्य समान महिमा वाले श्री आनन्दविमल-सूरि हुए।

आचार्य आनन्दविमलसूरि का १५४७ मे इडरगढ मे जन्म, १५५२ मे दीक्षा और १५७० मे सूरिपद हुआ था।

आनन्दविमलसूरि के समय में साधुओ मे शिथिलता अधिक बढ गई थी, उधर प्रतिमा-विरोधी तथा साधु-विरोधी लुपक तथा कटुक मत के अनुयायियो का प्रचार प्रतिदिन बढ़ रहा था। इस परिस्थिति को देखकर आनन्दविमलसूरिजी ने अपने पट्टगुरु आचार्य की आज्ञा से शिथिलाचार का परित्याग रूप क्रियोद्धार किया। आपके इस क्रियोद्धार मे कतिपय सविग्न साधुओ ने साथ दिया, यह क्रिया-उद्धार आपने १५८२ के वर्ष मे किया। आपकी इस त्यागवृत्ति से प्रभावित होकर अनेक गृहस्थो ने "लुकामत" तथा "कडुआमत" का त्याग किया और कई कुटुम्ब धनादि का मोह छोड़ कर दीक्षित भी हुए।

तपागच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभसूरिजी ने जेसलमेरु आदि मरुभूमि मे जल-दौर्लभ्य के कारण साधुओ का विहार निषिद्ध किया था, उसको श्री आनन्दविमलसूरिजी ने चालू किया, क्योकि ऐसा न करने से उस प्रदेश मे कुमत का प्रचार होने का भय था। प्रतिषिद्ध क्षेत्र मे भी प्रथम विद्या-सागर गणि का विहार करवाया, क्योकि कम उम्र से ही वे छट्ठ-छट्ठ का पारणा आचाम्ल से करने वाले तपस्वी थे। उन्होने जेसलमेरु आदि स्थली

मे खरतरो, मेवात देश में वीजामतियो और सौराष्ट्र मे मोरबी आदि स्थानो मे लुका आदि मतो के अनुयायी गृहस्थों को प्रतिबोध देकर उनमें सम्यक्त्व के बीज वोये, वीरमगाव में उपाध्याय पार्श्वचन्द्र को वाद में निरुत्तर करके बहुत से लोगो को जैन-धर्म मे स्थिर किया। इसी प्रकार मालव देश मे भी विहार कर उज्जैनी आदि नगरो मे यथार्थ उपदेश से गृहस्थो को धर्म मे स्थिर किया था।

क्रियोद्धार करने के बाद श्री आनन्दविमलसूरिजी ने १४ वर्ष तक कम से कम षष्ठ तप करने का अभिग्रह रक्खा, आप ने उपवास तथा छट्ठ से २० स्थानक तप का आराधन किया, इसके अतिरिक्त अनेक विकृष्ट तप करके अन्त में १५९६ में चैत्रसुदि में आलोचनापूर्वक अनशन करके नव उपवास के अन्त में अहमदाबाद नगर में स्वर्गवासी हुए।

"सिरि विजयदाणसूरि–पट्टे, सगवण्णए अ ५७ अडवण्णे।
सिरि हीरविजयसूरी, ५८ संपइ तवगणदिणिदसमा ॥१९॥"

श्री आनन्दविमलसूरि के पट्ट पर श्री विजयदानसूरिजी और विजयदानसूरि के पट्टधर श्री हीरविजयसूरि तपागच्छ में सूर्य समान विचर रहे हैं ॥१९॥

श्री आनन्दविमलसूरि के पट्टधर श्री विजयदानसूरिजी ने खभात, अहमदावाद, पाटन, महेशाना, गन्धार वन्दर आदि अनेक स्थानों में सैकड़ो जिन-विम्बो की प्रतिष्ठाएं की थी, श्री विजयदानसूरिजी के उपदेश से ही वादशाह मुहम्मद के मान्य मत्री गुलराज ने जो "मालिक श्री नगदल" कहलाता था, छः महीने तक शत्रुञ्जय पर का टेक्स माफ करवाया और सर्वत्र पत्रिका भेजकर नगर, ग्राम आदि के सघसमुदाय के साथ श्री शत्रुंजय की यात्रा की थी।

श्री विजयदानसूरि का वि. सं. १५५३ मे जामला स्थान में जन्म, १५६२ में दीक्षा, १५८७ मे सूरिपद और १६२२ में वडावली मे आराधनापूर्वक स्वर्गवास हुआ था।

विजयदानसूरि के पटधर श्री हीरसूरिजी का पालनपुर मे १५८३ में जन्म, १५९६ मे पाटन मे दीक्षा, १६०७ में नाड़लाई मे पण्डित पद, १६०८ मे नाडलाई मे वाचक पद और १६१० मे सिरोही मे आचार्य पद हुआ था।

आचार्य श्री हीरसूरि ने सिरोही, नाड़लाई, अहमदावाद, पाटन आदि नगरो मे हजारों जिनबिम्बो की प्रतिष्ठायें की।

अहमदाबाद नगर में लुकामत के आचार्य श्री मेघजी ने अपने २५ मुनियो के साथ श्री हीरसूरिजी के पास दीक्षा ली।

आचार्य श्री हीरसूरिजी के उपदेश से बादशाह श्री अकबर ने गुजरात, मालवा, विहार, अयोध्या, प्रयाग, फतेहपुर, दिल्ली, लाहौर, मुलतान, काबुल, अजमेर और बगाल नामक १२ सूबो मे षाण्मासिक अमारिप्रवर्तन किया, "जजीया" टेक्स नामक कर बद कर दिया।

"सिर विजयसेण सूरि-प्पमुहेहिं रोगसाहुवग्गेहिं।
परिकलिआ पुहविअले, विहरन्ता दितु मे भद्दं ॥२०॥"

श्री विजयहीरसूरि के पट्ट पर श्री विजयसेनसूरि हुए, श्री विजयसेनसूरि प्रमुख अनेक श्रमणवर्ग के साथ परिवृत पृथ्वीतल पर विचरते हुए, श्री विजयहीरसूरि मेरे लिये कल्याणकारक हो।

इस प्रकार महोपाध्याय धर्मसागर गणि विरचिता तपागच्छपट्टावली सूत्र-वृत्तिसहिता समाप्ता।

यह पट्टावली श्री विजयहीरसूरीश्वरजी के आदेश से उपाध्याय श्री विमलहर्षगणी, उपाध्याय श्री कल्याणविजयगणी, उपा० श्री सोमविजयगणी, प. लब्धिसागरगणी, प्रमुख गीतार्थों ने इकट्ठा होकर स १६४८ के चैत्र वदि ६ शुक्रवार को अहमदाबाद नगर में श्री मुनिसुन्दर कृतगुर्वावली, जीर्ण पट्टावली दुष्षमा सघ स्तोत्रयंत्रक आदि के आधार से सुधारी है, फिर भी इसमे जो कुछ शोधन योग्य हो उसको मध्यस्थ गीतार्थों को सुधार लेना चाहिये।

पट्टावली सशोधन होने के पहले इसकी अनेक प्रतिया लिखी जा चुकी हैं, इसलिये उनको सशोधित पट्टावली के अनुसार शुद्ध करके फिर पढ़ना चाहिये, ऐसी श्री विजयहीरसूरीश्वरजी महाराज की आज्ञा है।

—

श्री तपा-गरापति-गुरा-पद्धति

– कर्त्ता : उपाध्याय गुणविजय गणी

"सिरि विजयसेणसूरि-पट्टे गुणसट्ठिमे 'अ'सट्ठिअमे ।
सिरि विजयदेवसूरो, तवइ, तवगणे तरणितुल्लो ॥२१॥
सिरि विजयसोहसूरिपमुहेहिं णेगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिया पुहविअले, विहरंता दिंतु मे भद्दं ॥२२॥"

श्री विजयहीरसूरि के पट्ट पर ५९ वें श्री विजयसेनसूरि और विजय-सेनसूरि के पट्ट पर ६० वें श्री विजयदेवसूरि तपागच्छ में सूर्य समान तप रहे हैं ।२१।,

विजयसिंहसूरि प्रमुख अनेक साधुवर्गों से परिवृत श्री विजयदेवसूरि पृथ्वीतल पर विचरते हुए कल्याणकारी हो ॥२२॥

श्री हीरसूरिजी के पट्ट पर श्री विजयसेनसूरिजी हुए, आपका जन्म स० १६०४ मे नाडुलाई मे हुआ था और स० १६१३ मे माता-पिता के साथ श्री विजयदानसूरि के हाथ से दीक्षा हुई थी, श्री विजयहीरसूरिजी ने इनको पढ़ाया और सवत् १६२८ मे फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन अहमदावाद मे इनको सूरि पद दिया गया था ।

एक समय श्री हीरविजयसूरिजी श्री विजयसेनसूरि के साथ राधनपुर मे वर्षा चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, उस समय लाहौर मे रहे हुए श्री अकबर वादशाह ने विजयसेनसूरि के गुणो का वर्णन सुना और उनको अपने पास बुलाने के लिये फरमान भेजा । तब अपने गुरु की आज्ञा सिर पर चढ़ाकर

पाटन आदि अनेक नगरो गावो को पवित्र करते हुए आप आबु पहुँचे । आबु की यात्रा कर सिरोही गए, सिरोही के राजा श्री सुरतान ने आपका बडा सम्मान किया, वहा से क्रमश श्री राणकपुर, वरकाणा पार्श्वनाथ की यात्रा करते हुए अपनी जन्मभूमि नाडलाई होते हुए, मेडता, डीडवाणा, वैराट, महिम नगरादि मे होते हुए लुधियाना पहुँचे । वहां पर रहे हुए शेख अबुल फजल के तीजे फैजी नामक ने सूरि को वदन किया, श्रावको की तरफ से आचार्य का होता हुआ सत्कार देखकर फैजी बहुत खुश हुआ और जल्दी से लाहौर पहुँच कर बादशाह का सर्व वृत्तान्त निवेदन किया, जिसे सुनकर बादशाह भी मिलने के लिये विशेष उत्कण्ठित हुआ । क्रमशः विजयसेनसूरिजी ने बादशाह की तरफ से दिए गए वादित्रादि ठाट के साथ लाहौर मे प्रवेश किया और उसी दिन श्री शेखजी, रामदास प्रमुख पुरुषो द्वारा "काश्मीरी महल" नामक महल मे बादशाह से मिले । बादशाह भी आचार्यश्री को देखकर परम सन्तुष्ट हुआ और श्री हीरविजयसूरिजी के वृत्तान्त के साथ मार्ग का कुशलवृत्त पूछा । आचार्य ने भी श्री हीरसूरिजी की तरफ से धर्माशीर्वाद देने का कहा, बादशाह खुश हुआ और विजयसेनसूरिजी से आठ अवधान सुनने की इच्छा व्यक्त की गुरु की आज्ञा से गुरु के शिष्य श्री (नन्दि) नन्दविजय पडित ने बादशाह के सामने आठ अवधान किये, जिन्हे देखकर बादशाह बहुत ही चमत्कृत हुआ ।

एक जैन आचार्य के सामने बादशाह का इतना झुकाव और सत्कार देखकर किसी भट्ट ने बादशाह के सामने जैन साधुओं की निन्दा की । उसने कहा— जैन लोग ईश्वर को नही मानते, सूर्य को नही मानते इसलिए ऐसे साधुओ के दर्शन भी राजा को नही करने चाहिये । इत्यादि सुनकर बादशाह को मानसिक कोप तो हुआ परन्तु ऊपर से कुछ भी विकृति नही दिखाई, अन्य दिवस आचार्य के वहा जाने पर बादशाह ने भट्ट द्वारा कही हुई बाते आचार्य के सामने प्रकट की । आचार्य ने देखा कि किसी खल ने बादशाह को बहकाया है, यह सोचकर उन्होने उन्ही के शास्त्र से जगदीश्वर के स्वरूप का वर्णन किया । इसी प्रकार सूर्य तथा गगोदक के सम्बन्ध मे भी आचार्य ने ऐसा वर्णन किया कि जिसे सुनकर बादशाह खुश हुआ और पहले से भी

अधिक सन्मान किया और दुर्जनो की तरफ तिरस्कार दिखाया। बादशाह के आग्रह से आचार्य विजयसेनसूरिजी ने लाहोर में दो चातुर्मास्य किये और प्रसग पाकर बादशाह को उपदेश देते रहे।

एक समय पुण्योपदेश के प्रसग पर प्रमुदित होकर बादशाह ने आचार्य को कुछ मागने को कहा। यह सुनकर आचार्य ने कहा—हे बादशाह! जगत् के प्राणियो का दुख भागने वाले राजाओ को गाय, बैल, भैसा, भैस की हत्या, नाऔलाद का द्रव्य लेना और निरपराधी पशु-पक्षियो को कैद करना योग्य नही है— इन बातो का त्याग करना ही हमारे लिये संतोष का कारण है और शाही सम्पत्ति का भी कारण है। इस बात से तुष्टमान होकर शाह अकबर ने उपर्युक्त छः बातो के निषेध का फर्मान लिखकर अपने राज्य के सर्व सूबो मे भेजा और विजयसेनसूरिजी को भी उसकी नकल दी। इस वर्ष का वर्षा चातुर्मास्य श्री विजयहीरसूरिजी ने सौराष्ट्र मडल मे किया था, आचार्य श्री के शरीर मे बाधा बढ रही थी, इसलिये अपनी तरफ से लेख देकर विजयसेनसूरजी के पास पत्रवाहक भेजा और अन्तिम मिलाप के लिये अपने पास बुलाया। गुरु की आज्ञा मिलते ही विजयसेनसूरिजी ने लाहौर से विहार किया और अविच्छिन्न प्रयाणो से पाटण तक पहुँचे, तब ऊना मे श्री हीरसूरि का स्वर्गवास होने की बात विजयसेनसूरिजी ने सुनी और आगे का विहार रोका।

श्री विजयसेनसूरि द्वारा जो कुछ धार्मिक और जिनशासन की प्रभावना के कार्य हुए, उनकी रूपरेखा नीचे दी जाती है :

सं० १६३२ मे चम्पानेरगढ मे जिनप्रतिष्ठा की और सुरतबन्दर में श्रीमिश्र चिन्तामणि प्रमुख विद्वानो की सभ्यता मे श्री विजयसेनसूरिजी ने विवाद मे भूषण नामक दिगम्बर भट्टारकजी को जीता।

राजनगर मे अपने उत्तराधिकारी शिष्य श्री विद्याविजय को दीक्षा दी और प्रतिष्ठा कराई, गन्धार बन्दर तथा स्तम्भ तीर्थ मे प्रतिष्ठा कराई और चातुर्मास्य भी खम्भात मे किया, वजिया राजीया द्वारा वहा चिन्तामणि पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा की। बाद मे १६५४ में अहमदाबाद में जमीन मे से

निकली हुई विजयचिन्तामणि पार्श्वनाथ की मूर्ति शकन्दरपुर मे स्थापित की, फिर उसी वर्ष में सा. मोटा की तरफ से अहमदपुर मे प्रतिष्ठा की और दोसी लहुआ की तरफ से प्रतिष्ठा कराकर गुर्जर तीर्थो की यात्रा करते हुए, शत्रुञ्जय की यात्रार्थ गये। यात्रा के बाद वहा से लौटकर स्तम्भतीर्थ आकर श्री विजयदेवसूरि को सूरि पद दिया और दो वर्ष के बाद स० १६५८ में पाटन मे विजयदेवसूरि को आपने गच्छानुज्ञा की। वहा से शखेश्वर तीर्थ की यात्रा करते हुए आप राजनगर पधारे और चातुर्मास्य वही किया। आपके उपदेश से वहा के अनेक श्रावको ने वडे आडम्बर के साथ छ प्रतिष्ठा-महोत्सव करवाये। राजनगर के निवासी सघवी सूरा ने प्रतिगृह महमुदी की प्रभावना की और बाद मे श्री आबु श्री राणकपुर आदि तीर्थो की यात्रा कर कुशलपूर्वक वापिस आचार्य के साथ सघ राजनगर आया। एक वर्ष मे श्रावको ने एक लाख महमुदी खर्ची। वहा से राधनपुर जाकर दो प्रतिष्ठाए करवाई, स्तम्भतीर्थ मे एक, अकव्वरपुर मे एक और गन्धार बन्दर मे दो प्रतिष्ठाये करवा कर सौराष्ट्र के सघ के अत्याग्रह से सौराष्ट्र मे पधारे। शत्रुञ्जय की यात्रा कर उस प्रदेश मे तीन चातुर्मास्य और साठ प्रतिष्ठाएँ करवा कर गिरनार की यात्रा को गये और जामनगर में वर्षा चातुर्मास्य किया। सौराष्ट्र से लौट कर श्री शखेश्वर होते हुए राजनगर पहुँचे। वहां चातुर्मास्य किया और चार प्रतिष्ठाएँ करवाईं, एकन्दर श्री विजयसेनसूरिजी के हाथ से ५० प्रतिष्ठाएँ और हजारो जिनप्रतिमाओ का अजन विधान हुआ। श्री शत्रुञ्जय, तारगा, नारगपुर, शखेश्वर, पचाशर, राणकपुर, आरासण, बीजापुर आदि स्थानो मे अपने उपदेश द्वारा जीर्णोद्धार करवाये।

श्री विजयसेनसूरिजी ने आठ साधुओ को वाचक-पद और १५० साधुओ को पडित-पद दिये। कुल २ हजार साधु समुदाय के ऊपर २० वर्ष तक नेतृत्व करके स० १६७१ के ज्येष्ठ कृष्णा ११ को अकव्वरपुर मे स्वर्गवासी[1] हुए।

---

१. उ० मेघविजयजी ने पट्टावलो के अपने अनुसन्धान मे विजयसेनसूरिजी का स्वर्गवास खम्भात मे ज्येष्ठ शुक्ला ११ को होना लिखा है। और "नमो दुर्वाररागादि०" इस योगशास्त्र के श्लोक के ७०० अर्थ वताने वाला विवरण और सूक्तावलि आदि ग्रन्थो की रचना की है।

श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर ६०वें पट्टधर तपागण के सूर्य समान श्री विजयदेवसूरि तप रहे हैं। विजयदेवसूरि का जन्म स० १६३४ मे ईडरगढ मे हुआ था था। स० १६४३ मे अपनी माता के साथ दीक्षा ली थी, स० १६५५ मे पण्डित-पद और स० १६५६ मे सूरि-पद तथा १६५८ मे पाटन मे गच्छानुज्ञा नन्दी हुई।

अहमदावाद, पाटन और स्तम्भतीर्थ मे क्रमशः दो, चार और तीन प्रतिष्ठाएँ करवा कर आपने अपनी जन्मभूमि ईडरगढ मे चातुर्मास्य किया। वहा पर वडी प्रभावना हुई। चातुर्मास्य के वाद वडनगर मे वीरजिन की प्रतिष्ठा करवा कर राजनगर गए और वर्षा चातुर्मास्य वही किया। इस समय दर्मियान ईडरगढ मे मुसलमानो द्वारा ऋषभदेव प्रतिमा खण्डित हो गई थी, इसलिये वहा के श्रावको ने उसी प्रमाण का नया जिनबिम्ब वनवा कर नडियाद की वडी प्रतिष्ठा मे आचार्य विजयदेवसूरि द्वारा प्रतिष्ठित करवा के ईडर के किले पर के चैत्य मे स्थापित करवाया।

एक समय वादशाह जहागीर ने आचार्य विजयदेवसूरि के सम्वन्ध मे कुछ विरुद्ध वातें सुनी, इससे वादशाह ने खम्भात से वहुमानपूर्वकसूरिजी को अपने पास वुलाया, उनसे अनेक वातचीतें की जिन्हे सुनकर वादशाह को वड़ा सन्तोष हुआ और देवसूरि की विरोधी पार्टी की वातों से वादशाह के मन पर जो कुछ विपरीत असर हुआ था, वह मिट गया और वादशाह ने कहा – श्री हीरसूरिजी तथा विजयसेनसूरिजी के पट्ट पर सर्वाधिकार पाने के योग्य ये ही आचार्य हैं, दूसरा कोई नही, इत्यादि प्रशसा करते हुए वादशाह ने उनको "जहागिरी महातपा" यह विरद देकर शाही ठाट के साथ सूरिजी को अपने स्थान पहुँचवाया।

कालान्तर मे विजयदेवसूरिजी गुजरात होते हुए, सौराष्ट्रदेशान्तर्गत दीववन्दर गए। वहा के फिरगी शासक ने आपको धार्मिक व्याख्यान देने की इजाजत दी, आप भी वहां २ वर्षाचातुर्मास्य कर जामनगर होते हुए शत्रुञ्जय की यात्रा करके खम्भात पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वही किया। चातुर्मास्य के वाद खम्भात से विहार कर सावली स्थान मे पहुचे और

सूरिमन्त्र का तीन महीने तक ध्यान किया और वही चातुर्मास्य तथा २ प्रतिष्ठाएं करके ईडर गए। वहां तीन प्रतिष्ठाएं करवा कर सघ के साथ आरासरण आदि तीर्थो की यात्राये करते हुए पोसीना गए, वहा के पुराने पाच मन्दिरो का उपदेश द्वारा जीर्णोद्धार करवाया। आरासरण के मूल नायक को प्रतिष्ठा योग्य समय मे पुनः स्थापित किया।

कालान्तर मे आप फिर ईडर पधारे और कल्याणमल्ल राजा के आग्रह से १६८१ मे वैशाख सुदि ६ को विजयसिंहसूरि को आचार्य-पद देकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और चातुर्मास्य वहा ही ठहरे।

चातुर्मास्य के वाद आप विजयसिंहसूरिजो आदि परिवार के साथ आवु तीर्थ की यात्रा करके विहारक्रम से सिरोही पहुचे और वर्षा चातुर्मास्य वहां ही किया। आसपास के अनेक स्थानो के भाविक श्रावक वन्दनार्थ आए और अपने-अपने नगर की तरफ विहार करने की प्रार्थनाये की, उनमे सादड़ी के श्रावक भी थे। उन्होंने लुम्पक मत के अनुयायियो के प्रचार की बात कह कर, फरियाद करते हुए कहा – हमारे नगर मे लुकामत का प्रचार जोरो से वढ रहा है और हमारा समुदाय निर्वल हो रहा है। इस पर से आचार्यश्री ने अपने पास के गीतार्थो को सादडी भेजा और उन्होने वहा जाकर लुका के वेशधारियो को ललकारा और निरुत्तर किया। वहां से गीतार्थ उदयपुर पहुँचे और मेवाड के राणा कर्णसिह के पास जाकर राणाजी को अपनी विद्वत्ता से सन्तुष्ट करके उनकी राजसभा मे लुम्पक वेशधारियो को शास्त्रार्थ के लिये बुलवाया और राजसभा समक्ष लुम्पको को पराजित करके राणाजी की सही वाला आज्ञा-पत्र लिखवाया कि तपागच्छ वाले सच्चे है और लुके झूठे है, राणाजी का यह पत्र सादडी के चौक मे पढा गया और लुको का प्राबल्य हटाया।

इसके बाद जोधपुर के राजा श्री गजसिंहजी के मन्त्री जयमल्लजी ने श्री विजयदेवसूरिजी को जालोर बुलाया और बडे आडम्बर के साथ एक-एक वर्ष के अन्तर मे तीन प्रतिष्ठाएं तथा तीन चातुर्मास्य करवा कर सुवर्णगिरि के ऊपर तीन चैत्यो की प्रतिष्ठाए करवाईं।

सं० १६८४ मे मन्त्री जयमल्लजी ने जालोर मे श्री विजयसिंहसूरिजी की गच्छानुज्ञा नन्दी करवाई। बाद मे मेड़ता नगर मे तीन प्रतिष्ठाएँ करवा कर बीजोवा मे चातुर्मास्य किया। गच्छ के गीतार्थों के उपदेश से खुश होकर राणा श्री जयसिंहजी ने पौष-दशमी के मेले पर आने वाले यात्रियो से लिया जाने वाला मुंडका के रूप मे यात्रिक कर माफ किया। अपनी आज्ञा ताम्र-पत्र मे खुदवा कर गुरु को भेट किया तथा पत्थर पर खुदवा कर मन्दिर के बाहर पत्थर खड़ा किया। बाद मे राणपुर आदि की यात्रा कर झाला श्री कल्याणजी के आग्रह से आपने मेवाड मे विहार किया और खमणोर मे दो, देलवाडा मे एक, नाही गाव मे एक और आघाट नगर मे एक, ऐसी ५ प्रतिष्ठा करा कर उदयपुर मे चातुर्मास्य किया। चातुर्मास्य पूर्ण होने के बाद गुजरात की तरफ विहार करते समय आप दल-व दल महल मे ठहरे जहा राणा श्री जगतसिंहजी आचार्य को वन्दन करने आए और देर तक उपदेश सुना। परिणामस्वरूप राणाजी ने श्री विजयदेवसूरि के सामने चार बातो की प्रतिज्ञा की, वह इस प्रकार है — आज से पिछोला तथा उदयसागर तालाब मे मछली नही पकडी जायगी १, राज्याभिषेक के दिन, गुरुवार को, जीवहिंसा बन्द रहेगी २, अपने जन्म-मास भाद्रवा मे जीवहिंसा नही होगी ३, मचिंदगढ मे, कुम्भलविहार जिन चैत्य का जीर्णोद्धार कराया जायगा ४। राणाजी की उक्त ४ प्रतिज्ञाएँ सुनकर लोगो को बड़ा आश्चर्य हुआ। आचार्य के लोकोत्तर प्रभाव पर विश्वास आया।

मालवमण्डल मे उज्जैनी आदि मे, दक्षिण देश मे बीजापुर, बुरहानपुर आदि मे, कच्छ मे भुजनगर आदि मे, मारवाड मे जालोर, मेडता, घघानी आदि गावो मे जीर्णोद्धारपूर्वक सैकड़ो जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठा कराते अनेक साधुओ को पण्डित-पद तथा पाठक-पदो पर स्थापित करते और जीव हिंसादि के निषेध नियम कराते हुए विचरे।

"तपगणगणपतिपद्धति - रेषा गुणविजयवाचकैर्लिलिखे ।
गन्धारबन्दिरस्थ-श्रावक सा० मालजी तुष्ट्यै ॥ १ ॥"



तपागच्छ पट्टावली सूत्रवृत्ति अनुसन्धित पूर्ति दूसरी

— उपाध्याय मेघविजयजी विरचिता

दाक्षिणात्य सघ का अत्याग्रह जानकर श्री विजयदेवसूरिजी गुजरात से विहार कर सूरतबन्दर पहुँचे, वहा स० १६८७ मे उत्पन्न हुए सागरमत के अनुयायी श्रावको ने यह मत सत्य है, ऐसा गुरुमुख से कहलाने के लिये बहुत धन व्यय करके श्री मीर मौज नामक शासक को अपने अनुकूल कर अपनी तरफ के गीतार्थों को बुलवा कर श्री विजयदेवसूरिजी से वाद शुरु करवाया। सूरिजी ने भी सागरमत की प्ररूपणा सूत्रविरुद्ध होने से यथार्थ नही है, ऐसा प्रामाणिक पुरुषो की सभा मे राजा के समक्ष गीतार्थो द्वारा सागरपाक्षिक गीतार्थों को परास्त करवाया, सभाजनो ने विजयदेवसूरि के जीतने का निर्णय दिया। राजा ने आचार्य का सन्मान किया, वहा से सूरिजी दक्षिण मे विचरे। बीजापुर मे आपने कुल ४ चातुर्मास्य किये। वहा के बादशाह श्री इद्लशाह ने गुरु से धर्म का स्वरूप सुना और प्रतिज्ञा की कि जब तक गुरु-महाराज यहा ठहरेंगे, तब तक यहा गोवध नही होने पाएगा। समुद्र-तटवर्ती "करहेड पार्श्वनाथ" "कलिकुण्ड पार्श्वनाथ" आदि तीर्थों की यात्राये करते हुए, विजयदेवसूरि ने उन देशो के लोगो को धर्म मे जोडा, आखिर औरगाबाद मे चातुर्मास्य करके आपने खानदेश की तरफ विहार किया और बुरहानपुर मे २ चातुर्मास्य किये, वहा से सघ के साथ श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ, श्री माणिक्य स्वामी की यात्रा करते हुए, तिलिंग देश मे गोलकुण्डा के निकट भाग्यनगर मे बादशाह श्री कुतुबशाह से मिले और उनकी सभा मे तैलिंग ब्राह्मणो को वाद मे जीत कर जैनधर्म की

व्यवस्थापना के लिये श्री बादशाह को खुश किया और उससे जरूरी आज्ञाए प्राप्त की। बाद वहा अनेक जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठायें करवाई। राजा-प्रतिबोध आदि से दक्षिणापथ मे उनका विहार सर्वत्र सुगम हो गया। इतना ही नही, उस देश मे सात प्रतिष्ठाएं और सात ही वर्षा-चातुर्मास्य करके उस प्रदेश मे जैनधर्म का खासा प्रचार किया।

दक्षिणापथ मे विजयदेवसूरिजी ने ८० विद्वानो को पण्डित पद दिए और एक को उपाध्याय पद, फिर आप सघ के आग्रह से गुजरात मे पधारे।

इधर श्री विजयसिहसूरिजी ने भी गुरु-आज्ञा से मारवाड़, मेवाड़, मेवात आदि प्रदेशो मे विचर राणा श्री जगत्सिहजी को उपदेश देकर देश मे जीवदया का प्रचार करवाया। जैन तीर्थो मे उपदेश द्वारा १७ भेदी पूजा का प्रचार करवाया, मारवाड मे मेड़ता नगर मे एक प्रतिष्ठा कराई, किशनगढ मे राठौडवशी श्री रूपसिंह महाराज के महामात्य श्री रायचद के आग्रह से चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद मन्त्री द्वारा अनेक जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा करवाई। वहां पर आल्हणपुर से आए हुए, श्री महेशदास के मन्त्री श्री सुगुणा ने सुवर्णमुद्राओ से पूजन कर गुरु को वन्दन किया, बाद मे माल्यपुर, बुन्दी, चतलेर पार्श्व प्रमुख तीर्थों की यात्रा करते हुए आप जैतारण पधारे और वहा चातुर्मास्य करने के बाद आप स्वर्णगिरि की यात्रा कर अहमदाबाद पहुचे और गुरु को वन्दन किया। गुरु के साथ आपने सं० १७०५ मे ईडरगढ़ मे प्रतिष्ठा करवाई और वहा पर देवसूरिजी की तरह विजयसिहसूरिजी ने भी ६४ विद्वानो को पण्डित-पद पर स्थापित किया। वहा से क्रमश· पाटन, राजनगर आदि मे चातुर्मास्य करते हुए[1] खम्भात पहुंचे और वर्षा चातुर्मास्य वही किया।

श्री विजयसिहसूरि का स० १६४४ मे जन्म, १६५४ मे व्रत, १६७२ मे वाचक-पद और स० १६८१ मे सूरि-पद हुआ था। श्री विजयसिहसूरिजी बडे क्षमाशील और विवेकी थे। आप २८ वर्ष तक सूरि-पद पर रह कर

१ सं० १७०९ मे लु कामत के पूज्य वजरगजी के शिष्य लवजी से मुख पर मुँहपत्ति बाधने वाले ढुंढको की उत्पत्ति हुई। इसमे दो भेद हैं – षट्कोटिक और अष्टकोटिक।

सं० १७०८ मे अहमदाबाद के निकटवर्ती नवीनपुर मे आषाढ़ सुदि २ को स्वर्गवासी हुए ।

आचार्य श्री विजयदेवसूरि अनेक देशो मे विचरे और जिनप्रवचन की उन्नति की। समय आने पर अपना आयुष्य चार वर्ष का शेष जान कर स० १७१० मे वैशाख सुदि १० को श्री विजयप्रभसूरि को अपने पाट पर प्रतिष्ठित किया। विजयप्रभसूरि का वृत्तलेश निम्न प्रकार से है :

"सिरिविजयदेवपट्टे, पढमं जाओ गुरू विजयसीहो।
सग्गगए तम्मि गुरु - पट्टे विजयप्पहो सूरी ॥ १ ॥"

श्री विजयदेवसूरि के पट्ट पर प्रथम श्री विजयसिंहसूरि उत्तराधिकारी हुए थे, परन्तु विजयदेवसूरि की विद्यमानता मे ही उनका स्वर्गवास हो जाने से आचार्यश्री ने अपने पट्ट पर श्री विजयप्रभसूरि को प्रतिष्ठित किया।

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि का जन्म १६३७ मे कच्छ देश के मनोहर-पुर में हुआ था। स० १६८६ मे दीक्षा, १७०१ मे पन्यास-पद, स० १७१० में आचार्य-पद और सवत् १७१३ मे भट्टारक-पद हुआ था।

विजयप्रभसूरि का श्रमणावस्था का नाम "वीरविजय" था। गान्धार वन्दर में आचार्य-पद पर स्थापित करके श्री विजयदेवसूरिजी ने "विजय-प्रभसूरि" नाम रक्खा। वहा से विचरते हुए विजयदेवसूरिजी नवीन आचार्य के साथ सूरत पहुँचे और वर्षा चातुर्मास्य सूरत मे किया, सूरत के वाद अहमदावाद जाकर वर्षा चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद वही पर विजयप्रभसूरि को गणानुज्ञा की, बाद मे एक चातुर्मास्य अहमदपुर मे करके विजयदेवसूरिजी विजयप्रभसूरि के साथ शत्रुञ्जय की यात्रा के लिये सौराष्ट्र की तरफ पधारे और सघ के साथ यात्रा करके सौराष्ट्रीय सघ के आग्रह से ऊनापुर गए। क्रमशः स० १७१३ मे आपाढ शुक्ला ११ को श्री विजयदेवसूरिजी ने स्वर्ग प्राप्त किया।

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि ने सौराष्ट्र मे १० वर्षा चातुर्मास्य किए, सं० १७१५, १७१७ और स० १७२० इन तीन वर्षो मे गुजरात आदि

देशो मे दुष्काल पडे, पर सौराष्ट्र मे उसका प्रसार नही हुआ। स० १७२३ मे घोघा बन्दर मे अनेक जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठा करवाई और इसके बाद अहमदाबाद नगर के सघ के आग्रह से आपने गुजरात की तरफ विहार किया।

"सिरिविजयरयणसूरि–पमुहेहिं णेगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिआ पुहविअले, सूरिवरा दिन्तु मे भद्दं ॥४॥"

श्री विजयरत्नसूरि प्रमुख अनेक साधु-वर्गों से परिवृत पृथ्वीतल पर विचरते श्री विजयदेवसूरि के पट्टधर श्री विजयप्रभसूरि कल्याणप्रद हो; जिनके गुजरात, मारवाड, मालवा, मेवाड़, मेवात, कच्छ, हालार, सौराष्ट्र, दक्षिणादि देशो में तप तेज के प्रताप से धर्मकार्य निर्विघ्नता से हो रहे है।

"श्रीविजयप्रभसूरे – रुपासकः श्री कृपादिविजयानाम् ।
विदुषां शिष्यो मेघः, संबन्धमिमं लिलेख मुदा ॥३॥"

श्री विजयप्रभसूरि के चरणसेवी और पण्डित श्री कृपाविजयजी के शिष्य मेघविजय ने पट्टावली का यह सम्बन्ध सहर्ष लिखा।



पट्टावलीसारोद्धार

लेखक : रविवर्धन उपाध्याय

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि स० १७२६ मे उदयपुर गए, उदयपुर में प्रतिष्ठा कराकर मेवाड मे दो चातुर्मास्य किये, फिर मारवाड मे गए और स० १७३२ मे नागौर नगर मे श्री विजयरत्नसूरि को अपना पट्टधर कायम किया और मेड़ता नगर मे वर्षा चातुर्मास्य ठहरे, बाद मे मेवाड मेवात, मारवाड देश मे धर्म का प्रचार करते हुए, स० १७३९ मे गुजरात गये और श्री पाटन नगर मे वर्षा चातुर्मास्य किया, आचार्य श्री विजयरत्नसूरिजी के दोनो प्रकार के भाई प० विजयविमलगणि के वाचनार्थ उपा० रविवर्द्धनगणि ने इस पट्टावलीसारोद्धार का उद्धार किया।

इस पट्टावली के नीचे की अनुपूर्ति :

५९ श्री विजयसेनसूरि, ६० राजसागरसूरि, ६१ वृद्धिसागरसूरि, ६२ लक्ष्मीसागरसूरि, ६३ कल्याणसागरसूरि।

श्री गुरुपट्टावली–अनुपूर्ति :

विजयरत्नसूरि का पालनपुर मे जन्म स० १७२२ मे, दीक्षा स० १७-३२ मे, आचार्य-पद १७५० मे सूरिपद (गणानुज्ञा) स० १७७३ के भाद्रपद वदि ३ को, उदयपुर मे स्वर्गवास।

विजयरत्नसूरि के पट्ट पर ६४ वें विजयक्षमासूरि, इनका जन्म पाली मे, स० १७३८ मे दीक्षा, स० १७७३ में सूरिपद, और सं० १७८५ मे चैत्र सुदि ५ को मांगलोर मे स्वर्गवास।

विजयक्षमासूरि के पट्ट पर ६५ वे विजयदयासूरि का दीवनगर मे आचार्य-पद, स० १७८२ मे पौ०, और विजयदयासूरि के पट्ट पर ६६ वे विजयधर्मसूरि, विजयधर्मसूरि के पट्ट पर श्री ६७ जिनेन्द्रसूरि और जिनेन्द्र-सूरि के पट्ट पर श्री ६८ वें देवेन्द्रसूरि, देवेन्द्रसूरि के पट्ट पर ६६ श्री धरणेन्द्रसूरि, धरणेन्द्रसूरि के पट्ट पर ७० विजयराजसूरि, विजयराजसूरि के पट्ट पर ७१वे विजयमुनिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्र के पट्टधर ७२ वे श्री विजयकल्याणसूरि।



श्री बृहत्पौषधशालिक-पट्टावली

"सत्थिसिरिसिद्धिसयणं, णमिऊण वद्धमाणजिणनाह ।
गुरुपरिवाडीहेउं, तहेव सिरिइंदभूइगुरुं ॥ १ ॥
गुरुपरिवाडिं वुच्छं, तत्थेव जिणिंदवीरदेवस्स ।
पट्टोदयपढमगुरू, सुहम्मनामेण गणसामी ॥ २ ॥"

'कल्याण लक्ष्मी तथा सिद्धि के कुलगृह समान और गुरुपरम्परा के हेतु ऐसे वर्द्धमान जिननाथ को तथा श्री इन्द्रभूति गुरु को नमन करके गुरुपरम्परा को कहूगा, जिनेन्द्र वीरदेव के पट्ट पर तथा शासनोदय मे प्रथम गुरु सुधर्मा नामक गण के स्वामी हुए ।१-२।'

"बीओ गणवइ जंबू, पभवो तइओ गणाहिवो जयइ ।
सिरि सिज्जंभवसामी, जसभद्दो दिसउ भद्दाणि ॥३॥
संभूइविजयसूरि, सुभद्दबाहू य - थूलभद्दो अ ।
अज्ज महागिरिसूरी, अज्ज सुहत्थी दुवे पट्टे ॥४॥"

'गणधर सुधर्मा के बाद दूसरे गणाधिपति जम्बू और तीसरे गणाधिपति आर्य प्रभव जयवत हुए, आर्य प्रभव के बाद श्री शय्यम्भव स्वामी और शय्यम्भव के पट्टधर श्री यशोभद्र कल्याणप्रद हो, यशोभद्र के पट्टधर श्री संभूतिविजयसूरि और भद्रबाहु आचार्य हुए और इन दोनो के पट्ट पर आचार्य स्थूलभद्र हुए, स्थूलभद्र के पट्ट पर आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती दो पट्टधर हुए ।३।४।'

"सुट्ठिय-सुप्पडिबुद्धा, कोडिन्न-काकंदिगा गणाभिक्खा ।
सिरिइंददिन्न-दिन्ना, सीहगिरी वयरसामी अ ॥५॥

"सिरि वज्जसेणसूरी, कुलहेऊ चंदसूरितप्पट्टे ।
सामंतभद्दसुगुरू, वणवास रुईविरायेण ॥६॥"

'आर्य सुहस्ति के पट्ट पर कोटिक और काकन्दिक सुस्थित सुप्रतिबुद्ध हुए जिनसे गण का नाम "कोटिक" प्रसिद्ध हुआ, सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के पट्ट पर श्री इन्द्रदिन्न, इन्द्रदिन्न के पट्ट पर श्री दिन्न, श्री दिन्न के पट्ट पर श्री सिहगिरि, सिहगिरि के पट्ट पर वज्रस्वामी और वज्रस्वामी के पट्ट पर श्री वज्रसेनसूरि हुए। वज्रसेन के पट्ट पर श्री चन्द्रकुल के हेतुभूत श्री चन्द्रसूरि, चन्द्रसूरि के पट्ट पर सामन्तभद्र गुरु हुए, जो वैराग्यवश वनवास-रुचि होने से "वनवासी" कहलाए ।५।६।।'

"सिरिवुड्ढदेवसूरी, पज्जोयण – माणदेव मुणिदेवा ।
सिरिमाणतुंगपुज्जो, वीरगुरू जयउ जयदेवो ॥ ७ ॥
देवाणंदो विक्कम – नरसिंह – समुद्द – माणदेववरा ।
विबुहप्पहाभिहाणो, युगप्पहाणो जयाणंदो ॥ ८ ॥"

'श्री समन्तभद्र के पट्टधर श्री वृद्धदेवसूरि, वृद्धदेव के पट्टधर प्रद्योतनसूरि, प्रद्योतनसूरि के पट्टधर मानदेवसूरि, रूप से देव स्वरूप हुए, श्री मानदेव के पट्टधर श्री मानतुगसूरि पूज्य हुए, मानतुग के पट्ट पर वीरसूरि, वीरसूरि के पट्टधर जयदेव हुए, जयदेव के पट्ट पर देवानन्दसूरि, देवानन्द के पट्ट पर विक्रमसूरि, विक्रमसूरि के पट्ट पर नरसिंहसूरि, नरसिंहसूरि के पट्ट पर समुद्रसूरि, समुद्रसूरि के पट्ट पर मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर विबुध-प्रभाचार्य और विबुधप्रभ के पट्ट पर युगप्रधान जयानन्दसूरि हुए ।७.८।।'

"सिरिरविपहसूरिन्दो, जसदेवो देवयाहि दीवंतो ।
पज्जुन्नसूरि पुण माण-देवसिरि विमलचंदगुरू ॥९॥
उज्जोयणो य सूरी, वडगच्छो सव्वदेवसूरि पहू ।
सिरिदेवसूरि तत्तो, पुणोवि सिरिसव्वदेवमुणी ॥१०॥"

'जयानन्दसूरि के पट्टधर श्री रविप्रभसूरि, रविप्रभ के पट्टधर यशो-देवसूरि हुए, जो सूरिमन्त्र के अधिष्ठातृ देवों से देदीप्यमान थे। यशोदेव के

पट्ट पर प्रद्युम्नसूरि, प्रद्युम्नसूरि के पट्टधर फिर मानदेवसूरि और मानदेवसूरि के पट्ट पर विमलचद्रसूरि हुए। विमलचन्द्र के पट्टधर उद्योतनसूरि और उद्योतनसूरि के पट्ट पर वटगच्छ-प्रवर्तक सर्वदेवसूरि, सर्वदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि और देवसूरि के पट्ट पर फिर सर्वदेवसूरि हुए।९।१०।'

"जेण य अट्ठायरिया, समयं सुत्तत्थदायगा ठविश्रा।
तत्थ धणेसर सूरी, पभावगो वीरतित्थस्स ॥ ११ ॥
खवणाणं सत्तसया – एगुच्चिश्र दिक्खिश्रा सहत्थेण।
चित्तपुरि जिण वीरो पइट्ठिश्रो चित्तगच्छो य ॥१२॥"

'जिन द्वितीय सर्वदेवसूरि ने सूत्र और अर्थ के देने वाले आठ मुनियो को आचार्य-पद पर स्थापित किया, जिनमे भगवान् महावीर के शासन-प्रभावक धनेश्वरसूरि भी एक थे। इन्ही धनेश्वरसूरि ने ७०१ दिगम्बर साधु एक साथ अपने शिष्य बनाये थे, चैत्रपुर नगर मे वीर जिन की प्रतिष्ठा करने से इनका समुदाय "चैत्रगच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥११॥१२॥'

"तत्थ सिरिचित्तगच्छे, तश्रो गणी भुवणचद तप्पट्टे।
जावज्जीवं अंबिल – तवकरणाभिग्गहा उग्गा ॥१३॥"
आबालगोव सुपसिद्ध-सुद्ध सपत्त"तवगणाभिक्खा"।
सिरिदेवभद्दगुरुणो, जगचंदो तप्पढम सीसो ॥१४॥"

'उस श्री चैत्रगच्छ मे धनेश्वरसूरिजी के पट्ट पर भुवनचन्द्र आचार्य हुए और भुवनचन्द्र के पट्ट पर यावज्जीव आयम्बिल तप करने के अभिग्रहवान् उग्रविहारी श्री देवभद्र गुरु हुए, जिनसे आबाल गोपाल सुप्रसिद्ध सुद्ध सयमवान् "तपागण" की प्रसिद्धि हुई, उन देवभद्र गुरु के प्रथम शिष्य "जगच्चन्द्रसूरि" हुए।१३।१४।'

"देविद – विजयचंदा, गुरुबंधू खेमकित्ति-कित्तिधरो।
गुरुहेमकलस पुज्जो, रयणायरसूरिणो सघा ॥१५॥
रयणप्पह मणिसेहर – गुरुणो सिरिधम्मदेवनाणससी।
अभयाश्रो सिहवरा, जयनिलया रयणसिहगुरू ॥१६॥"

'जगच्चन्द्रसूरिजी के दो शिष्य हुए, आचार्य देवेन्द्रसूरिजी और विजयचन्द्रसूरिजी। इन दो गुरु-भाइयों में से विजयचन्द्रसूरि के पट्टधर श्री क्षेमकीर्तिसूरि हुए, जिन्होंने 'बृहत्कल्प' पर टीका लिखकर अपनी कीर्ति का विस्तार किया। क्षेमकीर्ति के पट्ट पर हेमकलशसूरि हुए, हेमकलश के पट्टधर श्री रत्नाकरसूरि हुए, जो सच्चे रत्नाकर थे। रत्नाकरसूरि के पट्ट पर श्री रत्नप्रभसूरि, रत्नप्रभ के पाट पर श्री मुनिशेखरसूरि, मुनिशेखर के पट्ट पर धर्मदेवसूरि हुए, धर्मदेवसूरि के पट्ट पर ज्ञानचन्द्रसूरि, ज्ञानचन्द्र के पट्ट पर श्री अभयसिंहसूरि, अभयसिंह के पट्ट पर श्री जयतिलकसूरि हुए, जयतिलकसूरि के पट्ट पर रत्नसिंहसूरि हुए ॥१५।१६॥'

"सिरिउदयवल्लहा पुण, सच्चत्था नाणसायरा गुरुणो।
सिरिउदयसायरा वि य, लद्धिवरा लद्धिसायरया ॥१७॥

सिरिधणरयणगणाहिव, अमराओ रयणतेअओ रयणा।
गुरुभायरा गुणन्नू, सूरिवरो देवरयणो य ॥ १८ ॥"

'आचार्य रत्नसिंह के पट्ट पर श्री उदयवल्लभसूरि और उदयवल्लभ के पट्ट पर नामानुरूप गुण वाले श्री ज्ञानसागरसूरि, ज्ञानसागर के पट्टधर उदयसागरसूरि, उदयसागर के पट्टधर लब्धिधारी श्री लब्धिसागरसूरि, लब्धिसागर के पट्ट पर श्री धनरत्नसूरि, धनरत्न के पट्ट पर श्री अमररत्नसूरि और श्री तेजरत्नसूरि गुरुभ्राता थे, अमररत्नसूरि ने चार विद्वानों को आचार्य बनाया था, जिनके नाम – तेजरत्नसूरि, देवरत्नसूरि, कल्याणरत्नसूरि और सौभाग्यरत्नसूरि थे ।।१७।१८।।'

"सिरिदेवसुंदराभिहा, विहरंता विजयसुन्दरा गुरुणो।
चिरजीविणो हवतु, जिणसासणभूसणा परमा ॥१९॥

घणरयणसूरिसीसा, विबुहवरा भाणुमेरुगणिपवरा।
माणिक्करयणवायग, – सीसा लहुभायरा तेसिं ॥२०॥

नयसुंदराभिहाणा, उवज्झाया सुगुरुच्चरणकमलाइं।
पणमंति भत्तिजुत्ता, गुरुपरिवाडि पयासंता ॥२१॥"

विचरते हुए श्री देवसुन्दर और विजयसुन्दर गुरु जो जिनशासन के परम भूषण हैं, वे चिरजीवी हो ।

धनरत्नसूरि के शिष्य पंडितवर भानुमेरु गणी और माणिक्यरत्न वाचक के शिष्य और भानुमेरु गणी के छोटे भाई नयसुन्दर नामक उपाध्याय गुरु-परिपाटी को प्रकाशित करते हुए गुरुओ के चरणकमलो में भक्तियुक्त प्रणाम करते हैं ।१९।२०।२१॥'



बृहत्पौषधशालिक आचार्यों की पट्ट-परम्परा

आचार्य मणिरत्नसूरिजी के शिष्य जगच्चन्द्रसूरिजी ने अपने गच्छ के साधुओ मे शिथिलाचार का प्रवेश होता देख, किसी त्यागी महात्मा की निश्रा मे रह कर विशुद्ध चारित्र पालते हुए, आत्महित करने का निश्चय किया। तपास करने पर उहे चैत्रगच्छीय आचार्य भुवनचन्द्र के शिष्य देवभद्रगणि के त्याग और सवेग का पता लगा और उन्होने देवभद्रगणि से चारित्रोपसम्पदा लेकर विशुद्ध चारित्र और निरीह तप करना शुरु किया। देवभद्रगणि को यावज्जीव आयम्बिल करने का नियम था, वैसे ही जगच्चन्द्रसूरिजी ने भी यावज्जीव आयम्बिल करने का अभिग्रह किया। दोनो महात्मा एक दूसरे के सहायक बनते हुए धर्म का आराधन और प्रचार करते थे। जगच्चन्द्रसूरिजी के तपस्त्याग का देवभद्रगणि पर बड़ा भारी असर पडा। वे जगच्चन्द्रसूरिजी के उपसम्पदादाता होने पर भी जगच्चन्द्र-सूरि को शिष्य-स्थानीय न मान कर कई बातो मे अपना गुरु-स्थानीय मानते थे, साथ-साथ विचरते थे और एक ही सामाचारी को पालते थे, जो वृहद्गच्छ मे परम्परा से चली आती थी।

जगच्चन्द्रसूरिजी के दो विद्वान् शिष्य हुए, पहले देवेन्द्रसूरि और दूसरे विजयचन्द्रसूरि। लघु पौपधशालिक पट्टावली तथा तपागच्छ की पट्टावलियो के लेखानुसार विजयचन्द्र गृहस्थाश्रम मे मन्त्री वस्तुपाल की देखभाल के नीचे गुजरात राज्य के ५०० गावो के प्रात के अर्थाधिकारी थे और आर्थिक व्यवस्था मे गोलमाल करने के कारण वे कारागार के अतिथि

बने थे, परन्तु दीक्षा लेने की शर्त से वे देवभद्रगणि के प्रयत्न से कारागार से मुक्त हुए थे और दीक्षा लेकर शास्त्राध्ययन करके देवभद्रगणि के आग्रह से उनको जगच्चन्द्रसूरिजी ने आचार्य-पद तक दे दिया था।

जगच्चन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद कई वर्षों तक विजयचन्द्र देवेन्द्रसूरिजी की आज्ञा मे रहे थे, परन्तु बाद मे वह अपने साथ के श्रमण समुदाय का सचालन स्वय करने लगे थे। कोई १२ वर्ष के बाद देवेन्द्रसूरिजी गुजरात मे आए और खम्भात पहुचे, तो उन्हे ज्ञात हुआ कि विजयचन्द्रसूरि १२ वर्ष से उसी बड़ी पौषधशाला मे ठहरे हुए हैं, जिसमे जगच्चन्द्रसूरिजी तथा श्री देवेन्द्रसूरिजी ठहरते नही थे। क्योकि उसमे शिथिलावस्था प्राप्त पासत्थाचार्य ठहरते आये थे और रिपेरिंग काम मे देवद्रव्य लगाया गया था। आचार्य देवेन्द्रसूरिजी खम्भात की उस बडी पौषधशाला मे न जाकर दूसरी पौषधशाला मे उतरे, जो अपेक्षाकृत उससे कुछ छोटी थी। देवेन्द्रसूरिजी के पास श्रमण अधिक थे और श्रावक-श्राविकायें भी वहां अधिक जाते थे, फिर भी मकान छोटा होने के कारण उनका समुदाय 'लघु-पौषधशालिक" अथवा "लघु-शालिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ और विजयचन्द्रसूरि का समुदाय "वृहत्पौषधशालिक" नाम से।

अब वृहत्पौषधशालिक पट्टावलीकार का विजयचन्द्रसूरिजी के सम्बन्ध मे क्या मन्तव्य है वह भी जान लेना जरूरी है।

वृहत्पौषधशालिक पट्टावली के टीकाकार लिखते हैं – "पूर्वकाल मे माणसा नगर मे रहने वाला अनेक प्रकार की ऋद्धि-समृद्धि का उपभोक्ता ओसवाल वंश का शृङ्गार और दुःखी लोगो का आधार मन्त्री गजराज था। उसके कुल मे सूर्य समान श्री वीरधवल राजा के ५०० गावो का अधिकारी जिसका अन्त.करण जिनधर्म की वासना से वासित है, सम्यक्त्व मूल द्वादश व्रत का पालने वाला, सर्वजनो का उपकार करने वाला, निरवद्य विद्याओ का ज्ञाता श्री विजयपाल नामक मन्त्री था।

एक समय देवभद्र गुरु को वीजापुर में रहे हुए जानकर २५ व्यापारियो से परिवृत श्री विजयपाल वीजापुर मे चतुर्दशी का पौषधोपवास ग्रहण

करने के लिये गुरु के समीप गया। व्यापारियो के साथ पौषध ग्रहण करके विजयपाल ने गुरु के मुख से देशना सुनी, वैराग्य-रस से पूर्ण चित्त वाले विजयपाल ने दूसरे दिन प्रभात को गुरु से दीक्षा देने की प्रार्थना की। गुरु ने यथा सुखं कहा, विजयपाल भी पौषध पाल कर अपने घर गया और मन्त्री वस्तुपाल को अपने अधिकार का हिसाब देकर बडी धूमधाम के साथ २५ व्यापारियो के साथ और अपने पुत्र तथा स्त्री के साथ श्री देवभद्र के हाथ से चारित्र ग्रहण किया। गुरु के पास रहते हुए अनेक शास्त्रो का अभ्यास करके गीतार्थ बना। महामात्य वस्तुपाल को विजयपाल के इस जीवन सुधार से बडा हर्ष हुआ और देवभद्र तथा जगच्चन्द्र गुरु को विजयचन्द्र मुनि को आचार्य पद देने की प्रार्थना की। गुरुजी ने भी दोनो शिष्यो को पद योग्य जानकर श्री देवेन्द्रसूरि तथा विजयचन्द्राचार्य को आचार्य पद दिया। इसके उत्सव मे मन्त्री वस्तुपाल ने बहुत द्रव्य खर्च किया, ऐसा वृद्धो का कहना है। इस सम्बन्ध मे जो न्यून अधिक बाते कहते हैं, उनकी बात वे ही जानें। हम तो दोनो के गुणरागी हैं। वृद्धो की परम्परा से जो वृत्तान्त हम तक आया, उसी को लिखा, "खरा तत्त्व तो केवली भगवान् जानते है।"

"बृहत्पौषधशालिक पट्टावली" के लेख से इतना अवश्य ध्वनित होता है कि विजयपाल की दीक्षा का कारण देवभद्र के एक व्याख्यान का उपदेश मात्र नही, किन्तु कोई गर्भित कारण और भी है, परन्तु उसका स्पष्टीकरण करना निरर्थक है। यदि विजयपाल ने पच्चीस व्यापारियो के साथ दीक्षा ली है, तो वह अच्छे दर्जे का पुरुष होगा, इसमे शंका को स्थान नही है। विजयचन्द्र का रचा हुआ कोई ग्रन्थ प्रकरण हमारे देखने मे नही आया, इसलिये इनकी विद्वत्ता के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना अनुचित होगा। परन्तु इन्होने अपने तीन शिष्यो को आचार्य बनाया था, इससे मालूम होता हैं कि खम्भात मे दीर्घकाल तक रह कर अपने शिष्य अवश्य तय्यार किये थे। श्री देवेन्द्रसूरिजी से आज्ञा न मगवा कर गच्छ सम्बन्धी कार्य स्वय करने के सम्बन्ध मे पट्टावलीकार का कहना है कि श्री देवेन्द्रसूरिजी को मालवा से बुलाया, परन्तु कारणविशेष से वर्षों तक वे नही आ सके। फलस्वरूप

खम्भात मे रहे हुए, साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका के आग्रह से वे स्वय गच्छपति बने थे। पट्टावलीकार का यह कथन विजयचन्द्रसूरि का बचाव करना मात्र है। गच्छाधिपति द्वारा अथवा उनके अभाव मे किसी अन्य अधिकारी आचार्य द्वारा गच्छानुज्ञा करने के बाद ही कोई भी आचार्य गच्छपति की हैसियत से गच्छ का कार्य कर सकता है। कुछ भी हो परन्तु इतना तो निश्चित है कि देवेन्द्रसूरिजी के साथ के सम्बन्ध तोड़ने का परिणाम तपागच्छ के लिए हानिकर हुआ है।

श्री देवेन्द्रसूरिजी की पट्टपरम्परा के पट्टधर आचार्यों का पट्टक्रम लघु पौषधशालिक पट्टावली मे दिया जा चुका है, अब हम बृहत्पौषधशालिक पट्टावली के अनुसार द्वितीय सर्वदेवसूरि के आगे के आचार्यों का पट्टक्रम देते हैं :

३९ पट्टे श्री धनेश्वरसूरि –	चैत्रपुर मे महावीर की प्रतिष्ठा कर्त्ता और चैत्रगच्छ के प्रवर्तक।
४० पट्टे श्री भुवनचन्द्रसूरि –	
४१ पट्टे श्री देवभद्र गणि –	"तपागण" को लोक मे प्रसिद्ध करने वाले। स० १२८५ मे "तपा" बिरुद मिला।
४२ पट्टे श्री जगच्चन्द्रसूरि –	"हीरला जगच्चन्द्रसूरि" ऐसे बिरुद वाले।
४३ पट्टे श्री विजयचन्द्रसूरि –	
४४ पट्टे श्री क्षेमकीर्तिसूरि –	सं० १३३२ मे "बृहत्कल्प" की टीका की। इनके दो गुरुभाई थे, वज्रसेनसूरि और श्री पद्मचन्द्रसूरि। क्षेमकीर्ति के शिष्य प० श्री नयप्रभ गणि, "गुरुतत्त्व-प्रदीप" अपर नाम "उत्सूत्रकन्दकुद्दाल" ग्रन्थ के कर्त्ता।
४५ हेमकलशसूरि –	हेमकलशसूरि ने यशोभद्रसूरि को आचार्य-पद दिया।

४६ श्री रत्नाकरसूरि –	जिनके नाम से "वृद्ध तपागरण" "रत्नाकर गच्छ" नाम से प्रसिद्ध हुआ।
४७ श्री रत्नप्रभसूरि –	
४८ श्री मुनिशेखरसूरि –	
४९ श्री धर्मदेवसूरि –	आरासण तीर्थ में प्रतिष्ठा कराई। सिंहदत्त को आचार्यपद दिया।
५० श्री ज्ञानचन्द्रसूरि –	
५१ पट्टे अभयसिंहसूरि –	अभयसिंहसूरि ने हेमचन्द्र नामक मुनि को आचार्य-पद दिया।
५२ पट्टे श्री जयतिलकसूरि –	अनेक आचार्य, उपाध्याय, पन्यास, साधु, महत्तरा आदि मिलकर २२०० साधु-साध्वी के परिवार वाले थे। जयतिलकसूरि ने ३ आचार्य स्थापित किये, श्री धर्मशेखरसूरि, श्री माणिक्यसूरि और रत्नसागरसूरि। चौथे आचार्य श्री सर्वतिलकसूरि बडे प्रभावक हुए।
५३ पट्टे श्री रत्नसिंहसूरि –	श्री रत्नसिंहसूरि ने विमलनाथ प्रासाद को तथा अनेक तीर्थङ्कर बिम्बों की प्रतिष्ठा सं० १५०९ मे माघ सुदि ५ को की, तथा अपने हाथ से श्री हेमसुन्दरसूरि, श्री उदयवल्लभसूरि तथा ज्ञानसागरसूरि को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया। श्री रत्नसिंहसूरिजी ने "आदौ नेमिजिन नौमि" इत्यादि स्तोत्र बनाया, जिसके पाठ करने से और इसके अनुसार यन्त्र बना कर बादशाह के सिर पर रखने से बादशाह के कुल में उपद्रव की शान्ति हुई।

"श्री रत्नसिंह" के "श्री शिवसुन्दर गणि" विद्वान् शिष्य हुए, "वाक्यप्रकाश" ग्रन्थ के कर्ता उपाध्याय उदयधर्म गणि, श्री चारित्रसुन्दरसूरि जिन्होने महीपाल, कुमारपाल, सस्कृत चरितो का निर्माण किया। श्री रत्नसिंहसूरि के तीन शिष्य आचार्य हुए, श्री हेमसुन्दरसूरि, पट्टधर आचार्य श्री उदयवल्लभसूरि।

५४ उदयवल्लभसूरि –

५५ पट्टे श्री ज्ञानसागरसूरि – आपने 'विमलचरित्र" आदि अनेक चरित ग्रन्थो की रचना की थी। ज्ञान सागरसूरि का सग्राम सौवर्णिक परम भक्त था।

५६ पट्टे श्री उदयसागरसूरि – उदयसागरसूरि ने ५ आचार्य बनाये थे, जिनके नाम श्री "लब्धिसागरसूरि", "श्री शीलसागरसूरि", "श्री चारित्र-सागरसूरि, श्री धनसागरसूरि और श्री धनरत्नसूरि, इनमे से उदयसागर के पट्टधर श्री लब्धिसागरसूरि हुए।

५७ पट्टे श्री लब्धिसागरसूरि – लब्धिसागरसूरि ने "प्राकृत चतुर्विंशति-जिनस्तव रत्नकोश", 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र", "यशोधरचरित्रा"दि ग्रन्थो का निर्माण किया।

५८ पट्टे श्री धनरत्नसूरि – लघुशालीय गच्छाधिराज श्री पूज्य श्री हेमविमलसूरीश्वर - पादारविन्द - मधुकर षड्दर्शन प्रसिद्ध शतार्थी बिरुदधर, बाद-शाह प्रदत्त सहस्रार्थी बिरुदभृत, सकल पण्डितोत्तमपण्डित श्री हर्षकुल गणि श्री

धनरत्नसूरिजी को देख कर हर्षोत्कर्ष से प्रफुल्लित हुए और नये १५ पद्यो से गुरु की स्तुति की। धनरत्नसूरिजी ने श्री सौभाग्यसूरि को आचार्य बनाया। उनके शिष्य श्री प० उदयसौभाग्य गणि ने "हेमप्राकृत व्याकरण" पर ढुण्ढिका टीका बनाई थी।

५६ पट्टे श्री अमररत्नसूरि — श्री अमररत्नसूरि ने चार आचार्यों को आचार्य-पद दिये, जिनके नाम श्री तेजरत्नसूरि, श्री देवरत्नसूरि, श्री कल्याणरत्नसूरि और सौभाग्यरत्नसूरि। इनसे तीन शाखाए निकली। श्री तेजरत्न अमररत्नसूरि के गुरुभ्राता थे।

६० पट्टे श्री कल्याणरत्नसूरि —

गुर्वावली मे आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरिजी ने श्री जगच्चन्द्रसूरि के क्रियोद्धार के सम्बन्ध मे तथा विजयचन्द्रसूरि की परम्परा के कतिपय आचार्यो की नामावली दी है, उसका सक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है :

चैत्रपुर नगर मे महावीर की प्रतिष्ठा करने वाले चन्द्रगच्छीय श्री धनेश्वरसूरि हुए, जिनसे "चैत्र गण" प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर मे उस चैत्रगण मे गुणवान् ऐसे भुवनचन्द्र नाम के गुरु हुए, शुद्ध सयम पालने की बुद्धि वाले, देवभद्र वाचक हुए। श्री जगच्चन्द्रसूरि ने श्री देवभद्र नामक वाचक को शुद्ध सामाचारी मे प्रवृत्त देख कर उनको उपसम्पदा विधि से स्वीकार कर उनके कार्य-सहायक बने और इन दोनो उत्तम पुरुषो ने शिथिलता के कीचड़ मे फसते हुए धर्मरथ को ऊचे उठाया। श्री जगच्चन्द्रसूरि ने ग्राम, कुल, नगर, देश, शय्या, उपधि और शरीर तक का ममत्व छोड कर अप्रमत्त भाव से पृथ्वी ऊपर विहार किया। यावज्जीव आयम्बिल तप करने का अभिग्रह धारण कर वे पृथ्वी पर विचरते थे। आपके इस क्रियोद्धार को १२ वर्ष पूरे हुए तब आपके बृहद्गण का नाम वि० सं० १२८५ मे "तपागण" यह प्रसिद्ध हुआ।

आजकल 'श्री चन्द्रगच्छ" "वृहद्गरण" और "तपागरण" इन नामो से गच्छ व्यवहृत होता है, जब कि पूर्वकाल मे कोटिक गच्छ मे "चान्द्रकुल" और "वाज्री शाखा" ऐसी प्रसिद्धि थी। आजकल श्री देवेन्द्रसूरि, विजयचन्द्रसूरि और देवभद्र वाचक "तपागरण" के भूषरण रूप है। आचार्य जगच्चन्द्रसूरि चारित्र-धर्म को ऊचा उठाने मे सहायक मित्र समान श्री देवभद्र गरिण का वहुमान करते है और गुरु की तरह इनकी गणना करते हैं, तब सविग्न देवभद्र गरिण भी अपने परिवार के साथ श्री जगच्चन्द्रसूरि को हर्षपूर्वक अपना गुरु मानते हैं।

श्री जगच्चन्द्रसूरिजी के पट्टधर श्री देवेन्द्रसूरि के विद्यानन्दादि अनेक विद्वान् शिष्य हुए, तब लघुशाखा मे श्री विजयचन्द्रसूरि के पट्ट पर तीन आचार्य हुए, श्री वज्रसेनसूरि १, श्री पद्मचन्द्रसूरि २ और श्री क्षेमकीर्तिसूरि। आचार्य क्षेमकीर्तिसूरि ने स० १३३२ मे 'वृहत्कल्प" की टीका बनाई।

क्षेमकीर्ति के वाद हेमकलशसूरि, हेमसूरि के पट्ट-भूपरण यशोभद्रसूरि हुए, । यशोभद्रसूरि के पट्टधर रत्नाकरसूरि और रत्नाकरसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि हुए। रत्नप्रभ के शिष्य मुनिशेखर, मुनिशेखरसूरि के शिष्य धर्मदेवसूरि, धर्मदेव के श्री ज्ञानचन्द्रसूरि, ज्ञानचन्द्र के श्री अभयसिंहसूरि, श्री अभयसिंहसूरि के हेमचन्द्रसूरि, हेमचन्द्रसूरि के जयतिलकसूरि, जयतिलक के जिनतिलकसूरि और जिनतिलकसूरि के मारिणक्यसूरि नामक आचार्य हुए। ये सव गुरणवन्त आचार्य थे, फिर भी दुष्षमकाल के प्रभाव से अपनी शाखा का पार्थक्य मानने वाले थे। गुरणवन्त आचार्य श्रीसघ के कल्यारणकर्त्ता हों।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी तक वृद्ध शाखा से लघु शाखा को भिन्न हुए करीव आठ-नौ पीढी हो चुकी थी, फिर भी वृद्ध शाखा की आचार्य-परम्परा पर उनका कितना सद्भाव था। वह ऊपर के निरूपरण से ज्ञात होता है।

लघु पौषधशालिक पट्टावली

लघु पौषधशालिक पट्टावली के लेखानुसार आचार्य सुमतिसाधुसूरि ने हेमविमलसूरि के अतिरिक्त श्री इन्द्रनन्दिसूरि और श्री कमलकलशसूरि को भी आचार्य-पद दिए थे, परन्तु उनको गच्छ नही सोपा ।

हेमविमलसूरि का जन्म स० १५२० के कार्तिक सुदि पूर्णिमा को, स० १५२८ वर्षे श्री लक्ष्मीसागरसूरिजी के हाथ से दीक्षा; स० १५४८ मे पचलाशा गाव मे श्री सुमतिसाधुसूरिजी ने आचार्य-पद दिया । उस समय श्री इन्द्रनन्दिसूरि ने तथा कमलकलशसूरि ने अपने दो गच्छ जुदे किये । इन्द्रनन्दी का समुदाय "कुतुबपुरा" और कमलकलशसूरि का समुदाय "कमलकलशा" नाम से प्रसिद्ध हुआ । कुतुबपुरा गच्छ मे से "हर्षविनय-सूरि" ने "निगममत" निकाला, जिसका दूसरा नाम "भूकटीया" मत भी था, परन्तु बाद मे हर्षविनयसूरि ने "निगम-पक्ष" छोड दिया था ।

स० १५७० वर्ष मे डाभेला गाव मे स्तम्भ-तीर्थ निवासी सोनी जीवा, जागा ने आकर धूमधाम के साथ आनन्दविमलसूरिजी को आचार्य पद तथा दानशेखर एव माणिक्यशेखर गणि को वाचक-पद दिया, एक साध्वी को महत्तरा-पद दिया ।

स० १५७२ मे ईडर से खम्भात जाने के लिए रवाना हुए । कपडवंज मे बडी धूमधाम से प्रवेश उत्सव हुआ । किसी चुगलखोर ने बादशाह मुदाफर के पास वृत्तान्त पहुँचाया, बादशाह ने कपडवज मे बन्दे भेजे, गुरु पहले ही वहा से चुडेल पहुँच गये थे । रात को चुडेल से चल कर सोजि-तरा पहुंचे, सुबह चुडेल बन्दे पहुचे, ग्रामपति को पूछा – गुरु कहा है ?

उसने कहा – हमे मालूम नही। बाद मे आचार्य खम्भात पहुँचे, सघ ने प्रवेशोत्सव किया। चुगलीखोरो ने खोज करने वालो के पास पता भेजा और उन्हे बन्दीखाने मे रक्खा। सघ से १२ हजार लेकर उन्हे छोडा। इस घटना से आचार्य को बडा दुःख हुआ। उन्होने आयम्बिल तप करके सूरिमन्त्राधिष्ठायक को याद किया, अधिष्ठायक का वचन हुआ, "आक्षेप करो, द्रव्य वापस मिल जायगा। बाद मे शतार्थी प० हर्षकुल गणि, प० सघहर्षगणि, प० कुशलसयम गणि और शीघ्रकवि शुभशील गणि प्रभृति चार गीतार्थों को चम्पकदुर्ग भेजा और वहा बादशाह के पास जाकर अपनी काव्य-कला से बादशाह को खुश कर सघ से लिया हुआ द्रव्य वापस करवाया। स० १५७८ मे पूज्य हेमविमलसूरि ने पाटन मे चातुर्मास्य किया। उस वर्ष मे पूज्य के आदेश से श्री आनन्दविमलसूरिजी कुमरगिरि मे चातुर्मास्य कर रहे थे, वहा पूज्य की आज्ञा के बिना एक साध्वी को दीक्षा दी, जो अवस्था मे छोटी थी। हेमविमलसूरिजी ने कहा – मेरी आज्ञा के बिना दीक्षा कैसे दी ? इसको छोड़ दो। इतना कहने पर भी आनन्दविमलसूरि ने छोड़ा नहीं और सिद्धपुर, सिरोही आदि स्थानो मे चार चातुर्मास्य करके गुजरात मे आकर श्री हेमविमलसूरि को बिना पूछे ही सं० १५८२ के बैशाख सुदि ३ को अलग उपाश्रय मे ठहरे। वहा पर मैलधूसक योग से कपड़े मैले करके रहे। इसी प्रकार ऋषि-मतियो की प्रवृत्ति हुई।

स० १५८३ मे आचाय का विसलपुर मे चौमासा था, आसोज महीने मे पूज्य के शरीर मे वेदना उत्पन्न हुई, तब चौमासे मे वटपल्ली से श्री आनन्दविमलसूरि को बुलाया और गुरु ने कहा – गण का भार ग्रहण कर, उन्होने कहा – गण का भार ग्रहण करने की मेरी शक्ति नही है, तब गीतार्थ संघ के साथ श्री हेमविमलसूरिजी ने आनन्दविमलसूरि के समक्ष अपने पट्ट पर श्री सौभाग्यहर्षसूरि को प्रतिष्ठित किया।

स० १५८३ के आश्विन शुक्ल १३ के दिन हेमविमलसूरि स्वर्गवासी हुए।

सं० १५८३ में ऋषिमत की उत्पत्ति हुई। द्विवन्दनिक गच्छ से आए राजविजयसूरि ने ऋषिमत से "लघुउपाश्रयक" मत निकाला।

सौभाग्यहर्षसूरि का जन्म १५५५ में, सं० १५६३ में हर्षदान गणि को वडनगर में वहराए और हेमविमलसूरिजी ने दीक्षा दी, सं० १५८३ के आश्विन सुदि १० को श्री हेमविमलसूरिजी ने अपने पट्ट पर स्थापित किया।

सं० १५८९ के ज्येष्ठ सुदि ६ को सौभाग्यसूरि का गच्छनायक-पद महोत्सव किया। सं० १५९५ में पोष सुदि ५ गुरुपुष्य योग में पं० सोमविमल गणि को वाचक-पद दिया। उसी वर्ष में ईडरगढ में श्री सौभाग्यहर्षसूरि ने ५०० जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की, सं० १५९६ में आप अहमदाबाद पधारे और चातुर्मास्य वहीं किया। श्रीसंघ ने १५९७ के आश्विन सुदि ५ के दिन वाचक सोमविमल तथा सकलहर्षमुनि को आचार्य पद दिए तथा दो को वाचक-पद दिए। उपाध्याय-पद विजयकुशल तथा विनयकुशल को। सं० १५९७ के कार्तिक सुदि १२ के दिन सौभाग्यहर्षसूरि स्वर्गवासी हुए।

सौभाग्यहर्षसूरि ओसवाल-वंशीय थे, उनके हाथ से ३०० दीक्षाएं हुई थीं।

६० तत्पट्टे सोमविमलसूरि –

खंभात के समीप कंसारीपुर में पोरवाल कुल में सोमविमल का जन्म हुआ था सं० १५७० में, सं० १५७८ के वैशाख शु० २ को अहमदाबाद में हेमविमलसूरि द्वारा दीक्षा, सं० १५९० के कार्तिक व० ५ के दिन गणि-पद, सं० १५९४ में सिरोही नगर में सौभाग्यहर्षसूरि के हाथ से फाल्गुन व० ५ दिने सोमविमल को पं० पद, गुरु के साथ बीजापुर गए। सं० १५९५ में वाचक-पद, १५९७ में सौभाग्यहर्षसूरि द्वारा अहमदाबाद में सूरिपद।

परिधापनिका दो। क्रम से आम्रपद्र नगर पहुँचे, वहा प० विद्यारत्न गणि को तथा विद्याजय गणि को प० पद दिया। क्रमश. १६०२ मे अहमदाबाद चातुर्मास्य किया। स० १६०५ में खम्भात मे चातुर्मास्य किया और सघ समवाय मिलनपूर्वक स० १६०५ के माघ शु० ५ के दिन गच्छाधीश पद की स्थापना हुई, स० १६०८ मे राजपुर मे चातुर्मास्य ठहरे, स० १६१० पाटन मे फिर चातुर्मास्य किया और वैशाख शु० ३ के दिन जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा की, स० १६१७ मे अक्षय-दुर्ग मे चातुर्मास्य ठहरे। स० १६१९ मे खम्भात मे चौमासा किया, चातुर्मास्य के बाद नन्दुरबार गए और सघ के आग्रह से चातुर्मास्य वही किया, स० १६२३ मे अहमदाबाद मे अभिग्रह किया। स० १५९६ वर्षे कार्तिक सुदि १५ का जन्म, १६०१ के कार्तिक सुदि १५ को दीक्षा और स० १६११ मे कार्तिक वदि ५ को पण्डित-पद, १६२५ पाटन मे आचार्य-पद और "आनन्दसोमसूरि" यह नाम रक्खा, सोमविमलसूरिजी ने गण को परिधापनिका दी।

स० १६३० मे अहमदाबाद मे मा० शु० ५ के दिन आनन्दसोमाचार्य को गणानुज्ञा हुई। उस समय मे हससोम गणि तथा देवसोम गणि को वाचक-पद दिए, सोमविमलजी की उपस्थिति मे स० १६३६ के भाद्र० वदि ६ को श्री आनन्दसोगसूरि स्वर्गवास प्राप्त हुए। बाद मे हेमसोम को सूरि-पद दिया गया, स० १६३७ मे मार्ग० मे सोमविमलसूरि स्वर्गवासी हुए। २०० साधुओ की दीक्षा इनके हाथ से हुई थी।

६१ श्री हेमसोमसूरि –

स० १६२३ वर्षे ढढार प्रदेश मे इनका जन्म, पोरवाल जाति के थे। १६३० मे बडगाव मे सोमविमलसूरि द्वारा दीक्षा, गृहस्थ नाम हर्षकुमार था और दीक्षा नाम हेमसोममुनि रक्खा, १६३५ में पण्डित-पद १६३६ में वैशाख सुदि २ को मुनि हेमसोम को आचार्य-पद, अपने गच्छवासियो को एव अन्यगच्छीय साधुओ को परिधापनिका दी और हेमसोमसूरि गच्छाधिप घोषित किये गये।

६२ विमलसोमसूरि
६३ विशालसोमसूरि
६४ उदयविमलसूरि
६५ गजसोमसूरि
६६ मुनीन्द्रसोमसूरि
६७ राजसोमसूरि
६८ आनन्दसोमसूरि
६९ देवेन्द्रविमलसूरि
७० तत्त्वविमलसोमसूरि
७१ पुण्यविमलसोमसूरि



तपागच्छ-कमलकलश शाखा की पट्टावली

श्री रत्नशेखरसूरि
,, लक्ष्मीसागरसूरि
,, सोमदेवसूरि – लक्ष्मीसागरसूरि द्वारा आचार्य-पदप्रतिष्ठित ।
,, सुधानन्दनसूरि
,, सुमतिसुन्दरसूरि
,, राजप्रियसूरि
,, कमलकलशसूरि – सं० १५५५ से कमलकलश गच्छ चला ।
,, जयकल्याणसूरि – १५३६ के फाल्गुन सुदि १० को अचलगढ़ पर प्राग्वाट साह सहसा के मन्दिर के मूलनायक की प्रतिष्ठा की ।
,, कल्याणसूरि
,, चरणसुन्दरसूरि – ये भी अचलगढ़ की स० १५६६ की प्रतिष्ठा में हाजिर थे ।



राजविजयसूरि-गच्छ की पट्टावली

५८ वें पाट पर श्री आनन्दविमलसूरि हुए, एक समय आबु पर यात्रार्थ गये, सूरिजी तुर्मु ख चैत्य मे दर्शन कर विमल वसही के दर्शनार्थ गए, गभारा के बाहर खडे दर्शन कर रहे थे, उस समय अर्बु दादेवी श्राविका के रूप मे आचार्य के दृष्टिगोचर हुई, आचार्यश्री ने उसे पहिचान लिया और कहा—देवी ! तुम शासन भक्त होते हुए लु गा के अनुयायी जिनमन्दिर और जिनप्रतिमाओ का विरोध करते हुए, लोगो को जैन मार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे है, तुम्हारे जैसो को तो ऐसे मतो को मूल से उखाड डालना चाहिये, यह सुनकर देवी बोली—पूज्य ! में आपको सहत्रोपधि का चूर्ण देती हूं। वह जिसके सिर पर आप डालेगे, वह आपका श्रावक बन जायगा और आपकी आज्ञानुसार चलेगा, इसके, बाद अर्बु दादेवी आचार्यश्री को योग्य भलामण देकर अदृश्य हो गई, बाद मे आचार्य वहा से विहार करते हुए विरल (विसल) नगर पहुँचे, वही श्री विजयदानसूरि चातुर्मास्य रहे हुए थे, वही आकर आनन्दविमलसूरिजी ने देवी प्रश्नादिक सब बाते विजयदान-सूरिजी को सुनायी, जिससे वे भी इस काम के लिये तैय्यार हुए, वहा से आनन्दविमलसूरि और विजयदानसूरि अहमदावाद के पास गाव बारेजा मे राजसूरिजी के पास आए और कहा—हम दोनो लु का मत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर है, तुम भी इस काम के लिये तैयार हो जाओ, यह कहकर श्री आनन्दविमलसूरिजी ने कहा मेरे पट्टधर विजयदानसूरि है ही और विजय-दानसूरि के उत्तराधिकारी श्री राजविजयसूरि को नियत करके अपन तीनों आचार्य तपगच्छ के मार्ग की मर्यादा निश्चित करके अपने उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हो जाएं, आनन्दविमलसूरिजी ने श्री राजविजयसूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आए हैं, लु कामति जिनशासन का लोप

कर रहे हैं, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनो योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोडकर वही वट की वटिया जल मे घोल दी हैं, सवामन सोने की मूर्ति अन्धकूप मे डाल दी, सवा पाव सेर मोतियो का चूरा करवा के फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड दिया है।

श्री राजविजयसूरि ने स० १५८२ मे क्रियोद्धार करने वाले लघुशालिक आचार्य श्री आनन्दविमलसूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राजविजयसूरि नाम रक्खा, बाद मे तीनो आचार्यो ने अपने-अपने परिवार के साथ भिन्न-भिन्न तीनो देशो मे विहार किया। श्री आनन्दविमलसूरिजी ने सर्वत्र फिरकर श्रावकों को स्थिर किया है, कई गांवो मे प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा की, नये जिन-बिम्ब करवाए, जैनशासन की महिमा बढायी, स० १५९६ तक बहुत से लुका के अनुयायी गृहस्थ तथा वेशधारक उपदेशक मूर्ति मानने वाले हुए, विचरते हुए आप सोरठ के सिपा गांव मे आए, और वहां से आप अपना अन्तकाल निकट जान कर राजनगर आए और सं० १५९६ मे गच्छ की मर्यादा निश्चित करके श्री आनन्दविमलसूरिजो स्वर्गवासी हुए।

५९ विजयदानसूरि :

विजयदानसूरिजी का वर्षा चातुर्मास्य अहमदाबाद मे था, आचार्य श्री राजविजयसूरि का चातुर्मास्य राधनपुर में था, चातुर्मास्य के उतरने पर श्री राजविजयसूरि श्री शखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रार्थ आए, यात्रा कर जब वे वापस जाने लगे, तब राजविजयसूरि के शिष्य पं० श्री देवविजय के ससारी सगे जो धामा में रहते थे उन्हे लेने आये। देवविजय ने उनको कहा—गुरु आदि को छोडकर मैं अकेला नही आ सक्ता, इस से श्रावक राजविजयसूरि के साथ उनको अपने गाव ले गए और मास कल्प कराया। धामा मे श्रावको के ७०० घर थे, वो सभी पूनमीया थे। जो आचार्य श्री के उपदेश से पूर्णिमा पक्ष को छोड़कर सभी चतुर्दशी को पाक्षिक करने लगे। वहा से सूर्यपुर और जीजूवाड़ा आए, श्रावकों ने उत्साह सहित नगरप्रवेश कराया और एक गृहस्थ की डेहली मे उतारे, गांव मे छापरीया—पूनमीया के दो उपाश्रय थे,

उनमे एक मै पुराने स्थायी आचार्य रहते थे। प्रभात मे श्री राजविजयसूरि ने व्याख्यान शुरू किया, तव उस आचार्य ने अपना शिष्य उनके पास भेजकर व्याख्यान देने की मनाही करवाई। कहलाया कि यहा सभी पूनमीया श्रावक है, चऊदसीया कोई नही, इस पर राजविजयसूरि ने कहा—हमने पूनमीयो को मिटाने के लिये व्याख्यान शुरु किया है। इस पर उस आचार्य ने कहा—हमारे गाव मे तुम व्याख्यान नही दे सकते, इस प्रकार उन दोनो मे खीचतान और विवाद हुआ, एक श्रावक ने वहा आकर श्री राजविजयसूरि को एकान्त मे कहा—स्वामी ! आप इसको किसी प्रकार से गांव मे से निकल वा दें, तो वहुत अच्छा हो, श्रावक की इस सूचना को पाकर राजविजयसूरि राजकुल मे गए, वहा झाला राजपूत का राज्य था। गुरु को देख कर उसने आदर के साथ प्रणाम किया और पूछा—स्वामी ! दरबार मे कैसे पधारे ? गुरु ने कहा—हम आठम और चउदस को मानते हैं और यहा का रहने वाला आचार्य सातम और पूनम मानता है। यह सुनकर ग्रामाधीश ने कहा, इस वात का निश्चय कैसे किया जाय कि किसका मानना सत्य है ? तब राजविजयसूरि ने कहा—सूरज के कोठे मे मूलदेव की प्रतिमा है, वह ठहरावे, वह सही। इस पर राजा प्रजा सर्व मूल आचार्य के साथ इकट्ठे हुए, स्थायी आचार्य को समरावाव की माता और वाविभा वीर प्रत्यक्ष था। तब राजसूरि को चक्रेश्वरी प्रत्यक्ष थी। दोनो आचार्यो ने अपने-अपने इष्ट देवो का ध्यान किया और आने पर कारण वताया। देव ने कहा—आठम चउदस हमारी है—इसलिये इस सम्वन्ध मे हम कुछ नही कहेगे, पुराने आचार्य ने मन मे कहा—अब मेरा न चलेगा, दूसरे दिन राजा आदि सब सूर्य के कोठे पर गए, वहां चक्रेश्वरी मे मूल देव की प्रतिमा मे प्रवेश कर कहा, राजविजयसूरि जो कहते है वही तिथि सत्य है, पुराने आचार्य की तिथि सत्य नही। सभा समक्ष वह आचार्य झूठा पड़ा और रात मे अपनी चीज सामान लेकर गुप्तरूप से पाटन चला गया, बाद मे राजविजयसूरि को उपाश्रय मे लेजाकर ठहराया, सर्व श्रावक वासक्षेप लेकर चउदसीए हुए, ६०० घर ओसवालों के, श्रीमाली तथा पोरवाल आदि आदि सव तपा श्रावक वने।

श्री संघ की वीनती से प० देवविजय गरिण को चातुर्मास्य के लिए वहां रक्खा, गुरु ने विहार किया, वहां से मु जपुर जाकर चौमासा किया।

उस समय उज्जैन में एक दिगम्बर भट्टारक रहता था। उसने मालव देश मे तपा श्रावको को दिगम्बर मत मे खीच लिया था। उज्जैनी का एक धनवन्त तपगच्छ का श्रावक जिसका नाम चमूपाल मन्त्री ताराचद मोतीचद था, उसने भट्टारक की बात नही मानी, इसलिये उसका न्याति-व्यवहार भट्टारक ने वन्द करवा दिया। श्रावक का भट्टारकजी को कहना था कि मेरे गुरु गुजरात मे विचरते हैं, उनको जीतो तो मैं तुम्हारा श्रावक वन जाऊ। भट्टारकजी ने कहा – तुम्हारे गुरु को यहा वुलाओ। श्रावक ने कहा – मेरे वास्ते वे नही आयेंगे, मैं सिद्धाचल का सघ निकालू सो आप सघ के साथ चलें। मेरे गुरु भी आजकल शत्रुञ्जय की यात्रार्थ गये हुए हैं, इसलिये आप कहो तो सघ निकालू, तव भट्टारक ने स्वीकार किया। शा० ताराचन्द्र चमूपाल मन्त्री श्री शत्रुञ्जय का सघ निकाल कर शत्रुञ्जय आया और पहाड़ पर सघ चढ़ रहा है, वहा विजयदानसूरिजी को नीचे उतरते हुए देखा। शा० ताराचद मन्त्री ने उनको वदन किया, तव जीआजी भट्टारक ने पूछा – क्यो ताराचन्द्र, यही तेरे गुरु हैं ? ताराचन्द ने कहा – यही मेरे गुरु हैं, तव जीआजी भट्टारक उनके पास जाकर विजयदानसूरि से विवाद करने लगा। युक्तिप्रयुक्ति करते हुए, एक प्रहर वीत गया। पूज्य आचार्य के अट्ठम का तप था और वृद्धावस्था, इस कारण भट्टारक को कोई प्रत्युत्तर नही दिया, इस पर भट्टारक ने कहा—अवे ताराचन्द ? तुम्हारे गुरु को हमने जीत लिया, अव तू मेरा श्रावक हो जा, ताराचन्द ने कहा ये तो वृद्ध और तपस्वी महात्मा है। इनके पट्टधर आचार्य श्री राजविजयसूरि को जीतो, तो मैं आपका श्रावक हो जाऊँ। वह नकी करके वे ऊपर चढे, और विजयदानसूरिजी नीचे उतरे, ताराचन्द यात्रा करके अपने मुकाम आया और स्वस्थ होकर आचार्य महाराज के पास गया और अपनी तथा मालवा की परिस्थिति से उनको वाकिफ किया और कहा—आज तक तो मे दिगम्बर नही हुआ, परन्तु अव मालवे मे शीघ्र गीतार्थ न आएगे, तो सारा मालव देश दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी बन जाएगा इत्यादि सव वृन्तान्त कहने के वाद शा० ताराचन्द अपने संघ के साथ वापस उज्जैनी चला गया; इधर दानविजयसूरिजी गुजरात पहुचे और राजविजयसूरि को मुजपुर से जल्दी बुलाया और शा० ताराचन्द के मुह से सुनी हुई सभी बातें, उनको

कही, जिनको सुनकर श्री राजविजयसूरिजी भी मालवे मे जाने के लिये तैयार हुए। लगभग ७०० यतियो के साथ मालवा की तरफ विहार किया, स्थान-स्थान पर दिगम्बरीय सम्प्रदाय की बातो का खण्डन करते हुए और पीछे साधुओ को छोड़ते हुए, लगभग ३०० साधुओ के साथ उज्जैन पहुँचे। चमूपाल ताराचद को खबर मिलने पर वह राजा के पास गया और कहा – हमारे गुरु आये है, उनको नगर-प्रवेश उत्सव के साथ कराना है, परन्तु यहां के वणिक तो हमको साथ नही दगे। महरबानी करके आप पधार कर हमारे कार्य को पार करवाइयेगा। मन्त्री की बात सुनकर राजा ने अपनी तरफ से आचार्य महाराज का प्रवेश उत्सव करने का प्रबन्ध करवाया। हाथी, घोडे, रथ सभी प्रकार के सामान से बड़े ठाट के साथ नगर-प्रवेश करवाया। दिगम्बर भट्टारक जीआजी ने जाना कि कोई पराक्रमी पुरुष है, इसी से राजा भी इनकी पेशवाई मे सहकार कर रहा है। पब्लिक रास्ते पर भट्टारक जीआजी की पौषधशाला पडती है, मिनट दो मिनट के लिये वाजे बन्द रहे, इस पर राजा ने बाजे न बन्द करने की आज्ञा दी और जुलूस आगे बढ़ा। नगर के खास रास्तो मे होता हुआ, जुलूस राजा की हाथीशाला मे उतरा। भट्टारक जीआजी के मन पर इस घूमधाम का ऐसा प्रभाव पड़ा कि आचार्य के साथ सभा समक्ष विवाद कर इनको जीतना आसान नही है, यह सोच कर भट्टारकजी ने एक कूट पद्य बनाकर अपने पण्डित द्वारा राजविजयसूरिजी के पास पहुचाया और कहलाया कि इस पद्य का अर्थ समझ सको तब तो हमारे साथ विवाद करने के लिये तैयार होना, अन्यथा आये वैसे ही चले जाना। पद्य वाली चिट्ठी सब साधुओ ने पढ़ी परन्तु किसी को पद्य का अर्थ नही सूझा। पद्य वाला पत्र अपने पास मगा कर राजविजयसूरिजी ने भट्टारक के पण्डित को कहा – सात दिन के भीतर इसका उत्तर दे देंगे। पण्डित चला गया, राजविजयसूरि ने उस श्लोक पर ध्यान लगा कर अर्थ-विचार किया, परन्तु कुछ पता नही लगा। एक बार तो वह निराश हो गए, परन्तु अन्त मे उस पद्य का भेद उन्हे मिल गया, अपने ही एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ के पद्यो के प्रथमाक्षरो को लेकर वह पद्य बनाया गया था। आचार्य ने इसका अर्थ निश्चय कर लिया। सातवें दिन पडित ने आकर उस

श्लोक का प्रत्युत्तर मांगा, राजविजयसूरि ने कहा – चोर के साथ वाद क्या और प्रत्युत्तर क्या ? पण्डित बोला – जो चोर हो उसके नाक, कान, काट कर देश-निकाला करना चाहिये। उस समय बादशाह श्री बहादुरशाह का दीवान श्री राजविनयसूरिजी के पास बैठा था, उसकी हाजरी में राजविजयसूरि ने एक नया श्लोक लिख कर दीवान की मुहर लगवाई और पण्डित को देते हुए राजविजयसूरि ने पण्डित को कहा – लो, यह पत्र तुम्हारे भट्टारकजी को दे देना। चिट्ठी पढ़ कर भट्टारकजी ने जाना कि अपनी चोरी तो प्रकट हो गई है। हाँ, उत्तर पर दीवान की मुहर छाप भी हो गई है। अब यहा रहना सलामत नही, यह सोच कर भट्टारकजी अपना चीज-भाव लेकर उसी रात को वहां से चले गये। इस बात का पता लगने पर दूसरे दिन शा० ताराचन्द मन्त्री ने विजयराजसूरिजी को तपागच्छ के उपाश्रय मे पधराये। इस बात का बहादुरशाह बादशाह को पता लगने पर उसने विजयराजसूरिजी को अपने पास बुलाया और उनका बड़ा सत्कार किया। बादशाह ने विजयराजसूरि से अनेक बाते पूछी और सूरिजी ने उनका सतोषजनक उत्तर दिया।

राजविजयसूरिजी ने मालवा में अनेक चातुर्मास्य किये और श्वेताम्बर जैन सघ को अपने धर्म मे स्थिर किया।

कहते हैं कि श्री राजविजयसूरिजी के पास एक कामदुधातर्पणी थी। उसमे जो पदार्थ भरते, अखूट हो जाता। राजविजयसूरिजी के पास हानर्षि और वानर्षि नामक दो गुरुभाई पण्डित थे। उन्होने श्री राजविजयसूरिजी से तर्पणी मांगी, तब राजविजयसूरिजी ने उसे देने से इन्कार कर दिया। हानर्षि, वानर्षि इस कारण से रुष्ट हो गये और राजविजयसूरि की चुगलियां खाने लगे। उन्होने गच्छपति को लिखा – राजविजयसूरि यहा आकर बहुत ही शिथिलाचारी हो गए हैं, फिर भी उनके लेख पर विजयदानसूरिजी ने कोई ध्यान नही दिया, तब कालान्तर मे उन्होंने गच्छपति को लिखा कि राजविजयसूरिजी का यहां अकस्मात् स्वर्गवास हो गया है। इस पत्र को पढ़-कर श्री विजयदानसूरिजी ने राजनगर मे श्री हीरविजयसूरि को अपना पट्टधर बना लिया। श्री राजविजयसूरि को इस

वात की कोई खवर तक नही मिली। वे मालवा से गुजरात की तरफ विहार करते हुए चापानेर आए और वर्षा चातुर्मास्य वहा ठहरे। चौमासे के वाद वे अहमदावाद आ रहे थे, बीच मे एक गाव मे वे महीना भर ठहरे, तव अहमदावाद वात पहुची। किसी ने जाकर विजयदानसूरिजी को कहा – श्री राजविजयसूरि ने आपको वन्दना कही है, यह सुन कर विजयदानसूरिजी को वडा पश्चात्ताप हुआ। उन्होने सोचा – मैंने एक यति की वात मानकर वडी भूल की। राजविजयसूरि के विद्यमान रहते दूसरा पट्टधर कायम कर दिया। राजविजयसूरिजी आए और विजयदानसूरि को वन्दन किया, तव विजयदानसूरिजी ने हीरसूरिजी से कहा – उठो आचार्य! वडे आचार्य को वन्दना करो। यह सुनकर राजविजयसूरि ने कहा – आपने यह क्या किया? विजयदानसूरि ने कहा – तुम्हारा निर्वाण सुनकर मैंने यह कार्य किया है; अब मेरे पट्टधर तुम राजविजयसूरि और राजविजयसूरि के पाट पर हीरविजयसूरि, इस प्रकार की व्यवस्था रहेगी। परन्तु राजविजयसूरि को यह व्यवस्था पसन्द नही आई और वे नाराज होकर विजयदानसूरिजी के पास से ७०० यतियो के साथ चले गये, तव वोहकल संघवी ने उन्हे दूसरे उपाश्रय मे उतारा और आग्रह करके वर्षा चातुर्मास्य भी वही करवाया।

एक समय वोहकल संघवी की वहू श्री हीरविजयसूरिजी को वन्दन करने गई, तव हीरविजयसूरिजी ने कहा– आइए राजविजयसूरि की श्राविका! यह वचन सुनकर संघविन को गुस्सा आया और वन्दन किये विना ही घर चली गई और प्रतिज्ञा की कि हीरविजयसूरि को वन्दना नही करूगी, वह अट्ठम का तप कर घर मे वैठी रही, संघवी को पता लगने पर उसे पूछा, तव उसने सव वातें कही। सेठ ने समझा बुझाकर उसे पारणा करवाया, वोहकल संघवी, वादशाही सेठ, न्यात मे अधिकारी था, ७०० घर संघवी के पीछे थे। श्री राजविजयसूरि के पास जाकर वोला—स्वामी आप श्री आनन्दविमलसूरि के शिष्य हैं, इसलिये हीरविजयसूरि के साथ न मिलें, तुम वडे पट्टधर हो, ये छोटे हैं, तव राजविजयसूरि ने कहा—ये और हम एक ही हैं, ममता करके क्या करना है। तव संघवी ने कहा—संघविन ने नियम कर लिया

है कि वह हीरविजयसूरिजी को नही वादेगा, आपको हमने आग्रह करके रक्खा, इस कारण से हीरविजयसूरिजी संघविन को राजविजयसूरि की श्राविका कहकर बतलाते हैं, आपके साधु, क्षेत्र की सब सामग्री समान है। आप अपना स्वतत्र गच्छ कायम करिये। यह कहकर वोहरा ल संघवी ने राजविजयसूरि के गच्छ की स्थापना की, बडे उत्सव महोत्सव किये, इस प्रकार दो गच्छनायक आचार्य श्री अहमद वाद मे भिन्न-भिन्न उपाश्रयो मे चातुर्मास्य रहे, श्री विजयदानसूरि के स्वगवास के वाद ६० वें पाट पर श्री राजविजयसूरि हुए, जिन्होने मालव देश को प्रतिवोध दिया है।

राजविजयसूरि ने अपने उतराधिकारी पद पर श्री मुनिराजसूरि को स्थापित करके राधनपुर चातुर्मास्य के लिये भेजा, मुनिराजसूरि का इसी वर्ष मे राधनपुर मे स्वर्गवास हो गया, इस घटना से राजविजयसूरि को वड़ा दु.ख हुआ, मुनिराजसूरि पर उनका बहुत मोह था, उनके जाने मे उनके दिल मे ऐसा वैराग्य आगया कि अपना निर्वाण समय निकट जानकर भी किसी को अपने पद पर स्थापित करते नही थे, संघवी के आग्रह पूर्वक कहने पर आचार्य ने उत्तर दिया—मुनिराजसूरि जैसा आचार्य चला गया, तो अब नया आचार्य स्थापित करके क्या करना है। संघवी की इच्छा थी कि आचार्यश्री किसी न किसी साधु के सिर पर हाथ रख दे तो अच्छा है, परन्तु आचार्य की ऐसा करने की इच्छा नही थी, तब संघवी ने अपने भानजे रत्नसी को जो जातिका श्रीश्रीमाल था और उन्ही के घर पर रहता था, पूछा—यदि तू साधु हो जाय तो तुझे गच्छनायक का पद दिला दू। भानजे ने स्वीकार किया, संघवी उसे लेकर राजविजयसूरिजी के पास गया, श्रीजीने रत्नसी श्रावक के सिर पर हाथ रक्खा और राजविजयसूरिजी ने आयुष्य पूर्ण किया।

राजविजयसूरि का राजनगर मे स० १५५४ मे जन्म स० १५७१ मे व्रत, स० १५८४ मे सूरिपद और स० १६२४ मे स्वर्गवास।



६१. श्री रत्नविजयसूरिजी और इनकी परम्परा

बोकल सघवी ने रत्नविजयजी के सिर पर राजविजयसूरि का हाथ रखवाने के बाद तुरन्त गीतार्थ के पास से पाच महाव्रत उच्चराए। उसी समय पाठक पद और उसी समय आचार्य-पद, योगोद्वहन कराने के बाद पट्टाभिषेक तथा गच्छानुज्ञा उत्सव किया, परन्तु सूरिमन्त्र देने वाला कोई नही था, तब कमल-कलश तथा श्री देवरत्नसूरिजी जो संसार पक्ष में रत्नविजयसूरि के सगे लगते थे, श्री रत्नविजयसूरि ने संघवी को उनके पास भेजा, सघवी कतिपय गीतार्थों के साथ श्री देवरत्नसूरि के पास गया, सूरिमन्त्र आदि की सब हकीकत कही, तब कमलकलशा गच्छनायक ने कहा—तुम हमारी अटक रखो तो मैं सूरिमन्त्र देऊ, तब उनकी शर्त मान्य की और कहा—आयन्दा पट्टधर आचार्य होगा, उसके नाम के साथ "रत्नशाखा" रखेगे। यह बात नक्की करने के बाद देवरत्नसूरि ने विधिविधान के साथ सूरिमन्त्र का मार्ग दिखाया। और विजयदानसूरि के पाट पर दो पट्टधर हुए।

हीरविजयसूरिजी ने राजविजयसूरि का स्वर्गवास होने के बाद गच्छ में एकता करने का विचार किया और अपये गीतार्थों को श्री रत्नविजय-सूरि के पास भेजा और कहा—अपन दोनो की सामाचारी एक है, गुरु एक है और गच्छ के आचार्य दो; यह बात अपन दोनों के लिये अयुक्त है, मेरी इच्छा है कि मैं अपने पट्ट पर दूसरा कोई आचार्य प्रतिष्ठित न करके आपके लिये स्थान खाली रखूंगा। इस समय अपन दोनो एक हो जाये और मेरे बाद आप गच्छपति बने तो हम दोनो के लिये शोभा की बात होगी,

श्री रत्नविजयसूरि श्री श्रीमाल ज्ञाति के भोले भाले पुरुष थे। हीरविजयसूरिजी की वातो को मान लिया और सब वाते लेखबद्ध कर साख मते भी करवा दिये, बाद में यह बात उनके गीतार्थ साधुओ ने तथा सघवी ने जानी, उनको वहुत उपालम्भ दिया, परन्तु कौल वचन लिखवा दिये थे, उनमे कुछ भी रद्दोबदल होने की गुजाइश नही थी, कौल के अनुसार श्री राजविजयसूरिजी के क्षेत्र मे श्री हीरविजयसूरिजी ने अपने साधुओ को रक्खा और अपने क्षेत्रो मे श्री रत्नविजयसूरि के यतियो को भेजा, इस प्रकार मे यतियो ने सब क्षेत्र अपने हाथ मे कर लिये। श्री रत्नविजयजी पालनपुर चातुर्मास्य करने जा रहे थे, शरीर मे स्थूल होने से मार्ग चलना उनके लिये कठिन हो गया। इस बात को जान कर "उनावा" के श्रावको ने आग्रह कर अपने गाव मे ही चातुर्मास्य करवाया और इस प्रकार १५ वर्ष वही बीत गये। दरमियान सब क्षेत्र-यति श्रावक अपने हाथ से चले गये, तब श्री हीरविजयसूरिजी ने रत्नसूरि को पत्र लिखा और कहा – हमने आपको आचार्य-पद देने का कहा था वह सही है पर एक क्षेत्र लेकर इतने वर्षों तक बैठे रहना गच्छनायक आचार्य के लिए अनुचित है। यदि क्षेत्रो मे फिरने की शक्ति नहीं है, तो उपाध्याय-पद रखना कबूल करो, ताकि आचार्य के सम्बन्ध मे दूसरा विचार किया जाय। पत्र पढ कर रत्नसूरिजी ने सोचा कि मैंने किसी से नही पूछा और न किसी का कहना माना, उसका यह परिणाम है, परन्तु अब क्या हो सकता है। अहमदावाद से निकल कर पहला चातुर्मास्य वलाद मे और दूसरा चातुर्मास्य वीसनगर मे करके तीसरा चातुर्मास्य ऊनाऊ गांव में किया और वहां वर्षो तक रहा। अब क्षेत्र और यति कोई हाथ मे नही रहे, यह सोच कर दूर विचरने वाले अपने साधुओ को आने के लिये कहलाया, परन्तु कोई नही आया। तब अहमदावाद सघवी को पत्र लिखा, परन्तु उनके पास साधु हीरसूरिजी के हैं, वे पत्र सघपति के पास पहुँचने देते नही। एक वार पालनपुर से पत्र लेकर एक कासीद राजनगर जाने वाला है, यह उनको मालूम हुआ, तब वे स्वयं स्थण्डिल के बहाने बाहर गए और अहमदावाद के रास्ते पर खड़े रहे। उनको हरकारा मिला, उसको पूछने पर उसने कहा – मैं अहमदावाद जा रहा हूं, यह सुन कर रत्नविजयसूरि ने दस रुपया देना निश्चय किया और

कान मे रखी हुई सीसे की सली से समाचार लिख कर पत्र हलकारे को दिया। सघवो ने पत्रिका पढी, समाचार जान कर सगवी ने कहा — "कान फडवाए और बुद्धि गई", ऊनाऊ से उनको अहमदावाद बुलवाया। वहा उपाश्रय दो थे, एक दोसीवाडा मे, दूसरा निशापोल मे। वे दोनो हीरविजयसूरिजी के कब्जे मे थे। सघवी ने अहमदावाद मे उनको अपनी वखार सौंपी, वहा उतरे। दो शिष्य और रत्नविजयसूरि ये ३ सुख से वहा रहते थे। दूसरे सब यति श्री हीरविजयसूरि की आज्ञा मे रहते थे।

श्री रत्नविजयसूरि के पाट पर श्री हीररत्नसूरि हुए। श्री रत्न-विजयसूरि का जन्म स० १५९४, स० १६१३ मे व्रत, १६२४ मे सूरि-पद और स० १६७५ मे श्री राजनगर मे स्वर्गवास।

इस समय मे विजयआनन्दसूरि का गच्छ निकला। शाह सोमकरण मनीया तथा नव उपाध्यायो ने मिल कर जिनमे छः उपाध्याय श्री विजय-देवसूरि के और तीन उपाध्याय विजयराजसूरि के थे। इन सब ने मिल कर आनन्दसूरि गच्छ की परम्परा चलाई।

६२. श्री हीररत्नसूरि :

श्री हीररत्नसूरि का जन्म स० १६२० मे हुआ। सं० १६३३ मे व्रत, स० १६५७ मे वाचक-पद, सं० १६६१ के वैशाख सुदि ३ को आचार्य पद, स० १६७५ में भट्टारक-पद, स० १७१५ के श्रावण सुदि १४ को राजनगर मे आसासुआ की बाडी मे स्वर्गवास।

६३. श्री जयरत्नसूरि :

श्री जयरत्नसूरि का १६६६ मे जन्म, १६८९ मे व्रत, स० १६९९ में राजनगर मे आचार्य-पद, १७१५ मे भट्टारक-पद, स० १७३४ के चैत्र सुदि ११ के दिन सूरत मे स्वर्गवास।

६४. श्री हेमरत्नसूरि :

हेमरत्नसूरि का स० १६९९ मे जन्म, स० १७०४ मे व्रत, १७३४ मे भट्टारक-पद, स० १७७२ मे कार्तिक सुदि १ को झिन्झुवाड़ा मे स्वर्गवास।

६५. श्री दानरत्नसूरि :

श्री दानरत्नसूरि का जन्म स० १७२२ मे, स० १७५१ मे दीक्षा, स० १७७२ मे भट्टारक-पद, स० १८२४ के फाल्गुण सुदि १० को धागधरा मे स्वर्गवास ।

६६. श्री कीर्तिरत्नसूरि :

६७. श्री मुक्तिरत्नसूरि :

मुक्तिरत्नसूरि का १८७४ मे सूरि-पद और १८७६ के मार्गशीर्ष सुदि ४ को स्वर्गवास हुआ ।

६८. श्री पुण्योदयरत्नसूरि :

पुण्योदय का स० १८७६ मे सूरि-पद, स० १८६० मे पौ० सु० ११ को स्वर्गवास ।

६६. श्री अमृतरत्नसूरि :

स० १८६० मे बैशाख सु० ७ सूरि-पद वसो मे ।

७०. चन्द्रोदयसूरि

७१. सुमतिरत्नसूरि

७२. भाग्यरत्नसूरि



विजयदेवसूरि के सामने नया आचार्य क्यों बनाया ?

"सोहम्मकुलरत्न पट्टावली रास" के कर्त्ता कवि श्री दीपविजयजी लिखते हैं

"सेनसूरि पाटे प्रगट, पाट साठ मे होय ।
श्री देवसूरि श्री तिलकसूरि अे पडधारो दोय ॥१॥

अर्थात् – श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि और श्री तिलकसूरि ये दो पट्टधर हुए। दो पट्टधर क्यो हुए ? इसकी प्रस्तावना करते हुए कवि लिखते है –

"तेणे समे धरमसागर गणि, वाचक राय महंत ।
कुमति कुद्दाल इति नाम छे, कीओ ग्रन्थ गुनवत ॥७॥
बहु पडित श्री सेनसूरि, ग्रन्थ कीओ अप्रमाण ।
वाचक "गण बाहिर कीआ, पेढी त्रण प्रमाण ॥८॥"
"संसारी सगपण अछें, मामा ने भाणेज ।
देवसूरि भाणेज छे, वाचक मामा हेज ॥९॥
लखी लेख व्यतिकर सहु, मेहेल्यो तुरत जवाब ।
देवसूरि वांची करी, चिंती मन मे आप ॥१०॥
पत्र जुंआव अेहवो लख्यो, फिकर न करस्यो कोय ।
गुरु निर्वाण हुआ पछे, गच्छ मे लेस्यां तोय ॥११॥"

कवि दीपविजय के कहने का सार यह है कि उपाध्याय धर्मसागर गणि वडे विद्वान् थे। उन्होने 'कुमति-कुद्दाल" नामक एक ग्रन्थ बनाया

था, परन्तु श्री विजयसेनसूरिजी ने अनेक पण्डितो की सलाह से उस ग्रन्थ को अप्रामाणिक ठहराया और उपाध्याय धर्मसागरजी को तीन पीढी तक गच्छ बाहर किया।

कविराज का यह कथन कि धर्मसागरजी ने "कुमतिकुद्दाल" ग्रन्थ बनाया था, यथार्थ नही है, क्योंकि "कुमतिकुद्दाल" धर्मसागरजी के पूर्ववर्ती तपागच्छ के विद्वान् को कृति थी और धर्मसागरजी ने उसके आधार से दूसरे ग्रन्थ बना कर अन्यान्य गच्छो का खण्डन अवश्य किया था। परिणामस्वरूप "विजयदानसूरि तथा विजयहीरसूरिजी ने उन्हे गच्छ बाहर किया था" और उन ग्रन्थों का सशोधन कराये बिना प्रचार नही किया जायगा, इस शर्त के साथ विपरीत प्ररूपणा के सम्बन्ध मे मिथ्यादुष्कृत करवा करके उन्हे वापस गच्छ मे लिया था।

विजयसेनसूरि के समय मे उपाध्याय धर्मसागर गच्छ से बाहर थे, यह कथन प्रामाणिक ज्ञात नही होता, क्योंकि १६५२ मे श्री विजयहीरसूरिजी स्वर्गवासी हुए थे और १६५३ मे उपाध्याय धर्मसागरजी भी स्वर्ग सिधारे थे।

इस प्रकार एक वर्ष के भीतर धर्मसागरजी ने कौन-सा महान् अपराध किया और विजयसेनसूरि ने उन्हे गच्छ बाहर किया? इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस परिस्थिति मे धर्मसागरजी और देवसूरि के बीच मामा-भाञ्जा का सम्बन्ध बता कर धर्मसागरजी द्वारा देवसूरि पर पत्र लिख कर गच्छ मे लेने की सूचना करना और उसके उत्तर में गुरु का निर्वाण होने के बाद देवसूरि द्वारा "गच्छ मे लेने का आश्वासन" लिखना और वह पत्र भावियोग से विजयसेनसूरिजी के हाथ जाना, ये सब बातें एक कल्पित कहानी से अधिक नही हैं।

कविराज लिखते हैं – "विजयदेवसूरि का पत्र पढ कर श्री विजयसेन-सूरिजी को क्रोध आया कि ऐसे आचार्य को उत्तराधिकारी बनाने के बजाय किसी दूसरे को आचार्य बनाना ही ठीक होगा", यह सोच कर आचार्यश्री ४०० साधुओं के समुदाय और ८ उपाध्यायों के साथ खम्भात नगर पहुँचे।

खम्भात मे अकबरपुर मे अपने स्वर्गवास के पहले आठ उपाध्यायो और मुनिगण को अपने पास बुला कर कहा – एक बार फिर देवसूरि के पास जाना, वह मेरा वचन प्रमाण करले तो दूसरा पट्टधर स्थापने की आवश्यकता नही, अन्यथा किसी योग्य पुरुष को प्रतिष्ठित करना। यह कह कर उन्होने संघ-समक्ष उपाध्यायो को सूरिमन्त्र सौंपा, बाद मे श्री विजयसेनसूरि स्वर्ग सिधार गए।

आगे कविराज लिखते है :

राजनगर मे देवगुरु कने रे, आया पुछण वाचक आठ।
तिण समे 'धरमसागर' गणि देखीया रे पूज्य समीपे सखरे ठाठ ॥६॥

हगीगत कही सहुसने गुरु तणी रे, कांने न धरी रे गणधार।
रीसावी सहु पाछा आवीया रे, थाप्या तिलकसूरि पट्टधार ॥७॥"

अर्थात् – विजयसेनसूरि के स्वर्गवास होने के बाद विजयसेनसूरि के कथनानुसार सोमविजयजी आदि आठ उपाध्याय अहमदाबाद आचार्य देवसूरि के पास आए, तब उपाध्यायो ने विजयदेवसूरि के पास अच्छे ठाठ से धर्मसागर गणि को बैठा देखा, उपाध्यायो ने विजयसेनसूरि की बात विजयदेवसूरि को कही, पर देवसूरि ने उस पर कोई ध्यान नही दिया। परिणामस्वरूप सर्व उपाध्याय नाराज होकर वापस लौटे और विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री विजयतिलकसूरि को प्रतिष्ठित किया, परन्तु विजयतिलकसूरि तीन वर्ष मे स्वर्गवासी हो गए, तब उनके पट्ट पर विजयआनन्दसूरि को स्थापित किया।

एक समय श्री विजयदेवसूरिजी विजयआनन्दसूरिजी को मिलने आये। वहां दोनों आचार्यों को आपस मे अनेक बातें होने के बाद यह निश्चित हुआ कि दोनो आचार्य हिलमिल करके चलें और अब से यतियो की जो क्षेत्रादेश के पट्टक लिखे जाए वे श्री देवसूरि और आनन्दसूरि दोनो की सहियों से लिखे जाएं। लगभग तीन वर्ष तक यह संघटन चलता रहा, परन्तु चौथे वर्ष गच्छपति श्री देवसूरिजी ने केवल अपने ही नाम से क्षेत्रादेश

पट्टक लिखे, तब आनन्दसूरिजी ने भी अपने अनुयायी साधुओ को अपने ही नाम से क्षेत्रादेश पट्टक लिखे।

उपर्युक्त कडी ६ और ७ वी मे कविराज ने आठ उपाध्यायो के अहमदाबाद मे विजयदेवसूरि के पास जाने पर उपाध्याय धर्मसागरजी को विजयदेवसूरिजी के पास बैठे देखने की बात कही है, जो असभव है। क्योकि उस समय तक धर्मसागरजी को स्वर्गवासी हुए बीस वर्ष होने आए थे। इस दशा मे कविराज का कथन प्रमादपूर्ण है। धर्मसागर नही, किन्तु उनके शिष्य लब्धिसागर नेमिसागर, अथवा मुक्तिसागर इनमे से सब या कोई एक हो सकते हैं। विजयदेवसूरि के विरोध मे उपाध्याय सोमविजयजी, उ० कीर्तिविजयजी आदि ने जो विरोध का बवण्डर खडा किया था, उसका कारण भी सागर विरोधी उक्त उपाध्यायो के प्रचार का ही परिणाम था।

आचार्य श्री विजयदेवसूरि का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र पढ लेने पर भी यह वस्तु प्राप्त नही होती कि विजयदेवसूरिजी सागरो के पक्षकार थे। कई स्थानो पर तो विजयदेवसूरिजी को सागरो तथा सागर भक्त गृहस्थो से मुठभेड तक हुई है और सागरों को निरुत्तर होना पडा है। प्रस्तुत निरूपण से दो बाते स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि तपागच्छीय आचार्य श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर दो आचार्य होकर देवसूरि गच्छ, आनन्दसूरि गच्छ नामक दो पार्टिया होने का कारण उपाध्याय धर्मसागर गणि नही थे। दूसरा विजयदेवसूरि को सागरो का पक्षकार बना कर इन पार्टियो की उत्पत्ति का कारण बताया जाता है, यह भी निराधार है। इस झगडे का मूल कारण क्या था, यह तो ज्ञानी ही कह सकता हैं, परन्तु इतना तो निश्चित है कि तपागच्छ के उपाध्यायाष्टक ने इस सम्बन्ध मे जो रस लिया है, उसमे उपा० सोमविजयजी, उपा० कीर्तिविजयजी के नाम सर्वप्रथम हैं। उपाध्याय कीर्तिविजयजी के शिष्य उपाध्याय विनयविजयजी ने भी कल्पसूत्र की "सुबोधिका टीका" के निर्माण काल स० १६९६ तक इस विषय मे बड़ी दिलचस्पी ली थी। वे प्रसग आते ही उपाध्याय धर्मसागरजी की गलतिया बताने मे अपना पुरुषार्थ किया करते थे, परन्तु धीरे-धीरे वस्तु-

स्थिति स्पष्ट हुई। विजयदेवसूरिजी के ऊपर लगाया गया सागरों के पक्ष का आरोप निराधार प्रमाणित हुआ तब विद्वान् साधु आनन्दसूरि की परम्परा मे से निकल कर देवसूरि की परम्परा मे आने लगे थे।

प्रसिद्ध उपाध्याय यशोविजयजी प्रथम से ही मध्यस्थ थे, परन्तु विनयविजयजी अपने गुरुओं के कारण आनन्दसूरि की पार्टी मे मिले थे, परन्तु वाद मे वे भी विजयदेवसूरि की परम्परा मे आए थे, ऐसा इनके पिछले ग्रन्थो की प्रशस्तियो से ज्ञात होता है। विजयदेवसूरि ने अमुक सागरो को पद प्रदान करने के लिये अपना वासक्षेप सेठ शान्तिदास को अवश्य दिया था, परन्तु किसी भी सागर को आपने आचार्य-पद नही दिया। इससे भी ज्ञात होता है कि विजयदेवसूरिजी सागरो को बढ़ावा देने वाले नही थे, परन्तु दोनो पार्टियां हिलमिल कर रहे ऐसी भावना वाले थे। आज उपर्युक्त दोनो पार्टियों की आचार्य-परम्पराए कभी की समाप्त हो चुकी है।



विजयानन्दसूरि-गच्छ की परम्परा (१)

५९ आचार्य श्री विजयसेनसूरि –

६० आचार्य श्री विजयतिलकसूरि –

जन्म सं० १६५१, दीक्षा स० १६६२, प० १६६३, स० १६७३ मे सिरोही मे वडगच्छ के भट्टारक विजयसुन्दर-सूरि के वासक्षेप से सूरि-पद दिया था और उपाध्याय आदि ने मिलकर आचार्य श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर विजयतिलकसूरि के नाम से प्रतिष्ठित किया। स्वर्ग स० १७७६ मे।

६१ आचार्य श्री विजयआनन्दसूरि –

मारवाड के रोहा गाव मे सं० १६४२ में जन्म, स० १६५१ मे दीक्षा, सं० १६७६ मे सिरोही में विजयतिलक-सूरि द्वारा आचार्य-पद, स० १७११ मे स्वर्गवास।

६२ आचार्य श्री विजयराजसूरि –

स० १६७९ मे कडी मे जन्म, स० १६८९ मे दीक्षा, नाम कुशलविजय, स० १७०४ मे सिरोही मे विजयानन्दसूरि द्वारा आचार्य-पद, स० १७४२ मे खम्भात मे स्वर्गवास।

६३ आचार्य श्री विजयमानसूरि –

सं० १७०७ में बुरहानपुर मे जन्म, स० १७१९ मे माल-पुर में दीक्षा, वि० स० १७३१ मे उपाध्याय-पद, सं० १७३६ में सिरोही मे विजयराजसूरि के हाथ से सूरि-पद, सं० १७७० में साणद मे स्वर्गवास।

६४ आचार्य श्री विजयऋद्धिसूरि –

आबु के पास थांण गांव मे स० १७२७ में जन्म, स० १७४२ मे अहमदाबाद में दीक्षा, स० १७६६ में सिरोही में आचार्य-पद, १७९७ मे स्वर्गवास ।

६५ आचार्य श्री विजयसौभाग्यसूरि –

आचार्य श्री विजयप्रतापसूरि –

स० १७९५ में आचार्य-पद सादडी में, १८१४ मे सिनोर मे स्वर्गवास ।

इन्होने अपने पट्ट पर विजयभानसूरि को बैठाया ।

६६ आचार्य श्री विजयउदयसूरि –

जन्म वांकली गांव में, आचार्य-पद मु डारा मे, गुजरात मे उदयसूरि ने सपरिवार जाकर काकागुरु सौभाग्यसूरि से मिलकर आगे दक्षिण मे विहार किया और स० १८३७ में स्वर्गवासी हुए ।

६७ आचार्य श्री विजयलक्ष्मीसूरि –

सिरोडी और हणादरा के बीच मे सिरोडी से दक्षिण मे १ कोस और हणादरा गाव से उत्तर में दो कोस पर पालडी गांव में सं० १७९७ मे जन्म, सं० १८१४ में नर्मदा तट पर सिनोर में दीक्षा, उसी वर्ष सूरि-पद, सं० १८५८ में सूरत मे स्वर्ग-गमन ।

६८ आचार्य श्री विजयदेवेन्द्रसूरि –

सूरत मे जन्म, स० १८५७ में आचार्य-पद बड़ौदा में, अहमदावाद में सं० १८६१ में स्वर्गवास ।

६९ आचार्य श्री विजयमहेन्द्रसूरि –

भीनमाल मे जन्म, सं० १८२७ में आमोद में दीक्षा, सं० १८६१ भट्टारक-पद, सं० १८६५ में स्वर्गवास ।

७० आचार्य श्री विजयसमुद्रसूरि –

गोढवाड[१] मे कवला गात्र मे जन्म, पोरवाड़ जातीय, पितृनाम हरनाथ, मातृनाम पूरी की कुक्षि से जन्म, आचार्य-पद स० १९८० में पूना मे ।



१. सोहम्म कुल पट्टावली में कवि दीपविजयजी ने कवला गाव गोढाए अर्थात् गोढ़वाड मे होना लिखा है, परन्तु कवला गोडवाड़ मे न होकर शिलावटी में है, भूति से एक कोस उत्तर मे ।

विजयानन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (२)

६० विजयसेनसूरि –

६१ विजयतिलकसूरि –

विशल नगर मे जन्म, जाति पोरवाड, पिता नामदेवजी, माता जयवती, हीरविजयसूरि के प्रतिबोध से दीक्षा ली। वड-गच्छ के भट्टारक विजयसुन्दरसूरि के वासक्षेप से सिरोही मे स० विजयसेनसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित किया, १६७६ मे स्वर्गवासी हुए।

६२ विजयानन्दसूरि –

रोहिडा नगर मे जन्म। पोरवाल जातीय, पितृनाम श्रीवन्त, मातृनाम सिणगारदे, श्री विजयहीरसूरि के उपदेश से ६ लोगो के साथ स० १६५१ के वर्ष मे दीक्षा, उपाध्याय सोमविजयजी से शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया, आचार्य विजयतिलकसूरि ने विजयानन्दसूरि को सिरोही मे १६७६ मे सूरि-पद दिया, स० १७१७ मे, मतान्तर से १७११ में स्वर्गवासी हुए।

६३ विजयराजसूरि –

कडी गांव मे स० १६७९ मे जन्म, पिता का नाम खीमा, ज्ञाति श्रीमाली, माता गमनादे, १६८९ मे विजयानन्दसूरि के पास दीक्षा, १७०३ मे सिरोही मे सूरि-पद और सं० १७४२ मे स्वर्ग।

६४ विजयमानसूरि –

नगर बुरहानपुर के, जाति से पोरवाल, पिता वागजी, माता वीरमदे, जन्म सं० १७०७ में, दीक्षा सं० १७१७ में दो भाइयों के साथ, सं० १७३६ मे सिरोही में आचार्य-पद, १७४२ मे भट्टारक-पद, सं० १७७० में स्वर्गवास।

६५ विजयऋद्धिसूरि –

आबू के समीपवर्ती थाणा गांव के, वीसा पोरवाल, पिता नाम जसवत, माता नाम यशोदा, सं० १७२७ मे जन्म, विजयमानसूरि के पास स० १७४२ मे दीक्षा, स० १७६६ में सिरोही में सूरि-पद, सं० १७९७ में स्वर्ग-गमन, मतान्तर से १८०६ मे स्वर्गवास।

६ विजयसौभाग्यसूरि –

विजयप्रतापसूरि –

विजयसौभाग्यसूरि का जन्म-स्थान पाटन, जाति ओसवाल, १७९५ मे सादड़ी मे सूरिपद, स० १८१४ में सिनोर में स्वर्ग-गमन।

६७ विजयउदयसूरि –

जन्म-स्थान गाव वाकली, सूरिपद मुण्डारा मे, सं० १८५९ में, पाली में स्वर्गवास।

६८ विजयलक्ष्मीसूरि –

स० १७९७ मे जन्म हणादरा समीपवर्ती पालडी में, पिता का नाम हेमराज, माता आनन्दीवाई, दीक्षा स० १८१४ में सिनोर मे, सं० १८५९ में भट्टारक-पद और इसी वर्ष मे स्वर्गवास।

६९ विजयदेवेन्द्रसूरि –

सूरत मे जन्म, १८५७ मे वड़ोदे मे गच्छाधिपति-पद और सं० १८६१ में राजनगर में स्वर्गवास।

७० विजयमहेन्द्रसूरि –

जन्म-स्थान भीनमाल, जाति ओसवाल, सं० १८२७ में आमोद में दीक्षा, स० १८६३ में विजापुर में स्वर्गवास।

७१ विजयसुरेन्द्रसूरि (समुद्रसूरि)

७२ धनेश्वरसूरि



विजयआनन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (३)

६०	तत्पट्टे	श्री	विजयसेनसूरि
६१	,,	,,	विजयतिलकसूरि
६२	,,	,,	विजयानन्दसूरि
६३	,,	,,	विजयराजसूरि
६४	,,	,,	विजयमानसूरि
६५	,,	,,	विजयऋद्धिसूरि
६६	,,	,,	विजयसौभाग्यसूरि
			विजयप्रतापसूरि – जन्म गांव वांकली ।
६७	,,	,,	विजयउदयसूरि
६८	,,	,,	विजयलक्ष्मीसूरि – आबू के परिसर में जन्म, गांव पालडी में ।
६९	,,	,,	विजयदेवेन्द्रसूरि (महेन्द्रसूरि)
७०	,,	,,	सुरेन्द्रसूरि (समुद्रसूरि)
७१	,,	,,	धनेश्वरसूरि
७२	,,	,,	विद्यानन्दसूरि
७३	,,	,,	गुणरत्नसूरि ।



विजयानन्दसूरि - शाखा की पट्टावली (१)

६०	तत्पट्टे	श्री	विजयसेनसूरि	
६१	,,	,,	विजयतिलकसूरि	
६२	,,	,,	विजयानन्दसूरि	
६३	,,	,,	विजयराजसूरि	
६४	,,	,,	विजयमानसूरि	
६५	,,	,,	विजयऋद्धिसूरि	
६६	,,	,,	विजयप्रतापसूरि	} दोनों भाई थे ।
६७	,,	,,	विजयसौभाग्यसूरि	
६८	,,	,,	विजयउदयसूरि	
६९	,,	,,	विजयलक्ष्मीसूरि	
७०	,,	,,	विजयमहेन्द्रसूरि	
७१	,,	,,	विजयसुरेन्द्रसूरि	



१. विजयप्रताप और विजयसौभाग्य दोनो म[illegible]र एक ही थे । यही कारण है कि अन्य पट्ट-परम्परा लेखको ने एक नम्बर बढ़ाया है, पर प्रकृत मे नही बढ़ाया ।

तपागच्छ-सागरशाखा-पट्टावली (१)

५८ हीरसूरि
५९ विजयसेनसूरि
६० राजसागरसूरि
६१ वृद्धिसागर
६२ लक्ष्मीसागर
६३ कल्याणसागर
६४ पुण्यसागर
६५ उदयसागरसूरि
६६ आनन्दसागरसूरि
६७ शान्तिसागरसूरि



सागरगच्छीय-पट्टावली (२)

५३ आचार्य लक्ष्मीसागरसूरि

५४ उपाध्याय विद्यासागर गणि

५५ उपाध्याय धर्मसागर गणि – नाडोल मे जन्म, स० १५९५ मे १६ वर्ष की उम्र मे श्री दानसूरि के हाथ से दीक्षा, स० १६५३ मे स्वर्गवास।

५६ उपाध्याय – लब्धिसागर के शिष्य नेमिसागर और नेमिसागर के शिष्य मुक्तिसागर, उपाध्याय मुक्तिसागरजी को नगर सेठ शान्तिदास ने स० १६७९ मे आचार्य विजयदेव-सूरि के वासक्षेप से उपाध्याय-पद दिया और १६८६ मे उक्त आचार्य के ही वासक्षेप से अहमदाबाद मे आचार्य-पद दिया गया, इनकी पट्ट-परम्परा नीचे मुजब चली।

५९ आचार्य विजयसेनसूरि

६० आचार्य राजसागरसूरि – राजसागर, उपा० लब्धिसागर के शिष्य; उपा० नेमिसागर के छोटे भाई तथा शिष्य थे। इनका जन्म स० १६३७ मे सिपोर मे हुआ था, इनका दीक्षा नाम मुक्तिसागर था। स० १६६५ मे पन्यास-पद, स० १६७९ मे वाचक-पद और स० १६८६ मे आचार्य-पद अहमदाबाद मे हुआ, नाम "राजसागरसूरि" प्रतिष्ठित किया था,

सं० १७२१ मे अहमदावाद मे स्वर्गवास, आचार्य राजसागरसूरि से "सागर" शाखा की पट्टावली चली है ।

६१ वृद्धिसागरसूरि – स्वर्गवास स० १७४७ मे अहमदाबाद मे ।

६२ लक्ष्मीसागरसूरि – स्वर्ग० स० १७८८ में सूरत मे ।

६३ कल्याणसागरसूरि – स्वर्ग० स० १८११ मे ।

६४ पुण्यसागरसूरि – सं० १८०८ मे आचार्य-पद ।

६५ उदयसागरसूरि –

६६ आनन्दसागरसूरि –

६७ शान्तिसागरसूरि – इन्होने स० १९२९ मे "तिथिक्षय वृद्धि" के सम्बन्ध मे हेण्डविल प्रकाशित करवाये थे ।



सागरगच्छ के प्रारम्भिक आचार्यों का नाम-क्रम (३)

६०	तत्पट्टे	श्री	हीरविजयसूरि
६१	,,	,,	विजयसेनसूरि
६२	,,	,,	राजसागरसूरि
६३	;,	,,	ऋद्धिसागरसूरि
६४	,,	,,	लक्ष्मीसागरसूरि
६५	,,	,,	कल्याणसागरसूरि
६६	,,	,,	पुण्यसागरसूरि

सोहम्मकुल पट्टावली रास के आधार से विजयदानसूरि का सं० १६२२ मे वटपद्र मे स्वर्गवास।

५८ राजविजयसूरि को विजयदानसूरि ने अन्त मे गच्छ सम्भालने के लिए लिखा, पर उन्होने प्रत्युत्तर मे लिखा कि दूसरा पट्टधर स्थापन करियेगा।



परिशिष्ट (१)

तपागच्छ की लघु-अपूर्ण पट्टावलियाँ

हमारे पास की एक हस्तलिखित लघु तपागच्छीय पट्टावली, जो सुमतिसाधुसूरि के समय की लिखी हुई है, उसमे लिखी हुई कतिपय बातें उल्लेखनीय होने से टिप्पन के रूप मे यहाँ दी जाती है।

इस लघु पट्टावली मे ३१वे पट्टधर श्री यशोदेवसूरि के बाद श्री प्रद्युम्नसूरि और मानदेवसूरि को नही लिया, सीधा विमलचन्द्र, उद्योतन और सर्वदेवसूरि का नाम लिखा है और सर्वदेव के बाद अजितदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, सोमप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, अजितसिंहसूरि, विजयसेनसूरि और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखा है। मणिरत्नसूरि के पहले के ६ नामो मे कुछ गडबड़ हुआ प्रतीत होता है।

उद्योतनसूरि के नाम के बाद दिये हुए टिप्पन मे विक्रम स० १००८ मे पौषधशालाओ में ठहरने का कारण हुआ, ऐसा उल्लेख किया है।

श्री सुमतिसाधुसूरि का नाम लिखने के बाद टिप्पन मे लिखा है·

"तेषां शिष्याः श्री हेमविमलसूरयः सम्प्रति विजयन्ते"।

हमारी एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली में श्री यशोभद्रसूरि के बाद ४०वां मुनिचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, नेमिचन्द्र का नाम नही लिखा। आगे अजितदेव नामक ४१वे पट्टधर से ६६वे पट्टधर श्री विजयजिनेन्द्रसूरि तक के नाम लिखे मिले हैं।

स० १८५६ के भाद्रवा सुदि ३ की लिखी हुई एक लघु पट्टावली मे पट्टक्रम निम्न प्रकार का है :

यशोभद्र के वाद सभूतविजयजी का नाम लिख कर उनके पट्टधर स्थूलभद्रजी को लिखा है, भद्रवाहु का नाम नही दिया।

उद्योतन और सर्वदेवसूरि के नाम लिख कर देवसूरि का ३८वा नम्बर खाली रक्खा है और दूसरे सर्वदेवसूरि का नाम न लिख कर ३९वें पट्ट पर यशोभद्रसूरि को लिखा है। विजयसिंहसूरि के वाद सोमप्रभ का नाम न लिख कर मणिरत्न को ४८वा पट्टधर लिखा है। ५३वें पट्टधर मुनिसुन्दरसूरि के नाम के वाद सीधा लक्ष्मीसागरसूरि का ५४वा नाम लिखा है, रत्नशेखर का नाम छूट गया है।

विजयसेनसूरि के वाद विजयतिलकसूरि की पट्टावली दी है।

एक चौथी हमारी हस्तलिखित लघु पट्टावली, जिसमे २० आचार्यो का पट्टक्रम नही है और बाद में विजयदेवेन्द्रसूरि तक की पट्टावली व्यवस्थित है, आगे का पाट-क्रम का भाग नही मिला।

यशोदेवसूरि के वाद प्रद्युम्नसूरि तथा उपधान ग्रन्थकार मानदेवसूरि के नाम लिख कर इस पट्टावली मे सीधा विमलचन्द्रसूरि का नाम लिखा गया है।

उद्योतनसूरि के पट्टधर श्री सर्वदेवसूरि का नाम लिख कर सीधा अजितदेव, विजयसिंह, सोमप्रभ, मुनिचन्द्र, अजितसिंह, विजयसेन और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर श्री जगच्चन्द्रसूरि को ४३वा पट्टधर लिखा है, इन नामो मे भी खासी गड़वड़ी हुई है।

इस पट्टावली मे विजयसेनसूरि के समय मे विक्रम स० १२०१ मे चामुण्डिक गच्छ, स० १२१४ मे आचलिक गच्छ, ११५९ मे पूर्णिमा पक्ष और सं० १२५० मे आगमिक गच्छ प्रकट होना लिखा है।

हमारी एक लिखित पट्टावली मे इन्द्रदिन्न के वाद सिंहगिरि का नाम दिया है। इसी तरह विक्रमसूरि के बाद नरसिंहसूरि का नाम नही

दिया। मालूम होता है कि दिन्न का नरसिंह नाम लेखक के प्रमाद से छूट गया है।

इसी प्रकार सर्वदेव के पट्टधर देवसूरि के बाद द्वितीय सर्वदेवसूरि का नाम न लिख कर यशोभद्रसूरि का नाम लिखा है, यह भी लेखक का प्रमाद है।

आ० मणिरत्नप्रभ के बाद फिर सोमप्रभ का नाम लिख कर फिर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखना तथा देवसुन्दरसूरि के बाद सोमसुन्दरसूरि का नाम न लिख कर मुनिसुन्दरसूरि का नाम लिखना, यह भी लेखक की प्रमाददशा का परिणाम है। यह पट्टावली किसी सागर की लिखी हुई है, क्योंकि विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री राजसागर, वृद्धिसागर, लक्ष्मीसागर, कल्याणसागर और पुण्यसागर को पट्ट-परम्परा मे माना है।



तपगच्छ पाट - परम्परा - स्वाध्याय

ले० : हर्षसागरोपाध्यायशिष्य

हर्षसाग० शिष्य लिखते है — **रविप्रभसूरि भीसमइ पाटित्र-विभ्रण जिनरंजइ वरसइ ग्यारसइसतिरइ कुमति मदभंजइ ॥**

ऊपर के उल्लेख से स्वाध्यायलेखक रविप्रभसूरि का समय ११९७ सूचित करते हैं जो विचारणीय है। स्वाध्याय-लेखक ने विजयदानसूरि के बाद श्री राजविजयसूरि का नाम लिखा है और उनको विजयदानसूरि का भावी पट्टधर लिखा है। लेखक ने अन्त मे सवत् भी दिया है, पर वह स्पष्ट रूप से जाना नही जाता। अन्तिम अक ६६ का होने से ज्ञात होता है कि यह स्वाध्याय १६६६ के वर्ष की कृति होनी चाहिए।

श्री तपगच्छीय - पट्टावली सज्झाय :

— कर्ता : मेघमुनि

इस स्वाध्याय का प्रारम्भ नीचे के पद्य से होता है .

गुरु परिपाटी सुरलता, मूल पवड्डण मीर।
शतसाखइ प्रसरइ घणु, जय जगगुरु महावीर ॥१॥

स्वाध्याय मे विजयसेनसूरि तक पट्ट क्रम व्यवस्थित रूप से दिया है। स्वाध्याय के अन्त की निम्नोद्धृत गाथा मे लेखक ने अपना परिचय दिया —

जय तप गच्छ मंडण, कुमत खडण सहजकुशल पंडितवरो।
तस सीस पंडित माणिक्क कुशलो सकल साधु शोभा करो ॥

श्री पंडित मेहमुनोससीसि रची पाटपरंपरा ।
जे भविभावि भणस्यइ अनइ सुणस्यइ वरस्यइ सिद्धि स्वयवरी ॥३६॥

इति श्री पट्टावली सज्झाय समाप्त ।

हमारी एक लघु पट्टावली मे विजयदानसूरि को ५६वे पट्ट पर लिख कर ५७वें पट्ट पर श्री देवचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, फिर हीरविजयसूरि और विजयसेनसूरि के बाद विजयदेवसूरि का नाम न होने से ज्ञात होता है कि लेखक ने विजयदेवसूरि के बदले मे ही देवचन्द्रसूरि का नाम लिख दिया है। विजयसेन के बाद विजयसिंह, विजयप्रभ, विजयरत्न, विजय-क्षमा, विजयदया, विजयधर्म और विजयजितेन्द्रसूरि के नाम क्रम. लिखे गये हैं।

इसी पट्टावली मे उद्योतनसूरि के बाद सर्वदेवसूरि, देवसूरि और यशोभद्रसूरि के नाम लिखे हैं, द्वितीय सर्वदेवसूरि का नाम नही लिखा। यह पट्टावली भी किन्ही यतिजी के हाथ की लिखी हुई है।

हमारी एक तपागच्छीय पट्टावली है जो कल्पसूत्र के टबार्थ के अन्त मे लिखी हुई है। लेखक का नाम श्री खुशालचन्द्रजी, श्री भुवनचन्द्रगणि के शिष्य थे और संवत् १७८४ के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को जोधपुर में लिखी गई थी। पट्टावली का पट्टक्रम व्यवस्थित है।

तपा-पट्टावली – ५ पत्र की अपूर्ण है, श्री जगच्चन्द्रसूरि तक की पाट-परम्परा इसमे दी हुई है।

इसी पट्टावली के आर्य स्थूलभद्र के दीक्षा आदि का हिसाब निम्न ढग से दिया गया है –

३० वर्षान्ते दीक्षा, २० वर्ष श्रामण्य पर्याय, ५० वर्ष सूरिपद, ४६ वर्ष तक युग प्रधान पद भोगा।

देवसूरि के पट्टधर द्वितीय सर्वदेवसूरि को न लिखकर सीधा यशोभद्र-सूरि को बताया है।

विक्रमात् १२५० मे पूर्णमीया से आंचलीया बनकर देवभद्र और शीलभद्रसूरि ने आगमिक मत प्रकट किया।

स० ११४० वर्षे नवांगी वृत्तिकर्ता श्री अभयदेवसूरि और उनके पट्टधर जिनवल्लभसूरि कूर्चपुर गच्छीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य हुए और चित्रकूट ऊपर छ कल्याणको की प्ररूपणा की।

"पत्तने स्त्रीजिनपूजा उत्थापिता, सघभयेन उष्ट्रिकावाहनेन जावालिपुरे गतः तेन लोकैः औष्ट्रिक नाम दत्त ॥"

हमारी एक सवत् १८५० मे लिखी हुई भाषा पट्टावली जो विजयजिनेन्द्रसूरि के समय की लिखी हुई है, इस पट्टावली मे अनेक अज्ञानपूर्ण स्खलनाए दृष्टिगोचर होती है। जैसे सुधर्मा स्वामी की छद्मस्थावस्था ४२ वर्ष और केवली पर्याय १८ वर्ष का मानना।

प्रभव-स्थविर के युगप्रधान पर्याय के १४ वर्ष लिखना।

यशोभद्रसूरिजी का आयुष्य ६० वर्ष का लिखना।

स्थूलभद्रजी का आयुष्य ८० वर्ष का लिखना और उनका स्वर्गवास महावीरनिर्वाण से २५० मे मानना।

वज्रसेनसूरि का आयुष्य ६० वर्ष का लिखना।

जयानन्दसूरि के पट्टधर श्री रविप्रभसूरि को जिननिर्वाण मे ११६० मे मानना।

श्री हेमविमलसूरि के समय मे तपागच्छ के तीन फांटे पड़े। कमम-कलशा, कतकपुरा, वड़गच्छा ॥

स० १५६२ मे कडुआमत-गच्छ
स० १५७२ मे बीजामत-गच्छ
स० १५८२ मे पार्श्वचन्द्र गच्छ

श्री दानसूरि के समय में सागरमति-गच्छ निकला और स० १६६२ मे विजयदानसूरि का स्वर्गवास।

स० १६२६ में मेघजी ऋषि आदि ठाणा २७ ने आचार्य हीरसूरिजी के हाथ से दीक्षा ली।

स० १६६२ वर्षे आषाढ सुदि ११ को उनानगर मे विजयदेवसूरि का स्वर्ग० ॥

स० १६६५ वर्षे विजयआनन्दसूरि-गच्छ निकला ।

स० १८५० वर्ष मे कार्तिक सुदि ५ को यह पट्टावली प० कल्याण-सागर पठनार्थ लिखी गई है ।

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली मे आचार्य वज्रसेनसूरि का आयुष्य १२० वर्ष का लिखा ।

आचार्य सर्वदेवसूरि के पट्टधर देवेन्द्रसूरि लिखा है ।

आचार्य विजयदेवसूरि के समय मे राजनगर में सेठ शान्तिदास ने प्रत्येक मनुष्य को प्रभावना में एक-एक अंगुठी सोने की दी थी । सागरगच्छ की खुशी में ।

हमारी एक पट्टावली जो विजयदयासूरि पर्यन्त की पाट-परम्परा वाली है, उसमे आर्यवज्र का जन्म नि० ४९६ और स्वर्गवास जिननिर्वाण से ५०४ में लिखा है ।

आचार्य रविप्रभ के समय मे वीरनिर्वाण से ११९० मे श्री उमास्वाति वाचक हुए । आचार्य रत्नशेखरसूरि के समय मे स० १५३५ वर्षे लुकामत प्रकट हुआ । उस समय मे भाणा नामक व्यक्ति साधुवेश धारण करने वाला हुआ ।

इसी पट्टावली में आचार्य विजयसिंहसूरि की दीक्षा का वर्ष १६५१ और उपाध्याय-पद का १६७३ का वर्ष लिखा है ।

विजयप्रभसूरि का स्वर्गवास स० १७४९ लिखा है, दीव बन्दर मध्ये उचा गाव मे ।

विजयरत्नसूरि का पूर्व नाम जीतविजय था । माता-पिता भाई के साथ इनकी दीक्षा विजयप्रभसूरि के हाथ से हुई थी ।

विजयरत्नसूरि के चातुर्मास्यों के गांवों की सूची :

स० १७४९ मे भट्टारक-पद ।

१७३३ मे मेड़ता मे गुरु के साथ   १७४९ पुंजपुर

१७३४	स्वतन्त्र मेडता मे	१७५०	पाटरण
१७३५	सोजत	१७५१	सोहीगाम
१७३६	कुक्कुडेश्वर (मालवा)	१७५२	(द) साडा
१७३७	सीदरशी	१७५३–१७६३	अहमदाबाद मे बराबर ११ वर्ष रहे ।
१७३८	दवालीए		
१७३९	रतलाम	१७६४	उदयपुर
१७४०	माडवगढ	१७६५	मे कोठारीया
१७४१	,,	१७६६	सादडी
१७४२	रतलाम	१७६७	बासवाड़ा
१७४३	उदयपुर	१७६८	उदयनुर
१७४४	खमरणोर	१७६९	,,
१७४५	कोठारिया	१७७०	जोवपुर
१७४६	आसपुर	१७७१	वीजौवा
१७४७	बासवाडे	१७७२	सादडी
१७४८	डूगरपुर	१७७३	उदयपुर

आचार्य विजयक्षमासूरि के चातुर्मास्यों की सूची :

१७७४	कोठारीया	१७७९	पाटरण
१७७५	कीशनगढ़	१७८०	पालितारणा
१७७६	,,	१७८१	घोघाबन्दर
१७७७	उदयपुर	१७८२	दीवबन्दर
१७७८	पालनपुर	१७८३	,,

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली मे जो १७९० मे लिखी हुई है, आर्य स्थूलभद्र का गृहस्थ-पर्याय ३० वर्ष, व्रत पर्याय २० वर्ष, और ४९ वर्ष युगप्रधान-पर्याय के माने हैं ।

"वि० ११३५ वर्षे केचित् ११३९ वर्षे नवांगवृत्तिकारक श्री मदभय-देवसूरिः स्वर्गभाक् तथा कूर्चपक्षीय चैत्यवासि जिनेश्वरसूरिशिष्यो जिन-वल्लभनामा चित्रकूटे षष्ठकल्याणकप्ररूपणया विधिसंघो विधिधर्म इति

नाम्ना स्वमतं प्रकाशितवान् तेन प्रवचनात् वहिर्भूत । वि० ११४५ तथा ११५० सा प्ररूपणा संभाव्यते ॥"

इसी पट्टावली मे –

"वादिदेवसूरीणां वि० ११४३ जन्म, ११५२ व्रत, ११७४ सूरिपद, १२२६ स्वर्गोऽभूत् ॥"

"स० १२५० वर्षे पौर्णमियकांचलिकमतोत्थिताभ्या देवभद्र-शील-गुणाख्याभ्यां श्रीशत्रुञ्जयपरिसरे आगमिकमत प्रादुर्भूत ।"

"तथा च भीमपल्यां गुरुभिश्चतुर्मासकं कृतं, ज्ञानातिशयेन तद्भंग ज्ञात्वान्यपक्षीयैकादशाचार्यैर्निवारित्ता अपि चतुर्मासी प्रतिक्रम्य प्रथमकार्तिक-पक्षातेऽन्यत्र विहृताः ॥"

एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली मे विजयक्षमासूरि का जन्म पाली मे स० १७३२ मे, दीक्षा १७३६ मे, १७५६ मे पन्यास-पद, १७७३ भाद्रपद सुदि ८ को आचार्य-पद, माह सुदि ६ पदोत्सव उदयपुर मे ॥

एक हस्तलिखित पट्टावली मे आचार्य विजयरत्नसूरि का स्वर्ग-समय वि० स० १७७३ के भाद्रपद शुक्ला २ को लिखा है ।

आचार्य विजयक्षमासूरि का जन्म मेवाड प्रान्त मे, 'धावल नगर' मे हुआ ।

आ० विजयदयासूरि का सूरिपद मागलोर मे और १८०६ मे स्वर्गवास हुआ ।

आ० धर्मसूरि को आचार्य-पद १८०३ मे उदयपुर मे और १८४१ मे स्वर्गवास ।

विजयजिनेन्द्रसूरि को सूरि-पद १८४१ मे ॥

एक पट्टावली मे विजयरत्नसूरि का स्वर्ग १७७३ मे "भाद्रपद शु० २ मागलोर मे, स० १७८४ मे विजयदानसूरि को सूरि-पद और स्वर्गवास सुरत मे ।

विजयदेवेन्द्रसूरि का जन्म चिम्रावा नगर मे, सिरोही मे सूरि-पद और स्वर्गवास राधनपुर मे हुआ ।



१. विजय-संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

६१ आचार्य श्री विजयसिंहसूरि – स्वर्ग० १७०६ मे ।

६२ पं० सत्यविजयजी गणि –

६३ पं० कर्पूरविजयजी गणि – स्वर्गवास स० १७७५ मे ।

६४ पं० क्षमाविजयजी गणि – स्व० स० १७८७ मे ।

६५ पं० जिनविजयजी गणि – स्व० सं० १६१६ मे ।

६६ पं० उत्तमविजयजी गणि – स्व० सं० १८२७, (स० १८१८ मे भीखमजी ने १३ पथ चलाया।)

६७ पं० पद्मविजयजी गणि – स्व० १८६२ ।

६८ पं० रूपविजयजी गणि – स्व० म० १६१० ।

६९ पं० कीर्तिविजयजी गणि ।

७० पं० कस्तूरविजयजी गणि ।

७१ पं० मणिविजयजी गणि । (दादा) स्व० स० १६३५ ।

७२ पं० सिद्धिविजयजी गणि (सूरि) स्व० स० २०१६ ।

८३ मुनि श्री केसरविजयजी – जन्म स० १६१६ मे शेरगढ (मारवाड) मे दीक्षा स. १६३४ चारित्रोपसम्पद् स० १६६४ मे प० सिद्धविजयजी गणि के पास। स्वर्गवास स० १६७१ फाल्गुण सुदि २ (तखतगढ मे)



विमल-संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

(५६) आनन्दविमलसूरि
(५७) ऋद्धिविमलजी
(५८) कीर्तिविमलजी
(५९) वीरविमलजी
(६०) महोदयविमलजी
(६१) प्रमोदविमलजी
(६२) मणिविमलजी
(६३) उद्योतविमलजी
(६४) दानविमलजी
(६५) प० दयालविमलजी
(६६) ,, सौभाग्यविमलजी
(६७) ,, मुक्तिविमलजी (स्व० १९७४ मे)
(६८) आ० रगविमलसूरि (स० २००५ मे आचार्य-पद)



श्री पार्श्वचन्द्र गच्छ की पट्टावली (१)

श्री पार्श्वचन्द्र गच्छ के अनुयायी अपने गच्छ का अनुसन्धान श्री वादिदेवसूरि के साथ करते है। इनका कहना है कि वादिदेवसूरिजी ने चौवीस साधुओ को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया था। उनमे श्री "पद्मप्रभ" नामक आचार्य भी एक थे, जिनसे हमारी "नागपुरीयतपागच्छ" की परम्परा चली है। पार्श्वचन्द्र के अनुयायियो का उक्त कथन कहा तक ठीक है, इस पर हम टीकाटिप्पणी करना नही चाहते, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि इनके गच्छ के साथ लगा हुआ "तपागच्छ" यह विशेषण सूचित करता है कि यह अनुसन्धान बाद मे किया गया है। क्योकि "तपागच्छ" नाम के प्रवर्तक आचार्यश्री जगच्चन्द्रसूरि थे, और इनको यह पद स० १२८५ मे प्राप्त हुआ था। इससे इतना तो निश्चित है कि पद्मप्रभसूरि से "नागपुरीय तपागच्छ" शब्द का प्रचलन नही हुआ था। मालूम होता है, उपाध्याय पार्श्वचन्द्र का अपने गुरु के साथ वैमनस्य होने के बाद "पद्मप्रभसूरि" से अपना सम्बन्ध जोडकर वे स्वय उनकी परम्परा मे प्रविष्ट हो गये है।

वादिदेवसूरि के वाद पार्श्वचन्द्रीय अपनी पट्टपरम्परा निम्नलिखित बताते हैं –

४५	श्री पद्मप्रभसूरि	५१	श्री रत्नशेखरसूरि
४६	,, प्रसन्नचन्द्रसूरि	५२	,, हेमचन्द्रसूरि
४७	,, गुणसमुन्द्रसूरि	५३	,, पूर्णचन्द्रसूरि
४८	,, जयशेखरसूरि	५४	,, हेमहससूरि
४९	,, वज्रसेनसूरि	५५	,, लक्ष्मीनिवाससूरि
५०	,, हेमतिलकसूरि	५६	,, पुण्यरत्नसूरि
		५७	,, साधुरत्नसूरि (पार्श्वचन्द्र के गुरु)

श्री पार्श्वचन्द्रगच्छ नाम पड़ने के बाद –

५८ श्री पार्श्वचन्द्रसूरि १ – पार्श्वचन्द्र के प्रथम शिष्य आचार्य विजयदेव ने अपने गुरु उपाध्याय पार्श्वचन्द्र को आचार्य-पद दिया था।

पार्श्वचन्द्रसूरि का जन्म स० १५३७, हमीरपुर मे, दीक्षा १५४६, उपाध्याय-पद स० १५५४ मे, क्रियोद्धार स० १५६४ मे, आचार्य-पद स० १५६५ मे, स्वर्गवास स० १६१२ मे।

५९ श्री समरसूरि – स० १६२६ मे स्वर्गवास,
६० ,, राजचन्द्रसूरि
६१ ,, विमलचन्द्रसूरि
६२ ,, जयचन्द्रसूरि
६३ ,, पद्मचन्द्रसूरि
६४ ,, मुनिचन्द्रसू. द्वि.
६५ श्री नेमिचन्द्र
६६ ,, कनकचद्रसूरि
६७ ,, शिवचन्द्रसूरि
६८ ,, भानुचन्द्रसूरि
६९ ,, विवेकचन्द्रसूरि
७० श्री लब्धिचन्द्रसूरि
६१ ,, हर्षचन्द्रसूरि
७२ ,, मुक्तिचन्द्रसूरि

७३ श्री भ्रातृचन्द्रसूरि २ – का जन्म स० १९२० मे बडगांव (मारवाड), दीक्षा स० १९३५ मे वीरमगाव, क्रियोद्धार स० १९३७ मे, मांडल मे, आचार्य-पद १९६७ शिवगंज (मारवाड) स्वर्गवास १९७२ मे अहमदाबाद में।

७४ श्री सागरचन्द्रसूरि का जन्म सं० १९४३, दीक्षा १९५८ मे, आचार्य १९९३ मे, १९९५ मे स्वर्गवास।

७५ ,, मुनिवृद्धिचन्द्र



पार्श्वचन्द्र-गच्छ की लघु-पट्टावली (२)

१ श्री पार्श्वचन्द्रसूरि – स० १५७२ वर्षे नागपुरीय तपागच्छ से निकल कर सं० १५७५ में अपना मत प्रकट किया।
२ समरचन्द्रसूरि
३ राजचन्द्रसूरि
४ विमलचन्द्रसूरि
५ जयचन्द्रसूरि – स० १६६६ मे स्वर्गवास।
६ श्री पद्मचन्द्रसूरि – सं० १७४४ में स्वर्ग।
७ श्री मुनिचन्द्रसूरि – १७५० मे स्वर्ग।
८ श्री नेमिचन्द्रसूरि – १७९७ मे स्वर्ग।
९ श्री कनकचन्द्रसूरि –
१० श्री शिवचन्द्रसूरि – स० १८२३ मे स्वर्ग।
११ श्री भानुचन्द्रसूरि –
१२ विवेकचन्द्रसूरि
१३ श्री लब्धिचन्द्रसूरि –
१४ श्री हर्षचन्द्रसूरि स० १९१३ मे स्वर्ग।
१५ श्री हेमचन्द्रसूरि स० १९४० में स्वर्ग।
१६ श्री भ्रातृचन्द्रसूरि स० १९७२ मे स्वर्ग।
१७ श्री सागरचन्द्रसूरि स० १९९३ में स्वर्ग।



बृहद्-गच्छ गुर्वावली

१५ चन्द्रसूरि
१६ समन्तभद्र (अरण्यवासी)
१७ वृद्धदेवसूरि (उपसम्पदा समन्तभद्र द्वारा)
१८ प्रद्योतनसूरि
१९ मानदेवसूरि
२० मानतुंगसूरि
२१ वीरसूरि
२२ जयदेवसूरि
२३ देवानन्दसूरि
२४ विक्रमसूरि
२५ नरसिंहसूरि
२६ समुद्रसूरि
२७ मानदेव
२८ विबुधप्रभसूरि
२९ जयानन्दसूरि
३० रविप्रभसूरि (जिन्होने वि० संवत् ७१० मे नाडोल नगर मे चैत्यप्रतिष्ठा की)
३१ यशोदेवसूरि
३२ प्रद्युम्नसूरि
३३ मानदेवसूरि (योग और उपधान-विधिकारक)
३४ विमलचन्द्र (वि० ८२२ मे.)

३५ उद्योतनसूरि (लोकडीया वट के नीचे वि० ९९४ में ३०० शिष्य-परिवार के साथ अनेको को आचार्य-पद दिया ।)

३६ सर्वदेवसूरि

३७ रूपदेवसूरि

३८ सर्वदेवसूरि

३९ यशोभद्र और नेमिचन्द्रसूरि

४० मुनिचन्द्रसूरि (११७४ मे पट्टधर बनाया)

४१ वादी देवसूरि

४२ मानदेवसूरि

४३ हरिभद्रसूरि

४४ पूर्णचन्द्रसूरि

४५ नेमिचन्द्रसूरि

४६ श्री मयचन्द्रसूरि

४७ मुनिशेखरसूरि

४८ तिलकसूरि

४९ भद्रेश्वरसूरि

५० मुनीश्वरसुमणि-भट्टारक

५१ रत्नप्रभसूरि

५२ महेन्द्रसूरि

५३ रत्नाकरसूरि

५४ मेरुप्रभसूरि

५५ राजरत्नसूरि

५६ मुनिदेवसूरि

५७ रत्नशेखरसूरि

५८ पुष्यप्रभसूरि

५९ संयमराजसूरि

६० भावसूरि

६१ उदयराजसूरि

६२ भ० शीलदेवसूरि
६३ सुरेन्द्रसूरि
६४ प्रभाकरसूरि
६५ माणिक्यदेवसूरि
६६ दामोदरसूरि
६७ देवसूरि
६८ नरेन्द्रदेव



श्री ऊकेश गच्छीया पट्टावली

पार्श्वनाथ शिष्य –

१ गणधर श्री शुभदत्त

२ त० हरिदत्त

३ आर्य समुद्र

४ श्री केशी गणधर

५ स्वयम्प्रभसूरि

६ रत्नप्रभसूरि – वी० नि० ५२ मे आचार्य-पद, पार्श्वनाथ की प्रतिमा साथ मे लेकर दीक्षित हुए, वी० नि० ८४ में स्वर्गवास।

७

८ यक्षदेवाचार्य – मणिभद्र-यक्षप्रतिबोधकर्त्ता

९ कक्कसूरि

१० देवगुप्तसूरि

११ सिद्धसूरि

१२ रत्नप्रभसूरि

१३ यक्षदेव

१४ कक्कसूरि

१५ देवगुप्तसूरि

१६ सिद्धसूरि

१७ रत्नप्रभसूरि

१८ यक्षदेव वी० नि० से ५८५ में।

१९ कक्कसूरि
२० देवगुप्तसूरि
२१ सिद्धसूरि
२२ रत्नप्रभसूरि
२३ यक्षदेव
२४ कक्कसूरि
२५ देवगुप्तसूरि
२६ सिद्धसूरि
२७ रत्नप्रभसूरि
२८ यक्षदेव
२९ कक्कदेवसूरि
३० देवगुप्त
३१ सिद्धसूरि
३२ रत्नप्रभ
३३ यक्षदेव
३४ ककुददेव
३५ देवगुप्त – ५ उपाध्याय स्थापित किये, उनमे से जयतिलक उपाध्याय ने "शान्तिनाथचरित्र" बनाया ।
३६ सिद्धसूरि
३७ कक्कदेव
३८ देवगुप्त
३९ श्री सिद्धसूरि
४० कक्क
४१ देवगुप्त – सं० ९९५ के वर्ष मे हुए । वीणा बजाने में होशियार थे, जाति के क्षत्रिय होने से शिथिल हो गए, सो संघ ने पदभ्रष्ट किया और सिद्धसूरि को बिठाया ।
४२ सिद्धसूरि
४३ कक्कसूरि – पंचप्रमाणग्रन्थकर्त्ता ।

४४ श्री देवगुप्तसूरि – सं० १०७२ वर्ष में ।
४५ सिद्धसूरि – नवपदप्रकरण स्वोपज्ञ टीका कर्त्ता ।
४६ कक्कसूरि
४७ देवगुप्तसूरि
४८ सिद्धसूरि
४९ कक्कसूरि
५० देवगुप्तसूरि – स० ११०८ मे भीनमाल नगर मे पद-उत्सव शाह भैसाशाह ने किया ।
५१ सिद्धसूरि
५२ कक्कसूरि – स० ११५४ मे हुए । जिन्होने हेमसूरि और कुमारपाल के वचन से अपने पास से दयाहीन साधुओ को निकाल दिया ।
५३ देवगुप्तसूरि – जिन्होने एक लाख का त्याग किया ।
५४ सिद्धसूरि
५५ कक्कसूरि – जिन्होने स० १२५२ मे मरोट कोट प्रकट किया ।
५६ देवगुप्तसूरि
५७ सिद्धसूरि
५८ कक्कसूरि
५९ देवगुप्तसूरि
६० सिद्धसूरि
६१ कक्कसूरि
६२ देवगुप्तसूरि
६३ सिद्धसूरि
६४ कक्कसूरि
६५ देवगुप्त – देसलपुत्र सहजा, समरा ने विमलवसतिका उद्धार कराया स० १३७१ में । समरा के आग्रह से सिद्धसूरि ने शत्रुञ्जय के षष्ठ उद्धार मे आदिनाथ की प्रतिष्ठा की ।

६६ सिद्धसूरि — सं० १३३० मे वर्पी नगर से शाह देसल ने यात्रा की १४ बार, सिद्धसूरि प्रमुख सुविहित आचार्य साधुओ द्वारा तिलक कराया गया ।

६७ कक्कसूरि — स० १३७१ में सहजा ने पदमहोत्सव किया । इन कक्कसूरि ने "गच्छ-प्रबन्ध" बनाया जिसमे देसल के पुत्र समरा सहजा का चरित्र है ।

६८ देवगुप्तसूरि — श्री शाङ्गधर संघवी ने स० १४०९ मे दिल्ली मे इनका पदमहोत्सव दिया ।

६९ श्री सिद्धसूरि—सं० १४७५ मे पाटन मे शाह झाबा नीवागर ने इनका पदमहोत्सव किया ।

७० कक्कसूरि — सं० १४९८ मे चित्तौड मे शा० सारग सोनागर राजा ने पदमहोत्सव किया ।

७१ देवगुप्तसूरि — स० १५२८ में जोधपुर में मन्त्री जैतागर ने पद-महोत्सव किया, इन्होने ५ उपाध्याय स्थापित किये, उनके नाम — धनसार उपा०, उपा० देवकल्लोल, उ० पद्म-तिलक, उ० हसराज, उ० मतिसागर ।

७२ सिद्धसूरि — मन्त्री लोलागर ने स० १५६५ मे, मेडता मे पदमहोत्सव किया ।

७३ कक्कसूरि — जोधपुर मे स० १५९९ मे गच्छाधिप हुए, मन्त्री धर्मसिह ने पदमहोत्सव किया ।

७४ देवगुप्तसूरि — स० १६३१ मे सहसवीरपुत्र मन्त्री देदागर ने पद-महोत्सव किया ।

७५ सिद्धसूरि — स० १६५५ मे चैत्र सुदि १३ को विक्रमपुर मे पद-महोत्सव हुआ ।

७६ कक्कसूरि — स० १६८९ फाल्गुण सुदि ३ को पदमहोत्सव मन्त्री सावलक ने किया ।

७७ देवगुप्तसूरि — स० १७२७ मे ईश्वरदास ने पदमहोत्सव किया ।

७८ श्री सिद्धसूरि-स० १७६७ के मिगसर सुदि १० को मन्त्री सगतसिह ने पदमहोत्सव किया ।

७६ कक्कसूरि — सं० १७८३ मे आषाढ़ वदि १३ को मन्त्री दौलतराम ने पदमहोत्सव किया।

८० देवगुप्तसूरि — सं० १८०७ में मुहता दौलतरामजी ने पदमहोत्सव किया।

८१ सिद्धसूरि — सं० १८४७ में माह सुदि १० के दिन मुहता श्री खुशालचन्द्र ने पदमहोत्सव किया।

८२ श्री कक्कसूरि—सं० १८९१ वर्षे चैत्र सुदि ८ को पद हुआ, बीकानेर मे।

८३ श्री देवगुप्तसूरि—सं० १९०५ मे भाद्रवा सुदि १३ को पद हुआ, फलोदी मे समस्त मुहतों ने पदोत्सव करवाया।

८४ श्री सिद्धसूरि-सं० १९३५ के माघ कृष्ण ११ को पट्टाभिषेक हुआ, विक्रमपुर मे।



पौर्णमिक-गच्छ की गुर्वावली

— पं० उदयसमुद्र विरचित

१ चन्द्रगच्छ में चन्द्रप्रभसूरि
२ धर्मघोषसूरि
३ श्री देवभद्रसूरि
४ ,, जिनदत्तसूरि
५ शान्तिभद्रसूरि
६ श्री भुवनतिलकसूरि
७ ,, रत्नप्रभसूरि
८ ,, हेमतिलकसूरि
९ ,, हेमरत्नसूरि
१० ,, हेमप्रभसूरि
११ ,, रत्नशेखरसूरि
१२ ,, रत्नसागरसूरि
१३ ,, गुणसागरसूरि
१४ ,, गुणसमुद्रसूरि
१५ ,, सुमतिप्रभसूरि
१६ ,, पुण्यरत्नसूरि
१७ ,, सुमतिरत्नसूरि — सं० १५४३ के वैशाख सुदि ५ गुरुवार को आचार्य-पद।



अंचल-गच्छ की पट्टावली

३५ उद्योतनसूरि — इनसे बड़-गच्छ हुआ।

३६ सर्वदेवसूरि

३७ पद्मदेवसूरि

३८ उदयप्रभसूरि

३९ प्रभानन्दसूरि

४० धर्मचन्द्रसूरि

४१ विनयचन्द्रसूरि

४२ गुणसागरसूरि

४३ विजयप्रभसूरि

४४ नरचन्द्रसूरि

४५ वीरचन्द्रसूरि

४६ जयसिंहसूरि

४७ आर्यरक्षितसूरि — इनका जन्म सं० ११३६ मे आबु से नैऋत्य दिग्वर्ती १० माईल पर आये हुए आधुनिक "दत्ताणी" और प्राचीन "दन्ताणी" मे हुआ था। सं० ११४६ मे दीक्षा, ११५९ मे सूरि-पद, सं० ११६९ मे भालेज गाव मे फिर सूरि-पद और सं० १२२५ मे पावागढ मे स्वर्गवास। इन्होने २१ उपवास करके काली देवी का आराधन किया था और ११६९ मे ७० बोलो की ७० बातों का प्रतिपादन कर अपने समुदाय

का "विधिपक्ष" यह नाम रखा और सं० १२१३ मे इसका "अँचलगच्छ" यह दूसरा नाम पड़ा।

४८ जयसिंहसूरि

४९ धर्मघोषसूरि – सं० १२६८ मे स्वर्गवास, इन्होने "शतपदी" ग्रन्थ रचा।

५० महेन्द्रसूरि – इन्होने प्राकृत मे "तीर्थमाला", "शतपदी विवरण" और "गुरुगुणषट्त्रिंशिका" बनाई।

५१ सिंहप्रभसूरि – इनका सं० १२८३ मे जन्म, १२९१ मे दीक्षा, सं० १३०९ मे खम्भात मे आचार्य-पद, सं० १३१३ मे स्वर्गवास।

५२ अजितसिंहसूरि – जन्म १२८३ मे, १३१६ में आचार्य-पद जालोर मे, सं० १३३९ मे स्वर्गवास।

५३ देवेन्द्रसिंहसूरि – इनका जन्म सं० १२९९ मे, दीक्षा सं० १३१६, सं० १३२३ मे आचार्य-पद, १३७१ मे स्वर्गवास।

५४ धर्मप्रभसूरि – जन्म १३३१ मे, सं० १३५१ मे जालोर में दीक्षा, १३६९ मे आचार्य-पद, १३९३ मे आसोटी गांव मे स्वर्गवास।

५५ सिंहतिलकसूरि – सं० १३४५ मे जन्म, १३६१ मे दीक्षा, १३७१ मे आचार्य-पद, सं० १३९३ मे गच्छानुज्ञा और १४९५ मे स्वर्गवास।

५६ महेन्द्रप्रभसूरि – सं० १३६३ मे जन्म, १३७५ मे दीक्षा, १३९३ मे आचार्य-पद और १३९५ मे गच्छनायक, १४४४ मे स्वर्गवास शत्रुञ्जय पर।

५७ मेरतुंगसूरि – जन्म वि० सं० १४०३ मे, १४१८ मे दीक्षा, १४२६ सूरिपद, १४७३ मे स्वर्गवास।

५८ जयकीर्तिसूरि – जन्म सं० १४२३ मे, १४४४ मे दीक्षा, १४६७ मे सूरिपद, १४७३ मे गच्छनायक १५०० मे चापानेर नगर मे स्वर्गवास हुआ। उन्होने उत्तराध्ययन

टीका, क्षेत्रसमासटीका, संग्रहणीटीका आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की ।

५९ जयकेसरीसूरि – जन्म स० १४६१ मे, दीक्षा १४७५ मे, सूरिपद १४९४ मे, १५४२ मे राजनगर मे स्वर्गवासी हुए।

६० सिद्धातसागरसूरि – जन्म १५०६ में, १५२२ में दीक्षा, सं० १५४१ मे आचार्य-पद, स० १५४२ मे गच्छनायक-पद, १५६० में मांडलगढ़ में स्वर्गवास ।

६१ भावसागरसूरि – जन्म १५१० में, स० १५२४ मे दीक्षा, १५६० मे गच्छनायक-पद, वि० १५८३ मे खंभात मे स्वर्गवास ।

६२ गुणनिधानसूरि – वि० १५४८ में जन्म, १५६० में दीक्षा, १५८४ मे सूरिपद और गच्छनायक-पद स० १६०२ मे राजनगर मे स्वर्गवास ।

६३ धर्ममूर्तिसूरि – वि० स० १५८५ में जन्म, १५९९ मे दीक्षा, १६०२ में राजनगर मे सूरिपद और गच्छ-नायक-पद, १६७० मे स्वर्गवासी हुए ।

६४ कल्याणसागरसूरि– स० १६३३ मे जन्म, १६४२ में दीक्षा, वि० १६४९ में आचार्य-पद, १७१८ में स्वर्गवास ।

६५ अमरसागरसूरि – स० १६६४ में जन्म, १६७५ मे दीक्षा, १६८४ में आचार्य-पद, सं० १७६२ में स्वर्गवास ।

६६ विद्यासागरसूरि – १७३७ में जन्म, १७५६ मे दीक्षा, १७६२ मे आचार्य-पद और गच्छनायक-पद, १७९७ मे स्वर्गवास ।

६७ उदयसागरसूरि – जन्म १७६३ मे, दीक्षा १७७७ में, उपाध्याय-पद स० १७८३ में सं० १८२८ मे उदयसागरसूरिजी की आज्ञा से अचलगच्छ की पट्टावली का यह अनुसन्धान बनाया ।

६८ श्री कीर्तिसागरसूरि-सं० १७९६ मे जन्म, सं० १८९० में दीक्षा,

१८२३ में सूरिपद, १८३६ मे गच्छेश, १८४३ मे स्वर्गवास ।

६९ पुण्यसागरसूरि -- सं० १८१७ में जन्म, १८३३ मे दीक्षा, १८४३ मे आचार्य-पद सं० १८७० मे स्वर्गवास ।

७० श्री राजेन्द्रसागरसूरि–सं० १८९२ मे स्वर्गवास माडवी बन्दर ।

७१ श्री मुक्तिसागरसूरि–सं० १८५७ में जन्म, १८६७ मे दीक्षा, १८९२ मे आचार्य-गच्छनायक-पद, सं० १८९३ मे सेठ खीमचन्द मोतीचन्द ने शत्रुञ्जय पर टूक बधा कर ७०० जिनबिम्ब भरवाये थे, उन सब की अजनशलाका कर प्रतिष्ठा करवाई । सं० १९१४ मे स्वर्गवास ॥ अचल म्हांटी. पट्टा. पृ. ३७४.

७२ श्री रत्नसागरसूरि– १८९ में जन्म, दीक्षा १९०५ मे, १९१४ मे आचार्य-पद, १९२८ मे स्वर्गवास ।

७३ श्री विवेकसागरसूरि–जन्म सं० १९११ में, १९२८ मे आचार्य-पद १९४८ में स्वर्गवास ।

७४ भ० जिनेन्द्रसागरसूरि ।



पल्लिवालगच्छीय पट्टावली

श्री महावीर

१ सुधर्मस्वामी

२ जवू

३ प्रभव

४ शय्यम्भव

५ यशोभद्र

६ सभूतविजय और भद्रवाहु ।

७ स्थूलभद्र

८ आर्यमहागिरि और सुहस्ती, आर्य सुहस्ती वीर से २६१ वर्ष मे, और महागिरि २६३ वर्ष स्वर्ग ।

९ वहुलसहक् (वलिस्सह) वीर से ३२५ मे स्वर्ग ।

१० स्वाति, वीर से ३६१ मे स्वर्ग । तत्त्वार्थकर्ता ।

११ श्यामाचार्य प्रज्ञापनाकार, वी० ३७६ मे स्वर्ग ।

१२ साण्डिल्य – वीर से ३६६ मे स्वर्ग ।

१३ आर्यगुप्त

१४ वृद्धवादी

१५ सोमदेवसूरि – वीर से ५०७ वर्ष स्वर्ग ।

१६ नागदिन्नसूरि – वि० सं० ८७ वर्ष स्वर्ग ।

१७ नरदेवसूरि – वि० सं० १२५ मे स्वर्ग ।

१८ सूरसेनसूरि – वि० सं० १८७ मे चित्रकूट में स्वर्ग ।

१९ धर्मकीर्ति – वि० २१० मे स्वर्गवास

२० सुरप्रियसूरि

२१ धर्मघोषसूरि
२२ निर्वृतिसूरि
२३ उदितसूरि
२४ चन्द्रशेखरसूरि
२५ सुघोषसूरि – वि० स० ३९७ मे स्वर्गवास।
२६ महीधरसूरि – वि० ४२५ मे स्वर्गवास।
२७ दानप्रियसूरि
२८ मुनिचन्द्रसूरि
२९ दयानन्दसूरि – वि० ४७० मे स्वर्गवास।
३० धनमित्रसूरि – वि० ५१२ मे स्वर्गवास।
३१ सोमदेवसूरि – एक समय विचरते हुए मथुरा गये, वहीं पर अन्य ५०० साधुओ का समुदाय सम्मिलित हुआ है। उसमे देवर्द्धि गणि भी सम्मिलित है, देवर्धि ने सघ-सभा मे कहा – इस समय भी साधु अल्प-विद्यावान् अवहुश्रुत होगए हैं, तो भविष्य मे तो क्या होगा, इस वास्ते आप सब की सम्मति हो तो सूत्र पुस्तको पर लिखवा ले, देवर्द्धि का प्रस्ताव सबने स्वीकार किया। सर्व सूत्र पुस्तको पर लिख लिये गए, आज से विद्या पुस्तक पर हो यह सोचकर सब सूत्र पुस्तक भण्डार मे रक्खे। उसके वाद सोमदेवसूरि विक्रम सवत् ५२५ मे स्वर्गवासी हुए, पूर्वश्रुत का तब से विच्छेद हो गया।
३२ गुणाम्वरसूरि –
३३ महानन्दसूरि – महानन्दसूरि ने विद्यानन्द दिगम्बराचार्य को वाद मे जीता, महानन्द ने दक्षिणा-पथ मे भी विहार किया तथा "तर्कमजरी" की रचना भी की, विक्रम स० ६०५ में स्वर्गवासी हुए।

३४	सन्मतिसूरि –	उस समय अनेक मतभेदो का उद्भव हुआ, सामाचारियां भी भिन्न-भिन्न वनी और अनेक ग्रन्थो का निर्माण हुआ। आर्य सुहस्ती की परम्परा मे साधु शिथिलाचारी और चैत्यवासी हो गए थे और उनका प्रावल्य वहुत वढ गया था। सुधर्मा गणधर की खरी परम्परा को पालने वाले बहुत ही कम रह गये थे। उस समय सन्मतिसूरि विचरते हुए भीनमाल नगर गए, वहा पर सोमदेव के पुत्र इन्द्रदेव को प्रतिवोध देकर सयम दिया। वह विद्या का पारगत हुआ, सन्मतिसूरि विक्रम सं० ६७० के वर्ष देवलोक प्राप्त हुए।
३५	इन्द्रदेवसूरि	
३६	भट्टस्वामी	
३७	जिनप्रभाचार्य –	इन्होने कोरण्टक गाव मे महावीर चैत्य मे प्रतिष्ठा की, वहा से देवापुर मे भी जिनप्रतिष्ठा की और वि० ७५० मे स्वर्गवासी हुए।
३८	मानदेवाचार्य –	उग्रविहार से विचरते हुए नाडोलनगर आए। मानदेव वहुधा निर्वृति मार्ग की प्ररूपणा किया करते थे। इसलिये लोगो मे वे निर्वृति आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। वे जहा विचरते वहा रोगादि उपद्रव नही होते थे। इसलिये लोग उनको युगप्रधान भी मानते थे। उन्होने उपदेश देकर अनेक श्रीमाल ब्राह्मणो को जिनधर्म के अनुयायी वनाये थे। एक पल्लिवाल ब्राह्मण सरसणा गाव का रहने वाला, जो देवपाठी था, आचार्य की महिमा सुनकर प्रव्रजित हुआ। उसने "सन्मतितर्क" शास्त्र का निर्माण किया। निर्वृति आचार्य वि० सं० ७८० के वर्ष मे देवलोक प्राप्त हुए।

३९ सरवणाचार्य – जो निर्वृति आचार्य के शिष्य थे, निर्वृतिकुल के थोड़े से साधुओ के साथ विहार करते थे। एक दिन रात्रि के समय शूलरोग से कालधर्म प्राप्त हुए। उनमे शिष्य अव आचार्य की इच्छा करते हैं, परन्तु पाट के योग्य कौन है ? इसका निर्णय न होने से वे निराश रहते, अन्यथा वहां कोटिक गण के जयानन्दसूरि आये, उन्होने उनको आश्वासन दिया और कहा—तुम्हारे मे सूर योग्य है, साधुओ ने कहा – "आप इन्हे आचार्य-पद पर स्थापन करिये," उन्होने सूर को आचार्य-पद देकर "सूराचाय" बनाया, सर्व साधुओ ने उनको माना। गच्छ की वृद्धि हुई, जयानन्दसूरि और सूराचार्य दोनो साथ-साथ मे विचरते थे, परस्पर बड़ी प्रीति थी।

४० सूराचार्य – एक समय इस देश मे दुष्काल पडा, तब दोनो आचार्य मालव देश गए और वहा पर जुदे-जुदे समुदयो के साथ विचरने लगे। सूराचार्य ने महेन्द्रनगर मे चतुर्मास्य किया। जयानन्दसूरि ने उज्जैनी मे चातुर्मास्य किया। वहां पर जयानन्दसूरि का स्वर्गवास हो गया। सूराचार्य जयानन्दसूरि के स्वर्गवास के समाचार सुनकर शोकाकुल हुए, उनके शिष्य देल्लमहत्तर ने कहा – गृहस्थ की तरह शोक करना साधु के लिये उचित नही, सूराचार्य ने भी अपने पट्ट पर देल्लमहत्तर को स्थापन कर आप तपस्या करने लगे, तीन-तीन उपवास के पारणे मे आयम्बिल करते हुए, सब पदार्थ अनित्य मानते हुए उज्जैनी मे ही अनशन करके देवलोक पधारे।

४१ देल्लमहत्तर – देल्लमहत्तराचार्य मालवा से विचरते हुए भीनमाल आए, उस समय भीनमाल मे सुप्रभ नामक एक वेदपारग ब्राह्मण रहता था। उसका दुर्ग नामक पुत्र नास्तिक था, जो परलोकादि कुछ नही मानता था। आचार्य देल्लमहत्तर ने उसको प्रतिबोध दिया और दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया, वह निर्मल चारित्र पालता हुआ विचरने लगा। उस समय गानपुर नामक गाव मे एक सुखपति नामक क्षत्रिय रहता था। उसके एक पागल पुत्र था, क्षत्रिय ने आचार्य को कहा – मेरे पुत्र का पागलपन मिटाइये, जो मेरे पुत्र का पागलपन मिटाएगा, उसको शासन दू गा। आचार्य ने कहा – पागलपन तो मिटाऊँगा, परन्तु उसको दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाऊँगा, मजूर हो तो कहो, क्षत्रिय ने स्वीकार किया। आचार्य ने विद्या-प्रयोग से उसका ग्रथिलपन मिटाया, वह बिल्कुल अच्छा हो गया। बाद मे उसको प्रतिबोध देकर दीक्षित किया, क्रमशः शास्त्राध्ययन करके वह विद्वान् हुआ। आचार्य देल्लमहत्तर ने अपने दोनो शिष्यो को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया, बाद मे वे स्वर्गवासी हो गये।

४२ **दुर्गस्वामी, गर्गाचार्य–** दुर्गस्वामी और गर्गाचार्य विचरते हुए श्रीमाल नगर गए, वहा पर एक धना नामक सेठ जैन श्रावक रहता था। उसके घर पर सिद्ध नामक राजपुत्र था। उसको गर्गाचार्य ने दीक्षा दी, वह अतिशय बुद्धिमान तर्कशील था। एक बार उसने अपने गुरु से पूछा, – इससे अधिक या इसके

आगे तर्क-शास्त्र है या नही ? दुर्गाचर्य ने कहा— बौद्ध मत मे इससे भी अधिक तर्क-शास्त्र है। सिद्ध वहा जाने को तैयार हुआ, गर्गर्षि ने कहा, बौद्धो के विद्यापीठ मे जाने से श्रद्धाभग हो जायगी। उसने कहा—कुछ भी हो मैं आपके पास वापिस आ जाऊँगा। वह गया और श्रद्धाहीन बनकर लौटा। दुर्गाचार्य ने बोध देकर फिर श्रद्धालु बनाया, फिर वह वहा गया, फिर आया, दुर्गाचार्य उसको प्रतिबोध देकर ठिकाने लाये, तो फिर बौद्ध विद्यापीठ मे गया, इस प्रकार बार-बार गमनागमन से तंग आकर गर्गाचार्य ने जयानन्दसूरि के परम्परा-शिष्य श्री हरिभद्राचार्य जो उस समय सबसे श्रेष्ठ श्रुतधर थे, बौद्धमत के ज्ञाता और बुद्धिमान थे, उन्हे विज्ञप्ति की कि सिद्ध ठहरता नही है। हरिभद्र ने कहा – कुछ भी उपाय करूगा। सिद्ध आया, समझाया, पर ठहरता नही है, कहता है मैं अध्यापक आचार्य को वचन देकर आया हू। सो एक बार तो उनके पास जाऊँगा, तब आचार्य हरिभद्र ने "ललित-विस्तरा" वृत्ति की रचना कर गर्गाचार्य को दी और वे स्वय अनशन कर परलोक प्राप्त हुए। कालान्तर से सिद्ध वापस आया, गर्गाचार्य ने "ललितविस्तरा" उसको पढ़ने के लिये दी। सिद्ध भी उसे पढकर आर्हत मत का रहस्य समझा, बोला "अइपडिओ हरिभद्दगुरू" हरिभद्र गुरु सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं, जैन धर्म मे वह दृढ हो गया और आत्मा को धर्म-भावना से वासित करता हुआ, कठोर तप करता हुआ विचरने लगा।

४३ श्रीषेण, सिद्धाचार्य— आचार्य दुर्गस्वामी वि० सं० ९०२ मे परलोक=

वासी हुए, उनका शिष्य श्रीपेण आचार्य-पद पर था। गर्गाचार्य भी वि० स० ९१२ मे कालगत हुए। गर्गाचार्य के पट्ट पर सिद्धाचार्य और श्रीपेणाचार्य दोनो आचार्य इस प्रदेश मे विचरते थे, कालान्तर मे श्रीपेणाचार्य मालव देश गए, वहा पर नोलाई मे धर्मदास श्रेष्ठी के पुत्र को दीक्षा दी, नगरसंघकारित जिनचैत्य मे प्रतिष्ठा की, सिद्धर्षि आचार्य वि० सं० ९६८ मे देवलोक प्राप्त हुए।

४४ धर्ममति – श्री सिद्धर्षि के पट्ट पर धर्ममति आचार्य हुए,

४५ नेमिसूरि – धर्ममति के पट्ट पर श्री नेमिसूरि हुए और उनके पट्ट पर सुव्रतसूरि हुए।

४६ सुव्रतसूरि – आचर्य सुव्रत के समय वहुतेरे गणभेद हुए, आचार्यो के आपस मे विवाद खडे हुए, अपने-अपने श्रावक-श्राविकाएं भी संगृहीत हुए, सुव्रतसूरि के शिष्य भी शिथिलविहारी हो गए। उनमे एक दिनेश्वर नामक साधु था, वह बड़ा पण्डित था, सुव्रतसूरि विक्रम सं० ११०१ मे देवलोक प्राप्त हुए।

४७ दिनेश्वरसूरि – उनके पट्ट पर दिनेश्वर उग्रविहारी हुए – महात्मा दिनेश्वरसूरि विहार करते पाटण गए और वहां महेश्वर जाति के वणिको को प्रतिवोध देकर जैन वनाया। दिनेश्वरसूरि के पट्ट पर महेश्वरसूरि हुए।

४८ महेश्वरसूरि – महेश्वरसूरि एक वार नाड़लाई गए, वहां पल्लिवाल ब्राह्मण रहते थे। उनको प्रतिवोध देकर श्रद्धावान् श्रावक किया, लोगो ने महेश्वरसूरि के श्रमण समुदाय का "पल्लिवाल गच्छ" यह नाम

किया, महेश्वरसूरि वि० स० ११५० मे परलोक वासी हुए, महेश्वरसूरि के पट्ट पर देवसूरि हुए।

४९ देवसूरि – देवसूरि ने सुवर्णगढ पर पार्श्वनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की, फिर महावीर के चैत्य पर सुवर्ण-कलश स्थापन करवाया। उस समय मे पौर्णमिक गच्छ आदि प्रकट हुए, देवसूरि भी १२२५ मे स्वर्गवासी हुए। उनके पट्ट पर न(?)देवसूरि हुए।

५० न(र?)देवसूरि – आचार्य नरदेवसूरि ने ज्योतिष शास्त्रो का निर्माण किया, और सोनगिरो को प्रतिबोध देकर जैन बनाया, जालन्धर तालाव के पास जिन-चैत्य की प्रतिष्ठा की, वि० स० १२७२ के वर्ष मे स्वर्गवासी हुए। इनके पट्ट पर कृष्णसूरि हुए। इनके पट्ट पर विष्णुसूरि और इनके पट्ट पर आम्रदेवसूरि

५१ कृष्णसूरि –

५२ विष्णुसूरि –

५३ आम्रदेवसूरि – आम्रदेवसूरि ने कथाकोशादि ग्रन्थो की रचना की, इनके पट्ट पर सोमतिलकसूरि, इनके पट्ट पर भीमदेवसूरि।

५४ सोमतिलकसूरि –

५५ भीमदेवसूरि – भीमदेव ने कोरटा गाव मे चैत्य की प्रतिष्ठा की, वि० स० १४०२ मे कालगत हुए। इनके पट्ट पर विमलसूरि हुए।

५६ विमलसूरि – विमलसूरि ने मेवाड देश मे उदयसागर की पाल पर चैत्य मे जिनबिम्ब की स्थापना करवाई।

५७ नरोत्तमसूरि – उनके पट्ट पर नरोत्तमसूरि वि० सं० १४९१ मे स्वर्गवासी हुए।

५८	स्वातिसूरि –	नरोत्तम के पट्ट पर स्वातिसूरि, इनके पट्ट पर हेमसूरि का १५१५ मे स्वर्गवास । इनके पट्ट पर हर्षसूरि ।
५९	हेमसूरि –	
६०	हर्षसूरि –	हर्षसूरि पौषधशाला मे रहने लगे, इनके पट्ट पर
६१	कमलचन्द्र –	भट्टारक कमलचन्द्र, कमलचन्द्र के पट्ट पर गुणमाणिक्य ।
६२	गुणमाणिक्य –	गुणमाणिक्य के पट्ट पर सुन्दरचन्द्र, इनका स्वर्ग-
६३	सुन्दरचन्द्र –	वास सं० १६७५ मे हुआ इनके पट्ट पर भ०
६४	प्रभुचन्द्र –	प्रभुचन्द्र विद्यमान हैं ।

॥ इति द्वितीय परिच्छेद ॥



तृतीय परिच्छेद

[खरतरगच्छ की पट्टावलियाँ]

खरतरगच्छ पट्टावली-संग्रह

(१) इस "पट्टावली-सग्रह" मे कुल ४ पट्टावलिया हैं, जिनमें प्रथम एक प्रशस्ति के रूप मे है। इसमे कुल सस्कृत पद्य ११० हैं और आचार्य जिनहंससूरि के समय मे बनी हुई है, किन्तु कर्ता का नाम नही दिया। जिनहंस का समय १५८२ विक्रमीय है तथा उसी वर्ष इसका निर्माण हुआ है। सामान्य मान्यता अर्वाचीन खरतरगच्छ की मान्यता के अनुसार है। जिन-जिन आचार्यों का समय दिया है, वह व्यवस्थित मालूम होता है।

(२) दूसरी पट्टावली गद्य सस्कृत मे है। इसका लेखक इतिहास से कोई सम्बन्ध नही रखता, केवल दन्तकथाओ को अव्यवस्थित रूप से लिखकर पट्टावली मान ली है। गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य को जिन-निर्वाण से ५०० वर्ष मे और जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण को ६८० मे लिख कर लेखक ने अपने अज्ञान का नमूना बता दिया है। इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यों के सम्बन्ध मे भी क्रम-उत्क्रम लिख कर पट्टावली को निकम्मा बना दिया है। यह पट्टावली वि० स० १६७४ मे बनाई गई है।

(३) इसमे आर्यवज्र स्वामी का जन्म जिननिर्वाण से ४९६ मे, दीक्षा ५०४ मे, ५८४ मे स्वर्गवास लिखा है।

इसमे निर्वाण से ५२५ मे शत्रुञ्जय का उच्छेद लिखा है और ५७० मे जावडशाह द्वारा इसका उद्धार होना लिखा है।

प्रज्ञापनाकार कालकाचार्य ३७६ मे और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य ४५३ मे होना लिखकर – "पुनस्तदैव श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणो जात." ऐसा लिखकर शीलाङ्काचार्य को इनका शिष्य लिखा है और शीलाङ्क के

समय मे ही हरिभद्रसूरि को बताया है। इस प्रकार समय की दृष्टि मे ठीक व्यवस्थित नही है।

आर्यवज्र के बाद इस पट्टावलीकार ने पट्टानुक्रम से १७ वज्रसेन, १८ चन्द्रसूरि, १९ समन्तभद्र, २० वृद्धदेवसूरि, २१ प्रद्योतनसूरि, २२ मानदेव, २३ मानतुङ्ग, २४ वीरसूरि, २५ जयदेव, २६ देवानन्द, २७ विक्रम, २८ नरसिंह, २९ समुद्र, ३० मानदेव, ३१ विबुधप्रभ, ३२, जयानन्द, ३३ रविप्रभ, ३४ यशोभद्र, ३५ विमलचन्द्र, ३६ देवसूरि, ३७ नेमिचन्द्र, ३८ उद्योतन और ३९ वर्धमान। इस प्रकार इसमे दी हुई पट्ट-परम्परा पहली तथा दूसरी पट्टावली से जुदा पडती है।

पहली, दूसरी और तीसरी पट्टावली आर्यसुहस्ती तक एक-क्रम बताती है, इसके बाद पहली मे सिंहगिरि, वज्र, आर्यरक्षित, दुर्बलिका पुष्यमित्र, आर्यनन्दि, रेवतिसूरि, ब्रह्मद्वीपिकसिंह, आर्यसमित, सण्डिल्ल, हिमवान्, नागार्जुनवाचक, गोविन्दवाचक, सम्भूति, दिन्न, लौहित्यसूरि, (पू)ष्यगणी, उमास्वाति-वाचक, जिनभद्र, वृद्धवादी सूरीन्द्र, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, देवसूरि, नेमिचन्द्र, उद्योतन, वर्धमान ये नाम क्रमश आए हैं।

तथा दूसरी मे आर्यसुहस्ती के बाद वज्र, कालिकाचार्य, गर्दभिल्ल० कालिकाचार्य, शान्तिसूरि, हरिभद्र, सण्डिल्लसूरि, आर्यसमुद्र, आर्यमगु, आर्यधर्म, आर्यभद्र, आर्यवयर, दुर्बलिका पुष्यमित्र, देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण, गोविन्दवाचक, उमास्वाति, देवेन्द्रवाचक, जिनभद्र गणी, शीलाङ्काचार्य, देवसूरि, नेमिचन्द्रसूरि, उद्योतन, वर्धमान। इस प्रकार प्रथम की तीन पट्टावलियो मे आर्य सुहस्ती तक पट्टक्रम मे ऐकमत्य है और बाद मे तीनो के तीन पन्थ जुदे पड़ते है, जो देवसूरि तक आकर तीनो मिल जाते है।

(४) चौथी पट्टावली उपाध्याय क्षमाकल्याणकजी ने विक्रम सं० १८३० मे बनायी है। इस पट्टावली का प्रारम्भ उद्योतनसूरि से किया है। उद्योतन, वर्धमान, जिनेश्वर, जिनचन्द्र, अभयदेव, जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनचन्द्र, जिनपति, जिनेश्वर, जिनसिंह, जिनप्रबोध, जिनचन्द्र और जिन-

कुशलसूरि तक की नामावलि पट्टक्रम से दी है और पहली, दूसरी, तीसरी पट्टावलियो मे भी उद्योतन के वाद इसी पट्टक्रम से आचार्यों की नामावलि मिलती है, परन्तु क्षमाकल्याणकजी की तरह जिनसिंह का नाम जिनेश्वर-सूरि के वाद मूलक्रम मे नही लिखा। इसके वाद के पट्टक्रम करीब मिलते-जुलते है, परन्तु देवसूरि के पहले के पट्टक्रम सभी भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखे गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन लेखको के सामने कोई एक प्रामाणिक पट्टावली विद्यमान नही थी।

इस पट्टावली-सग्रह के सम्पापक ने पट्टावलियो मे आने वाले पारस्परिक विरोधो की तरफ कुछ भी लक्ष्य नही दिया। इस प्रकार के ऐतिहासिक साहित्य के सम्पादन मे सम्पादक को वडी सतर्कता रखनी चाहिए।



खरतरगच्छ-बृहद्-गुर्वावली

— श्रीजिनपालोपाध्यायादिसंकलिता

"खरतरगच्छ पट्टावली-संग्रह" के बाद हम "खरतरगच्छ बृहद्-गुर्वावली" का अवलोकन लिख रहे है। यह गुर्वावली पूर्वोक्त प्रत्येक पट्टावली से बहुत बडी है। इसमे श्री वर्धमानसूरिजी से लेकर श्री जिन-पद्मसूरि तक के खरतरगच्छीय १३ आचार्यो के वृत्तान्त दिए गए हैं। लेखक की प्रारम्भिक महमगल प्रतिज्ञा नीचे लिखे मुजब है —

"वर्धमान जिन नत्वा, वर्धमान-जिनेश्वराः ।
मुनीन्द्र - जिनचन्द्राख्याभयदेवमुनीश्वराः ॥ १ ॥
श्रीजिनवल्लभसूरिः, श्रीजिनदत्तसूरयः ।
यतीन्द्रजिनचन्द्राख्य', श्रीजिनपतिसूरय. ॥ २ ॥
एतेषा चरितं किञ्चिन्मन्दमत्या यदुच्यते ।
वृद्धेभ्य श्रुत (वेत्तृभ्य) स्तन्मे कथयत श्रृणु ॥३॥"

लेखक कहते है — श्री वर्धमान जिन को नमस्कार कर श्री वर्धमान १, जिनेश्वर २, जिनचन्द्र ३, अभयदेव ४, जिनवल्लभ ५, जिनदत्त ६, जिनचन्द्र ७ और जिनपति ८, इन आचार्यो के चरित्र जो वृद्धो के मुख से सुने है, उन्हे मन्दमति के अनुसार कहता हू, हे शिष्य! मेरे कथन को तू सुन।

उपर्युक्त मगलाचरण और प्रतिज्ञावचन किसी सामान्य लेखक के हैं। जिनपालोपाध्याय जैसे विद्वान् के ये वचन नही हो सकते। दो आचार्यों के लिए बहुवचनान्त प्रयोग केवल भद्दा ही नही, भ्रान्तिजनक भी है, ऐसा

शब्द-प्रयोग आपने दो जगह किया है। ऊपर की प्रतिज्ञा में आठ आचार्यो के चरित्र लिखने की बात कही है, तब गुर्वावली के ५०वे पृष्ठ मे –

"इति श्रीजिनचन्द्रसूरि – श्री जिनपतिसूरि – **श्री जिनेश्वरसूरि सत्कसज्जनमनश्चमत्कारिप्रभावनावार्तानामपरिमितत्वेऽपि तन्मध्यवर्तिन्य: कतिचित् स्थूला: स्थूला वार्ता: श्रीचतुर्विधसंघप्रमोदार्थम् ।**

"ढिल्लीवास्तव्यसाधु - साहुलिसुत सा हेमाभ्यर्थनया ।
जिनपालोपाध्यायैरित्थं ग्रथिता: स्वगुरुवार्ता. ॥"

इसके बाद लेखक ने अपनी कृति के सम्बन्ध मे विद्वानो के सामने तीन श्लोको मे अपना आशय व्यक्त किया है और अन्त मे "उद्देशतोग्रथ (?) १२४ ॥" इस प्रकार अपनी कृति का श्लोक-परिमाण भी लिख दिया है। लिखे हुए श्लोक-परिमाण मे एक दूआ (२) रह गया है, वास्तव मे श्लोक-परिमाण १२२४ लिखना चाहिए था। मणिधारी जिनचन्द्र, जिनपति और स० १३०५ तक जिनेश्वरसूरि का चरित्र सम्मिलित करने से उक्त तीन चरित्रो का श्लोक-परिमाण १२२४ ही बैठता है। ये ढाई चरित्र जिनपालोपाध्याय की कृति मान ली जाय तो भी आचार्य वर्धमानसूरि से जिनदत्त तक के छ: गुरुओ के चरित्रो का लेखक तो जिनपाल से भिन्न ही ठहरेगा, यह निर्विवाद है।

अब यहा प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ मे लेखक ने आठ आचार्यो के चरित्र लिखने की प्रतिज्ञा की थी, अब छ: आचार्यो के ही वृत्तान्त लिख कर शेष जिनपाल उपाध्याय के लिए क्यो छोड दिये ? प्रश्न वास्तविक है और इसका उत्तर निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

प्रारम्भ के छ आचार्यो का वृत्तान्त सुमतिगणि कृत गणधर सार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति मे उपलब्ध होता है, उसको सामने रखकर प्रारम्भिक छ आचार्यो के वृत्तान्त किसी साधारण विद्वान् ने लिखे थे। उन वृत्तान्तो मे भी पिछले समय मे अनेक प्रक्षेप करके उन्हे विस्तृत बना लिया। जिस पुस्तक के ऊपर से प्रस्तुत बृहद् गुर्वावली छपी है, वह अनेक

प्रक्षिप्त पाठो से सवर्धित आदर्श था। कम प्रक्षेपो वाला आदर्श भी थोडा सा सम्पादक के हाथ लगा था, परन्तु वह प्रारम्भिक पाच पत्रो मे ही समाप्त हो गया था। उसके वाद की सारी गुर्वावली प्रक्षिप्त पाठो से सवधित है, प्रक्षेप भी शब्दो, वाक्यो के नही किन्तु पाच-पाच सात-सात पक्तियो से भी अधिक वडे है। यहा पर दो-चार उदाहरण देगे।

वर्धमान और जिनेश्वरसूरि के वृत्तान्त मे पालो मे सोमध्वज नामक जटाधर मिलने सम्बन्धी जो प्रकरण है वह सारा का सारा प्रक्षिप्त है, दूसरी किन्ही प्रतियो मे वह प्रकरण नही मिलता।

जिनवल्लभ गणि के वृत्तान्त मे उनके धारा नगरी मे जाने की वात प्रक्षिप्त है, क्योकि गुर्वावली के प्रत्यन्तरो मे यह वृत्तान्त उपलब्ध नही होता। इसके अतिरिक्त एक-दो और तीन-तीन पक्तियो के प्रक्षेपो की सख्या भी कम नही है, पदो तथा वाक्यो के प्रक्षेप तो वीसियो के ऊपर है। इन सब प्रक्षपो का अर्थ यही होता है कि प्रारम्भिक छ आचार्यो की गुर्वावली के पूर्वभाग मे पिछले लेखको ने अनेक नयी बाते जोड दी हैं। अब देखना यह है कि यह परिवर्तन किस समय मे हुआ होगा? इस सम्बन्ध मे भी हमने ऊहापोह किया तो यही ज्ञात हुआ कि अन्तिम आदर्श तैयार करने वाला विद्वान् विक्रम की पन्द्रहवी शती के पूर्व का नही हो सकता, क्योकि इसने कई शब्द तो मनस्वितापूर्वक बिगाड कर अपने साकेतिक शब्द बना दिये हैं, जैसे—"पुरोहित" शब्द का सर्वत्र "उपरोहित" "अनहिल" को सर्वत्र "अनघिल" बना दिया है। यह भी एक सूचक बात है, क्योकि अणहिल पाटन मे खरतरगच्छ के आचार्यो का विहार लगभग १०० वर्ष तक वन्द रहा था। व्यवहारी अभयकुमार की कोशिश से तेरहवी शताब्दी के लगभग मध्यभाग मे खरतर आचार्यो का पाटन मे जाना-आना फिर शुरु हुआ था। विक्रम संवत् १३६० मे पाटन मे मुसलमानों का अधिकार हुआ और नया पाटन बसा। उसके बाद खरतर-गच्छ का पाटन मे कायम के लिये स्थान नियत हुआ, जिसको वे "कोटड़ी" कहते थे। आज भी वह स्थान पाटन में "खराखोटड़ी" के नाम से विख्यात है।

प्रारम्भिक गुर्वावली का लेखक नये पाटन मे गया है और पाटन के अपने श्रावको की भक्ति को देखकर अणहिल पाटण को "अनघिल पाटन" अर्थात् "निष्पाप पाटन" नाम देने को प्रेरित हुआ है। यदि वह विहार-प्रतिबन्ध के समय दर्मियान पाटण में गया होता तो उसे पाटन को "अघिल पाटन" कहने का ही मन होता।

प्रारम्भिक वृहद्-गुर्वावली दूसरे भी अनेक कारणो से साधारण व्यक्ति की कृति सिद्ध होती है। इसमे प्रयुक्त अनेक अशुद्ध शब्दप्रयोग स्वय इसको सामान्य कृति सिद्ध कर रहे हैं। अभोहर, स्थावलक, दुर्लभराज, गुड्क, छुपन्तु, गण्डलक, छोटित, निरोप, आढती, उम्बरिका, पश्चाट्ठुकुरा, बिरदावली, आदि अलाक्षणिक शब्दो का प्रयोग करने वाला लेखक अच्छा विद्वान् नही माना जा सकता। गुर्वावली के प्राकृत भाग मे "पारुत्थ", 'पारुत्थ", "द्रम्भ" ये तीन सिक्को के नाम आए है, जिनमे प्रथम के दो नाम रजवाडी सिक्को के है और उत्तर तथा मध्यभारतीय रजवाडो के ये सिक्के थे। इनकी प्राचीनता प्रतिपादक कोई प्रमाण नही मिलता, इससे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त "सिक्के" विक्रम की १६वी शती के बाद के होने चाहिए।

गुर्वावली की आदर्श प्रति के प्रस्तुत पुस्तक मे जो दो पानो के ब्लोक दिए हैं, उनको देखने से ज्ञात होता है कि इसकी लिपि विक्रम की सोलहवी शती के पहले की नही हो सकती। क्या आश्चर्य है कि गुर्वावली के निर्मापक के हाथ का ही यह आदर्श हो, क्योंकि इस लिपि मे पडी मात्राओ के अतिरिक्त लिपि की प्राचीनता का कोई प्रमाण नही है।

अब रही मणिधारी जिनचन्द्र, जिनपति और जिनेश्वरसूरि के वृत्तान्त-लेखक की बात, सो गुर्वावली के पन्चानवे पृष्ठ मे किसी ने लिखा है कि "इस प्रकार जिनचन्द्र, जिनपति और जिनेश्वरसूरि के जीवनवृत्तान्त दिल्ली वास्तव्य साहुलिसुत साह हेमा की प्रार्थना से श्री जिनपालोपाध्यायजी ने ग्रथित किये" इसके आगे कहा गया है कि "लोकभाषा का अनुसरण करने वाली बाते सुबोध होती हैं। इसलिए कही-कही एक-वचन के स्थान बहुवचन भी लिखा

है और इसी सुगमता के लिए क्वचित् सन्ध्यभाव भी रखा गया है, ग्रन्थ की शुद्धि करने वाले सज्जनो को मेरी इन बातो को समझ लेना चाहिए ।"

लेखक ने जो कुछ ऊपर लिखा है, उससे उनकी यह कृति विरुद्ध जाती है । बहुवचन का अनुसरण करने तथा क्वचित् सधि न करने मे तो बालावबोध का ध्यान रखा पर पंक्तिया की पंक्तियां गद्य-काव्य की तरह लिखी उस समय बालावबोध का ध्यान छोड दिया, इसका कारण क्या है ? जहा तक हमारा अनुमान है श्री जिनपालोपाध्याय ने अपने गुरुओ का वृत्तान्त सक्षेप मे अवश्य लिखा होगा । परन्तु उनके देहान्त के बाद किसी डेढ पण्डित ने उसमे परिवर्तन करके बड़ा लम्बा चौडा प्रस्तुत वृत्तान्त गढ दिया है । इसमे आने वाले प्रद्युम्नाचार्य तथा ऊकेशगच्छीय पद्मप्रभाचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने की जो बाते लिखी हैं, वे एक कल्पित नाटक है, जिसके पढने से पाठक का सिर लज्जा से नीचा हो जाता है । जिनपालोपाध्याय जैसे विद्वान् इस प्रकार का लज्जास्पद नाटक लिखें यह असभव है । चर्चा-शास्त्रार्थ होना असम्भव नही और उसका वृत्तान्त लिखना भी अनुचित नही, परन्तु लिखने मे भी मर्यादा होती है, अपने मान्य पुरुष को आकाश मे चढाकर विरोधी व्यक्ति को पाताल मे पहुंचा देना, सभ्य लेखक का कर्त्तव्य नही होता ।

उपाध्याय जिनपाल की लेखपद्धति का मैंने अध्ययन किया है । "चर्चरी" "उपदेश रसायन रास" तथा "कालस्वरूप कुलक" की टीकाओं मे जिनपाल ने बडी खूबी के साथ जिनदत्तसूरि की बातो का प्रतिपादन किया है । उनके विरोधियो के सम्बन्ध मे लिखते हुए उन्होने एक भी कटु-वाक्य का तो क्या कटु शब्द का भी प्रयोग नही किया, ऐसे वाक्सयमी जिनपालोपाध्याय के नाम पर गुर्वावली का यह भाग चढाकर उनके किसी अयोग्य भक्त ने उनकी कुसेवा की है ।

व० सा० शब्द का "वश्याय" अथवा "वस्याय" सस्कृत रूप बनाने वाला लेखक विक्रम की पन्द्रहवी शती के बाद का है, क्योकि उनके टाइम मे "व" तथा "सा" अक्षरो के आगे के अपूर्णता सूचक शून्य हट चुके थे

और केवल "वसा" लिखने का प्रचार हो चुका था। इसी कारण से लेखक ने दोनो अक्षरो का "खरा तात्पर्य" न समझ कर "वश्याय" अथवा "वस्याय" रूप बना लिए जो बिल्कुल अशुद्ध है, इसमे लेखक सोलहवी शती तक की अर्वाचीन कोटि मे पहुँच जाता है, यह निस्सन्देह बात है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि का अन्तिम, जिनप्रबोधसूरि तथा जिनचन्द्रसूरि का सम्पूर्ण जीवन लिखने वाला लेखक नया प्रतीत होता है। इसके लेख मे संस्कृत भाषा सम्बधी अशुद्धिया तो विशेष दृष्टिगोचर नही होती, परन्तु लिपिगत और विशेष नामो के अज्ञान की अशुद्धिया जरूर देखी जाती हैं। इस भाग के लेखक को सोलहवी शती की लिपि को पढने का ठीक बोध नही था, इसी से "अगुलैकत्रिंशत्प्रमाण" इस शुद्ध सख्या को बिगाड कर "अगुलिकर्त्रिशत्प्रमाण" ऐसा "अशुद्ध रूप" बना दिया है। लेखक ने जिस मूल पुस्तक के आधार से गुर्वावली का यह भाग लिखा है, उस आधारभूत पुस्तक की लिपि पडी मात्रा वाली थी। एक मात्रा "ल" के पीछे और एक उसके उपर लगी हुई थी, परन्तु लेखक ने उसे ह्रस्व "लि" समझ कर "अगुलिक" बना लिया, छोटी बडी सभी मूर्तिया विषमागुल परिमित होती हैं, परन्तु लेखक को न शिल्प का ज्ञान था न प्राचीन लिपि पढने का बोध। परिणामस्वरूप यह भूल हो गई। इसी प्रकार विशेष नामो का परिचय न होने के कारण "काकन्दी को" "काक्कन्दी" "नालन्दा" को "नारिन्दा" आदि नाम दिए। इनके लेख मे द्रम्म के अतिरिक्त "जैथल" नामक सिक्के का चार बार उल्लेख आया है, ये उल्लेख हस्तिनापुर तथा मथुरा के स्तूप की यात्रा के प्रसंग पर हुए हैं, इससे जाना जाता है कि यह कोई उत्तर भारतीय देशी राज्य का सिक्का होना चाहिए।

प्राचीन सिक्को की नामावली मे "जैथल" का नाम न होने से यह भी कोई अर्वाचीन सिक्का ही मालूम होता है।

जिनचन्द्रसूरि का वृत्तान्त पूरा होने के बाद गुर्वावली का लेखक बदल जाने की झाकी होती है। लेखक की लेखन-पद्धति बदलने के साथ ही उसकी प्रकृति भी बदली हुई प्रतीत होती है, इस भाग का लेखक गृहस्थो

को प्रशसा की भरमार मे मर्यादा को लाघता है, विरोधी गच्छवालो के ऊपर हृदय की जलन निकाली जाती है – "निरवधिविधिमार्गदुष्टलोकमुखमालिन्यनिर्मापणमषीकूर्चकानुकारिणा, × × × सकलविपक्षहृदयकीलकानुकारिणी" इत्यादि वाक्यो मे लेखक ने अपने हृदय का जोश प्रकट किया है, चिण्ठका, रलिकचित्ता, प्रपाटी, शिलामय, पित्तलामय, भुवन, आदि अलाक्षणिक शब्दो का बार-बार प्रयोग करके अपने सस्कृतज्ञान का थाह बता दिया है। गृहस्थ भक्तो की लेखक ने किस प्रकार विरुदावलिया लिखी है, उनका हम एक नमूना उद्धृत करके पाठको की जिज्ञासापूर्ति करेंगे –

"ततः स० १३७६ वर्षे मार्गशीर्षवदि पचम्या नाना-नगर-ग्रामवास्तव्याऽसंख्यमहर्द्धिकसुश्रावकलोकमहामेलापकेन श्रीसाधर्मिकवत्सलेन श्रीजिनशासनप्रोत्सर्पणाप्रवीणेनोदारचरित्रेण दक्षदाक्षिण्यौदार्यधैर्यगाम्भीर्यादिगुणगणमालालकृतसारेण युगप्रवरागमश्रीजिनप्रबोधसूरिसुगुर्वनुजसाधुराजजाल्हण पुत्ररत्नेन स्वभ्रातृ – सा० रुदपालकलितेन साधुराजतेजपालसुश्रावकेण, × × × श्री भीमपल्लीसमुदायमुकुटकल्पेन सा० श्यामलपुत्ररत्नेनोदारचरित्रेन साधुवीरदेवेन ।" इत्यादि ।

यो तो सारी गुर्वावली अतिशयोक्तियो से भरी पडी है, फिर भी इसका अन्तिम भाग तो मानो एक उपन्यास-सा बन गया है। ऐतिहासिक कहे जाने वाले पट्टावली-गुर्वावली आदि साहित्य मे इस प्रकार की अतिशयोक्तियाँ और विस्तृत वर्णन कहा तक उचित माने जा सकते है, इसका पाठकगण स्वय विचार कर लेंगे।

आचार्य जिनकुशलसूरि के वृत्तान्त मे स० १३८० मे दिल्ली का राजा गयासुद्दीन होने की बात लिखी है। आचार्य जिनपद्मसूरि के समय मे स० १३९३ मे बूझरी के शासक को राजा के नाम से उल्लिखित किया है, इसी प्रकार हर एक आचार्य के विहार के प्रसग मे जहा इनके प्रवेश की धामधूम हुई है और ग्रामाधिपति उनके प्रवेश मे सन्मुख गया है, वहा प्रायः सर्वत्र जागीरदार को राजा अथवा महाराजा के नाम से ऊचे दर्जे चढाया है। पट्टावली के इस भाग मे बीसो स्थानों पर एक नये सिक्के का

उल्लेख किया गया है, जिसका नाम है "द्विवल्लकद्रम्म" अर्थात् "दो वाल भर का चादी का सिक्का," तीर्थयात्राओ के प्रसगो मे जहा-जहा 'इन्द्र' आदि वनने के चढावे बोले गए है, वे सभी इन्ही द्रम्मो के नाम से बोले गये हैं, एक रुपये के वाल ३२ होते हैं, इस हिसाब से दो वाल रुपया का सोलहवा भाग अर्थात् १ आना हुआ, इसका अर्थ यह होता है कि विक्रमीय चौदहवी शती मे दक्षिण भारत मे दो वाल का चादी का सिक्का चलता था – जो "द्रम्म" नाम से व्यवहृत होता था। "द्रम्म" शब्द का मूल फारसी "दिहर्म" अथवा उर्दु ' दिरम" शब्द प्रतीत होता है, पुराने "द्रम्म" शब्द की मूल प्रकृति "दिरम" साढे तीन वाल का होता था। जिसका प्रचार गुजरात तथा सौराष्ट्र मे विक्रम की १२वी शती मे सर्वत्र हो चुका था। दो वाल का द्रम्म उसके बाद सौ डेढ सौ वर्षो मे प्रचलित हुआ मालूम होता है।

खरतरगच्छीय बृहद्-गुर्वावली के अन्त मे "वृद्धाचार्य-प्रबन्धावलि" इस शीर्षक के नीचे कतिपय प्राकृत भाषा के प्रबन्ध दिए गए है, जिनकी कुल सख्या १० है। इनमे से अन्तिम दो प्रबन्ध जो "जिनसिंह" और "जिनप्रभसूरि" सम्वन्धी है, जिनकी यहा चर्चा अवसर-प्राप्त नही है, क्योकि ये दोनो आचार्य खरतरगच्छ की मूल परम्परा मे नही है। शेष आठ प्रवन्ध क्रमश. श्री वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि और जिनेश्वरसूरि को लक्ष्य करके लिखे गए है। अत गुर्वावली के अवलोकन मे इन पर ऊहापोह करना अवसर-प्राप्त है।

प्रबन्धो मे जो कुछ विशेष वातें उपलब्ध होती हैं, उन पर ऊहापोह करने के पहले इनके भाषाविपयक निरूपण और निर्माण समय के सम्वन्ध मे विचार करेंगे।

प्रबन्धो का लेखक प्राकृतभाषा का योग्य ज्ञाता नही था। आगम-सूत्रो मे आने वाले वाक्यो, शब्दो और क्रियापदो को ले लेकर प्रबन्धो का निर्माण किया है – "गामाणुगामं, दूइज्जमाणा", "समोसड्ढो", "वग्रासी", "भो धरणिदा ! आढत्ता" इत्यादि शब्द तथा क्रियापद सूत्रो मे से लेकर

घर दिये हैं। न व्याकरण का नियम है, न विभक्तिवचन का। जहां वहुवचन का प्रसग है वहां एक वचन ही लिख दिया और एक वचन के स्थान वहुवचन। विषयनिरूपण का भी कोई ढग घड़ा नही है, कतिपय विशेष नाम जिस प्रकार उनके समय मे प्रचलित थे वैसे ही लिख दिए हैं, जैसे – "पोरवाड़ो" आदि।

(१) श्री वर्धमानसूरिजी को प्रवन्ध मे "अरण्यचारी-गच्छनायक" और उद्योतनसूरि के पट्टधारी लिखा है। उनके कासह्रद गांव मे, जो आवु पहाड़ी की पूर्वीय तलहटी मे आया हुआ है और आजकल "कायन्द्रा" के नाम से प्रसिद्ध है, आने की वात कही गयी है – उसी कासह्रद गांव में दण्डनायक विमल देश का राज्य-ग्राह्य-भाग उगाहने के लिए आता है और आवु के ऊपर की रोनक देखकर वहां जिनमन्दिर वनाने की इच्छा करता है, परन्तु अचलेश्वर-दुर्गवासी जोगी, जगम, तापस, सन्यासी, ब्राह्मण प्रमुख विमल की इच्छा को जान कर सव मिल कर विमल के पास आते हैं और कहते हैं – 'हे विमल! यहा पर तुम्हारा तीर्थस्थान नही है। यह कुलपरम्परा से आया हुआ हमारा तीर्थ है, तुमको यहां मन्दिर वनाने नही देंगे। विमल यह सुनकर निराश होता है और वर्धमानसूरि के पास जाकर पूछता है; भगवन्! आवु पर अपना कोई तीर्थ-प्राचीनजिनप्रतिमा नही है? सूरिजी ने कहा – छद्मस्थ मनुष्य इसका निर्णय कैसे दे सकते हैं। विमल ने देवताराधना करके इस वात का निर्णय करने के लिए प्रार्थना की। वर्धमानसूरि ने छः मासी तप कर ध्यान किया, तव धरणेन्द्र वहां आया। आचार्य ने उसे कहा – हे धरणेन्द्र! सूरिमन्त्र के चौसठ देवता अधिष्ठायक हैं, उनमे से एक भी नही आया, न मेरे प्रश्न का समाधान किया। इस पर धरणेन्द्र ने कहा – भगवन्! सूरिमन्त्र का एक अक्षर आप भूल गये हैं, इसलिए अधिष्ठायक देव नही आते। मैं तो तुम्हारे तपोवल से आया हूं। इस पर आचार्य ने कहा – हे महाभाग! पहले तुम मेरे सूरिमन्त्र को शुद्ध कर दो फिर दूसरा कार्य कहूगा, इस पर धरणेन्द्र ने कहा – भगवन्! सूरिमन्त्र को शुद्ध करने की मेरी शक्ति नही, यह कार्य तीर्थङ्कर के सिवाय नही हो सकता। इस पर वर्धमानसूरि ने अपने सूरि-

मन्त्र का गोलक धरणेन्द्र को दिया। उसे लेकर वह महाविदेह मे गया और श्रीसोमन्धर स्वामी के पास सूरिमन्त्र को शुद्ध करवाया। उसके बाद केवल तीन वार स्मरण करने से सर्व अधिष्ठायक देव प्रत्यक्ष हो गए। गुरु ने पूछा – विमल दण्डनायक हमे पूछता है कि आबु पर्वत पर कोई प्राचीन जैनप्रतिमा है या नही ? अधिष्ठायक देवो ने कहा – अर्बुदादेवी के प्रासाद से वामभाग मे "अद्वुद" आदिनाथ की प्रतिमा है। अखण्ड अक्षतो के स्वस्तिक पर चउसर पुष्पमाला जहा दीखे – वहां खुदवाना चाहिए। गुरु ने यह देवादेश विमल को कहा, उसने वैसा ही किया और प्रतिमा निकाली। योगी, जगम आदि को बुलाकर विमल ने जिनप्रतिमा दिखाई, उनके मुख निस्तेज हो गए। विमल ने प्रासाद का काम प्रारम्भ किया, तब ब्राह्मण आदि ने कहा – भले ही तुम्हारी यहा मूर्तिया निकलने से तुम यहा मन्दिर बना सकते हो, परन्तु जमीन हमारी है। इसको रुपयो से ढांक कर हमको इसका मूल्य दो और इस पर मन्दिर बनवाओ। विमल ने वैसा ही किया। जिनप्रासाद तैयार हो गया, ५२ जिनालय और सुवर्णदण्ड, ध्वज कलश-सहित विमल ने प्रासाद तैयार करवाया। इसके निर्माण मे १८ करोड़ ५३ लाख द्रव्य लगा। आज भी प्रासाद अखण्ड दीख रहा है। इस प्रकार वर्धमानसूरिजी ने तीर्थ प्रकट किया।

ऊपर लिखे वृत्तान्त में सूरिमन्त्र सम्बन्धी कहानी हमारी राय में कल्पना मात्र है, क्योकि वर्धमानसूरिजी के समय मे सविग्नविहारी सुविहित आचार्य न सूरिमन्त्र की आराधना करते थे, न पूजा के लिए इसके पट्ट रखने के लिये गोलक (गोल भूङ्गले) रखते थे। यह प्रवृत्ति शिथिलाचारी पार्श्वस्थ आचार्यो की थी। प्रबन्ध-लेखक कोई खरतरगच्छीय अर्वाचीन भट्टारक मालूम होते हैं। खरतरगच्छ के लेखक आबु के मन्दिर – विमल वसहि की प्रतिष्ठा वर्धमानसूरिजी के हाथ से हुई बताते हैं, परन्तु प्रबन्ध मे प्रतिष्ठा का सूचन नही है। वैसे आबु के विमलवसहिमन्दिर की प्रतिष्ठाएँ बहुधा अनेक आचार्यो के हाथो से हुई है। मूल मन्दिर की प्रतिष्ठा का वहा कोई लेख नही मिलता, परन्तु देहरियो की प्रतिष्ठा सम्बन्धी तथा जीर्णोद्धारो की प्रतिष्ठा सम्बन्धी सैकड़ो लेख मन्दिर मे

मिलते है। श्री वर्धमानसूरिसन्तानीयचक्रेश्वरसूरि आदि ने प्रतिष्ठा की, उसके लेख मिलते हैं। चड्डावलि, आरासरण, कासह्लदीय-गच्छ के अनुयायियो द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिया इस मन्दिर मे मिलती है, परन्तु वर्धमानसूरि का नाम तक नही मिलता, यह विचारणीय हकीकत है।

(२) जिनेश्वरसूरिजी सम्बन्धी दूसरे प्रबन्ध मे लिखा है कि वर्धमानसूरि पृथ्वी पर विचरते हुए सिद्धपुर[१] गए। वहा सरस्वती नदी मे अनेक ब्राह्मण नहाते है, वर्धमानसूरि बाहिरभूमि गए थे। सरस्वती मे स्नान कर वापिस लौटता हुआ "जग्गा" नामक एक "पुष्करणागोत्रीय" ब्राह्मण उनको सामने मिला। वर्धमानसूरि को देखकर वह जिनमत की निन्दा करता हुआ बोला – ये श्वेताम्बर साधु शूद्र, वेदबाह्य और अपवित्र होते है, यह सुनकर आचार्य ने कहा – हे ब्राह्मण ! बाह्य स्नान से शरीर की शुद्धि नही होती, क्योकि तेरे सिर पर मृत कलेवर है। इनके आपस मे विवाद छिड़ गया। जग्गा ने कहा – "यदि मेरे सिर मे से मृतक निकल जाय तो मैं तुम्हारा शिष्य बन जाऊगा अन्यथा तुम्हे मेरा शिष्य बनना पड़ेगा"। गुरु ने इस बात को मंजूर किया। तब जग्गा ने क्रोध से सिर पर के वस्त्र को दूर फेंका तब क्या देखता है कि भीतर से मरा हुआ एक मत्स्य गिरा। जग्गा शर्त मे हार गया और उनका शिष्य बन गया। दीक्षा लेकर सिद्धान्त का अध्ययन कर तैयार हुआ। गुरु ने योग्य जान कर अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया, "जिनेश्वरसूरि" ऐसा नाम दिया। वर्धमानसूरि अनशन करके परलोकवासी हुए, तब जिनेश्वरसूरि गच्छनायक बनकर विचरते हुए अणहिल पट्टन पहुँचे। वहा उन्होने चौरासी गच्छो के भट्टारको को देखा। सब द्रव्यलिंगी चैत्यवासी मठपति थे। जिनेश्वरसूरि ने शासन की उन्नति के लिए श्रीदुर्लभराज की सभा मे उनसे वाद किया। सं० १०२४ मे वे सब आचार्य हारे और जिनेश्वरसूरि जीते। राजा ने खुश होकर उनको "खरतर" ऐसा बिरुद दिया, तब से "खरतर-गच्छ" हुआ। इस प्रबन्ध मे कितनी सत्यता है, यह कहना कठिन है, क्योकि पहले तो पुष्करण नामक कोई गोत्र ही नही होता था, तब ब्राह्मण जग्गा

१. मूल मे "सीवपुर" है।

का पुष्करण गोत्र कहा से आया ? होगा, "पुष्कर नामक झील खोदने के कारण पुष्करण नाम पड़ा है", इसलिये उसको जाति कह सकते है, गोत्र नही। आज तक सिद्धपुर मे औदीच्य, सारस्वत, नागर जाति के ब्राह्मण छात्र मिलते हैं, परन्तु पुष्करणो का वहा कोई नाम तक नही जानता। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त जिनेश्वरसूरि की दीक्षा की कहानी प्रवन्ध-लेखक ने कल्पनाबल से गढ ली है।

अन्य खरतरगच्छीय पट्टावलियो मे जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि को बनारस निवासी श्रोत्रिय ब्राह्मण लिखा है, इससे भी ऊपर की कहानी कल्पना मात्र ही ठहरती है।

पाटन मे दुर्लभ राजा की सभा मे चैत्यवासियो को हराकर "खरतर" पद प्राप्त करने की बात भी प्रमाणिकता नही रखती, क्योकि एक तो १०२४ मे वहां दुर्लभराज का राज्य ही नही था। तब राजा ने खुश होकर "खरतर" विरुद दिया यह बात निराधार ठहरती है। "खरतर" यह शब्द सर्वप्रथम जिनदत्तसूरि के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ था जो धीरे-धीरे लग-भग २०० वर्षों के वाद गच्छ के साथ मिल गया है, जिनेश्वरसूरि के समय मे इस नाम को कोई जानता तक नही था, खरतरगच्छ की गुर्वावली आदि मे वर्धमानसूरिजी का आबु पर स्वर्गवासी होना लिखा है, तव प्रबन्धलेखक ने स्वर्गवास स्थान के रूप मे, आबु का नाम-निर्देश नही किया, इससे भी स्पष्ट होता है कि प्रवन्धलेखक भट्टारक ने केवल दन्त-कथाओ के आधार से ही प्रस्तुत प्रवन्ध लिख डाला है।

(३) तीसरे प्रबन्ध मे जिनेश्वरसूरि के पट्टधर षट्विकृति त्यागी जिनचन्द्रसूरि को बताया है और उनके पट्टधर अभयदेवसूरि को। लेखक का यह मत भी ठीक प्रतीत नही होता, क्योकि जिनचन्द्रसूरि को षड्विकृतियो का त्यागी कही नही बताया और न अभयदेवसूरि के सम्बन्ध मे शासनदेवी से कहलाया है कि खभात नगर के बाहर सेढी नामक नदी है उसके निकट खरपलाश के नीचे पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, वहा जाकर स्तुति करो," इस लेख से तो यही मालूम होता है कि विचारे प्रवन्धलेखक को 'खभात"

तथा "स्तम्भनक" इन दो नामो के वीच का भेद तक मालूम नही, उन्हे पहले यह समझ लेना चाहिए था कि सेढो नदी "खभात" के वाहर नही, किन्तु "स्तम्भनक ग्राम" के वाहर है, जिसे आजकल "थाभरणा" के नाम से पहिचानते हैं। "खभाइति" इस नाम के उल्लेख से तो मालूम होता है कि लेखक सत्रहवी शती के परवर्ती होने चाहिए। लेखक ने "पलाश" के साथ "खर" शब्द विशेषण के रूप से लगाया है, यह भी निरर्थक है, क्योकि "पलाश" अपने नाम से ही पहिचाना जाता है, "खरपलाश" कोई वृक्ष ही नही होता। वर्तमान काल मे लोग इसको "खाखरा" इस नाम से ही पहिचानते है। प्रवन्धलेखक ने "खाखर" शब्द की पूछपलाश से जोडकर अपना निकटवर्ती समय ही सूचित किया है। प्रवन्ध-लेखकजी "जयतिहुअण०" स्तव के सम्बन्ध मे लिखते हैं – "जयतिहुणस्स दो वित्त भडारिय, सपई तिस वित्ता वट्टइ" इस वाक्य से प्रवन्ध-लेखक ने अपने प्राकृत भाषा सम्बन्धी ज्ञान का भी परिचय दे दिया है। "दो वित्ता भडारिय" के स्थान मे ('दुण्णि वित्ताण्णि भडारियाणि") ऐसा चाहिए। तिस (तीस) वित्ता (वित्ताणि) वट्टइ (वट्ट ति) ऐसा लिखना चाहिए था। अन्त मे प्रवन्ध-लेखक कहते हैं – "आजकल खरतरगच्छ मे "जयतिहुअण०" नमस्कार विना प्रतिक्रमण करने नही पाते। इस प्रकार की गच्छ-सामाचारी गुरु-सम्प्रदाय है। इस अन्तिम कथन से प्रवन्ध कितना अर्वाचीन है, इस वात को पाठक स्वय समझ सकते हैं।

(४) चौथे प्रवन्ध मे लेखक ने जिनवल्लभसूरि का वृत्तान्त लिखा है। लेखक कहते हैं – मालव देश की उज्जयनी नगरी मे कच्चोलाचार्य चैत्यवासी रहता था। उसके जिनवल्लभ नामक शिष्य था। वह ससार से विरक्तचित्त और सवेगभावी था। एक समय उसने एकान्त मे एक पुस्तक खोला, उसमे से गाथा निकली–"असरणे देवदव्वस्स परत्थीगमणे तहा०" इत्यादि। इस गाथा का अर्थ विचारता हुआ जिनवल्लभ वहां से निकल कर अणहिलपुर पाटन गया। वहां चौरासी पौषधशालाओ मे चौरासी गच्छो के भट्टारक रहते थे। जिनवल्लभ प्रत्येक पौषधशाला मे गया। पूछा, देखा, परन्तु कही भी उसे सन्तोष नही हुआ। अन्त मे अभयदेवसूरिजी

की पौषधशाला मे गया, सुविहित आचार्य को देखा और उनके पास दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने उसे योगोद्वहन करवा के गीतार्थ बनाया। सर्वसंघ की प्रार्थना के वश ११६७ के वर्ष मे अभयदेवसूरि ने उसे सूरिमन्त्र दिया और "जिनवल्लभसूरि" यह नाम दिया। विधिपक्ष का स्थापन करते हुए, सुविहित जिनवल्लभसूरि मेवाड के चित्रकूट दुर्ग मे पहुँचे। वहा मिथ्यात्वी लोग बहुत बसते थे। कोई जैनधर्म को स्वीकार नही करता, तब जिनवल्लभसूरि चामुण्डादेवी के मन्दिर मे ठहरे। रात्रि के समय चामुण्डा आई, मन्दिर कापने लगा। जिनवल्लभ ने सूरिमन्त्र के बल से देवी को कीलित कर वश किया। देवी ने आचार्य से कहा – मेरे नाम से अपना गच्छ चलाओ, मैं तुम्हे सहायता करू गी। गुरु ने वैसा ही किया, सर्व लोगो को प्रतिबोध देकर सम्यत्व प्रदान किया।

जिनवल्लभसूरि ने एक साधारण श्रावक को दस करोड़ द्रव्य का परिग्रह करवा के उसे करोडपति बनाया। उसने चित्रकूट नगर मे जैन-प्रासाद बनाया, शत्रुञ्जय का संघ निकाला। जिनवल्लभसूरि ने वागड़ प्रदेश मे श्रीमालो को प्रतिबोध देकर दस हजार घर जैन बनाए और "पिण्ड-विशुद्धि-प्रकरण" की रचना की।

जिनवल्लभसूरि के प्रबन्ध मे लेखक ने अनेक ऐसी बाते लिखी है, जो खरतरगच्छ की मान्यता से ही नही, इतिहास से भी विरुद्ध हैं। जिनको इन्होने कच्चोलाचार्य लिखा है उनका खरा नाम "कूर्चपुरीय जिनेश्वर-सूरि" था और वे आशिका नगरी मे भी रहते थे। आशिका और "कूर्चपुर" जो आजकल "कुचेरा" इस नाम से प्रसिद्ध है, ये दोनो मारवाड़ के अन्तर्गत हैं, न कि मालवा मे।

जिनवल्लभ ने जिस पुस्तक को खोला था और उसमे से "असणे देवदव्वस्स" इत्यादि गाथा निकलने का लिखा है, प्रथम तो यह गाथा ही अशुद्ध है, दूसरा खरतरगच्छ की पट्टावलियो मे "दशवैकालिक सूत्र" का पुस्तक खोला ऐसा लिखा है, परन्तु ऊपर उल्लिखित गाथा न दशवैकालिक की है, न किसी अन्य सूत्र की, यह गाथा मनघढन्त है, जो कही से उठाकर इसमे रख दी है।

प्रबन्धकार के कथनानुसार जिनवल्लभ स्वय निकल कर पाटन पहुँचे थे, तब अन्य सभी लेखको ने जिनवल्लभ को गुरु ने जैनसूत्र पढने के लिए "अणहिलपुर भेजा था ऐसा लिखा है।" जिनवल्लभ पाटन मे सभी पौषधशालाओ मे फिर-फिराकर अन्त मे अभयदेवसूरि की पौषधशाला मे गये, ऐसा प्रबन्धकार कहते हैं, जो कल्पना मात्र है। क्योंकि न तो अभयदेवसूरि की कोई पौषधशाला थी और न वे किसी पौषधशाला मे उतरते थे। अभयदेव, इनके गुरु और शिष्य परिवार सभी वसतिवासी थे और गृहस्थो के खाली मकानो मे ठहरते थे।

अभयदेवसूरि के समीप जिनवल्लभ के दीक्षा लेने तथा अभयदेव द्वारा उन्हे सूरिमन्त्र देने आदि की बाते कल्पित हैं। जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के पास ज्ञानार्थ उपसम्पदा लेकर उनमे सिद्धान्त पढा था, ऐसा जिनवल्लभ स्वय कहते हैं। आचार्य अभयदेवसूरि सवत् ११३५ मे स्वर्गवासी हो चुके थे, तब ११६७ मे जिनवल्लभ को सूरिमन्त्र देने कहा से आये, इस बात का प्रबन्ध-लेखक को विचार करना चाहिए था।

जिनवल्लभ चित्रकूट गये थे, उस समय वहा के लोग बहुधा मिथ्यात्वी थे, प्रबन्धकार का यह लिखना भी असत्य है। उस समय भी चित्तौड़ मे जैन धर्म का प्राचुर्य था। जैनमन्दिर, पौषधशालाएँ आदि सब-कुछ था। जिनवल्लभ को कही भी ठहरने के लिए स्थान नही मिला, इसका कारण था उनके पाटण मे सघबहिष्कृत होने की बात। पाटन मे जिनवल्लभ गणि सघ बहिष्कृत होकर चित्तौड़ गए थे, तब उनके वहा पहुँचने के पहल ही पाटन के समाचार वहा पहुच चुके थे, जिससे उनको चण्डिका के मन्दिर मे उतरना पडा था। चामुण्डा देवी के यह कहने पर कि "तुम मेरे नाम से अपना गच्छ चलाओ" इत्यादि बात मे सत्याश क्या है, यह कहना तो कठिन है, परन्तु अचलगच्छ के "शतपदी" आदि ग्रन्थो मे जिनवल्लभ के अनुयायियो की परम्परा को "चामुण्डिक-गच्छ" के नाम से उल्लिखित किया है, इससे इतना तो कह सकते हैं कि गच्छान्तरीय लोग जिनवल्लभ गणि को "चामुण्डिक" कहा करते होगे।

प्रबन्ध मे साधारण श्रावक को जिनवल्लभसूरि ने "दस करोड" द्रव्य परिमाण परिग्रह कराने का लिखा है, तब खरतर पट्टावलियो मे उसी साधारण श्रावक को "एक लाख" का परिग्रह परिमाण करने की बात कही है। खरतरगच्छ के लेखक अपनी मान्यता मे एक दूसरे से कितने दूर पहुँच जाते है, इस बात मे ऊपर का कथन एक उदाहरण माना जा सकता है।

(५) पाचवा प्रबन्ध श्री जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध मे लिखा गया है। प्रबन्धकार लिखते हैं – जिनदत्तसूरिजी अणहिलपुर मे विचरे। वहा के श्री नागदेव श्रावक को युगप्रधान के सम्बन्ध मे सशय था, क्योकि सभी साधु अपने-अपने गच्छ के आचार्य को युगप्रधान कहते थे। नागदेव ने गिरनार पर्वत के अम्बिका-शिखर पर जाकर अट्ठम का तप किया, अम्बिका प्रत्यक्ष हुई और उसके हाथ मे अक्षर लिखे और कहा – तेरे मन मे युग-प्रधान विषयक सशय है, तू अणहिलपुर जाकर सभी पौषधशाला-स्थित आचार्यों को अपना हाथ दिखाना। जो तुम्हारे हाथ मे लिखे अक्षरो को पढे उसे युगप्रधान जान लेना। नागदेव ने जाकर सभी पौषधशाला-स्थित आचार्यो को अपना हाथ दिखाया। किसी ने उसके हाथ के अक्षर नही पढे, तव वह खरतरगच्छाधिपति जिनदत्तसूरि की पौषधशाला मे गया। आचार्य को वन्दन किया, सूरि ने उसका हाथ देख कर मौन किया और हाथ पर वासक्षेप किया और अपने शिष्यो को अक्षर पढने का आदेश दिया। शिष्य ने निम्न प्रकार से अक्षर पढे –

'दासानुदासा इव सर्व्वदेवा, यदीयपादाब्जतले लुठन्ति।
मरुस्थलीकल्पतरुः स जीयाद्, युगप्रधानो जिनदत्तसूरि॥१॥"

उपर्युक्त श्लोक सुनकर नागदेव निसशय हो गया, तीन प्रदक्षिणा पूर्वक उसने आचार्य को वन्दन किया।

एक बार जिनदत्तसूरि अजमेर की तरफ विचरे। वहा चौसठ योगिनियो का पीठ था। योगिनियो ने सोचा – जिनदत्तसूरि यहा रहेगे तो हमारा पूजा-सत्कार न होगा। इसलिए वे श्राविकाओ के रूप बनाकर आचार्य के व्याख्यान मे आयी। देवियो का अभिप्राय आचार्य को छलने

का था, परन्तु आचार्य ने सूरिमन्त्र के अधिष्ठायक द्वारा उन्हे कीलित करवा दिया। वे उठ न सकी, तब दयावश होकर आचार्य ने उन्हे छोडा और आचार्य तथा देवियो के आपस मे पणबन्ध हुआ, देवियो ने कहा – "जहां हम हैं वहां तुम न आओ, हमारे साढे तीन पीठ है, एक उज्जैनी में, दूसरा दिल्ली मे, तीसरा अजमेर मे और आधा भरोच मे। हे भट्टारक! तुम अथवा जो भी तुम्हारा शिष्य तुम्हारे पट्ट पर बैठे, वह हमारे उक्त पीठो में विहार न करे। अगर विहार करेगा तो वधबन्धादिक के कष्ट पाएगा, जैसे जिनहंससूरि ने पाए। जिनदत्तसूरि ने योगिनियो का कथन स्वीकार किया।

योगिनियो की शर्ते स्वीकार करने के बाद सिन्ध प्रदेश मे विहार किया। वहा एक लाख अस्सी हजार ओसवालो के घर जैनधर्मी बनाए। उस नगर मे परकायप्रवेश विद्या से जिनमन्दिर मे से मरे हुए ब्राह्मण को सजीव कर नारायण के मन्दिर मे रखा। ब्राह्मणो की प्रार्थना और हाथा-जोड़ी से फिर उसे सजीव कर श्मशानभूमि मे छोडा।

सिन्ध से विहार करते हुए पचनद के सगमस्थान पर पहुचे और वहां सोमर नामक यक्ष को प्रतिबोध दिहा।

जिनवल्लभसूरि के स्वर्गगमन के समय गच्छ के आठ आचार्य थे, जिन मे से एक पूर्वदिशा मे रुदोली नगर मे जिनशेखर नामक भट्टारक थे, जो रुद्रपल्लीय-गच्छ के अधिपति हुए। शेष सात आचार्यों ने जालोर नगर में मिलकर सलाह की कि समग्र सघ तथा गच्छ की अनुमति लेकर जिनवल्लभ-सूरि के पट्ट पर दूसरा आचार्य प्रतिष्ठत करेगे। उस समय दक्षिण देश में देवगिरि नगर में जिनदत्तगणि चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, उनको प्रभावशाली गीतार्थ जानकर संघ ने बुलाया, संघ की प्रार्थना से जिनदत्तगणि आने के लिए रवाना हो गये, जब वे उज्जैनी मे आये, उस समय जिनवल्लभ के पूर्वगुरु कच्चोलाचार्य की मृत्यु का समय निकट आ चुका था, कच्चोलाचार्य ने जिनदत्तगणि के पास आराधना की और शुभध्यान से मरकर कच्चोला-चार्य सौधर्मकल्प मे देव हुए। जिनदत्तगणि आगे चले। जिहरणी नामक

नगर के उद्यान में एक शून्य देवालय मे ठहरे। प्रतिक्रमण के समय कच्चोलाचार्य देव उनके समीप आया और अपना परिचय देकर जिनदत्तगणि को उसने सात वर दिए, जैसे-तुम्हारे संघ मे एक श्रावक महर्द्धिक होगा ? तुम्हारे गच्छ मे साध्वी को ऋतुपुष्प न होगा २, तुम्हारे नाम से विजली न गिरेगी ३, तुम्हारे नाम से आंधी और धूल के ववण्डर टल जायेंगे ४, अग्निस्तम्भ होगा ५, सैन्य तथा जलस्तम्भ होगा ६, साप का जहर हानि करने को समर्थ न होगा ६, इसके अतिरिक्त देव ने कहा – पट्टस्थापना के जो दो मुहर्त निर्धारित हुए हैं, उनमे से प्रथम मुहर्त मे पट्ट पर मत वैठना, क्योकि वह अल्पायु कारक है। दूसरे मुहूर्त मे वैठने से युगप्रधान जिनशासन का प्रभावक होगा। तेरे गच्छ मे एक हजार साधु और ७०० साध्वियो का परिवार होगा, इतनी वातें कहकर देव अदृष्ट हो गया, जालोर नगर में जिनदत्तगणि ११६९ के वर्ष मे पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए, अजमेर मे प्रतिक्रमण मे उद्योत करती हुई विजली को स्तम्भन कर दिया।

प्रवन्धलेखक ने जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध मे जो कुछ विशिष्ट चमत्कार पूर्ण वातें लिखी है वे सव लेखक के फलद्रूप भेजे मे से निकली हुई हैं। न अम्बिका ने नागदेव के हाथ पर अक्षर लिखे न जिनदत्तसूरि के शिष्य ने "दासानुदासा:" इत्यादि श्लोक पढ़ा। चौसठ योगिनियो की वात तो इससे भी भद्दी हैं, जिनदत्त जैसे शुद्ध धर्म की लगन वाले विद्वान् आचार्य के पवित्र जीवन मे ये वातें कलङ्क रूप हैं, भले ही अन्धश्रद्धालु अज्ञानी भक्त इन बातो को पढकर खुश हो और जिनदत्त के नाम की माला फेरते रहे, इससे जिनदत्तसूरि का अथवा उनकी माला फेरने वाले भक्तो का भला होने की आशा नही रखना चाहिए।

प्रवन्धलेखक जिनदत्तसूरि के मुह से योगिनियो का वचन "तहत्ति" कराता है, अभयदेवसूरि और जिनदत्तसूरि को पाटन की पौषधशाला में रहने वाला कहने वाला वचन, जिनवल्लभसूरि का स्वर्गवास होने के वर्ष मे गच्छ मे आठ आचार्य वताता है। जिनदत्त का आचार्य होने के पहले का नाम 'सोमचन्द्र' था परन्तु लेखक प्रारंभ से ही इनका "जिनदत्तगणि"

के नाम से उल्लेख करता है, जिनदत्त के आचार्य होने के पहले ही जिनशेखर का आचार्य के नाम से उल्लेख करता है। जिनदत्त को आचार्य का पद प्रदान करने का स्थान जालोर बताता है और जिनवल्लभ के पूर्वगुरु कूर्चपुरीय श्री जिनेश्वरसूरि के जीव को सौधर्म का देव बनाकर उससे जिनदत्तसूरि को सात वरदान दिलाता है और जिनदत्तसूरि के साधु साध्वी समुदाय की संख्या क्रमश. एक हजार तथा ७०० सौ की बताता है, इन सब बातो पर विचार करने से तो यही ज्ञात होता है कि लेखक, इतिहास किस चिड़िया का नाम हैं ? यह भी जानता नही था। सुनी सुनायी और मनःकल्पित बाते लिखकर भले ही लेखक ने अपने मन से जिनदत्तसूरि की सेवा मान ली हो; परन्तु वास्तव मे उसने उनकी कुसेवा की है। उनके वास्तविक चरित्र को ढांककर जनता के सामने प्रबन्ध के नाम से एक अपवित्र गन्दे कचरे का ढेर उपस्थित किया है।

(६) षष्ठ प्रबन्ध जिनदत्तसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि के सम्बन्ध मे सक्षेप में लिखा है। लेखक ने जिनचन्द्र के ललाट मे नरमणि बताया है, वे जैसलमेर की तरफ विचरते थे, दिल्ली नगर के सघ ने उन्हे दिल्ली की तरफ बुलाया, जिनचन्द्र ने लेख द्वारा सूचित किया कि श्री जिनदत्तसूरिजी ने योगिनी पीठोमे हमारा विहार निषद्ध किया है, फिर भी वे दिल्लीपुर के सघ की अभ्यर्थना के वश होकर योगिनी पीठ मे विचरे, प्रवेश महोत्सव मे ही योगिनियो ने उन्हे छला और मर गए, आज भी पुरानी दिल्ली मे उनका स्तूप विद्यमान है, जिनचन्द्रसूरि के प्रबन्ध का सार उपर्युक्त है।

जिनचन्द्रसूरि के ललाट मे दीप्यमान मणि बताया है, इस मणि का तात्पर्य क्या है ? यह बात समझना कठिन है, मनुष्य का शरीर चर्म से ढका हुआ होता है, उसके नीचे रहे हुए मणि का प्रकाश बाहर कैसे आता है, इसका लेखक ने कोई खुलासा नही किया।

(७) सातवां प्रबन्ध जिनप्रतिसूरि का है। जिनपति १२ वर्ष की अवस्था मे पट्ट-प्रतिष्ठित हुए थे, आसीनगर मे प्रतिष्ठा का प्रसग था, बड़ी धूमधाम के साथ जिनपतिसूरि वहा पहुचे, प्रतिष्ठा का कार्य प्रारभ हुआ,

परन्तु उसी मौके पर एक विद्यासिद्ध योगी भिक्षार्थ आया, सघ प्रतिष्ठा के कार्य मे व्यग्रचित्त था, किसी ने भिक्षा नही दी, योगी रूठ गया। मूल नायक बिम्ब को कीलित कर दिया, प्रतिष्ठा की लग्नवेला मे सर्व सघ उठने लगा पर बिम्ब नही उठा, सघ चिन्तातुर हो योगी की तलाश करने लगा, पर वह कही भी नही मिला, उस समय एक महत्तरा साध्वी आचार्य को वन्दन कर बोली – भगवन् ! सघ हँसता है। वह कहता है हमारे भट्टारक बालक है, ऐसी कोई विद्या नही जानते क्या किया जाय, यह सुनकर जिनपतिसूरि सिंहासन से उठे और सूरिमन्त्र से अभिमन्त्रित वास बिम्ब के मस्तक पर डाला, तत्काल एक श्रावक ने बिम्ब को उठा लिया बिम्बप्रतिष्ठा-महोत्सव समाप्त हुआ। खरतर गच्छ मे जय-जय शब्द उछल गया।

जिनपतिसूरि ने राजसभा मे ३६ वाद जीते। खरतरगच्छ सामाचारी का उद्धार किया, जिनवल्लभ कृत सघपट्टक प्रकरण की टीका बनाई। इस प्रकार महाप्रभावक हुए।

जिनपति-प्रबन्ध मे बारह वर्ष की अवस्था मे जिनपति को पट्ट-प्रतिष्ठित करने का लिखा है, तब गुर्वावली मे १३ वर्ष की अवस्था मे। यह तो एक सामान्य मतभेद है, परन्तु योगी द्वारा मूर्ति का स्थगित करना और जिनपति द्वारा वासक्षेप डाल कर एक श्रावक के उठवाने की बात एक चमत्कारी टुचका है। मालूम होता है, लेखक को चमत्कारो की बात लिखने मे बडा आनन्द आता होगा। जिनपतिसूरि का वृत्तान्त लिखने मे वृहद्-गुर्वावलीकार ने लगभग २० पृष्ठ भर दिये है, परन्तु यह चमत्कार नही लिखा कि इनके वासक्षेप डालने से योगी-कीलित जिनमूर्ति को एक श्रावक ने उठा लिया। इस पर से पाठकगण प्रबन्ध-लेखक की बातो के सत्यासत्य का निर्णय स्वय कर लेगे।

(८) आठवा प्रबन्ध जिनेश्वरसूरि के सम्बन्ध मे है। जिनपतिसूरि के पट्ट पर नेमिचन्द्र भण्डारी के पुत्र जिनेश्वरसूरि हुए। जिनेश्वर के दो शिष्य थे, एक श्रीमाल जिनसिंहसूरि, दूसरा ओसवाल जिनप्रबोधसूरि। एक समय जिनेश्वरसूरि का दण्ड अकस्मात् टूट कर दो टुकडे हो गये, इससे

आचार्य ने भविष्य सोचा कि मेरे गच्छ में दो टुकड़े होने वाले है, तव क्यो मैं स्वय अपने हाथ से दूसरा गच्छ कायम न कर दूं ! इसी समय के दर्मियान श्रीमालों के सघ ने मिल कर विचार किया। अपने देश मे कोई गुरु आते नही, चलो गुरु के पास गुरु को ले आये। श्रीमाल संघ गुरु के पास गया और वन्दनपूर्वक विज्ञप्ति की कि-स्वामी ! हमारे देश मे कोई गुरु नही आते, तब हम क्या करें – गुरु के बिना ? धर्मसामग्री कैसे जुडे ? सघ की बात सुनकर आचार्य ने श्रीमालवशज जिनसिह गणि को अपने पद पर प्रतिष्ठित किया। "जिनसिहसूरि" यह नाम देकर आचार्य ने कहा–लो श्रावको: ये मैंने तुम्हे अर्पण कर दिये। सूरि से कहा – इनके साथ विहार कर इनके देश मे जाओ। जिनसिहसूरि ने श्रावको के साथ विहार किया। श्रीमाली सघ ने कहा–आज से लेकर हमेशा के लिए ये हमारे धर्माचार्य रहेगे। इस प्रकार जिनेश्वरसूरि के शिष्यो से दो गच्छ हुए। १२८० के वर्ष मे जिनेश्वरसूरि ने जिनसिह को आचार्य बनाया और पद्मावती के मन्त्र का उपदेश दिया। कुछ वर्षो के बाद जिनेश्वरसूरि स्वर्गवासी हुए।

प्रबन्धकार ने प्रारम्भ मे ही "जिनपतिसूरि पट्टं नेमिचन्द्र भण्डारी जिणेसरसूरीणो पिया सजाओ" इस प्रकार का अपपाठ लिखा है। लिखना तो यह चाहिए था कि "नेमिचन्दभण्डारी पुत्तो जिणेसरसूरी सजाओ" परन्तु जिस प्रवन्ध-लेखक को लिंग-वचन-विभक्ति का भी भान नही है उसको इस प्रकार का अपपाठ लिखना आश्चर्य क्या है। वह जो लिखे, भक्तो को सच्चा मान लेना चाहिए।



(१) वर्द्धमानसूरि –

वर्द्धमानसूरिजी का वास्तविक इतिहास गुर्वावली मे नही मिलता उनके सम्बन्ध मे केवल इतना ही लिखा है कि वे अम्भोहर देश के जिनचन्द्राचार्य के शिष्य थे। जिनचन्द्र चैत्यवासी थे, परन्तु वर्धमान को चैत्यवास पसन्द नही आया। गुरु की आज्ञा से कुछ साधुओ के साथ वे दिल्ली की तरफ गए। उस समय वहा उद्योतनाचार्य नामक आचार्य विचर रहे थे। वर्धमान ने उनके पास आगम का अध्ययन किया और उन्ही से चारित्रोपसम्पदा लेकर सविग्न विहारी के रूप मे विचरने लगे।

एक समय वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वर गणि ने अपने गुरु को गुजरात की तरफ विहार करने की सलाह दी और भामह आदि व्यापारियो के बड़े काफले के साथ वर्धमानसूरि आदि अट्ठारह साधुओ ने विहार किया। क्रमश. वे सब गुजरात की राजधानी अणहिल पत्तन पहुँचे और शुल्कमण्डपिका मे ठहरे। उनके लिए पाटन एक विदेश था। न कोई उनका भक्त, न कोई परिचित। कुछ विश्रान्ति लेने के बाद, पण्डित जिनेश्वर गुरु की आज्ञा लेकर नगर मे गए और एक बड़ा मकान देख कर वहा पहुचे। मकान राजपुरोहित का था। जिनेश्वर ने पुरोहित से वार्तालाप करके अपना परिचय दिया, पुरोहित ने अपने चतुश्शाल मकान मे किनायत ववबा के सब साधुओ को वहां ठहराया। नगर मे बात फैल गई कि पाटन मे वसतिपालक साधु आये हैं। चैत्यवासी आचार्यो ने सोचा, अपरिचित वैहारिक साधुओ का यहा रहना हानिकर होगा। उन्होने उनको वहा से निकालने के अनेक प्रपंच किये, पर सफलता नही मिली। अन्त मे दुर्लभराज की सभा मे आगन्तुक तथा स्थानीय साधुओ के बीच चैत्य मे रहने न रहने के सम्बन्ध मे चर्चा हुई। जिनेश्वर गणि ने शास्त्रो के आधार से

साधुओ को वसति मे ही ठहरना चाहिए, चैत्य में नही, इस बात को प्रमाणित किया ।

श्री वर्द्धमानसूरि वसतिवास की स्थापना होने के बाद देश मे सवत्र विचरने लगे । शुभ-लग्न देखकर उन्होने जिनेश्वर गणि को अपना पट्टधर आचार्य बनाया । उनके भाई वुद्धिसागर को भी आचार्य-पद दिया । इनकी वहन कल्याणमती साध्वी को महत्तरा-पद दिया, बाद जिनेश्वरसूरि विहार-क्रम से देश मे घूमे और जिनचन्द्र, अभयदेव, धनेश्वर, हरिभद्र, धर्मदेव, सहदेव, सुमति आदि अनेको को दीक्षा देकर अपना शिष्य वनाया ।

वर्द्धमानसूरिजी ने शास्त्रीय विधिपूर्वक आबु ऊपर अनशन करके देवत्व प्राप्त किया ।

(२) जिनेश्वरसूरि –

जिनेश्वरसूरिजी ने जिनचन्द्र और अभयदेव को योग्य जानकर आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया ।

जिनेश्वरसूरि ने आशापल्ली की तरफ विहार किया, वहा "लीलावती" कथा की रचना की, डीडवाना गाव मे "कथानक कोष" बनाया ।

भगवान् महावीर के शासन-धर्म की प्रभावना कर श्री जिनेश्वरसूरि देवगति को प्राप्त हुए ।

(३) जिनचन्द्रसूरि –

जिनचन्द्रसूरि भी श्रेष्ठ आचार्य थे, जिनको अनेक नाममालाए[१] कण्ठस्थ थी । सर्व शास्त्रज्ञ आचार्य जिनचन्द्र ने अठारह हजार श्लोक

१ गुर्वावली मे लिखा है कि जिनचन्द्रसूरि को "१८ नाममालाए" सूत्र तथा अर्थ से याद थी, यह अतिशयोक्ति मात्र है । नाममालाए अनेक हो सकती हैं, परन्तु एक व्यक्ति के लिये दो नाममालाए पर्याप्त हो जाती हैं । एक तो 'एकार्थ नाममाला" और दूसरी "अनेकार्था", जिस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र कृत "अभिधानचिन्तामणि" और "अनेकार्थ सग्रह" पढने के बाद तीसरे कोश की आवश्यकता नही रहती, उसी प्रकार जिनचन्द्र के लिए भी दो कोशो से अधिक की आवश्यकता नही थी । "१८ नाममालाए" बताना केवल अतिशयोक्ति है ।

परिमाण "संवेग रंगशाला" नामक[1] ग्रन्थ बनाया, और जालोर में श्रावको के आगे "चीइ वदणमावस्सय" इत्यादि गाथा का व्याख्यान करते हुए जो सिद्धान्त के पाठ दिये थे वे उनके शिष्यों ने लिख दिये, जिससे ३०० श्लोक परिमाण का "दिनचर्या" ग्रन्थ बन गया। जिनचन्द्र भी वीरधर्म को यथार्थ रूप मे प्रकाशित कर देवगति को प्राप्त हुए।

(४) अभयदेवसूरि –

अभयदेवसूरि के प्रबन्ध मे लेखक ने शम्भानक (सम्भाणा) गाव मे उनके शरीर मे रोग उत्पन्न होने और अभयदेव के अनशन करने तक की परिस्थिति लिखी है परन्तु किसी देवता ने आदेश दिया कि 'स्तम्भनक के पास सेढी नदी के तट पर पलाशवृक्ष के नीचे स्वयम्भू[2] प्रतिमा है, तुम उसको वन्दन करो, शरीर स्वस्थ हो जायगा'। आचार्य श्रावकों के साथ स्तम्भनक जाने के लिए रवाना हुए, प्रथम प्रयाण मे ही उनको सरस आहार की इच्छा हुई, क्रमशः धवलक गांव तक पहुचे और उनका शरीर स्वस्थ हो गया, फिर पैदल चलकर स्तम्भनक पहुँचे। श्रावकों ने मूर्ति की तपास की पर कही दृष्टिगोचर नही हुई, तब गुरु ने कहा – खाखरा-पलाश[3] के नीचे देखो,

१. गुर्वावली मे "संवेगरगशाला" का श्लोक-परिमाण अठारह हजार बताया है, यह भी लेखक की अतिशयोक्ति समझना चाहिए। ग्रन्थ-भण्डारो की प्राचीन सूचियो में "सवेग रगशाला" का श्लोक-परिमाण १००७५ लिखा मिलता है। गुर्वावलीकार के लिखे परिमाण में लगभग आठ हजार श्लोक अतिशयोक्ति के है। गुर्वावली ने प्रत्येक बात मे आठ आने का रुपया बनाकर अपने आचार्यो की महिमा बढ़ायी है, जो इतिहास-क्षेत्र मे अन्धकार को ही फैलाता है।

२ लेखक की स्वयम्भू प्रतिमा होने की कल्पना अज्ञानपूर्ण है। शिवलिंग स्वयम्भू हो सकता है, परन्तु किसी भी देव की प्रतिमा स्वयम्भू नही होती। प्रतिमा तो घड़ने से ही तैयार होती है।

३ लेखक ने पलाश शब्द के पूर्व मे "खखरा" शब्द लिख कर अपना अर्वाचीनत्व सूचित किया है। "पलाश" शब्द इतना कठिन नही है कि उसके साथ "खखरा" शब्द लिखने की आवश्यकता हो, इससे तो सूचित होता है कि लेखक की दृष्टि मे "पलाश" दुर्ज्ञेय प्रतिभासित हुआ है, जिससे उसे सुगम बनाने के लिए साथ मे "खखरा" अर्थात् "खाखरा" नाम भी लिख दिया है।

श्रावको ने वैसा ही किया, मूर्ति दृष्टिगोचर हुई। अभयदेवसूरि ने जाकर भक्तिपूर्वक वन्दन किया और खडे-खडे "जय तिहुयरण०" इत्यादि नमस्कार-द्वात्रिंशिका की रचना की, देवताओ ने कहा -- इसमे से दो नमस्कार पद्य हटा लो, क्योकि उनके स्मरण से प्रत्यक्ष होना पडेगा, जो कष्टदायक होगा। आचार्य ने दो पद्य हटा लिये। समुदाय ने प्रतिमा को वहा स्थापन किया, देवालय वहां बन गया। श्री अभयदेवसूरि स्थापित[१] पार्श्वनाथ तीर्थ प्रसिद्ध हो गया।

स्तम्भनक से अभयदेवसूरि पाटन गए और "करडीहट्टी वसति" मे ठहर कर स्थानांग प्रमुख नव आगमो की वृत्तिया निर्मित की, वृत्ति निर्माण मे जहा कही सन्देह उत्पन्न होता वहां जया, विजया जयन्ती अपराजिता देवताओ को याद करते जिससे वे महाविदेह मे तीर्थंकर के पास जाकर शङ्कित-स्थल को पूछ कर सशय दूर कर देती[२]।

अभयदेवसूरि के आने पर द्रोणाचार्य खडे होते[३] थे और चैत्यवासी

---

१ गुर्वावली लेखक ने 'स्तम्भतीर्थ" को "स्थम्भनकपुर" समझ लिया है। उनको यह समझ लेना चाहिये था कि अभयदेवसूरि ने स्तम्भनपुर के परिसर मे पार्श्वनाथ की स्थापना की थी। परन्तु मुसलमानो के गुजरात मे फैलने के समय मे स्तम्भनपुर से हटाकर पार्श्वनाथ को 'स्तम्भतीर्थ" मे ले जाया गया था और लेखक के समय मे तो क्या आज तक वे "स्तम्भतीर्थ" मे ही विराजमान हैं, "स्तम्भनक" मे नही।

२ अभयदेवसूरि निर्मित वृत्तियो के सन्देहस्थल देवियो द्वारा तीर्थंकर को पुछवाकर नि सदेह किये जाते थे, तब आचार्य अभयदेवसूरिजो ने द्रोणाचार्य प्रमुख पाटन के विद्वान् श्रमणो की समिति द्वारा अपनी सूत्र-वृत्तिया क्यो सुधरवाई, इसका गुर्वावली लेखक ने कुछ भी खुलासा नही किया, अभयदेवसूरिजी स्वय तो स्थानागवृत्ति मे अपनी सूत्र-वृत्तियो का सशोधन करने वाली श्रमणसमिति की स्तुति करते हैं। तब गुर्वावली लेखक अभयदेव की वृत्तियो को तीर्थंकर के पास सुधरवाते हैं, यह कैसा गडबडझाला है।

३ अभयदेवसूरिजी के आने पर द्रोणाचार्य के खडे होने और अभयदेवसूरिजी की प्रशसा में पद्य लिखकर सर्व मठपतियो के पास भेजने सम्बन्धी लेखक की बात उसकी अन्ध-श्रद्धा का नमूना मात्र है, यदि लेखक ने स्थानागवृत्ति का उपोद्घात पढ लिया होता तो वे इस प्रकार की हास्यजनक बातें कभी नही लिखते।

साधुओ के विरोध करने पर उन्होने अभयदेवसूरिजी की प्रशसा मे एक पद्य बनाकर सर्व मठपतियो के पास पहुचाया जिसे पढकर वे सब ठण्डे हो गये ।

पालडदा ग्राम के भक्त श्रावको के यानपत्र डूबने की बात सुनकर अभयदेवसूरिजी ने यानपात्रो के मालिक-भक्तो को आश्वासन देते हुए कहा, चिन्ता न करियेगा, तुम्हारे जलयान कुशलतापूर्वक समुद्र पार उतर गए१ हैं । इस खुशी की बात को सुनकर यानो के मालिक बोले – किरानो से जितना लाभ होगा उसके आधे धन से हम सिद्धान्त लिखवायेगे । आचार्य ने कहा – अच्छी बात है, आपका यह कार्य मोक्ष का कारण है । ऐसा परिणाम करना ही चाहिए । कालान्तर मे अभयदेवसूरिजी वापस पाटन आए । इस समय तक उनकी सर्व दिशाओ मे सिद्धान्तपारगत के रूप मे प्रसिद्धि हो चुकी थी ।

उस समय आशो दुर्ग मे श्री कूर्चपुरीय जिनेश्वरसूरि रहते थे । उस गाव मे जितने श्रावकपुत्र थे वे सब जिनेश्वरसूरि की पौषधशाला मे पढते थे । वहा जिनवल्लभ नामक श्रावकपुत्र था, वह भी उसी पौषधशाला में पढ़ता था । जिनवल्लभ बुद्धिशाली लडका था । उसकी मा को प्रलोभन देकर आचार्य ने उसे शिष्य बना दिया । व्याकरण, साहित्य आदि पढाकर विद्वान् बना दिया ।

एक समय जिनेश्वरसूरि की गैरहाजिरी के समय मे जिनवल्लभ ने एक धार्मिक सूत्र पढा उसमे साधु को माधुकरी वृत्ति से निर्दोष आहार लेने का लिखा था । उसका चैत्यवास की तरफ से मन भग हो गया, परन्तु अपने गुरु से इस विषय मे कुछ भी चर्चा नही की । जिनवल्लभ

१. पालडदा ग्राम के भक्तो के यानपात्र पार उतरने की बधाई भी लेखक के दिमाग की उपजमात्र है, अभयदेवसूरि सुविहित साधु थे, लेखक के जैसे शिथिल यति नही, जो व्यापार के लाभ का आधा भाग सिद्धान्त लिखने को देने की बात सुनकर उनका बार-बार समर्थन करते । अभयदेवसूरिजी की आगम वृत्तिया लिखवाने वाले अनेक गृहस्थ पाटन मे थे, उनको उसके लिये – निमित्त भाषण द्वारा पालडदा के भक्तो को अनुकूल करने की कोई आवश्यकता नही थी ।

साहित्य मे अच्छा तैयार हो गया था, फिर भी उसको धार्मिक सिद्धान्त पढ़ना शेष था। आचार्य ने अपने शिष्य जिनवल्लभ और जिनशेखर[१] को अभयदेवसूरिजी के पास धार्मिक सिद्धान्त पढने के लिए भेजा। मरुकोट होकर अनहिल पत्तन जाते हुए जिनवल्लभ ने वहा एक गृहदेवालय की प्रतिष्ठा की, फिर वहा से पाटन पहुँचे, गुरु को वन्दन किया। गुरु ने भी जिनवल्लभ को देखते ही चूडामणि ज्ञान से उसकी योग्यता परख ली और आने का कारण पूछा। उसने कहा—हमको गुरु ने आपके पास जैन सिद्धान्त की वाचना लेने भेजा है। आचार्य ने सोचा – चैत्यवासी का शिष्य है फिर भी योग्य है यह विचार कर उनका स्वागत किया। अच्छा दिन देखकर वाचना देना प्रारम्भ किया। गुरु के मुख से निकलते हुए सूत्रवाक्यो को वह अमृत समान मान कर संतुष्ट होने लगा। गुरु ने भी सच्छे प्रतीच्छक को पाकर आनन्द का अनुभव किया। रात-दिन पढने तथा चिन्तन करने से सिद्धान्त वाचना थोड़े ही काल मे पूर्ण हो गई। आचार्य का एक स्वीकृत ज्योतिषी विद्वान् था, उसने कहा – यदि आपके कोई योग्य शिष्य हो तो मुझे सौंप देना, मैं उसे ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान करा दू गा। जिनवल्लभ उसको सौप दिया गया। ज्योतिर्विद ने अपने पास जितना ज्योतिष का ज्ञान था, जिनवल्लभ को पढा दिया। बाद मे जिनवल्लभ ने अपने मूल गुरु के पास जाने की आज्ञा मागी, गुरु ने कहा – जो कुछ सिद्धान्त का ज्ञान था, मैंने तुझे बता दिया है। अब ऐसा वर्तना जैसा कि सिद्धान्त मे

१. गुर्वावली लेखक ने जिनशेखर को जिनवल्लभ का वैयावृत्यकार (सेवा करने वाला) लिखा है, वास्तव मे जिनशेखर जिनवल्लभ के गुरु-भाई थे साथ ही पढकर अच्छे विद्वान् बने थे, इसीलिए तो जिनवल्लभ के पट्ट पर सोमचन्द्र को प्रतिष्ठित करने का अधिक साधुओ ने विरोध किया था, क्योकि जिनशेखर जिनवल्लभ के गुरु-भाई होने के उपरान्त विद्वान् भी थे। परन्तु आचार्य देवभद्र की जिनशेखर पर अवकृपा थी, इसलिए उन्होंने गच्छ के विरोध का विचार न करके जिनवल्लभ के पट्ट पर मुनिसोमचन्द्र को "जिनदत्तसूरि" बनाकर बैठा दिया, इसी के परिणाम स्वरूप अन्य गीतार्थ श्रमणो ने जिनशेखर को भी आचार्य बनाकर जिनवल्लभ का उत्तराधिकारी नियत कर दिया। जिनशेखर जिनवल्लभ का केवल वैयावृत्यकार होता तो यह बखेडा कभी नही होता।

लिखा है। जिनवल्लभ ने कहा– यथाशक्ति आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। जिस रास्ते से वे आये थे उसी रास्ते से चले गये। आशी दुर्ग से तीन कोश पर रहे हुए "माईयड" गाव मे ठहरे और अपने आने की गुरु को खबर पहुँचाई। दूसरे दिन आशिका से आचार्य वहां आये। आशिका न आकर बीच मे ठहरने का आचार्य ने कारण पूछा। जिनवल्लभ ने कहा – मैं चैत्यवास करना नही चाहता। आचार्य ने अनेक प्रकार से समझाया, पर जिनवल्लभ ने अपना निर्णय नही बदला। गुरु को वन्दन कर जिनवल्लभ फिर पत्तन की तरफ विहार कर गये। श्री अभयदेवसूरि के चरणो मे जिनवल्लभ के आने से अभयदेवसूरि के मन का समाधान हो गया। वे मन मे जानते थे कि जिनवल्लभ आचार्य-पद के योग्य है, परन्तु देवगृह निवासी का शिष्य होने से गच्छ को यह बात मजूर न होगी, यह विचार कर उन्होने अपने पट्ट पर वर्द्धमानसूरि को बैठाया। जिनवल्लभ गणि को अपनी उपसम्पदा[1] देकर कहा – सर्वत्र हमारी आज्ञा से विचरना। एकान्त मे प्रसन्नचन्द्राचार्य को कहा – अच्छे लग्न मे जिनवल्लभ गणि को मेरे पट्ट पर

---

१ उपसम्पदा का तात्पर्य क्या होता है इसको गुर्वावली लेखक समझा नही है, जिनवल्लभ ने चित्रकूट की प्रशस्ति मे अपने लिये स्वय लिखा है कि "उसने अभयदेवसूरि के पास 'ज्ञानोपसम्पदा' लेकर श्रुतज्ञान की प्राप्ति की थी"। जिनवल्लभ अन्त तक अपने मूल गुरु कूर्चपुरीय श्री जिनेश्वरसूरि को अपना गुरु मानते थे, स० ११३८ मे लिखे गए "विशेपावश्यक भाष्य" की कोट्याचार्य कृत टीका के अन्त मे लिखा है कि "यह पुस्तक प्रख्यात आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ गणि की है" "प्रश्नोत्तर एकषष्ठिशतक" मे, एक प्रश्नोत्तर में जिनवल्लभ गणि लिखते हैं – "मद्गुरवो जिनेश्वरसूरय" अर्थात् मेरे गुरुजी जिनेश्वरसूरि हैं। जिनवल्लभ गणि के इस प्रकार के स्पष्ट लेख मिलने पर भी गुर्वावली लेखक अभयदेवसूरि की उपसम्पदा को प्रव्रज्या मानकर जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि का दीक्षित शिष्य मानते हैं यह उनका अज्ञान है। यदि जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के समीप चरित्रोपसम्पदा ली होती तो उनको अपने पूर्वगुरु जिनेश्वरसूरि और उनके गच्छ का त्याग करना पडता और अभयदेवसूरि के गच्छ को अपना गच्छ और आचार्य उपाध्यायो को अपने आचार्य उपाध्याय मानने की प्रतिज्ञा करनी पडती परन्तु ऐसा कुछ भी नही हुआ, इससे सिद्ध है कि जिनवल्लभ गणि अभयदेवसूरि के प्रतीच्छक मात्र थे, शिष्य नही।

प्रतिष्ठित कर देना, परन्तु प्रसन्नचन्द्राचार्य को भी जिनवल्लभ को गुरु-पद पर बैठाने का प्रस्ताव न मिला। उन्होने भी अपने आयुष्य की समाप्ति के समय कपडवज मे अभयदेवसूरिजी की भावना की देवभद्राचार्य को सूचना दी। देवभद्राचार्य ने उसको स्वीकार किया। आचार्य अभयदेवसूरिजी कपडवँज मे आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

(५) जिनवल्लभ गरिण –

जिनवल्लभ गरिण कुछ दिनो तक पाटन की परिसर-भूमि मे विचरे, परन्तु वहां किसी को प्रतिबोध नही होता था, इसलिए उनका मन नही लगा, अतः दो साधुओं[1] के साथ विधिधर्म के प्रचारार्थ चित्रकूट की तरफ विहार किया। वे देश भी वहुधा चैत्यवासी आचार्यों से व्याप्त थे। वहा के निवासी भी उन्ही के भक्त थे, फिर भी अनेक गावो मे फिरते हुए चित्तौड़ पहुँचे। वहां ठहरने के लिये श्रावको से स्थान पूछा, उन्होने कहा– "चण्डिका का मठ है, यदि वहा ठहरो तो", जिनवल्लभ ने कहा – "तुम्हारी अनुमति हो तो वही ठहरे"। श्रावको ने अनुमति दी। जिनवल्लभ गरिण सभी विद्याओ मे प्रवीण थे। धीरे-धीरे चित्तौड मे उनकी प्रसिद्धि हो गई, ब्राह्मण आदि विद्वान् तथा इतर जिज्ञासु मनुष्य और कोई श्रावक भी उनके पास जाने लगे।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी महावीर के गर्भापहार कल्याणक का दिन है, यदि देवालय मे जाकर विस्तार से देववन्दन किया जाय तो अच्छा है। उस समय वहा विधि-चैत्य तो था नही – वे चैत्यवासियो के देवालयो मे जाने लगे, तव एक साध्वी देवगृह के द्वार पर खड़ी होकर कहने लगी –

१ गुर्वावली में जिनवल्लभ ने पाटन छोडा तव उन्हे "आत्मतृतीय" लिखा है, परन्तु हमारी राय में जिनवल्लभ गरिण अकेले ही पाटन से चित्तौड गये हैं, क्योकि वाद के उनके जीवनवृत्त में उनके साथ में साधु होने की कोई सूचना तक नही मिलती, देवभद्र चित्तौड के लिए रवाने होते हैं जव उन्हे नागौर लिखते हैं – "अपने परिवार के साथ चित्तौड चले आना, परन्तु उनके साथ परिवार था इसका कोई प्रमाण नही मिलता। जिनवल्लभ के केवल एक "रामदेव" नामक शिष्य होने का उनके एक ग्रन्थ की अवचूर्णी से पता लगता है।

नयी रीतिया करने के लिये यहा स्थान नही है। इस पर जिनवल्लभ तथा उनके अनुयायी श्रावक वहा से लौट गये। अपने स्थान पर जाकर श्रावको ने कहा – बडे मकान हैं उनमे से एक के ऊपर "चतुर्विंशति जिनपट्ट" स्थापित कर देववन्दनादिक धार्मिक क्रियाए की जाएं तो कैसा ? गुरु ने कहा – वहुत ठीक है। श्रावको ने वैसा ही किया, गुरु का मन सतुष्ट हुआ। वाद मे श्रावको ने "चित्तौड़दुर्ग" मे तथा "नगर" मे एक-एक जिनालय वनाने का विचार किया और गणिजी की सम्मति मागने पर जिनवल्लभ ने उनके विचार का अनुमोदन किया। दोनो मन्दिर तैयार हो गये[१]। दुर्ग मे पार्श्वनाथ और नीचे महावीर के विम्व। जिनवल्लभ गणि द्वारा प्रतिष्ठित किये गये।

एक समय मुनिचन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यो को सिद्धान्त-वाचना के निमित्त जिनवल्लभ गणि के पास भेजा। गणिजी ने उनको वाचना देना प्रारम्भ किया, पर वाद मे उन्हे एक पत्र से मालूम हुआ कि दोनो साधु मेरे श्रावको को वहकाकर अपने गुरु का भक्त वना रहे है, उन्होने साधुओ को फटकारा और वे वहां से चले गए[२]।

जिनवल्लभ गणि ने अपने श्रावक गणदेव को धार्मिक शिक्षा देकर उपदेशक वनाया, क्योकि उसको वक्तृत्वशक्ति अच्छी थी। अपने नये तैयार

---

१ अष्टसप्ततिका के अनुसार मन्दिर एक ही वना था।

२ मुनिचन्द्रसूरि स्वय आगम-शास्त्र और न्याय-शास्त्र के प्रौढ विद्वान् थे और जिनवल्लभ के स्वर्गवास के वाद वे वर्षो जक जीवित रहे थे, इस परिस्थिति में उनके शिष्यो का जिनवल्लभ के पास वाचना लेने जाने की वात निर्मूल प्रतीत होती है और जिनवल्लभ के श्रावको को वहकाकर अपने गुरु के रागी वनाने का कथन इससे भी विशेष असभव प्रतीत होता है, क्योकि मुनिचन्द्रसूरि उस समय के सुविहित साधुओ में पहले नम्बर के त्यागी और उग्र विहारी थे, वे हमेशा सौवीर जल पीते थे और मास-कल्प के क्रम से विहार करते थे, वृद्धावस्था में भी पाटन में मास कल्प की मर्यादा का पालन करने के लिए प्रतिमास मुहल्ला और मकान वदलते थे। सारा पाटन उनका भक्त और प्रशसक था। ऐसे त्यागी पुरुष के लिए भक्त वनाने के प्रपच की वात केवल कल्पित कहानी ही हो सकती है।

किये हुए कुलक-लेखो के साथ जिनवल्लभ गरिण ने गरणदेव को वागड़ देश मे धर्मप्रचार के लिए भेजा। वहा गरणदेव ने सर्वलोको को जिनवल्लभ गरिण दर्शित विधि-धर्म की तरफ आकृष्ट किया था।

एक समय धारा नगरी मे नरवर्मा राजा की सभा मे दो दक्षिणी पंडित आए, उन्होने "कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः" यह पद सभा के पंडितों को दिया और अनेक पण्डितो ने समस्यापूर्तिया की, परन्तु आगन्तुक पण्डितो को एक भी समस्यापूर्ति सन्तुष्ट न कर सकी। इससे राजा ने जिनवल्लभ गरिण की प्रशसा सुनकर उनसे समस्यापूर्ति कराने के लिए शीघ्रगतिक ऊटो के साथ लेख लिख कर पुरुषों को चित्तौड़ भेजा। प्रतिक्रमण के समय नरवर्मा का आदमी जिनवल्लभ से मिला, पत्र दिया और जिनवल्लभ ने तुरन्त समस्यापूर्ति करके नरवर्मा के पुरुषो को दे दी। दाक्षिणात्य पण्डित समस्यापूर्ति सुनकर सन्तुष्ट हुए और राजा को तरफ से पारितोषिक पाकर चले गए।

जिनवल्लभ गरिण कुछ दिनो के बाद धारा नगर पहुँचे[१]। राजा नरवर्मा ने जिनवल्लभ गरिण को अपने पास बुलाया और "समस्यापूर्ति के पारितोषिक के रूप में तीन लाख पारुत्थ अथवा तीन गाव लेने के लिए कहा, उत्तर मे गरिणजी ने कहा – महाराज! हम साधु लोग धन-संग्रह नहीं करते। चित्तौड़ मे श्रावको ने दो जिनमन्दिर बनवाए हैं, उनकी पूजा के लिए आपकी शुल्कशाला की आमदनी मे से दो पारुत्थ प्रतिदिन दिलाइयेगा। राजा ने चित्रकूट की शुल्कमण्डपिका से प्रतिदिन दो पारुत्थ चित्तौड़ के जैन-मन्दिरो में देने के लिए आज्ञा दी।

१. जिनवल्लभ गरिण के धारा नगर जाने और चित्तौड के दोनो मन्दिरो के लिए प्रतिदिन दो पारुत्थ नियत करवाने की हकीकत वाला सारा प्रकरण प्रक्षिप्त है। गुर्वावली की अन्य प्रतियो मे यह प्रकरण उपलब्ध नही होता, इस गुर्वावली की प्राचीन प्रति मिल गई होती तो इस प्रकार के तमाम कूटप्रकरणों का पता लग जाता, परन्तु अफसोस है कि प्राचीन प्रति के आदि के ५ पत्र ही उपलब्ध हुए, इसलिए लग-भग सम्पूर्ण प्रक्षिप्त पाठ गुर्वावली मे रह गए हैं।

नागौर मे श्रावको ने नेमिनाथ का देवालय और नेमिनाथ का बिम्ब तयार करवाया था। उनकी इच्छा हुई कि हम जिनवल्लभ गणि को गुरु के रूप में स्वीकार कर उनके हाथ से दोनो की प्रतिष्ठाए करवायेंगे। सर्वसम्मति से उन्होने जिनवल्लभ गणि को बुलाया। अच्छे लग्न में देवगृह तथा नेमिनाथ-बिम्ब को प्रतिष्ठित करवाया। उसके प्रभाव से वे श्रावक लखपति बन गए। नेमिनाथ के बिम्ब के लिए उन्होने रत्नमय आभूषण बनवाये। इसी प्रकार 'नरवर' के श्रावको की इच्छा हुई और जिनवल्लभ गणि का गुरुत्व स्वीकार कर उनसे जिनालय तथा जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करवाई। दोनो स्थानों के मन्दिरो मे रात्रि मे बलिप्रदान, स्त्रीप्रवेश, लकुटादिदान का निषेध कर विधि-चैत्य के नियम लिखवाए।

मरुकोट के श्रावको की विज्ञप्ति से जिनवल्लभ गणि विक्रमपुर होते हुए मरुकोट पहुचे। वहां के श्रावको ने एक अच्छा स्थल ठहरने के लिए दिया और उनके मुख से धर्मोपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की। गणिजी ने उपदेशमाला सुनाना प्रारम्भ किया। यद्यपि यह ग्रन्थ श्रावकों का सुना हुआ था तथापि जिनवल्लभ गणि की उपदेशधारा इतनी मधुर थी कि श्रोताओ को सुनकर तृप्ति नही होती थी। उस समय आचार्य देवभद्र विहार करते हुए अणहिल पत्तन आए। पत्तन आकर उन्होने जिनवल्लभ गणि को चित्तौड़ जल्दी आ जाने के लिए लिखा। जिनवल्लभ नागौर से विहार करते हुए चित्तौड़ पहुँचे और सं० ११६७ के आषाढ सुदि ६ के दिन वीरविधिचैत्य मे अभयदवसूरि के पट्ट पर जिनवल्लभ गणि को प्रतिष्ठित किया। देवभद्रादिक अपने-अपने स्थान पहुँचे, परन्तु उसी वर्ष मे कार्तिक वदि १२ को रात्रि के समय जिनवल्लभसूरि समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हो गये।

जिनवल्लभ का मरण-समाचार सुनकर देवभद्रसूरि को बड़ा दु.ख हुआ और जिनवल्लभ के पद पर किसी योग्य साधु को प्रतिष्ठित कर उनकी परम्परा चालू करने की चिंता मे लगे।

साधुओ की योग्यता पर विचार करते-करते उ० धर्मदेव के शिष्य सोमचन्द्र मुनि पर आचार्य देवभद्र की दृष्टि पहुँची। वह चपल

प्रकृति का होते हुए भी विद्वान् साधु था। आचार्य हरिसिंह के पास सिद्धान्त पढा हुआ था। गृहस्थवर्ग तथा श्रमणसमुदाय भी सोमचन्द्र की योग्यता से परिचित था। देवभद्रसूरि ने सर्वसम्मति से चित्तौड़ आने के लिए पत्र लिखा। चित्तौड़ जाने के वाद प० सोमचन्द्र को देवभद्रसूरि ने एकान्त में कहा – अमुक दिन में आचार्य-पद प्रदान करने के योग्य लग्न निश्चित किया है। सोमचन्द्र ने कहा – ठीक है, पर इस लग्न मे मुझे पद पर प्रतिष्ठित करोगे, तो मेरा जीवित लम्वा नही होगा। छः दिन के वाद शनिवार को जो लग्न आयगा, उसमें पट्टप्रतिष्ठित होने पर चारों दिशाओं मे श्री जिनवल्लभसूरिजी के वचन का प्रचार होगा और चतुर्विध श्रमणसंघ की वृद्धि होगी। श्री देवभद्रसूरि ने कहा – वह लग्न भी दूर नही है, उसी दिन पद प्रदान करेंगे। वाद मे सोमचन्द्र के बताए दिन ११६९ के वैशाख सुदि १ को चित्रकूट के जिनचैत्य मे श्रीजिनवल्लभसूरि के पट्ट पर प० सोमचन्द्र को आचार्य-पद देकर "श्री जिनदत्तसूरि" यह नाम रक्खा। जिनदत्तसूरि की पदप्रदान के वाद की देशना सुनकर सव ने आचार्य देवभद्र की पसन्दगी की प्रशसा की। देवभद्र ने कहा – जिन-वल्लभसूरिजी ने मुझे कहा था कि मेरे पट्ट पर आप सोमचन्द्र गणि को विठाये, इसलिए मैंने उनकी इच्छा के अनुकूल कार्य किया है। अन्त में देवभद्राचार्य ने नये आचार्य को कहा – कुछ दिन तक पाटन को छोड़ कर अन्य प्रदेश मे विहार करना[1], जिनदत्तसूरि ने कहा – ऐसा ही करेंगे।

---

१. गुर्वावलीकार जिनदत्त को पाटन से अन्य स्थानो में विहार करने की सूचना देवभद्र के मुख से करवाता है, और जिनदत्तसूरि उसको स्वीकार करते हैं। इस पर भी जिनदत्त अट्ठम तप करके देव को वुलाते हैं और देव से अपने विहार का क्षेत्र पूछते हैं, देव उनको मरुस्थली का प्रदेश विहार के लिए सूचित करता है।

जिनशेखर को समुदाय मे लेने के वाद गच्छ के आचार्य जिनदत्तसूरि को कहते हैं– जिनशेखर को शामिल लेना तुम्हारे लिए सुखकर न होगा, यह कहने के वाद वे आचार्य अपने-अपने स्थान जाते हैं, गुर्वावलीकार ने इस विषय में यथार्थ वात को छिपाया है। जिनशेखर को शामिल लेने का परिणाम जिनदत्त को भयकर मिला है, इस सम्वन्ध में उपाध्याय श्री समयसुन्दरजी नीचे का वृत्तान्त लिखते हैं – जो ध्यान में लेने योग्य है – "श्री जिनवल्लभसूरिनिष्काषितसाधुमध्यग्रहणेन १३

एक दिन जिनशेखर ने व्रत के विषय मे कुछ अनुचित कार्य किया, फलस्वरूप देवभद्राचार्य ने जिनशेखर को समुदाय से निकाल दिया, जहां होकर स्थण्डिल भूमि जाते हैं, वहा जाकर जिनशेखर खडा रहा। जिस समय वहिर्भूमि मे जाते हुए जिनदत्तसूरि वहां पहुचे और जिनशेखर उनके पैरो मे गिरकर वोला – "मेरा यह अपराध क्षमा करियेगा" फिर ऐसी भूल न करूगा। दयासागर श्री जिनदत्तसूरिजी ने उनको फिर समुदाय में मिला दिया, पता लगने पर आचार्य ने कहा – जिनशेखर को समुदाय में

आचार्यैः श्री जिनदत्तसूरिः गच्छाद्वहिष्कृतः ततः पदस्थापनाकारक श्रावकं पृष्ट्वा वर्षत्रयावधि कृत्वा निर्गतः ॥" अर्थात् = जिनवल्लभसूरि द्वारा निकाले हुए साधु को फिर समुदाय में लेने के अपराध में गच्छ के १३ आचार्यो ने श्री जिनदत्तसूरि को गच्छ से वहिष्कृत किया, तव पदस्थापनाकारक श्रावक को पूछकर तीन वर्ष के लिए जिनदत्तसूरि निकल गए।

खरतरगच्छ की एक अन्य पट्टावली में जो जिनराजसूरि तक के आचार्यो की परम्परा वताने वाली है और सत्रहवी शदी में लिखी हुई है, जिनदत्तसूरि के उक्त प्रसग में –

"वीरणई दीनि वाहरि गया छई, श्री जिनदत्तसूरि, तिवारइ, जिनशेखर आवी पगे लागऊ, कह्यऊ मारु × × × × × × × ×

माहि घातओ, गुरु साथइ लेई आव्या अनेरे आचार्ये कह्यऊ एकाढयऊ हुतओ तम्हे अरणपूछिइ किममाहि आण्यो, तिवारइ जिनदत्त-सूरि कह्यओ म्हारइ दाइ आरणइ मइ घाल्यो, श्री जिनवल्लभसूरि न ओ एगुराहि जिनषेखर, समस्त सघ १४ आचार्य मिली कह्यओ एवारउ काढओ नहितर थेई विहार करओ, जिनदत्तसूरि विहार किधओ, उपवास ३ करी स्मरयो हरिसिंहाचार्य देवलोक हूती आव्यओ, मूनइ किसइ अर्थि स्मरओ तू हे, कह्यओ मुहूर्त ३ वीजई मुहूर्ति मूनई पाट हूओ, गच्छसूं विरोध हूयओं किसी-किसी दिसि विहार करओ, मारुवाडि मरुस्थलि दिशि विहार करि जेति तुम्हे स्मरस्यो तेथी हूं जुदउ।"

हमारे पास एक २६ पत्रात्मक वडी गुर्वावली है, उसमें जिनदत्तसूरि का वृत्तान्त क्षमाकल्याणकमुनि का लिखा हुआ है, उसमें जिनदत्तसूरि को गच्छ के आचार्यो द्वारा गच्छ वाहर निकालने की सूचना तक नही है, उपर्युक्त खरतर-

लेना तुम्हारे लिए सुखकर न होगा, बाद मे दूसरे आचार्य आदि वहा से विहार कर गए, इसके बाद जिनदत्तसूरिजी ने अपने विहार का निश्चय करने के लिए तीन उपवास कर देवलोक-स्थित हरिसिंहाचार्य के जीवदेव का स्मरण किया, देव उनकेसमीप आया और बोला – मेरा स्मरण क्यो किया है ? जिनदत्तसूरि ने पूछा, "विहार किधर करूँ" देव ने कहा – "मरुस्थली आदि देशो मे विहार करो ।"

देवादेश के अनुसार जिनदत्तसूरि मारवाड मे विहार करते हुए नागौर पहुँचे, वहां का रहने वाला धनदेव श्रावक उनका बड़ा आदर करता है और कहता है – यदि आप मेरा कथन माने तो मैं आपको सब का पूज्य बनालू, इस पर जिनदत्तसूरि ने कहा – हे धनदेव ! शास्त्र मे श्रावक को गुरु का वचन मानने का विधान है । गुरु को श्रावक का वचन मानने का नही, मेरे पास परिवार न होने से लोगों मे मेरी पूजा न होगी, यह नही मानलेना चाहिए, अधिक परिवार वाला मनुष्य ही जगत् में पूज्यता को पाता है यह एकान्त नही मान लेना चाहिये क्योकि अनेक पुत्रों मे परिवृत भी गर्ताशूकरी विष्ठा खाती है । धनदेव को जिनदत्तसूरि का उपर्युक्त कठोर उत्तर भाया नही ।

वहां से जिनदत्तसूरि विचरते हुए अजमेर पहुचे, वाहड़देव श्रावक के गृहदेवालय में जिनदत्तसूरि देववन्दनार्थ गए, अन्यदा वहां एक अन्य आचार्य

गच्छ की पट्टावलियो में से प्रथम दो १७ वी सदी की हैं तब तीन गुर्वावलियां १६ वी सदी की हैं, इस प्रकार ज्यो-ज्यो समय वीतता जाता है त्यो-त्यो खरतरगच्छ की पट्टावलियो, गुर्वावलियो में अनुकूल पाठ प्रक्षिप्त किये जाते हैं और प्रतिकूल पाठ उनमें से निकाल दिये जाते हैं, प्रस्तुत "खरतर बृहद् गुर्वावली" में से जिनदत्तसूरि वाला प्रसग सर्वथा तो निकाला नही गया । परन्तु उसमें ऐसा गोलमाल किया है कि उस प्रसग को खरे रूप में कोई समझ न सके । देवभद्रसूरि के मुख से इतना ही कहलाया कि "तुम अभी पाटन से अन्यत्र विहार करना," अन्य आचार्यों के मुख से इतना ही कहलाया – जिनशेखर को शामिल लेना तुम्हारे लिए सुखावह नहीं है, इन गोलमाल लेखो से इतना तो निश्चित होता है कि "बृहद् गुर्वावली" समयसुन्दर, जिनराजसूरि के समय से अर्वाचीन १८ वी सदी की है, और उ० क्षमाकल्याण के पहले की । ★

आया, जो पर्याय में छोटा था, जिनदत्तसूरि वहां जाते तव वह आचार्य उनके साथ उचित व्यवहार नही करता था। आशधर प्रमुख जिनदत्तसूरि के श्रावकोने अर्णोराज को विज्ञप्ति की कि हे देव ! हमारे गुरु जिनदत्तसूरिजी महाराज पधारे हुए हैं। राजा ने कहा – अच्छी वात है, कार्य हो तो कहो, श्रावकों ने कहा – एक जमीन का टुकडा चाहिए, जहा देवालय धर्मस्थान, श्रावक-कुटुम्वो के रहने के लिए मकान वनाये जासके। राजा ने कहा – दक्षिण-दिशा मे जो पर्वत दीख रहा है, उसकी तलभूमि मे जो करना चाहो करो। राजा ने कहा – आपके गुरु महाराज के दर्शन तो हमे भी करना ! राजा के साथ जो कुछ वातचीत हुई थी, वह सव श्रावको ने अपने गुरु को सुनायी। आचार्य ने कहा – ऐसे राजा को अपने पास वुलाना चाहिए। अच्छा दिन देखकर राजा को वुलाया, राजा ने आचार्य को नमस्कार किया। आचार्य ने राजा को निम्नलिखित आशीर्वाद का श्लोक अर्थ के साथ सुनाया –

"श्रिये कृतनतानन्दा, विशेषवृषसंगताः।
भवन्तु भवतां भूप, ब्रह्मा श्रीधरशंकराः॥"

आशीर्वाद सुनकर राजा प्रसन्न हुआ, वाद में श्रावको ने स्तम्भनक, शत्रुञ्जय, उज्जयन्त, की कल्पना से पार्श्वनाथ ऋषभदेव और नेमिनाथ के विम्वो की स्थापना की, भावना की। ऊपर के भाग मे अम्विका की देव-कुलिका और नीचे गणधर आदि के स्थान रखने का विचार किया।

अजमेर से वागड की तरफ विहार किया। वहां के लोग पहले से ही जिनवल्लभसूरि के भक्त थे और उन्होने जव सुना कि जिनवल्लभ के पट्टधर भी वड़े विद्वान् हैं तो वे वहुत सतुष्ट हुए, कइयो ने दीक्षा ली, सुना जाता है कि वहा सव मिलकर ५२ साधु साध्वियों की दीक्षाए हुईं।

उस प्रसंग पर जिनशेखर को उपाध्याय वनाकर कतिपय साधुओ के साथ रुद्रपल्ली की तरफ भेजा। वहा उसके संसारी स्वजन रहते थे, उनके चित्तसमाधान के लिए जिनशेखर तपस्या करता था। कालान्तर मे जिनदत्त-सूरि भी रुद्रपल्ली की तरफ विचरे। जिनशेखरोपाध्याय श्रावको के साथ

आचार्य के सामने गए। ठाट के साथ जिनदत्तसूरि का नगरप्रवेश हुआ। वहा पर पार्श्वनाथ तथा ऋषभदेव के दो जिनालयो की प्रतिष्ठा की। अनेक श्रावको ने सम्यक्त्व तथा देशविरति का व्रत स्वीकार किया, फिर वहा से पश्चिम मे विहार करते हुए वागड़ मे व्याघ्रपुर गये। वहां से जयदेवाचार्य को रुद्रपल्ली भेजा और आपने वहा रहते हुए "चर्चरी" की रचना की। पहले आपने वागड़ मे रहते हुए जिन साधुओ को पठनार्थ धारा भेजा था, उन सब को अपने पास बुलाया और उनको सिद्धान्त सुनाया। जीवदेव को आचार्य-पद प्रदान किया। जिनचन्द्रगणि, शीलभद्रगणि, स्थिरचन्द्र-गणि, ब्रह्मचन्द्रगणि, बिमलचन्द्रगणि, वरदत्तगणि, भुवनचन्द्रगणि, वरणागगणि, रामचन्द्रगणि और मणिभद्रगणि इन दस को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया।

श्रीमति, जिनमति, पूर्णश्री, जिनश्री और ज्ञानश्री इन पाच साध्वियो को महत्तरा का पद दिया। हरिसिंहाचार्य के शिष्य मुनिचन्द्र उपाध्याय के शिष्य जयसिंह को चित्तौड़ में आचार्य-पद दिया। उनके शिष्य जयचन्द्र को पाटन मे आचार्य-पद पर स्थापित किया। इन दोनो को कहा – आगे रीति से चलना। सब पदस्थो को शिक्षा देकर विहारादि स्थानो का निर्देश करके आपने अजमेर की तरफ विहार किया।

विक्रमपुर के देवधर नामक श्रावक ने अपने नगर की तरफ जिनदत्त-सूरिजी को विहार कराने का निश्चय किया। उसके सामने किसी ने इन्कार नही किया, वह श्रावक-समुदाय के साथ नागौर गया और वहां के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्रसूरि के साथ आयतन अनायतन के विषय मे वार्तालाप करने के उपरान्त देवधर श्रावक अपने समुदाय और कुटुम्ब के साथ विधि-मार्ग का अनुयायी बन गया।

वहा से देवधर सपरिकर अजमेर गया और जिनदत्तसूरि को वन्दन कर विक्रमपुर को तरफ विहार करने की प्रार्थना की। अजमेर का कार्य निपटा कर देवधर के साथ जिनदत्तसूरिजी विक्रमपुर गए। वहां के अनेक मनुष्यों को प्रतिवोध किया और भगवान् महावीर की प्रतिमा की स्थापना की।

विक्रमपुर से उच्चानगर जाने के रास्ते मे अनेक भूतों का भय था, उसे हटाया। उच्चा के लोगों को प्रतिबोध देकर नवहर गए और वहां से त्रिभुवनगिरि। त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल को प्रतिबोध किया, शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा करवाई।

सं० १२०३ के फाल्गुन सुदि नवमी के दिन अजमेर मे आपके हाथ से श्री जिनचन्द्रसूरि की दीक्षा हुई।

सं० १२०५ के वैशाख शुक्ल षष्ठी के दिन विक्रमपुर मे श्री जिनदत्त-सूरिजी ने अपने पद पर जिनचन्द्रसूरि को प्रतिष्ठित किया और स० १२११ के आषाढ़ वदि ११ को जिनदत्तसूरिजी अजमेर मे स्वर्गवासी हुए।

(७) श्री जिनचन्द्रसूरि –

स० १२१४ में जिनचन्द्रसूरि ने त्रिभुवनगिरि मे श्री शान्तिनाथ के प्रासाद पर कलश-दण्ड-ध्वजारोहण किया। हेमदेवी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, फिर आपने मथुरा की यात्रा की।

सं० १२१७ के फाल्गुन शुक्ल दशमी के दिन पूर्णदेवगणि जिनरथ, वीरभद्र, वीरजय, जगहित, जयशील, जिनभद्र और जिनपति आपके हाथ से दीक्षित हुए। इसी वर्ष मे मरुकोट मे चन्द्रप्रभ स्वामी के चैत्य पर वैशाख शुक्ल दशमी के दिन दण्डध्वज, कलशारोपण किया। ५०० पारुत्थ द्रम्म वोल कर सा० क्षेमकर ने माला पहनी।

स० १२१८ के वर्ष मे उच्चा नगरी मे ऋषभदत्त, विनयचन्द्र, विनयशील, गुणवर्धन, वर्धमानचन्द्र नामक ५ साधु और जगश्री, सरस्वती और गुणश्री नामक तीन साध्वियो की दीक्षा हुई।

सं० १२२१ के वर्ष मे सागरपट्ट मे पार्श्वनाथचैत्य में देवकुलिका की प्रतिष्ठा की। अजमेर में जिनदत्तसूरि का स्तूप प्रतिष्ठित किया। बव्वेरक मे गुणभद्रगणि, अभयचन्द्र, यशश्चन्द्र, यशोभद्र और देवभद्र को दीक्षा दी। देवभद्र की भार्या भी दीक्षित हुई। आशिका मे नागदत्त को

वाचनाचार्य-पद दिया, महावन में अजितनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की, इन्द्रपुर मे शान्तिनाथ के चैत्य पर कलश, दण्डध्वज का रोपण किया। नगला गांव मे अजितनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की।

स० १२२२ मे वादली नगर मे पार्श्वनाथ चैत्य पर दण्डध्वज-कलश की प्रतिष्ठा की और अम्बिका शिखर पर कलश की प्रतिष्ठा कराके रुद्रपल्ली की तरफ विहार किया। उसके आगे नरपालपुर मे किसी ज्योतिष-शास्त्र के जानकार प० से ज्योतिष सम्वन्धी चर्चा हुई, फिर रुद्रपल्ली विचरे। वहां पद्मचन्द्राचार्य ने उनसे कुछ वातें पूछी, जिनका इन्होने उत्तर दिया। रुद्रपल्ली से विहार करते हुए चौरसिन्दानक ग्राम के समीप उनका साथ उतरा। वहा म्लेच्छो के भय से आकुल हुए साथ के लोगो को पूछा — आकुल क्यो हो ? साथ वालो ने कहा — म्लेच्छो का लश्कर आ रहा है, आचार्य ने कहा— तुम सर्व वस्तु वृषभादि एकत्र करलो। आचार्य श्री जिनदत्तसूरि रक्षा करेंगे। यह कह कर उन्होने पड़ाव के चारों ओर अपने दण्ड से गोलाकार लकीर खीच ली। सार्थ लोग सव वोरियो पर वैठे हुए घोड़ो पर चढे हुए हजारो म्लेच्छो को देखते है, परन्तु म्लेच्छ लोग किसी को नही देखते, वे केवल कोट को ही देखते हैं। निर्भयता होने के वाद वहां से चलकर सार्थ के साथ आचार्य अगले गाव गये। दिल्ली वास्तव्य श्रावकों ने आचार्य का आगमन सुना, वे उनके सामने गये। अपने महल पर वैठे हुए राजा मदनपाल ने वस्त्रालंकारो से सज्ज श्रावको को जाते देखकर अपने आदमियों से पूछा — आज क्या मामला है, सव लोग वाहर क्यो जा रहे हैं ? राजपुरुषो ने कहा — देव, इनके गुरु आ रहे हैं। ये लोग भक्तिवश उनके सामने जाते हैं। कुतूहल से राजा ने कहा — महासाधनिक पट्टघोड़े को तैयार कर और काहलिकहस्त द्वारा काहला को वजवा, जिससे लोग जल्दी तैयार होकर यहां आ जाय। आदेश होने के वाद हजार घोड़े सवारो से परिवृत राजा श्रावकों के पहले आचार्य के पास पहुँच गया। आचार्य के साथ आए हुए लोगो ने उपहार आदि द्वारा राजा का सत्कार किया। आचार्य ने मधुर वाणी से राजा को धर्म सुनाया, राजा ने आचार्य को अपने नगर मे आने के लिए प्रार्थना की,

परन्तु उन्होने कोई उत्तर नही दिया, क्योंकि जिनदत्तसूरिजी ने अपने पट्टधरो की परम्परा के आचार्य को योगिनीपुर में न जाने का आदेश दिया था। राजा के उपरोध से जिनचन्द्रसूरि योगिनीपुर में जाने के लिए तैयार हुए और ठाट के साथ नगरप्रवेश किया।

एक समय वहां रहने वाले अपने भक्त कुलचन्द्र श्रावक को पूज्य ने अतिगरीब देखकर उसे एक यन्त्रपट दिया और कहा – कुलचन्द्र ! अपनी मुट्ठीभर वास से पट को प्रतिदिन पूजना, इस पट पर चढाये हुए, निर्माल्य रूप वास पारद आदि के सयोग से सुवर्ण वन जायेंगे१, गुरु की वताई हुई रीति से पट्ट को पूजता हुआ कुलचन्द्र कोटिध्वज हो गया।

---

१. वास को सोना वनाकर कुलचंद्र श्रावक को करोडपति वनाने वाला गुर्वावलीलेखक किसी नई दुनिया का मनुष्य प्रतीत होता है। खनिज-पदार्थों के सम्पर्क से पारद का सोना वनाने का तो भारतीय रसायन और तन्त्र-शास्त्रों में लिखा है, परन्तु केसर, कस्तूरी चन्दन आदि सुगन्ध काष्ठिक पदार्थों से सोना वनाने का गुर्वावली-कार को छोड कर अन्य किसी ने नही लिखा। लेखक को इस प्रकार के कल्पित किस्से लिखने के पहले सोचना था कि इन वातो को सत्य मानने वाले परिमित भोले भक्त मिलेंगे, तव इन वातों को पढकर लेखक की खिल्ली उडाने वाले वहुत मिलेंगे। परिणामस्वरूप इस जरिये से हमारे गुरु का महत्त्व वढाने के वदले घट जायगा।

उक्त हकीकत वाले फिकरे के नीचे एक प्रक्षिप्त आठ पंक्ति का पाठ है, उसमे एक देवता को देव वनाने की कहानी लिखी है, वह कहानी इस प्रकार है – "एक दिन जिनचन्द्रसूरि दिल्ली के उत्तर दरवाजे से होकर स्थण्डिल भूमि की तरफ जा रहे थे। महानवमी का दिन था, श्री पूज्य ने मास के निमित्त आपस मे लडती हुई दो देवताओ को देखा। वडे जोरों का युद्ध हो रहा था, उसे देख कर श्री पूज्य ने दया लाकर "अधिगालि" नामक देवता को प्रतिवोध दिया। शान्तचित्त होकर उसने आचार्य को कहा – भगवन् ! मैंने मास-वलि का त्याग कर दिया, परन्तु आप मुझे कोई स्थानक वनाए, जहा रहकर आपकी आज्ञा का पालन करती रहू। आचार्य ने उसे कहा – महानुभाव ! श्रीपार्श्वनाथविधिचैत्य में प्रवेश करते दाहिनी तरफ जो स्तम्भ है, उसमें तू अपना स्थान वना ले। श्री पूज्य वहिर्भूमि से पौषधशाला मे आये और सा० लोहड, सा० कुलचन्द्र, सा० पाल्हण आदि प्रधान श्रावको को कहा – श्री पार्श्वनाथ प्रासाद में प्रवेश करते दाहिनी तरफ के स्तम्भ

सं० १२२३ के द्वितीय भाद्रपद वदि १४ को समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर जिनचन्द्रसूरि स्वर्गवासी हो गए।

(८) श्री जिनपतिसूरि –

जिनपतिसूरि का जन्म १२१० विक्रमपुर मे हुआ था और इनकी दीक्षा सं० १२१७ के फाल्गुन सुदि १० को और सं १२२३ मे १४ वर्ष की उम्र मे इन्हे क्षुल्लक नरपति से जिनपतिसूरि वनाकर जिनचन्द्रसूरि के पट्टपर प्रतिष्ठित किया था।

जिनचन्द्रसूरि के पाठक श्री जिनभक्त मुनि को आचार्य-पद देकर "श्री जिनभक्ताचार्य" वनाया, वहा के समुदाय के साथ सा० मानदेव ने हजार द्रव्य खर्च कर यह महोत्सव किया था। उसी स्थान पर जिनपति-सूरिजी ने पद्मचन्द्र और पूर्णचन्द्र को श्रमणव्रत दिये।

सं० १२२४ मे विक्रमपुर में प्रथमनन्दी मे गुणधर, गुणशील, दूसरी मे पूर्णरथ, पूर्णसागर और तीसरी नन्दी मे वीरचन्द्र तथा वीरदेव को दीक्षा दी और जिनप्रिय को उपाध्याय-पद, १२२५ मे भी जिनसागर, जिनाकरादि की वहां दीक्षाएं हुईं, फिर विक्रमपुर मे जिनदेवगणि की दीक्षा हुई।

मे अधिष्ठायक की मूर्ति खुदवालो। श्री पूज्य का आदेश होते ही श्रावको ने वैसा ही किया। वडे ठाट के साथ श्री पूज्य ने वहा प्रतिष्ठा की और "अतिवल" ऐसा अधिष्ठायक का नाम दिया, श्रावको ने उसको वडे-वडे भोग चढाना शुरु किया। "अतिवल" भी श्रावको का मनोवाञ्छित पूरने लगा।

पाठकगण ऊपर पढ आये हैं कि जिनचन्द्रसूरि ने जिस देवता को मासवलि न लेने का प्रतिवोध दिया था, उसका नाम "अधिगालि" था और जात की वह देवी थी, परन्तु पार्श्वनाथ के मन्दिर मे स्तम्भ पर प्रतिष्ठित कर आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि के भक्तो ने उसको "अतिवल" नामक देव वना लिया और जिनचन्द्र-सूरिजी से उसकी प्रतिष्ठा भी करवा ली। पाठक महोदय. इस प्रकार के चमत्कारो की वातें आपने किसी अन्य गच्छ की गुर्वावलियो मे नही पढी होगी। कभी आपको दिल वहलाने के लिए नवल कथा पढने की इच्छा हो जाय तो एक आध खरतर-गच्छ की गुर्वावली पढ़ लेना सो आपकी इच्छा पूरी हो जायगी।



सं० १२२७ में उच्चानगर मे धर्मसागर धर्मचन्द्रादि की ६ दीक्षाएं हुई, एक श्राविका की दीक्षा हुई और जिनहित को वाचनाचार्य-पद दिया, उसी वर्ष मे मरुकोट मे शीलसागर, विनयसागर और उसकी बहन अजित-श्री को गणिनी का व्रत दिया।

सं० १२२८ मे सागरपाट मे अजितनाथ और शान्तिनाथ चैत्यों की प्रतिष्ठायें की, उसी वर्ष विहार करके वब्बेरक गए। आशिका के निकट श्री पूज्य का आगमन सुनकर आशिका का समुदाय, वहा के राजा भीमसिह के साथ उनके सामने गया और नगर में प्रवेश कराया। आशिका मे बहिर्भूमि जाते एक दिगम्बर विद्वान् मिला, उससे कुछ वार्तालाप हुआ। नगर मे वात फैली कि श्वेताम्बर आचार्य ने वाद में दिगम्बर को जीता; राजा भीमसिह ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। फाल्गुन शुक्ल ३ को वहा देवालय में पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापन कर वहां से सागरपाट जाकर देवकुलिका की प्रतिष्ठा की।

सं० १२२९ में धानपाली में सभवनाथ की प्रतिष्ठा और शिखर की प्रतिष्ठा की, सागरपाट मे पं० मणिभद्र के पद पर विनयभद्र को वाचना-चार्य-पद दिया।

सं० १२३० विक्रमपुर मे स्थिरदेव, यशोधर, श्रीचन्द्र तथा अभयमति, जयमति, आसमति और श्रीदेवी को दीक्षा दी।

सं० १२३२ फाल्गुन सुदि १० को विक्रमपुर मे गुणचन्द्र गणि के स्तूप की प्रतिष्ठा की, उसी वर्ष में विक्रमपुर के समुदाय के साथ आशिका की तरफ विहार किया और ज्येष्ठ शुक्ल ३ को प्रवेश किया। धूमधामपूर्वक पार्श्वनाथ प्रासाद पर दण्डकलश का आरोपण हुआ। साहु श्राविका ने ५०० पारुत्थ द्रम्मो से माला ग्रहण की, धर्मसागर गणि और धर्मरुचि की दीक्षा हुई। आषाढ़ मास मे कन्यानन के विधिचैत्य मे श्री महावीरदेव की प्रतिमा स्थापित की, व्याघ्रपुर मे पार्श्वदेव गणि को दीक्षा दी।

सं० १२३४ फलोदी के विधिचैत्य मे पार्श्वनाथ को स्थापित किया और जिनमत को उपाध्याय-पद और गुणश्री को महत्तरा-पद दिया गया। सर्वदेवाचार्य और जयदेवी साध्वी को दीक्षा दी।

सं० १२३५ अजमेर में चातुर्मास्य किया। श्री जिनदत्तसूरि का स्तूप फिर से विस्तार के साथ प्रतिष्ठित किया, देवप्रभ तथा उनकी मा चरणमति गणिनी को दीक्षा दी।

सं० १२३६, अजमेर मे महावीर प्रतिमा की और अम्बिका के शिखर की प्रतिष्ठा की। सागरपाट मे भी अम्बिका के शिखर की प्रतिष्ठा की।

सं० १२३७, बब्बेरक में जिनरथ को वाचनाचार्य बनाया।

सं० १२३८, आशिका में दो बडी मूर्तियां स्थापित की।

सं० १२३९, फलोदी मे अनेक भक्तिमान् श्रावको के साथ बहिर्भूमि जाते हुए श्री जिनभक्ताचार्य को देखकर ऊकेश-गच्छीय पद्मप्रभ नामक आचार्य जिनपतिसूरि को जीतने की भट्टों से प्रशस्ति पढ़ाने लगा, इससे श्रीपूज्य के भक्त श्रावको ने पद्मप्रभ को बडे कठोर शब्दो से फटकारा। बात बढ़ गई, एक दूसरे के सामने एक दूसरे के भक्त गृहस्थ बडे बीभत्स शब्दों का प्रयोग करने लगे। बृहद् गुर्वावलीलेखक ने यह प्रकरण गुर्वावली में न लिखा होता तो अपने आचार्यों की बड़ी सेवा की मानी जाती।

आचार्य पद्मप्रभ के साथ जिनपति के शास्त्रार्थ मे उनके भक्त सेठ रामदेव ने अपने घर से १६ हजार पारुत्थ द्रव्य खर्च किये थे।

सं० १२४० में विक्रमपुर मे श्रीपूज्य जिनपतिसूरि ने १४ साधुओं के साथ गणियोग का तप किया।

सं० १२४१ में फलौदी में जिननाग, अजित, पद्मदेव, गणदेव, यमचन्द्र तथा धर्मश्री और धर्मदेवी को दीक्षा दी।

स० १२४३ मे खेटनगर मे चातुर्मास्य किया।

सं० १२४४ में श्री अणहिलपाटक[1] में इष्ट गोष्ठी चल रही थी, तब ध० सा० अभयकुमार को भाण्डशालिक ने कहा – अभयकुमार! तुम हमारे स्वजन हो, कोटिधन के मालिक हो, और राजमान्य हो इससे हमको क्या फायदा हुआ? जो तुम हमारे गुरुओ को श्री उज्जयन्त, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा नहीं कराते। भाण्डशालिक की इस प्रेरणा को सुनकर अभयकुमार वोला – भाण्डशालिक! किसी प्रकार से निराश मत हो, सब ठीक करूंगा, यह कह कर वह महाराज भीमदेव के पास गया।

---

१ वृहद् गुर्वावली मे सोमचन्द्र मुनि के साथ अणहिल पाटन का नाम आया था। जिनवल्लभ गणि ने पाटन मे वर्षो तक विधिधर्मका प्रचार किया, परन्तु पाटन के सघ द्वारा गुजरात-भूमि की सीमा छोडकर, वे मारवाड, मेवाड की तरफ गये थे सो जीवन पर्यन्त गुजरात की सीमा मे पग नही रक्खा, जिनदत्तसूरि ने भी आचार्य वनने के वाद मेवाड, मारवाड, सिन्ध की तरफ ही विहार किया। आचार्य देवभद्र ने उनको कुछ समय तक पाटन में न आने की सलाह दी थी, तव जिनदत्त ने तीन वर्ष तक गुजरात की तरफ न आने की प्रतिज्ञा करके चित्तौड से विहार किया था। परन्तु जहा तक हमने इनके जीवन का अध्ययन किया है, जिनदत्तसूरि ने आचार्य होने के वाद गुजरात और पाटन की तरफ प्रयाण नही किया।

अंचलगच्छ की शतपदी नामक सामाचारी के कथनानुसार जिनदत्त एक वार पाटन आये थे, परन्तु उनको रात्रि के समय वाहन द्वारा मारवाड की तरफ भाग जाना पडा था। जिनदत्त के पट्टधर मणिधारी जिनचन्द्रसूरि मारवाड तथा उत्तर भारत में ही विचरे थे, गुजरात की तरफ कभी विहार नही किया था। जिनचन्द्र के पट्टधर जिनपतिसूरि स० १२२३ में पट्टप्रतिष्ठित हुए थे, परन्तु सं० १२४३ तक उन्होने पाटन में पग नही रक्खा था। यद्यपि विधि-धर्म के अनुयायी अन्य साधु वहा आते जाते और रहते थे परन्तु गच्छ का मुख्य आचार्य पाटन में नही आता था। जिनवल्लभगणि पाटन में अपमानित होकर गए थे, इसलिए उनका वहा न आना सकारण था, परन्तु जिनदत्तसूरि जिनदत्त के शिष्य जिनचन्द्र और उनके पट्टधर जिनपतिसूरि का पाटन में न आना एक रहस्यमयी समस्या है, जिसका आजकल के खरतरगच्छीय विद्वानो को पता तक नहीं है, प्रस्तुत गुर्वावली और वारहवी शती के अन्यान्य ग्रन्थो से हमको पता लगा है कि जिनदत्तसूरि के उत्तेजक और लड़ाके उपदेशो को शान्तिभग करने वाले वताकर जिनदत्तसूरि का पाटन

राजा और उसके प्रधान जगद्देव प्रतिहार को प्रार्थना करके अजमेर वास्तव्य खरतरगच्छ योग्य राजादेश लिखवा कर, वह अपने घर गया और अभयकुमार ने भाण्डशालिक को अपने पास बुलाकर उसके समक्ष राजाज्ञा का लेख तथा खरतरसघ योग्य और जिनपतिसूरि योग्य अपने दो विज्ञप्ति-पत्र प्रधान लेखवाहक को देकर अजमेर संघ के पास भेजा।

में आना उनके विरोधी आचार्यों ने राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध करवाया था। जिनेश्वरसूरि की परम्परा के अन्य साधु पाटन में उनकी कोटड़ी मे आते जाते और रहते हुए अपना सामान्य व्यवहार चलाते रहते थे। "विधिधर्म" का प्रचार और "आयतन अनायतन" की सभी चर्चाए ठण्डी पड चुकी थी, इतना ही नहीं, जिनवल्लभ के समय से विधि धर्मानुयायियो द्वारा पाटन तथा आसपास मे आठ दस विधिचैत्य बनाए गए थे, उनको भी उनके अनुयायियो से छिनवा कर "कुमारपाल के राज्यकाल मे पाटन संघ को सुपुर्द कर दिया था, इन बातों से उत्तेजित होकर जिनदत्त दूर बैठे हुए भी अपने भक्तो को विधि-धर्म के लिए मरने-मारने के लिए उत्तेजित किया करते थे, परन्तु निर्नायक सैन्य की तरह विधि-धर्म के अनुयायियो पर उनका कोई असर नही होता था। आचार्य जिनदत्त अपने "उपदेश-रसायन रास" मे लिखते हैं –

"जो गीयत्थ सु करइ न मच्छरु, सुवि जीवतु न भिलई मच्छरु,।
सुद्धइ धम्मि जु लग्गइ विरलउ, सघि सु वज्झु कहिज्जइ जवलउ ॥२१॥"

(अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ३९)

ऊपर के पद्य में जिनदत्तसूरि ने शुद्ध-धर्म में लगने वाले विरल मनुष्य को साघ द्वारा वहिष्कृत कहे जाने की वात कही है।

'विहि चेईहरि अविहि करेवइ, करहि उवाय वहुत्ति तिलेवइ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ, तो घिउ सत्तुय मज्झि पलुट्टई ॥२३॥"

"जइ किर नरवरइ किविइ समवास, ताहिवि अघहि विहि चेइय दस।
तह वि न घम्मिय विहि विणु भगडहि, जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि।२४।"

(अपभ्रंश का० त्र० पृ० ४१)

उपर के २३ वे पद्य मे विधि-चैत्य मे अविधि करने के लिए वहुतेरे उपाय किये जाने तथा विधि-जिनघर मे अविधि प्रवर्तने की भक्त श्रावको की फरियाद पर आचार्य उन्हे आश्वासन देते हुए कहते हैं, -- भाइयो-जो कुछ भी हो, होने दो!

श्रीपूज्य जिनपतिसूरि भी गुजरात के राजा का आदेश-पत्र और अभयकुमार की दो विज्ञप्तिया पढकर सघ की प्रार्थना से श्रीअजमेर के संघ के साथ तीर्थवन्दनार्थ चले ।

विधिजिन-घर में अविधि की प्रवृत्ति सत्तु मे घी ढलने जैसी वात है । २४ वें पद्य मे विधिधर्मियों की इस फरियाद पर कि "राजा ने दसही विधि-चैत्य अविधि करने वालो के हवाले दे दिये हैं ।" आचार्य कहते हैं -- यद्यपि राजा ने दुप्पम काल के वश हो दश विधि-चैत्य तुमसे ले लिए हैं, तथापि धार्मिको को उनमे जाकर विधि-चैत्य का ही व्यवहार करना चाहिए, भले ही वे सव लाठियो के साथ सामना करने को खडे हो ।

"धम्मिउ धम्मुकज्जु साहतउ, परू मारइ कीवइ जुज्झन्तउ ।
तुवि तसु धम्मु अत्थि नहु नासइ, परम पइ निवसइ सो सासइ ॥२६॥

(अपभ्रंश का० त्र० पृ० ४२)

ऊपर के पद्य मे आचार्य ने धार्मिको को उत्साहित करते हुए कहा है -- धर्मकार्य को साधन करते हुए धार्मिको को कोई क्रोध के वश हो मार डाले तव भी उसका धर्म नही जाता और वह मर कर शाश्वत पद अर्थात् "मोक्ष स्थान मे निवास करता है ।"

जिनदत्तसूरि के उपर्युक्त प्रकार के उपदेशो से ही उनके पाटन के विहार पर प्रतिवन्ध लगाया गया था और कुमारपाल के राजस्वकाल में तो केवल जिनदत्त तथा इनके अनुयायियो का ही नही, पौर्णमिक, आंचलिक, विधिधर्म प्रवर्तक आदि सभी नये गच्छ वालों का पाटन में आना वन्द हो गया था । कुमारपाल के स्वर्ग-वास के वाद १२३६ में एक पौर्णमिक साधु पाटन में आया और पता लगने पर राजकर्मचारियो ने पूछा -- कि "तुम पौर्णमिक गच्छ के हो," उसने कहा -- "मैं पौर्णमिक नहीं हूं, मैं तो सावु-पौर्णमिक हू," इस प्रकार पौर्णमिक से अपने को जुदा वताने पर ही उसे पाटन में ठहरने दिया, कुमारपाल के राज्य तक ही नहीं उसके वाद द्वितीय भीमदेव के राज्य तक उक्त पौर्णमिक खरतर आदि गच्छो का पाटन में आना जाना वन्द था ।

अजमेर से जिनपतिसूरि के भक्तो ने शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा के लिए सघ की तैयारी कर रक्खी थी और गुजरात के राजा पर अर्जी लिखने पर गुजरात में होकर सघ के जाने की आज्ञा भी मिल सकती थी, परन्तु सवाल यह था कि पाटन में सघ के जाने पर "खरतर आचार्य को" नगर में आने का मनाई हुक्म हो जाय तो मुश्किली खडी हो सकती है, इस भविप्य की चिन्ता को लक्ष्य में

अजमेर के सघ की बात चारों ओर फैली और विक्रमपुर, उच्चा, मरुकोट, जैसलमेर, फलोधी, दिल्ली, वागड़, मण्डोवर आदि नगरो के रहने वाले यात्रियो के समूह आ मिले। श्रीपूज्य भी अपने विद्या-तपो आदि गुणो से स्थान-स्थान मे जैन प्रवचन की शोभा बढ़ाते हुए, सघ के साथ चन्द्रावती पहुचे। वहां पर पूर्णिमा-पक्ष के आचार्य "अकलकदेवसूरि" ने भी ज्ञानगोष्ठी करते हुए जिनपतिसूरि को पूछा कि "क्या साधु को तीर्थ-यात्रा के लिए घूमना शास्त्रोक्त है?" श्रीपूज्य ने कहा – "कारणवश

रखकर पाटन निवासी विधि-धर्म का अनुयायी एक भणशाली गृहस्थ किसी बडे आदमी को कहकर खरतराचार्यो का पाटन में आना जाना शुरु करवाना चाहता था। एक दिन वह भांडशालिक गृहस्थ व्यवहारी साधु अभयकुमार सेठ के साथ बैठा हुआ था, सेठ को प्रसन्नचित्त देखकर उसने अभयकुमार को सम्बोधित किया – "अभयकुमार ! तव सौजन्येन, तव कोटिसख्यद्रव्याधिपत्येन, तव राज्यमान्यतया किमस्माकं फलं ! यत्त्वमस्मद्गुरुन् श्री उज्जयन्त-शत्रुञ्जयादितीर्थेषु यात्रा न कारयसि ?" भणशाली के उपर्युक्त शब्द जो अपने सम्बन्धी अभयकुमार को उपालम्भ पूर्वक कहे गए है, इससे यही सूचित होता है कि अभयकुमार सेठ जैसे राजमान्य और धनाढ्य गृहस्थो के विना पाटन में आने जाने का मार्ग खुलना कठिन था, अपने सासारिक सम्बन्धी की इस प्रार्थना पर अभयकुमार ने तुरत ध्यान दिया और सघ को गुजरात आने की आज्ञा के अतिरिक्त उनके साथ जो आचार्य आदि हो उनको भी किसी प्रकार की रोक टोक न होने की वाचिक मञ्जूरी ले ली और उसकी सूचना अजमेर के सघ और जिनपतिसूरिजी को अपने पत्रो द्वारा दे दी, यह कार्य अभयकुमार ने अच्छा ही किया, राजकीय आज्ञा, निषेध, परिस्थितियो के वश होते हैं तो परिस्थिति के बदलने पर, उनको बदलना ही चाहिए, परन्तु पाटन नगर अनेक गच्छो का केन्द्रस्थान था। खरतर, पौर्णमिक आदि सुधारक गच्छो से पुराने गच्छ नाराज तो थे ही फिर वे पुरानी राजाज्ञाओ को क्यो शिथिल होने देते? खरतरगच्छ वालो के लिए तो १३ वी शती के मध्यभाग में ही मार्ग खुल गया था, परन्तु पौर्णमिक, आंचलिक, गच्छ वाले तो जब तक पाटन में राजपूतो का राज्य रहा तब तक पाटन से दूर-दूर ही फिरते थे। जब पुराने पाटन का मुसलमानो के आक्रमण से भग हुआ और मुसलमानो ने वहा अपना राज्य जमा कर नया पाटन बनाया तब से पौर्णमिक आदि पाटन में प्रवेश कर पाए थे।

★

मुझे आचार्य-पद पर बैठा दिया है, इसलिए सघ के साथ विचरता हुआ अज्ञात देशो की भाषा से भी परिचित हो जाऊगा और साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी हो जायगी। इसके अतिरिक्त सघ ने अत्यन्त प्रार्थना की कि प्रभो! अनेक चार्वाक लोको से भरी हुई गुर्जर भूमि में तीर्थ आए हुए है, हम वहां तीर्थ-यात्रार्थ जाते हैं। कोई नास्तिक हमारे सामने तीर्थ-यात्रा का निषेध प्रमाणित करेगा तो हम अज्ञानी उसको क्या उत्तर देंगे, इसलिए आप सघ के साथ अवश्य पधारे ताकि जिनशासन का लाघव न हो, इसलिए हम संघ के साथ जा रहे हैं।" श्री अकलकदेवसूरिजी ने जिनपति-सूरिजी के इस उत्तर को योग्य माना। दोनो आचार्यों के बीच देर तक ज्ञान-गोष्ठी होती रही। भिक्षा का समय हो जाने पर अकलंकसूरि अपने स्थान पर गए।

दूसरे दिन जिनपतिसूरि सघ के साथ कासह्लद गए। वहां पौर्णमिक आचार्य श्रीतिलकप्रभ अनेक साधुओं के साथ संघ के स्थान पर आए। परस्पर सुखवार्तादि शिष्टाचार हुआ और तिलकप्रभ के साथ श्रीपूज्य ने ज्ञानगोष्ठी की। अन्त मे तिलकप्रभसूरि ने भी श्रीपूज्य को प्रशसा की।

वहां से सघ आशापल्ली पहुचा, वहां श्रावक क्षेमकर अपने ससारी पुत्र प्रद्युम्नाचार्य को वन्दनार्थ वादिदेवाचार्य सम्बन्धी पौषधशाला मे गया। वन्दन के वाद प्रद्युम्नाचार्य ने क्षेमकर को कहा – जिनपतिसूरि को गुरु के रूप मे स्वीकार कर अच्छा नही किया। क्षेमकर ने कहा – मेरी समझ से तो मैंने अच्छा ही किया है। प्रद्युम्नसूरि ने कहा – मरुस्थली के जड़ लोगो को पाकर आपके गुरु ने अपने को सर्वज्ञ मान लिया है सो ठीक है, क्योकि "निर्वृक्षे देशे एरण्डोऽपि कल्पवृक्षायते" परन्तु तुम्हारे जैसे देवसूरि के वचनामृत का पान करने वाले समझदारो का मनोभाव वदल गया, इससे हमारा दिल दु.खता है।

वहां से आगे बढकर सघ ने स्तम्भनक, गिरनार आदि तीर्थो की यात्रा की। मार्ग की तकलीफ के कारण सघ शत्रुञ्जय नही गया।

यात्रा से लौट कर सघ वापस आशापल्ली आया। इस समय क्षेमंकर ने जिनपति के साथ प्रद्युम्नाचार्य का शास्त्रार्थ होने की वात

फैलाई१ और दोनों को आमने-सामने भिड़ाया। शास्त्रार्थ का नाटक हुआ और जिनपति ने कहा– दूसरे सिद्धान्त-ग्रन्थ तो दूर रहो, हम "ओघनिर्युक्ति" के प्रमाणो से देवगृह तथा जिनप्रतिमा को अनायतन प्रमाणित कर दें तो हमारी जीत मानी जायगी? प्रद्युम्नसूरि ने कहा – प्रमाण, परन्तु अभी टाइम वहुत हो गया है, आगे बात कल प्रभात को होगी।

प्रद्युम्नाचार्य ने रात्रि के समय अपने पक्ष के आचार्य और पण्डितो के साथ प्रदीप के प्रकाश मे "ओघ-निर्युक्ति" सूत्रवृत्ति के पुस्तक पढे, परन्तु

---

१. क्षेमंकर यद्यपि प्रद्युम्नाचार्य का पिता लगता था, तथापि वह स्वय खरतरगच्छ का अनुयायी वन चुका था और अपने पुत्र प्रद्युम्नाचार्य को किसी प्रकार खरतरगच्छ में खींचना चाहता था। प्रद्युम्नाचार्य एक विद्वान् आचार्य थे, आशापल्ली के लोग उन पर मुग्ध थे। क्षेमकर ने उन्हें शास्त्रार्थ के नाम पर प्रपच में फसा दिया। कैसा भी विद्वान् क्यों न हो वह झूठे जाल में फसकर अपमानित हो इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं। जिनपतिसूरि के भक्त "जिनहितोपाध्याय" और "रामदेव" जैसे गृहस्थ जाल विछाने में सिद्धहस्त थे। अजमेर में ऊकेशगच्छीय आचार्य पद्मप्रभ को इसी प्रकार के जाल में फांसकर अपमानित किया था, अजमेर के राजा पृथ्वीराज के परिकर को जिनमें से अनेक पद्मप्रभाचार्य के पुराने भक्त थे, धन की थैलिया पाकर पद्मप्रभाचार्य के विरुद्ध हो चुके थे, जिस वात की पद्मप्रभाचार्य ने पृथ्वीराज के सामने सभा में खुल्ली शिकायत की थी, आचार्य ने कहा – "महाराज! मण्डलेश्वरो लञ्चाग्रहण एव प्रवीणो न गुणिनां गुणग्रहणे" अर्थात् हे राजा साहव! आपका माण्डलेश्वर कई मास लाच लेने में ही प्रवीण है गुणी के गुण ग्रहण करने में नहीं, इस प्रकार राजा के सामने शिकायत होने पर भी राजा ने उस तरफ कुछ ध्यान नही दिया। शास्त्रार्थ करने के लिए इस प्रकार की सभाए नही होती, उसमे प्रमुख होता है, मध्यस्थ सभ्य होते हैं, वादी प्रतिवादी के वक्तव्यों को लेखवद्ध कर उनके ऊपर से फंसला देने वाले निर्णायक होते हैं, अजमेर की शास्त्रार्थसभा क्या थी, तमाशा करने वालों का थियेटर था। तमाशावीन लोग इकट्ठे हो जाते, शास्त्रार्थ करने वाले मुख से असभ्य वचन निकालकर विरोधी को अपमानित करते थे, राजा साहव सभा में आते और पूछते – कैसे कौन जीता? कौन हारा? उनके गुर्गे जिनकी तरफ से पेट भर जाता, उनकी तरफ अंगुली कर कहते – ये जीते और उनकी जय

"अनायतन" प्रतिपादक स्थान नहीं मिला। श्रीपूज्य के पास उन्होंने मनुष्य भेजा और पूज्य ने उनकी पृच्छा के अनुसार "ओघनिर्युक्ति" का उद्देश कहा, प्रद्युम्नसूरि आदि ने पूज्य के कथनानुसार उद्देश की गवेषणा करते हुए वह स्थल पाया। अनायतन प्रतिपादक गाथा-सम्वद्ध-वृत्ति के अक्षर अन्य गाथाक्षरो के साथ मिला कर उन पर विचार किया। प्रातः समय प्रद्युम्नाचार्य अभयड दण्डनायक के साथ जिनपतिसूरि के स्थान पर

जयकार पुकारते, क्या वादसभाओ का यही पोजिशन होता है ? अजमेर में इसी प्रकार की धाधागर्दी से पद्मप्रभाचार्य को अपमानित किया था।

सभा शास्त्रार्थ का मनचाहा वर्णन करने के वाद गुर्वावलीकार लिखता है— "दिनद्वयानन्तर प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहकः सवलवाहनो महाराजाधिराजश्री-पृथ्वीराजः श्री अजयमेरौ निजधवलगृहे समागत्य ततः स्थानाद्धस्तिस्कन्धा-धिरूढेन जयपत्रेण सह पौषधशालायामागतो ददौ च जयपत्र श्रीपूज्यानां हस्ते। पठितश्चाशीर्वादः श्रीपूज्यैः श्रावकैश्च कारित महावर्धापनकं, तस्मिश्च वर्धापनके श्रे० रामदेवेनात्मगृहात् पारुत्थद्रम्माः षोडश सहस्राणि व्ययीकृताः।"

अजमेर के राजा साहव हाथी पर आरुढ होकर जिनपतिसूरिजी को उनके स्थान पर "जयपत्र" देने जाते हैं, सूरिजी राजा साहव को आशीर्वाद देते हैं और सूरिजी के भक्त वधाई वाटते हैं, सूरिजी के भक्त सेठ रामदेव अपने घर से सोलह हजार रुपया खर्च करते हैं।

यहा कोई गुर्वावलीकार को पूछे कि आपके आचार्य की विजय पर नगर मे वर्धापन तो श्रावको ने ही किया था। तव सेठ रामदेव के घर से खर्च होने वाले १६०००) सोलह हजार रुपया किस मार्ग से गया, इसका कोई उत्तर दे सकता है ? जिस प्रकार से अजमेर में धाधागर्दी से पद्मप्रभाचार्य का अपमान किया गया, उसी प्रकार से आशापाल्ली में प्रद्युम्नाचार्य को कृत्रिम प्रमाण उपस्थित करके अपनी जीत दिखाई गई, दो पत्र छिपाने का जो हो हल्ला मचाया था, वास्तव में वे दो पत्र "ओघनिर्युक्ति" की वृत्ति में घुसेडे हुए थे, उनका तथा मूल वृत्ति का सम्वन्ध ठीक ढग से न वैठने के कारण प्रद्युम्नसूरि दो पत्रो को एक तरफ रखकर अगले पत्र के साथ पूर्वपत्र का सम्वन्ध मिलता है या नही इसकी जाच कर रहे थे, इतने में जिनहितोपाध्याय ने पाने छिपाने का जो हल्ला मचाया, वीरनाग जैसे ने चोरी करने के दण्ड की वात चलाई और हण्टर चलने लगे। क्या शास्त्रार्थ-सभाए इसी

आए और निचली भूमिका पर वैठे। जिनपति भी ऊपर से सपरिवार नीचे आए, सस्कृत भाषा में चर्चा का प्रारम्भ हुआ।

श्री जिनपतिसूरिजी ने प्रद्युम्नाचार्य की प्रत्येक युक्ति का खण्डन कर खरतर मार्ग का स्थापन किया। चर्चा के आखिरी भाग में "ओघ-निर्युक्ति" में से "आयतन अनायतन" सम्वन्धी अधिकार पढ़ने का कार्य प्रद्युम्नाचार्य को सौंपा गया। अधिकार पढ़ते-पढ़ते प्रद्युम्नाचार्य ने वृत्ति के दो पत्र छोड़कर अगला पत्र पढ़ना शुरु कर दिया उस समय पूज्य के पास वैठे हुए जिनहितोपाध्याय ने हाथ पकड़ कर कहा – आचार्य पहले के दो पत्र पढने के वाद यह पत्र पढ़ने का है। प्रद्युम्नाचार्य व्याकुल हो गये थे, इधर-उधर के पत्र उलटने लगे, तव "श्रीमाल वंशीय वीरनाग ने

प्रकार की होती हैं ? जिनपतिसूरि के भक्त अपने आचार्य को 'राजसभा में छत्तीस वाद जीतने वाला' इस विशेषण से उल्लिखित करते हैं, दो सभाओ के वाद का वर्णन तो हम पढ चुके हैं, यदि इसी प्रकार की शेप चौतीस सभाओ में जिनपति-सूरिजी ने विजय पायी हो तो हमें कुछ कहने की जरूरत नही है।

ग्यारहवी शती के उत्तरार्ध से जव से जिनेश्वरसूरि तथा इनके शिष्यो ने चैत्य-वासियो के विरुद्ध प्रचार शुरू किया था, तव से आज तक कई कृत्रिम गाथाओ कृत्रिम कुलको और कृत्रिम ग्रन्थो का निर्माण हुआ, जिनमें न कर्त्ता का नाम है, न ग्रन्थ का नाम, कृत्रिम नामो से गाथा, श्लोक, कुलक, वनते ही जाते हैं, यह दु ख का विपय है, इस प्रकार अप्रामाणिकता को धारण कर विरोधी को नीचा दिखाना किसी प्रकार से उचित नही कहा जा सकता।

"ओघनिर्युक्त वृत्ति" के नाम पर गुर्वावलीकार ने ४६ से ५७ के अक वाली जिन ८ गाथाओ को उद्धृत किया है, उनमें से अधिक गाथाए कृत्रिम हैं, 'ओघनिर्युक्ति" में अथवा उसकी वृत्ति में उक्त गाथाए दृष्टिगोचर नही होती, जिनेश्वरसूरि की परम्परा के विद्वानो द्वारा निर्मित ग्रन्थो में अथवा उनकी वृत्तियो में ये गाथाए वहुधा देखी जाती हैं, जैसे "धर्मरत्न-प्रकरण" की स्वोपज्ञ वृत्ति में, इन गाथाओ द्वारा प्रद्युम्नाचार्य को जीतने की वात एक प्रकार का षड्यन्त्र ही प्रतीत होता है, विविधर्मियो के द्वारा सगठित इस प्रकार के प्रपचो से जैन साहित्य पर्याप्त दूषित हुआ है, हम आशा करते हैं कि खरतरगच्छ के विद्वान् साधु तथा भक्त श्रावक मेरी इस चुनौती को ध्यान में लेंगे तो भविष्य में इस विपय पर अधिक लिखने का प्रसग नही आयेगा।



अभय दण्डनायक को कहा – क्या तुम्हारे नगर में उसी को दण्ड दिया जाता है जो रात को चोरी करता है, दिन मे चोरी करने वालो को अपराधी नही माना जाता ? अभय दण्डनायक ने कहा – हे हेडावाहक ! तुमने क्या कहा ? वीरनाग ने कहा – देखो देखो, आचार्य ने दो पत्र छिपा दिये। यह सुनते ही दण्डनायक ने उसके पीठ पर चमड़े से मढा वेत जमा दिया। जिनपतिसूरि ने "ओघनिर्युक्ति वृत्ति" मे से "नाणस्स दसणस्स य" इत्यादि आठ गाथाओ का व्याख्यान करते हुए "जिनचैत्य" तथा "जिनप्रतिमा' को "अनायतन प्रमाणित किया" और प्रद्युम्नाचार्य ने मौन धारण किया। थोड़ी देर के वाद जिनपतिसूरिजी के आगे उन्होने कहा – आचार्य ! हमारे नाम वाले पराजयसूचक रास, काव्य, चौपाई न वनवानी चाहियें, न पढवानी चाहिये। श्री पूज्य ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया, सघ मे महान् आनन्द उमड़ पड़ा। श्री पूज्य, साधु और श्रावक समुदाय के साथ अपने उपरितन स्थान पहुँचे। प्रद्युम्नाचार्य भी लज्जावश नीचे देखते हुए अपनी पौषधशाला मे गए।

सघ के अन्दर और वाहर वड़ा आनन्द फैला। भा० शालिक, वैद्य सहदेव, ठ० हरिपाल, सा० क्षेमंकर, सा० सोमदेवादि समुदाय ने वड़े ठाट के साथ बर्द्धापन कराया। इस समय दण्डनायक अभय ने सोचा – ये यहा से आगे जाकर मेरे गुरु के पराजय की वात तो अवश्य करेंगे, इसलिए इन्हे यही कुछ शिक्षा करलूं। मालव देश की तरफ गुजरात का लश्कर गया हुआ था, अपनी तरफ से एक विज्ञप्ति पत्र देकर एक मनुष्य को जगद्देव प्रतीहार के पास भेजा। इधर दूसरे ही दिन सघ में राजाज्ञा जाहिर की "महाराजाधिराज भीमदेव की आज्ञा है कि इस स्थान से हमारी आज्ञा से ही तुम जा सकते हो" उक्त आज्ञा जारी करने के साथ ही, संघ की निगरानी के लिए अभय ने गुप्त रूप से १०० राजपूतो को नियत कर दिया। सघ में से भण्डशालिक, वैद्य सहदेव, व्य० लक्ष्मीधर, ठ० हरिपाल, सा० क्षेमंधर आदि श्री पूज्य के पास गए और अभयड दण्डनायक के दुष्ट अभिप्राय की सूचना की। श्री पूज्य ने कहा – कुछ भी चिन्ता न करो, श्री जिनदत्तसूरिजी की कृपा से सव अच्छा होगा। परन्तु सव सघ

के मनुष्य भगवान् श्री पार्श्वनाथ की आराधना, स्नात्र पूजा आदि धर्म-कृत्यो मे तत्पर हो जाओ। श्रीपूज्य के उपदेशानुसार संघ धर्म मे उद्यत हो गया। सुखपूर्वक १४ दिन बीत गये, पर वहां से कोई निकल नही सका, उधर अभयड का भेजा हुआ मनुष्य लश्कर में जा पहुँचा और अपने स्वामी अभयड की विज्ञप्ति जगद्देव के चरणो में रक्खी। पारिग्रहिक ने लेख पढ़ा और तुरन्त जगदेव ने अपने पारिग्राहक के हाथ से राजादेश लिखवाया और उसके साथ मनुष्य को वापिस भेज दिया। राजादेश दण्डनायक के हाथ पहुंचा और पढ़कर तुरन्त सघ को हिरासत से मुक्त किया।

वहां से संघ अणहिल-पाटण पहुँचा। पाटन में श्रीपूज्य ने अपने गोत्रीय ४० आचार्यों को अपनी भोजन-मण्डली मे भोजन करवाया और वस्त्रदान पूर्वक सन्मान किया।

वहां से संघ के साथ श्री पूज्य चलते हुए लवणखेट पहुंचे। वहा पूर्णदेव गणि, मानचन्द्र गणि, गुणभद्र गणि को वाचनाचार्य पद दिया।

सं० १२४५ के फाल्गुन में पुष्करिणी में धर्मदेव, कुलचन्द्र, सहदेव, सोमप्रभ, सूरप्रभ, कीर्तिचन्द्र, श्रीप्रभ, सिद्धसेन, रामदेव और चन्द्रप्रभ को तथा संयमश्री, शान्तमति और रत्नमति को दीक्षा दी।

सं० १२४६ मे पाटन मे श्री महावीर की प्रतिमा स्थापन की।

सं० १२४८ मे जिनहित को लवणखेट में उपाध्याय-पद दिया।

स० १२४९ मे पुष्करिणी मे मलयचन्द्र को दीक्षा दी।

सं० १२५० में विक्रमपुर मे पद्मप्रभ साधु को आचार्य-पद दिया और 'श्री सर्वदेवसूरि' यह नाम रक्खा।

सं० १२५१ मडोवर मे लक्ष्मीधर आदि अनेक श्रावकों को मालारोपादि किया। वहां से अजमेर गए। अजमेर में उन दिनों म्लेच्छों का उपद्रव था, दो मास बड़े कष्ट से निकाले। वहां से वतन आकर भीमपल्ली

में चातुर्मास्य किया। कूईप गांव में जिनपाल गरिण को वाचनाचार्य-पद दिया, "लवरणखेड़ा मे राणा श्री केल्हरण के समझौते और उपरोध से दक्षिणावर्त आरती उतारना, मान्य किया।"

सं० १२५ मे पाटन मे विनयानन्द गरिण को दीक्षा दी।

सं० १२५३ मे भाण्डारिक नेमिचन्द्र श्रावक को प्रतिबोध दिया, और पतन भंग के बाद घाटी गांव मे चातुर्मास्य किया।

सं० १२५४ मे धारानगरी के शान्तिनाथ देवालय मे विधि का प्रवर्तन किया और तर्कोपन्यासो द्वारा महावीर नामक दिगम्बर को खुश किया, रत्नश्री प्रवर्तिनी को दीक्षा दी। नागह्रद में चातुर्मास्य किया।

सं० १२५६ मे लवणखेट मे नेमिचन्द्र, देवचन्द्र धर्मकीर्ति और देवेन्द्र नामक साधुओं को दीक्षा हुई।

सं० १२५७ में श्री शान्तिनाथ देवालय मे प्रतिष्ठा का आरम्भ अच्छे शकुन न होने के कारण आगे रक्खा।

सं० १२५८ चैत्र वदि ५ शान्तिनाथ विधिचैत्य में, शान्तिनाथ प्रतिमा और शिखर प्रतिष्ठित किया, चैत्र वदि २ को वीरप्रभ और देवकीर्ति गणी को दीक्षित किया।

सं० १२६० आषाढ वदि ६ वीरप्रभ और देवकीर्ति गणी की उपस्थापना की और सुमतिगरिण, पूर्णभद्रगरिण को दीक्षा दी, आनन्दश्री को महत्तरा-पद दिया, जयसलमेर के देवालय मे फाल्गुन शु० २ को पार्श्वनाथ प्रतिमा स्थापित की।

सं० १२६३ फाल्गुन वदि ४ को लवणखेड़ मे महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, नरचन्द्र, रामचन्द्र, पूर्णचन्द, तथा विवेकश्री, मंगलमति, कल्याणश्री, जिनश्री की दीक्षा हुई और धर्मदेवी को प्रवर्तिनी-पद दिया।

सं० १२६५ मे मुनिचन्द्र, मानभद्र गरिण तथा सुन्दरमति, रासमति की दीक्षा हुई।

स० १२६६ में विक्रमपुर मे भावदेव, जिनभद्र, विजयचन्द्र को दीक्षित किया, गुणशील को वाचनाचार्य-पद दिया और ज्ञानश्री को दीक्षा दी।

सं० १२६६ में जालोर के विधिचैत्य में महावीर प्रतिमा की स्थापना की, जिनपाल गणि को उपाध्याय-पद दिया, धर्मदेवी प्रवर्तिनी को महत्तरा-पद दिया और प्रभावती नाम रक्खा। महेन्द्र, गुणकीर्ति, मानदेव तथा चन्द्रश्री केवलश्री को दीक्षा दी, वहा से विक्रमपुर की तरफ विहार किया।

स० १२७० बागड़ को तरफ विहार किया, दारिदरेरक मे सैकड़ी श्रावक श्राविकाओं ने सम्यक्त्व तथा मालारोपण किया तथा उपाध्याय आदि धर्मकृत्य किये।

सं० १२७१ में बृहद्द्वार में धूमधाम के साथ प्रवेश किया, दारिदरेरक की तरह यहां भी नन्द्यादिक हुए। स० १२७३ में बृहद्द्वार मे लौकिक दशाहिक पर्व, गंगा की यात्रा के लिए जाते हुए अनेक राणा, नगरकोटीय राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र के साथ आये हुए काश्मीरी पण्डित मनोदानन्द के साथ श्री जिनपालोपाध्याय का शास्त्रार्थ हुआ और पृथ्वीचन्द्र से जयपत्र प्राप्त किया।

स० १२७३ के ज्येष्ठ वदि १३ को जिनपालोपाध्याय को जयपत्र मिलने के उपलक्ष्य मे वर्द्धापनक किया गया। बृहद्द्वार से आते हुए रास्ते मे भावदेव मुनि को दीक्षा दो और दारिद्रेरक मे चातुर्मास्य किया।

सं० १२७५ मे ज्येष्ठ सुदि १२ को जालोर मे भुवनश्री गणिनी, जगमति, मंगलश्री तथा विमलचन्द्र गणि पद्मदेव गणि की दीक्षा हुई।

सं० १२७७ मे पालनपुर मे प्रभावना हुई, कालान्तर मे नाभि के निचले भाग मे गाठ उत्पन्न होने की वेदना से मूत्रसाग्रहादि रोग आदि से अपना आयुष्य निकट समझकर अपने अनुयायियो को सान्त्वन और प्रोत्साहन देकर स० १२७७ के आषाढ सुदि १० के दिन श्री जिनपति-सूरि स्वर्गवासी हुए।

(६) श्री जिनेश्वरसूरि –

सं० १२७८ के माघ सुदि ६ को जालोर में जिनपतिसूरि के पट्टपर आचार्य सर्वदेवसूरि ने वीरप्रभ गणि की पदस्थापना की और "जिनेश्वरसूरि" यह नाम रक्खा, माघ सुदि ९ के दिन यशकलश, विनयरुचि, बुद्धिसागर, रत्नकीर्ति, तिलकप्रभ, रत्नप्रभ और अमरकीर्ति गणि को जालोर मे दीक्षा दी।

बाद में वहां के यशोधवल के साथ विहार कर श्रीमाल जाति के श्री विजयहेमप्रभ, श्री तिलकप्रभ, विवेकप्रभ तथा चारित्रमाला गणिनी, सत्यमाला गणिनी इन सब को ज्येष्ठ सुदि १२ के दिन दीक्षा दी। आगे आषाढ़ सुदि १० को श्रीमाल में समवसरण प्रतिष्ठा तथा शान्तिनाथ स्थापना की, जालोर मे देवगृह का प्रारंभ हुआ। स० १२७९ के माघ सुदि ५ को अर्हद्दत्त गणि, विवेकश्री गणिनी, शीलमाला गणिनी, चन्द्रमाला गणिनी और विनयमाला गणिनी की जालोर मे दीक्षा हुई।

स० १२८० के माघ सुदि १२ को श्रीमाल में शान्तिनाथ-भवन पर ध्वजारोप और ऋषभनाथ, गौतमस्वामी, जिनपतिसूरि, मेघनाद क्षेत्रपाल और पद्मावती देवी की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की। फाल्गुन वदि १ को कुमुदचन्द्र, कनकचन्द्र, तथा पूर्णश्री गणिनी, हेमश्री गणिनी की दीक्षा हुई।

सं० १२८० के वैशाख सुदि १४ के दिन पालनपुर के स्तूप में जिनहितोपाध्याय ने जिनपतिसूरि की प्रतिमाप्रतिष्ठा की।

सं० १२८१ के वैशाख सुदि ६ को जालोर मे विजयकीर्ति, उदयकीर्ति, गुणसागर, परमानन्द और कमलश्री गणिनी की दीक्षा हुई, वही पर ज्येष्ठ सुदि ९ को महावीर भवन पर ध्वजारोप हुआ।

स० १२८३ के माघ वदि २ को बाड़मेर के ऋषभदेव भवन पर ध्वजारोप हुआ, माघ वदि ६ को सूरप्रभ को उपाध्याय-पद और मंगल-

मति गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, वीर कलशगणि, नन्दिवर्द्धन और विजयवर्द्धन की दीक्षा हुई ।

सं० १२८४ मे बीजापुर में वासुपूज्य की स्थापना हुई और आषाढ सुदि २ को अमृतकीर्ति गणि, सिद्धकीर्ति गणि और चारित्रसुन्दरी तथा धर्मसुन्दरी गणिनी की दीक्षा हुई ।

सं० १२८५ ज्येष्ठ सुदि २ को कीर्तिकलश गणि, पूर्णकलश और उदयश्री गणिनी की दीक्षा, ज्येष्ठ सुदि ९ को वासुपूज्य भवन पर ध्वजारोप और सं० १२८६ के फाल्गुन वदि ५ को बीजापुर मे विद्याचन्द्र, न्यायचन्द्र, अभयचन्द्र गणि की दीक्षा ।

सं० १२८७ के फाल्गुन सुदि ५ को पालनपुर में जयसेन, देवसेन, प्रबोधचन्द्र, अशोकचन्द्र गणि और कुलश्री गणिनी तथा प्रमोदश्री गणिनी की दीक्षा ।

सं० १२८८, भाद्रपद सुदि १० को जालोर मे स्तूपध्वज-प्रतिष्ठा और आश्विन सुदि १० को स्तूपध्वजारोप पालनपुर मे और पौष सुदि ११ जालोर में शरच्चन्द्र, कुशलचन्द्र, कल्याणकलश, प्रसन्नचन्द्र, लक्ष्मीतिलक गणि, वीरतिलक, रत्नतिलक और धर्ममति, विनयमति गणिनी, विद्यामति गणिनी और चारित्रमति गणिनी की दीक्षा ।

सं० १२८८ (९) को चित्तौड़ मे ज्येष्ठ सुदि १२ को अजितसेन, गुणसेन, अमृतमूर्ति, धर्ममूर्ति, तथा राजीमति, हेमावलि, कनकावलि, रत्नावलि गणिनी, मुक्तावलि गणिनी की दीक्षा । आषाढ वदि २ ऋषभदेव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा ।

सं० १२८९ उज्जयन्त, शत्रुञ्जय, स्तम्भनक तीर्थों की यात्रा की । स्तम्भतीर्थ में वादियमदण्ड नामक दिगम्बर के साथ गोष्ठी, नगर-प्रवेश में सपरिवार महामात्य श्री वस्तुपाल श्रीपूज्य के सामने गया ।

सं० १२९१ वैशाख सुदि १० को जालोर में यतिकलश, क्षमाचन्द्र, शीलरत्न, धर्मरत्न, चारित्ररत्न, मेघकुमार गणि, अभयतिलक गणि,

श्रीकुमार तथा शीलसुन्दरी गणिनी और चन्दनसुन्दरी की दीक्षा। ज्येष्ठ वदि २ मूलार्क में श्री विजयदेवसूरि को आचार्य-पद प्रदान।

सं० १२९४, श्री संघहितोपाध्याय को पद प्रदान।

सं० १२९६ फाल्गुन वदि ५ पालनपुर में प्रमोदमूर्ति, प्रबोधमूर्ति और देवमूर्ति गणि को दीक्षा। ज्येष्ठ सुदि १० को श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा। सं० १२९७ में चैत्र सुदि १४ को देवतिलक, धर्मतिलक की दीक्षा।

सं० १२९८ वैशाख वदि ११ को जालोर में ध्वजदण्डारोप कराया। सं० १२९९ प्रथम आश्विन वदि २ को मन्त्री कुलधर की दीक्षा, नाम कुलतिलक मुनि।

सं० १३०४ वैशाख सुदि १४ को विजयवर्द्धन गणि को आचार्य-पद, जिनरत्नाचार्य नाम दिया। त्रिलोकहित, जीवहित, धर्माकर, हर्षदत्त, संघप्रमोद, विवेकसमुद्र, देवगुरुभक्त, चारित्रगिरि, सर्वज्ञभक्त और त्रिलोकानन्द की दीक्षा हुई।

सं० १३०५ आषाढ सुदि १० को पालनपुर में महावीर, ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ के बिम्बों की और नन्दीश्वर की प्रतिष्ठा की।

सं० १३०६ में ज्येष्ठ सुदि १३ को श्रीमाल में कुन्थुनाथ, अरनाथ की प्रतिमा-प्रतिष्ठा और दूसरी बार ध्वजारोपण करवाया।

सं० १३०९ मार्गशीर्ष सुदि १२ को पालनपुर में समाधिशेखर, गुणशेखर, देवशेखर, साधुभक्त और वीरवल्लभ मुनि तथा मुक्तिसुन्दरी साध्वी की दीक्षा और उसी वर्ष में माघ सुदि १० को शान्तिनाथ, अजितनाथ, धर्मनाथ, वासुपूज्य, मुनिसुव्रत, सीमन्धर स्वामी और पद्मनाभ की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई। उसी वर्ष बाडमेर में आदिनाथशिखर पर दण्डकलश प्रतिष्ठित किए।

सं० १३१० वैशाख सुदि १४ जालोर में चारित्रवल्लभ, हेमपर्वत, अचलचित्त, लाभनिधि, मोदमन्दिर, गजकीर्ति, रत्नाकर, गतमोह, देवप्रमोद,

वीराणन्द, विगतदोष, राजललित, बहुचरित्र, विमलप्रज्ञ और रत्ननिधान इन १५ साधुओं को दीक्षित किया। वहीं पर वैशाखी १३ स्वाति शनिवार के दिन श्री महावीर विधिचैत्य मे २४ जिनालय, सप्ततिशत, सम्मेत, नन्दीश्वर, तीर्थंकरमातृ, श्री नेमिनाथ, महावीर, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, सुधर्म स्वामी, जिनदत्तसूरि, सीमन्धर स्वामी, युगमन्धर स्वामी प्रभृति की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई। प्रमोदश्री गणिनी को महत्तरा-पद और लक्ष्मीनिधि नाम रक्खा और ज्ञानमाला को प्रवर्तिनी-पद दिया।

सं० १३११ के वैशाख सुदि ६ को पालनपुर में चन्द्रप्रभ चैत्य में भीमपल्लीय प्रासाद स्थित श्री महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई और पालनपुर में उपाध्याय जिनपाल का अनशन पूर्वक स्वर्गगमन।

सं० १३१२ के वैशाख सुदि १५ को चन्द्रकीर्ति को उपाध्याय-पद देकर चन्द्रतिलकोपाध्याय नाम रक्खा और प्रबोधचन्द्र गणि को तथा लक्ष्मीतिलक गणि को वाचनाचार्य-पद दिये। ज्येष्ठ वदि १ को उपशमचित्त, पवित्रचित्त, आचारनिधि और त्रिलोकनिधि की दीक्षा हुई।

सं० १३१३ फाल्गुन सुदि ४ जालोर में किले पर के वड़े मन्दिर में शान्तिनाथ की स्थापना की, चैत्र सुदि १४ को कनककीर्ति, विबुधराज, राजशेखर, गुणशेखर तथा जयलक्ष्मी, कल्याणनिधि, प्रमोदलक्ष्मी, गच्छवृद्धि की दीक्षा, वैशाख वदि १ को अजितनाथ-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, बाद मे पालनपुर में आषाढ़ सुदि १० को भावनातिलक, भरतकीर्ति की दीक्षा और भीमपल्ली मे उसी दिन महावीर की स्थापना।

सं० १३१४ माघ सुदि १३ को सुवर्णगिरि ऊपर बने हुए प्रधान मन्दिर में ध्वजारोप, महाराज उदयसिंहजी के प्रसाद से कार्य निर्विघ्न हुआ। आषाढ़ सुदि १० को पालनपुर में सकलहित, राजदर्शन साधु और बुद्धिसमृद्धि, ऋद्धिसुन्दरी, रत्नवृष्टि साध्वियों की दीक्षा हुई।

सं० १३१६ माघ सुदि १ जालोर मे धर्मसुन्दरी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद, माघ सुदि ३ को पूर्णशेखर, कनककलश को प्रव्रज्या और

माघ सुदि ६ को सुवर्णगिरि के शान्तिनाथ के प्रासाद पर कलशदण्ड का आरोपण श्री चाचिगदेव के राज्य मे करवाया। आषाढ सुदि ११ को वीजापुर मे वासुपूज्य-जिनमन्दिर पर कलशध्वज-दण्डारोपण करवाया।

स० १३१७ माघ सुदि १२ को लक्ष्मीतिलक गणि को उपाध्याय-पद और पद्माकर की दीक्षा हुई। माघ सुदि १४ को जालोर के महावीर प्रासाद पर स्थित २४ देहरियो पर कलश-दण्ड-ध्वजारोपण हुआ। फाल्गुन सुदि १२ को शान्तनपुर मे अजितनाथ प्रासाद पर ध्वजारोप पूर्णकलश गणि द्वारा हुआ। **भीमपल्ली में मण्डलिक राज्य में वैशाख सुदि १० सोमवार को महावीर के प्रासाद पर दण्ड-कलश की प्रतिष्ठा और ध्वजारोप** हुआ और ५१ अगुल परिमाण सरस्वती की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। ३१ अंगुल परिमाण शान्तिनाथ-प्रतिमा, ऋषभनाथ-प्रतिमा, महावीर-प्रतिमा, पार्श्वनाथ-प्रतिमा २ और भीमभुजबल-पराक्रम क्षेत्रपालबिम्ब, ऋषभनाथ महावीर की प्रतिमाएं, चतुर्विंशति पट्टक, अजित-प्रतिमा, ऋषभनाथ-प्रतिमा २; शान्तिनाथ-प्रतिमा २। महावीर की तीन प्रतिमाए, जिनदत्तसूरि-मूर्ति, चन्द्रप्रभ-प्रतिमा, नेमिनाथ-बिम्ब और अम्बिका की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई और सौम्यमूर्ति, न्यायलक्ष्मी की दीक्षा हुई।

स० १३१८ पौष सुदि ३ को सघभक्त की दीक्षा और धर्ममूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया।

सं० १३१९ मार्गशीर्ष सुदि ७ को अभयतिलक गणि को उपाध्याय-पद हुआ और उसी वर्ष मे अभयतिलक उपाध्याय का उज्जैनी की तरफ विहार। वहा तपोमतीय पं० विद्यानन्द के साथ यतिवल्प्य प्रासुक शीतल जल की चर्चा, फिर पालनपुर आदि की तरफ विहार और उसी वर्ष मे माघ वदि ५ को विजयसिद्धि साध्वी की पालनपुर मे दीक्षा, माघ वदि ६ चन्द्रप्रभ, अजितनाथ, सुमतिनाथ की प्रतिष्ठा। ऋषभनाथ, धर्मनाथ; सुपार्श्वनाथ-प्रतिमा, जिनवल्लभसूरि-मूर्ति और सिद्धान्त-यक्ष की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। पाटन के शान्तिनाथ प्रासाद मे अक्षयतृतीया के दिन दण्ड-कलश का आरोपण किया।

स० १३२१ फाल्गुन सुदि २ गुरु के दिन चित्तसमाधि, क्षान्तिनिधि साध्वियो की दीक्षा, फाल्गुन वदि ११ को पालनपुर मे एक आले मे तीन प्रतिमाएं और ध्वजादण्ड चढ़ाया, ज्येष्ठ सुदि १५ को विक्रमपुर मे चारित्र-शेखर, लक्ष्मीनिवास और रत्नावतार साधुओ की दीक्षा।

स० १३२२ माघ सुदि १४ को त्रिदशानन्द, शान्तमूर्ति, त्रिभुवनानन्द, कीर्तिमण्डन, सुबुद्धिराज, सर्वराज, वीरप्रिय, जयवल्लभ, लक्ष्मीराज, हेमसेन आदि नामक दस साधु। मुक्तिवल्लभ, नेमिभक्ति, मगलनिधि और प्रियदर्शना नामक चार साध्वियो को दीक्षा दी और वैशाख ६ को वीर-सुन्दरी की विक्रमपुर मे दीक्षा।

स० १३२३ मार्ग० वदि ५ को नेमिध्वज साधु तथा विनयसिद्धि और आगमरिद्धि की दीक्षा जालोर मे। वैशाख सुदि १३ देवमूर्ति गरिण को वाचनाचार्य-पद पर द्वितीय ज्येष्ठ सुदि को जयसलमेरु पार्श्वनाथ-चैत्य पर दण्डकलश प्रतिष्ठा और विवेकसमुद्र गरिण को वाचनाचार्य-पद की स्थापना की गई। आषाढ़ वदि १ को हीराकर साधु किया।

सं० १३२४ मार्ग वदि २ शनि को कुलभूपरण, हेमभूपण की दीक्षा, अनन्तलक्ष्मी, व्रतलक्ष्मी, एकलक्ष्मी और प्रधानलक्ष्मी की जालोर में दीक्षा हुई।

स० १३२५ वैशाख सुदि १० को जालोर मे महावीर चैत्य मे गजेन्द्रवल साधु और पद्मावती साध्वी की दीक्षा। वैशाख सुदि १४ को उसी महावीर-चैत्य मे २४ जिनविम्वो की, २४ ध्वजदण्डो की, सीमन्धर, युग्मन्धर, वाहु, सुवाहु के विम्वो की तथा अन्य अनेक बिम्वो की प्रतिष्ठा हुई। ज्येष्ठ वदि ४ को सुवर्णगिरि के शान्तिनाथ-चैत्य में वनी हुई २४ देहरियो मे उन्हीं २४ जिनविम्वों तथा सीमन्धर, युग्मन्धर, वाहु, सुबाहु के विम्वों की स्थापना हुई और उसी दिन धर्मतिलक गरिण को वाचनाचार्य-पद दिया गया। उसी वर्ष वैशाख सुदि १४ को जैसलमेरु मे पार्श्वनाथ-चैत्य पर दण्डकलशारोपरण का उत्सव हुआ।

सं० १३२६ के चैत्र वदि १३ को पालनपुर से अभयचन्द्र की व्यवस्था मे विधिधर्म का संघ शत्रुञ्जय-तीर्थ की यात्रा के लिए निकला। श्री जिनेश्वरसूरि, जिनरत्नाचार्य, चन्द्रतिलकोपाध्याय, कुमुदचन्द्र प्रमुख २३ साधु और लक्ष्मीनिधि महत्तरा प्रमुख १३ साध्वियो के साथ चलता हुआ सघ तारगा तीर्थ पहुँचा। वहां इन्द्रादि पदो के चढावे हुए, इन्द्रपद-द्र० १५००, मन्त्री प० द्र० ४००, सारथि प० द्र० १००, भाण्डागारी प० द्र० ११०, आद्य-चामर-धारी के २ पद ३०० द्रम, पिछले चमरधारी २ पद द्र०, छत्रधर पद द्र० ६६, वहा से सघ वीजापुर गया, वहा भी वासुपूज्य मन्दिर मे चढावे हुए। तीन हजार द्रम्म की आमदनी हुई, इसी प्रकार स्तम्भनक महातीर्थ मे चढावे हुए। कुल द्रम्म ५००० आये। वहा से सघ शत्रुञ्जय महातीर्थ पहुँचा और पूर्वक्त प्रकार के चढावे वोले गये और ५३२ द्रम्म इन्द्रादिक के चढावो मे प्राप्त हुए। द्रम्म १७ हजार की प्राप्ति हुई। वहा से सघ गिरनार महातीर्थ पहुचा, वहा पर भी इन्द्रमाला आदि के तमाम चढावे हुए और ७०६७ द्रम्म की आमदनी हुई। एकन्दर इस सघ की तरफ से शत्रुञ्जय के देवभण्डागार मे अनुमानतः २० हजार द्रम्म की प्राप्ति हुई और गिरनार के देवभण्डागार मे १७ हजार द्रम्म आए। गिरनार पर नेमिनाथ-चैत्य मे जिनेश्वरसूरि द्वारा प्रवोधसमुद्र (हर) विनय-समुद्र की दीक्षा हुई, वहा से सघ प्रभास पाटण गया और चर्तुविध सघ के साथ उधर के सर्व चैत्यो की यात्रा की। इस प्रकार विधिमार्ग सघ तथा सा० अभयचन्द्र के साथ आपाढ सुदि ६ को देवालय का जिनेश्वरसूरि प्रमुख चतुर्विध सघ सहित पालनपुर मे प्रवेश हुआ।

स० १३२८ के वैशाख सुदि १४ को जालोर मे चन्द्रप्रभ, ऋपभदेव और महावीर के बिम्वों की प्रतिष्ठा करवाई, ज्येष्ठ वदि ४ को हेमप्रभा को दीक्षा दी।

सं० १३३० मे वैशाख वदि ६ को प्रवोधमूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया और कल्याणऋद्धि गणिनी को प्रवर्तिनी-पद हुआ, जालोर मे वैशाख वदि ८ को स्वर्णगिरि के जिनचैत्य के शिखर मे चन्द्रप्रभ की प्रतिमा स्थापित हुई।

जालोर मे रहते हुए जिनेश्वरसूरिजी ने अपने आयुष्य की समाप्ति निकट जानकर स० १३३१ के आश्विन कृष्ण ५ को प्रातःकाल अपने पद पर प्रबोधमूर्ति गणि को बैठाया और "जिनप्रबोधसूरि" यह नाम दिया।

पालनपुर मे रहे हुए जिनरत्नाचार्य को आदेश दिया कि चातुर्मास्य के बाद सर्वगच्छ तथा विधि-सम्प्रदायों को इकट्ठा कर अच्छे लग्न में फिर सूरि-पद स्थापन कर देना, बाद मे श्रीपूज्य ने अनशन किया और पचपरमेष्ठि-मन्त्र का ध्यान करते हुए आश्विन कृष्ण ६ को दो घडी रात बीतने पर श्री जिनेश्वरसूरिजी स्वर्गवासी हुए। प्रभात समय मे समुदाय ने श्रीपूज्य का सस्कार महोत्सव किया और सा० क्षेमसिंह ने अग्निसस्कार के स्थान पर स्तूप बनवाया।

चातुर्मास्य उतरने पर जिनरत्नाचार्य जालोर आए और जिनेश्वरसूरि के उपदेशानुसार जिनप्रबोधसूरि का फिर बडे ठाट के साथ पद स्थापना-उत्सव कराया और स० १३३१ के फाल्गुन वदि ८ रवि को श्री जिनरत्नाचार्य द्वारा जिनप्रबोधसूरि की महोत्सव पूर्वक पट्ट-स्थापना हुई।

०) जिनप्रबोधसूरि –

सं० १३३१ के फाल्गुन सुदि ५ को स्थिरकीर्ति भवनकीर्ति और केवलप्रभा, हर्षप्रभा, जयप्रभा, यश प्रभा साध्वियो की दीक्षा जालोर मे हुई।

स० १३३२ ज्येष्ठ वदि १ शुक्र को शा० क्षेमसिंह श्रावक ने नमि-विनमि परिवृत युगादिदेव, श्री महावीर, अवलोकनशिखरस्थ नेमिनाथबिम्ब, साम्बप्रद्युम्न की मूर्तिया, जिनेश्वरसूरि की मूर्ति, धनदयक्ष की मूर्ति और सुवर्णगिरि पर के चन्द्रप्रभ स्वामिचैत्य की ध्वजा की प्रतिष्ठा करवाई, ज्येष्ठ वदि ६ को चन्द्रप्रभ स्वामी के शिखर पर ध्वजारोप हुआ, ज्येष्ठ वदि ९ को स्तूप मे जिनेश्वरसूरि की मूर्ति की प्रतिष्ठा की और उसी दिन विमलप्रज्ञ को उपाध्याय-पद और राजतिलक को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया, ज्येष्ठ सुदि ३ को गच्छकीर्ति, चारित्रकीर्ति, क्षेमकीर्ति मुनियो को तथा लब्धिमाला, पुण्यमाला साध्वियो को दीक्षा दी।

सं० १३३३ के माघ वदि १३ को जालोर मे कुशलश्री गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, इसी वर्ष मे सा० क्षेमसिंह और चाहडकी तरफ से सघ प्रयाण की तैयारी हुई, अनेक गावो से विधि-संघ का समुदाय इकट्ठा हुआ और उसके उपरोध से श्री शत्रुञ्जयादि महातीर्थो की यात्रा के लिए श्री जिनप्रबोधसूरि, श्री जिनरत्नसूरि, लक्ष्मीतिलकोपाध्याय, विमलप्रज्ञोपाध्याय, वा० पद्मदेव, वा० राजगणि प्रमुख २७ साधु और प्रवर्तिनी ज्ञानमाला गणिनी प्र० कुशलश्री, प्र० कल्याणऋद्धि प्रमुख २१ साध्वियो के परिवार सहित जालोर से चैत्र वदि ५ को सघ रवाना हुआ, वहां से श्रीमाल मे शान्तिनाथ विधिचैत्य मे द्रम्म १४७६ विधिसाघ ने सफल किये, वहा से पालनपुर आदि नगरो की यात्रा करता हुआ संघ तारगातीर्थ पहुंचा, वहां इन्द्रमाला आदि के चढावे हुए, अनुमानतः द्रम्म ४ हजार मालादि लेकर कृतार्थ किये, वहां से स्तम्भनक तीर्थ मे अनुमानतः ७००० द्रम्म के चढावे दिये, वहा से भरुच जाकर सघ ने ४७०० द्रम्म खर्चे, वहा से सघ शत्रुञ्जय पर पहुँचा, शत्रुञ्जय पर इन्द्रमालादि के चढावे हुए और अनुमानतः सब मिलकर २५००० द्रम्म संघ ने खर्च किये।

ज्येष्ठ वदि ७ को युगादिदेव के सामने आपने जीवानन्द साधु और पुण्यमाला, यशोमाला, धर्ममाला, लक्ष्मीमाला को दीक्षा दी। मालारोपणादि का उत्सव हुआ, श्री श्रेयास-विधिचैत्य मे ७०८ द्रम्म, उज्जयन्त मे ७५० द्रम्म, इन्द्रादि के परिवार की तरफ से २१५० और नेमिनाथ की माला के द्रम्म २०००, एकन्दर गिरनार पर २३००० द्रम्म की आमदनी हुई।

इस प्रकार स्थान-स्थान जिनशासन की उन्नति करता हुआ, सा० क्षेमसिंह विधिसाघ के साथ महातीर्थो की यात्रा करके आषाढ़ सुदि १४ को वापस जालोर आया।

सा० १३३४ मार्ग सुदि १३ को रत्नवृष्टि गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, वैशाख वदि ५ को भीमपल्ली मे श्री नेमिनाथ तथा श्री पार्श्वनाथ के बिम्बो की, जिनदत्तसूरि की मूर्ति की, शान्तिनाथ के देवालय के ध्वजदण्ड की और गौतमस्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा का महोत्सव कराया, वैशाख

वदि ९ को मंगलकलश साधु की दीक्षा और ज्येष्ठ सुदि २ को वाड़मेर की तरफ विहार किया ।

सं॰ १३३५ के मार्ग वदि ४ को पद्मकीर्ति, सुधाकलश, तिलककीर्ति, लक्ष्मीकलश, नेमिप्रभ, हेमतिलक और नेमितिलक नामक साधुओ की दीक्षा हुई, पौषसुदि ६ को चित्तौड़ मे धूमधाम के साथ प्रवेश किया, फाल्गुण वदि ५ को श्री समरसिह महाराज के राज्य मे चौरासी मे मुनिसुव्रत, युगादिदेव, अजितनाथ और वासुपूज्य के बिम्बों की, श्री महावीर के समवसरण की, स्वर्णगिरि के शान्तिनाथ विधिचैत्यस्थित पित्तलमय समवसरण की और दूसरी अनेक प्रतिमाओ की, साम्बमूर्ति की, आठ दण्ड़ो की महोत्सव पूर्वक प्रतिष्ठा हुई और उसी दिन चौरासी में युगादिदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, शाम्व, प्रद्युम्न और अम्बिका के मन्दिरो पर ध्वजारोप हुए, वद्रद्राह नामक गांव मे जिनदत्तसूरि की प्रतिमा-प्रतिष्ठा, श्री पार्श्वनाथ चैत्य पर चित्रकूट मे अभिषिक्त दण्ड फाल्गुन सुदि १४ को चढ़ाया, जाहेड़ा गाव मे चैत्र सुदि १३ को सम्यक्त्वारोपादि नन्दी महोत्सव हुआ, वरड़िया मे वैशाख वदि ६ को पुण्डरीक, गौतमस्वामी, प्रद्युम्न मुनि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनेश्वरसूरि की मूर्तियों तथा सरस्वती की मूर्ति का प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ, वैशाख वदि ७ को मोहविजय, मुनिवल्लभ की दीक्षा और हेमप्रभगणि का वाचनाचार्य-पद हुआ ।

सं॰ १३३६ मे ज्येष्ठ सुदि ६ को अपने पिता का अन्त्य समय जानकर चित्तौड से जल्दी विहार करते हुए पालनपुर आए और अपने पिता श्रीचन्द्र श्रावक को दीक्षा दी और चन्द्र ने १७ दिन तक सस्तारक दीक्षा पालकर समाधि-पूर्वक स्वर्ग को प्राप्त किया ।

सं॰ १३३७ के वैशाख वदि ६ को गुर्जर-भूमि के बीजापुर नामक गांव को अपने चरणो से पवित्र किया, श्रावको ने बड़ी धूमधाम के साथ नगर प्रवेश कराया, ज्येष्ठ वदि ४ शुक्रवार को सारगदेव महाराज के राज्य में वासुपूज्य चैत्य में २४ जिनालयों के बिम्बो तथा ध्वजदण्डों की, जोइला गांव के लिए पार्श्वनाथ की और अनेक जिनप्रतिमाओं की शानदार प्रतिष्ठा

हुई, इस उत्सव मे वासुपूज्य चैत्य मे द्र० ३०००० उत्पन्न हुए, द्वादशी के दिन आनन्दमूर्ति, पुण्यमूर्ति की दीक्षा हुई।

स० १३३९ के फाल्गुन सुदि ५ को सर्वविधिमार्ग सघ के साथ प्रस्थान करके जिनरत्नाचार्य, देवाचार्य, वाचनाचार्य विवेकसमुद्र गणि प्रमुख अनेक मनुष्यो के साथ श्री जिनप्रबोधसूरिजी फाल्गुन चातुर्मास्य के दिन श्री अर्बुदगिरि ऊपर पहुँचे और युगादिदेव और नेमिनाथ की यात्रा की। आठ दिन तक वहां ठहर कर इन्द्रपदादि के उत्सवो द्वारा अपने साथ ने हजार द्रम्म सफल किये, बाद मे श्रीपूज्य के प्रसाद से कुशलतापूर्वक सर्वसघ वापस जालोर आया। उसी वर्ष मे ज्येष्ठ वदि ४ को जगच्चन्द्रमुनि और कुमुदलक्ष्मी तथा भुवनलक्ष्मी साध्वियो को दीक्षा दी, पचमी को चन्दनसुन्दरी गणिनी को महत्तरा-पद दिया और चन्दनश्री नाम रक्खा।

वहा से सोम महाराज की अभ्यर्थना से शम्यानयन मे चातुर्मास्य कर स० १३४० मे जिनप्रबोधसूरिजी ने फाल्गुन चातुर्मास्य के दिन जैसलमेर मे प्रवेश किया। वहा पर अक्षयतृतीया के दिन २४ जिनालय तथा अष्टापदादि के बिम्बो-ध्वजो का प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ, जिसमे देवद्रव्य की आमदनी ६ हजार द्रम्म की हुई। ज्येष्ठ वदि ४ को मेरुकलश, धर्मकलश और लब्धिकलश मुनि की तथा पुण्यसुन्दरी, रत्नसुन्दरी, भुवनसुन्दरी और हर्षसुन्दरी साध्वियो की दीक्षा हुई, श्री कर्णदेव महाराज के आग्रह से चातुर्मास्य वहा किया।

चातुर्मास्य के बाद जिनप्रबोधसूरि ने विक्रमपुर को विहार किया। वहा स० १३४१ के फाल्गुन वदि ११ के दिन महावीर चैत्य मे सम्यक्त्वारोप, मालारोप, दीक्षादान आदि निमित्तक उत्सव हुए, जिनमे विनयसुन्दर, सोमसुन्दर, लब्धिसुन्दर, मेघसुन्दर और चन्द्रमूर्ति क्षुल्लको की और धर्मप्रभा, देवप्रभा नामक दो क्षुल्लिकाओ की दीक्षाये हुई। वहां पर शासनप्रभावक जिनप्रबोधसूरि को दाहज्वर उत्पन्न हुआ, अपना आयुष्य स्वल्प समझ कर निरन्तर प्रयाणो से श्रीपूज्य जालोर पधारे।

सं० १३४१ की अक्षय तृतीया के दिन अपने पद पर श्री जिनचन्द्रसूरि को प्रतिष्ठित किया और उसी दिन राजशेखर गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, वाद मे अष्टमी को सकल सघ से मिथ्यादुष्कृत देकर आप अन्तिम आरावना मे लगे और वैशाख शुक्ल एकादशी को स्वर्गवासी हुए।

(११) जिनचन्द्रसूरि – (३)

सं० १३४२ के वैशाख शुक्ल १० के दिन श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने जालोर के श्री महावीर चैत्य मे प्रीतिचन्द्र, सुखकीर्ति, को और जयमञ्जरी, रत्नमञ्जरी तथा शीलमञ्जरी नामक क्षुल्लिकाओ को दीक्षित किया, उसी दिन वाचनाचार्य विवेकसमुद्र गणि का अभिषेक-पद सर्वराज गणि को वाचनाचार्य-पद और वुद्धि समृद्धि गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया और वदि ७ को सम्यक्त्वारोपादि नन्दिमहोत्सव हुआ, ज्येष्ठ कृष्ण ६ को रत्नमय अजितनाथ विम्वो की और युगादिदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ बिम्बो की तथा शान्तिनाथविम्ब की, अष्टापदध्वजा-दण्ड की और अन्य अनेक जिनबिम्वो की प्रतिष्ठा का महोत्सव श्री सामन्तसिंह के राज्य मे श्री जिनचन्द्रसूरिजो ने करवाया, ज्येष्ठ वदि ११ को वाचनाचार्य देवमूर्ति गणि को अभिषेक-पद दिया और मालारोपणादि कार्य हुए।

सं० १३४४ के मार्ग सुदि १० को महावीर चैत्य मे स्थिरकीर्ति गणि को श्री जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य-पद दिया और दिवाकराचार्य नाम दिया।

सं० १३४५ के आपाढ सुदि ३ को मतिचन्द्र, धर्मकीर्ति की दीक्षा, वैशाख वदि १ को पुण्यतिलक, भुवनतिलक और चारित्रलक्ष्मी साध्वी को दीक्षा दी और राजदर्शनगणि को वाचनाचार्य-पद दिया।

सं० १३४६ मे माघ वदि १ को बाडड़ कारित स्वर्णगिरिस्थ श्री चन्द्रप्रभस्वामिदेवगृह के पास मे रहे हुए युगादिदेव और नेमिनाथ के विम्वो की मंडप के गोखलो मे और सम्मेतशिखर के २० विम्बो का स्थापना-महोत्सव हुआ, फाल्गुन सुदि ८ को शम्यानयन के प्रासाद मे शान्तिनाथ की स्थापना हुई, देववल्लभ, चारित्रतिलक, कुशलकीर्ति, साधुओ की और रत्नश्री साध्वो की दीक्षा हुई, चैत्र वदि १ को पालनपुर से विहार किया,

वैशाख वदि १४ को भीमपल्ली गए और वैशाख सुदि ७ को शैलमय युगादिदेव विम्ब, चतुर्विंशतिजिनालययोग्य १(२)४ विम्ब, इन्द्रध्वज, श्री अनन्तनाथदण्ड ध्वज, जिनप्रबोधसूरि स्तूतमूर्ति दण्डध्वजो के अतिरिक्त अनेक पाषाण तथा पित्तलमय जिनविम्वो की प्रतिष्ठा का महोत्सव हुआ। ज्येष्ठ वदि ७ को नरचन्द्र, राजचन्द्र, मुनिचन्द्र, पुण्यचन्द्र साधुओ की और मुक्तिलक्ष्मी, मुक्तिश्री साध्वियो को दीक्षा हुई।

सं० १३४७ मार्ग० सुदि ६ पालनपुर मे सुमतिकीर्ति की दीक्षा और नरचन्द्रादि साधु-साध्वियो की उपस्थापना, मालारोपण आदि महोत्सव हुआ, वहां से संघ मेलापक के साथ श्री तारणगढ़ मे अजितनाथ की यात्रा की, पौषवदि ५ को वीजापुर श्रावक समुदाय के साथ गए, श्री जालोर मे जिनप्रबोधसूरि के स्तूप मे मूर्ति स्थापनोत्सव तथा दण्डध्वजारोपण उत्सव माघ सुदि ११ को सा० अभयचन्द्र ने करवाया और चैत्र वदि ६ को वीजापुर मे अमररत्न, पद्मरत्न, विजयरत्न साधुओ को दीक्षा हुई।

स० १३४८ के वैशाख सुदि ३ को पालनतुर मे वीरशेखर, अमृतश्री की दीक्षा हुई, त्रिदशकीर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया, उसी वर्ष मे श्रीपूज्य ने सुधाकलश, मुनिवल्लभ साधुओ के साथ गणियोग का तप किया।

सं० १३४९ भाद्रपद वदि ८ को अभयचन्द्र श्रावक को सस्तारक दीक्षा, अभयशेखर नाम दिया, मार्गशीर्ष वदि २ को यशःकीर्ति की दीक्षा।

स० १३५० वैशाख सुदि ९ को भाण्डा० झाजन श्रावक को सस्तारक दीक्षा दी और नरतिलक राजर्षि नाम रक्खा।

सं० १३५१, माघ वदि १ पालनपुर मे युगादिदेव चैत्र मे महावीर प्रमुख ६४० जिनविम्वो की प्रतिष्ठा की और ५ को मालारोपणादि महोत्सव हुआ, विश्वकीर्ति साधु की और हेमलक्ष्मी साध्वी की दीक्षा हुई।

सं० १३५२ मे राजशेखर गणि ने बडगाव मे विहार किया और वहां से कौशाम्बी, वाराणसी, काकन्दी, राजगृह, पावपुरी नालन्दा, क्षत्रिय-

कुण्डग्राम, रत्नपुरादि गांवो मे तीर्थयात्रा की और राजगृह समीप उद्दण्ड-विहार मे चातुर्मास्य किया और उसी वर्ष मे भीमपल्ली से विहार कर अनेक नगरो के समुदायों के साथ श्री विवेकसमुद्र उपाध्याय प्रमुख साधु मण्डली सहित श्रीपूज्य ने शखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा को। वहा से जिनचन्द्रसूरि पाटन पहुँचे, वहा के सर्व चैत्यो की यात्रा कर श्रीपूज्य वापस भीमपल्ली आए और वीजापुर के समुदाय की प्रार्थना से चातुर्मास्य वीजापुर मे किया, वहा स० १३५३ मार्ग० कृ० ५ को वासुपूज्य विधि-चैत्य मे मुनिसिंह, तपः-सिंह और नयसिंह साधुओ की दीक्षा हुई।

वहां से जालोर की तरफ विहार किया और उसी वर्ष मे सा० सीहा सा० माण्डव्यपुरीय मोहन श्रावको ने संघ की व्यवस्था की, अनेक गावो मे विधि-समुदाय के साथ जालोर से वैशाख कृष्ण ५ को प्रस्थान कर अनेक मुनिसमुदाय परिवृत श्रीपूज्य ने सघ के साथ अर्बुदाचल पहुँच कर श्री युगा-दिदेव और नेमिनाथ की यात्रा की, वहा पर इन्द्र पद आदि के चढावो द्वारा संघ ने वारह हजार द्रम्म खर्च किये और सकुशल सघ वापस जालोर पहुँचा।

स १३५४ ज्येष्ठ वदि १० को जालोर महावीर विधिचैत्य मे नन्दि-महोत्सव हुआ, जिसमे वीरचन्द्र, उदयचन्द्र, अमृतचन्द्र साधुओ की और जयसुन्दरी साध्वी की दीक्षा हुई। उसी वर्ष मे आषाढ़ शुक्ल २ को सिराणा गांव में महावीर-प्रासाद का जीर्णोद्धार होकर महावीरविम्ब की स्थापना हुई।

सं० १३५६ में राजा श्री जैत्रसिंह की विज्ञप्ति से मार्गशीर्ष वदि ४ को जैसलमेरु पहुँचे, वहां पर ही संवत् १३५७ में मार्गशीर्ष शुक्ल ९ को जयहंस, पद्महंस की दीक्षा हुई। स० १३५८ के माघ सुदि १० को पार्श्वनाथ-विधिचैत्य में सम्मेत-शिखर आदि जिनविम्बो की प्रतिष्ठा का उत्सव हुआ।

स० १३५९ फाल्गुन वदि ११ को श्रीपूज्य ने वाडमेर जाकर युगादि-देव को नमस्कार किया और वही पर स० १३६० के माघ वदि १० को

मालारोपणादि नन्दिमहोत्सव हुआ, बाद मे श्री शीतलदेव महाराज की विज्ञप्ति से और श्रावकों की प्रार्थना से श्रीपूज्य शम्यानयन श्री शान्तिनाथ की यात्रार्थ गए।

सं० १३६१ में शान्तिनाथ-विधिचैत्य में द्वितीय वैशाख सुदि ६ को शम्यानयन में प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ और १० को मालारोपणादि-नन्दि-महोत्सव हुआ, जिसमे प० लक्ष्मीनिवास गणि को तथा प० हेमभूषण गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया।

जालोर के सघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य जालोर पधारे। वहां सवत् १३६४ वैशाख कृष्ण १३ को राजशेखर गणि को आचार्य-पद प्रदान किया, वाद मे श्रीपूज्य भीमपल्ली पधारे।

भीमपल्ली से पाटन के समुदाय की प्रार्थना से आप पाटन पहुचे, वाद मे स्तम्भतीर्थ कोटडी के श्रावको की प्रार्थना से शेरीषक पार्श्वनाथ देव की यात्रा करके श्रीपूज्य स्तम्भतीर्थ पहुँचे।

वहा से सवत् १३६६ के ज्येष्ठ वदि १२ को सा० जैसल द्वारा सयोजित सघ के साथ श्रीपूज्य, जयवल्लभ गणि, हेमतिलक गणि आदि ग्यारह साधु और प्र० रत्नवृष्टि गणिनी आदि १५ साध्वियो के परिवार सहित स्तम्भतीर्थ से महातीर्थों की यात्रा के लिए निकले, क्रमशः सघ पीपलाउली गांव पहुँचा। वहां शत्रुञ्जय महातीर्थ पर्वत के दर्शन कर संघ ने उत्सव मनाया। वहा से श्रीपूज्य ने श्री युगादिदेव की यात्रा की, इन्द्रपदादिमहोत्सव हुआ। वहा ज्येष्ठ शुक्ला १२ को मालारोपणादि महोत्सव संघ की तरफ से हुआ। वहा से सघ गिरनार की तरफ रवाना हुआ और गिरनार की तलहटी में जाकर सघ ने अपना पड़ाव डाला। श्रीपूज्य समुदाय के साथ पर्वत ऊपर चढे और नेमिनाथ की यात्रा की, श्रावको ने इन्द्रपदादि के चढावे वोले। वहा से वापस लौटकर श्रीपूज्य सघ के साथ स्तम्भतीर्थ आए और चातुर्मास्य वहा पर ही कर भरहपाल श्रावक की सहायता से पूज्य ने स्तम्भतीर्थ की यात्रा की, वहां से वीजापुर जाकर श्री वासुपूज्य की यात्रा की।

वीजापुर में स० १३६७ के माघ वदि ६ को महावीर प्रमुख बिम्बों की श्रीपूज्य ने ठाट पूर्वक प्रतिष्ठा की, वहां से भीमपल्ली के समुदाय की प्रार्थना से भीमपल्ली पधारे और वहा फाल्गुन शुक्ल १ को तीन क्षुल्लक और २ क्षुल्लिकाओ को दीक्षा दी, उनके नाम परमकीर्ति, वरकीर्ति, रामकीर्ति, पद्मश्री तथा व्रतश्री थे। उसी दिन प० सोमसुन्दर गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया।

प्रस्तुत वर्ष मे ही कुंकुमपत्रिकाएं भेज कर श्री पाटन, पालनपुर, जालोर, शिवाना, जयसलमेर, राणुकोट, नागौर, रिणी, वीजापुर, सांचौर, भीनमाल, रत्नपुरादि अनेक स्थानों के वास्तव्य-श्रावक-समुदाय के साथ सा० सामल ने तीर्थ-यात्रा का प्रारम्भ किया। सामल तथा संघ समुदाय की प्रार्थना से चैत्र शुक्ल १३ के दिन चतुर्विध संघ और देवालय के साथ पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने भीमपल्ली से प्रयाण किया और श्री शखेश्वर में जाकर पार्श्वनाथ की यात्रा की, संघ ने आठ दिन तक वहा ठहर कर उत्सव किया, वहां से पाटडी में नेमिनाथ को वन्दन किया और राजशेखराचार्य, जयवल्लभ गणि आदि १६ साधु और प्र० बुद्धिसमृद्धि गणिनी आदि १५ साध्वियो के साथ विधिसघ ने क्रमशः शत्रुञ्जय पहुँच कर आदिनाथ की यात्रा की। वहां से गिरनार जाकर श्री नेमिनाथ को वन्दन किया, दोनो तीर्थों पर इन्द्रपदादि के चढावो द्वारा प्रचुर द्रव्य खर्च किया सर्व तीर्थों की यात्रा करके सा० सामल के सघ के साथ पूज्य जिनचन्द्रसूरि आषाढ़ चातुर्मास्य के दिन वायड गांव आए और महावीर की यात्रा कर श्रावण वदि में विधि-समुदाय के साथ जिनचन्द्रसूरि ने भीमपल्ली मे प्रवेश किया।

सघ के साथ आए हुए भणशाली लूणा श्रावक ने पूज्यपाद आचार्य समक्ष अपनी तरफ से सघ के पाश्चात्य-पद की व्यवस्था का भार निभा कर जो पुण्य उपार्जित किया था, वह सब अपनी माता भा० धनी सुश्राविका को दिया[1] और धनी ने श्रद्धापूर्वक उसका अनुमोदन किया।

---

१. भणशाली लूणा श्रावक द्वारा सघ के पाश्चात्य भार वहन करने से उत्पन्न पुण्य को अपनी मा को गुरु की साक्षी से अर्पण करने की बात कही गई है, परन्तु जैन

भीमपल्ली के समुदाय द्वारा किये गये उत्सव में प्रतापकीर्ति आदि २ क्षुल्लकों की उपस्थापनाएं हुई और दो क्षुल्लक नये किये जिनके नाम – तरुणकीर्ति और तेजकीर्ति हैं, दो क्षुल्लिकाओ को दीक्षा दी और नाम व्रतधर्मा, दृढधर्मा दिये।

उसी दिन रत्नमंजरी गणिनी को महत्तरा-पद देकर "जयर्द्धिमहत्तरा" यह नाम रक्खा और प्रियदर्शना गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया। वहां से श्रीपूज्य पाटन नगर आए।

स० १३६९ के मार्ग वदि ६ को श्रीपूज्य ने चन्दनमूर्ति, भुवनमूर्ति, सारमूर्ति, हीरमूर्ति नामक चार क्षुल्लक बनाए और केवलप्रभा गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया।

स० १३७० के माघ शुक्ल ११ श्रीपूज्य ने निधानमुनि कोथात यशोनिधि, महानिधि को पाटन मे दीक्षा दी। वहां से भीमपल्ली गए।

स० १३७१ मे फाल्गुन शुक्ल ११ को त्रिभुवन कीर्तिमुनि तथा प्रियधर्मा, आशालक्ष्मी धर्मलक्ष्मी नामक साध्वियो को भीमपल्ली मे दीक्षा दी।

बाद मे श्रीपूज्यपाद जालोर विचरे, वहां पर संवत् १३७१ के ज्येष्ठ वदि १० को श्रीपूज्य ने देवेन्द्रदत्त, पुण्यदत्त, ज्ञानदत्त, चारुदत्त मुनियों को तथा पुण्यलक्ष्मी ज्ञानलक्ष्मी, कमललक्ष्मी और मतिलक्ष्मी को दीक्षित किया, बाद मे जालोर का भंग म्लेच्छों द्वारा (मुसलमानों से) हुआ, बाद मे आचार्य सिवाना, रीणी, वव्वेरक आदि स्थानो मे होते हुए फलोदी पार्श्वनाथ की यात्रा को गए। वहा से नागोर की तरफ विहार किया, वहा से उच्चापुरीय विधि-समुदाय की प्रार्थना से श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने सिन्ध की तरफ विहार किया और उच्चापुरीय के निकटवर्ती देवराजपुर मे कुछ समय तक ठहरे।

सिद्धान्त के अनुसार यह घटित नही होती। जैन-सिद्धान्त ने पुण्य अथवा पाप की प्रवृत्ति करने वालो को स्वय उनका भोक्ता बताया है। पुण्य के फल की तरह कोई पाप करने वाले का पाप फल अपने ऊपर ले ले और करने वाला अपना दुष्कृत दे दे तो क्या पापकर्त्ता पाप से मुक्त हो सकेगा? कभी नही। इसी प्रकार पुण्य के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए।

★

सं० १३७३ के मार्गशीर्ष वदि ४ को आचार्य ने पद-स्थापनादि उत्सव शुरु करवाने और चौमासे मे भी देवराजपुर से विशल, महणसिंह श्रावको को पाटन भेजकर अपने शिष्य रामचन्द्र को वुलाया, उपाध्यायजी ने भी गुरु की आज्ञा के अनुसार पुण्यकीर्ति गणि को साथ में देकर रामचन्द्र मुनि को उनको साथ भेज दिया, कार्तिक मास की चतुर्मासी के दिन रामचन्द्र मुनि श्री जिनचन्द्रसूरिजी के पास पहुँचे और अनेक नगरों के संघ-समवायों के समक्ष आचार्य ने अपने शिष्य रामचन्द्र को आचार्य-पद देकर राजेन्द्रचन्द्राचार्य वनाया, उसी उत्सव मे ललितप्रभ, नरेन्द्रप्रभ, धर्मप्रभ, पुण्यप्रभ, अमरप्रभ साधुओं को दीक्षा दी।

सं० १३७४ फाल्गुन वदि ६ के दिन उच्चापुरीय आदि अनेक सिन्ध-देश के समुदायो ने नन्दिमहोत्सव किया, जिसमे दर्शनहित, भुवनहित, त्रिभुवनहित, मुनियो को दीक्षा प्रदान की, १०० श्राविकाओ ने माला-ग्रहण की, इस प्रकार देवराजपुर मे दो चातुर्मास्य रहकर श्रीपूज्य ने नागौर की तरफ विहार किया, वहां से पूज्य ने कन्यानयन के निवासी सा० काला सुश्रावक की सहायता से श्रीपूज्य ने फलोदी पार्श्वनाथ की दूसरी वार यात्रा की।

सं० १३७५ के माघ शुल्क १२ को नागपुर मे महोत्सव कराया और उसमे सोमचन्द्र साधु को तथा शीलसमृद्धि, दुर्लभसमृद्धि, भुवनसमृद्धि साध्वियो को दीक्षा दी, और पं० जगच्चन्द्र गणि तथा राजकुशल गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, धर्ममाला गणिनी, पुण्यसुन्दरी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, वाद में अनेक श्रावक समुदाय के साथ फलौदी जाकर श्री पार्श्वनाथ की तीसरी वार यात्रा की, श्री पार्श्वनाथ के भाण्डागार मे ३० हजार जैथल उत्पन्न हुए, फिर श्रीपूज्य सघ के साथ नागोर गए।

स० १३७५ के वैशाख वदि ८ को ठक्कुर अचल सुश्रावक ने श्री कुतुवुद्दीन सुरत्राण से आज्ञा निकलवा कर कुंकुमपत्रिकादानपूर्वक अनेक नगरों के समुदायो को एकत्र कर हस्तिनापुर, मथुरा महातीर्थों की यात्रा के लिए संघ निकलवाया, श्रीपूज्य जिनचन्द्रसूरि, जयवल्लभ गणि, पद्मकीर्ति

गणि, अमृतचन्द्र गणि आदि ८ साधु और जयर्द्धिमहत्तरा प्रमुख साध्वियों के परिवार से युक्त सघ नागोर से रवाना हुआ, क्रमशः श्री नरभट मे पार्श्वनाथ की तीर्थयात्रा कर सघ कन्यानयन गया, वहा श्री वर्द्धमान स्वामी को नमन किया और आठ दिन तक उत्सव किया, वहा के यमुना पार तथा वागड़ के श्रावको के समुदाय सहित ४०० घोडे, ५०० शकट, ७०० वैल आदि विस्तार के साथ सघ नावो से यमुना महानदी को पार कर क्रमशः हस्तिनापुर पहुचा।

पूज्य ने सघ के साथ शान्तिनाथ, अरनाथ, कुन्थुनाथ देवो की यात्रा की। सघ ने इन्द्रपदादि के चढावे वोलकर अपना द्रव्य सफल किया। ठक्कुर देवसिंह श्रावक ने बीस हजार जैथल वोलकर इन्द्रपद ग्रहण किया, अन्य चढावे मिलकर देवभण्डार में १ लाख ५० हजार जैथल की उपज हुई। वहां पांच दिन ठहर कर संघ मथुरा तीर्थ के लिए रवाना हुआ, दिल्ली के निकट आने पर वर्षा चातुर्मास्य लग गया, इसलिए श्रीपूज्य सघ को विसर्जन कर ठ० अचलादि सुश्रावकों के साथ खण्डसराय में चातुर्मास्य ठहरे। यहां पर सुरत्राण के कहने से और संघ के आग्रह से "रायाभिओगेणं, गणाभिओएणं" इत्यादि सिद्धान्त वचन का अनुसरण करते हुए आप चौमासे मे भी वागड़ देश के श्रावक-समुदाय के साथ मथुरा गए[१] और सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ तथा

१ आचार्य जिनचन्द्रसूरि के द्वारा दूसरी वार जिनाज्ञा भग करने का यह प्रसग है। पहले आपने शत्रुञ्जय गिरनार के सघ के साथ वापस भीमपल्ली आते हुए, वायड महास्थान मे आषाढी १४ की और वाद मे वहा से श्रावण वदि मे भीमपल्ली आकर चातुर्मास्य पूरा किया था। इस प्रसग पर तो लगभग तीर्थों मे जाने-आने मे ही खासा चातुर्मास्य व्यतीत किया। पट्टावली-लेखक कहता है – सुरत्राण के उपरोध से और सघ के अत्याग्रह से आप मथुरा के लिए निकले थे, जो सरासर झूठा वचाव है। सुरत्राण को तो कोई मतलव ही नही था और सघ का भी इन्होंने विसर्जन कर दिया था, कतिपय वागड के श्रावको के साथ आप खण्डसराय में चातुर्मास्य व्यतीत करने के लिए ठहरे थे, फिर मथुरा जाने का तात्कालिक क्या कारण उपस्थित हुआ कि जिससे वाध्य होकर आपको मथुरा जाना-आना पडा। हमारी राय मे दोनो स्थानो पर जिनचन्द्रसूरि ने गफलत की है। प्रथम तो

महावीर तीर्थङ्करों की यात्रा की, फिर दिल्ली आकर खण्डसराय में शेष चातुर्मास्य पूरा किया। दर्मियान श्री जिनचन्द्रसूरि के स्तूप की दो वार यात्रा की।

चातुर्मास्य के वाद श्रीपूज्य के शरीर में कम्परोग की पीडा उत्पन्न हुई जिससे अपना आयुष्य अल्प समझ कर अपने शिष्य वा० कुशलकीर्ति गणि को अपने पट्ट पर स्थापन करने का निश्चय करके सब हकीकत एक चिट्ठी मे लिख कर राजेन्द्रचन्द्राचार्य को देने के लिए अपने विश्वासपात्र ठ० विजयसिंह के हाथ मे चिट्ठी का गोलक दिया, बाद मे चौहान श्री मालदेव के अत्याग्रह से दिल्लो से विहार कर मेड़ता की तरफ प्रयाण किया। कन्यानयन आते-आते आपको ताप श्वास आदि की विशेष बाधा बढ़ गई। परिणामस्वरूप आपने सर्व सघ से मिथ्या दुष्कृत किया और कहा – "यह लेख राजेन्दचन्द्राचार्य को देना"। कोई मास भर कन्यानयन में ठहर कर बाद मे नरभटादि स्थानो मे होते हुए मेड़ता पहुचे, वहा पर राणक श्रीमालदेव के आग्रह से २४ दिन ठहर कर अपने स्वर्गवास के योग्य स्थान समझ कर वहा से कोसवाणा गए और वहां स० १३७६ के

इस प्रकार साधुओ को तीर्थयात्रा के निमित्त भ्रमण करना निष्कारण भ्रमण वताया है और निष्कारण भ्रमण करने पर शास्त्रकार ने प्रायश्चित्त विधान किया है, तव चातुर्मास्य मे दिल्ली से मथुरा जाकर चौमासे मे ही वापस दिल्ली आना कितना वुरा दृष्टान्त है, इसका जिनसूरिजी ने कतई विचार नही किया। साधुओ के लिए सयम यात्रा ही मुख्य यात्रा है। तीर्थयात्रा दर्शनशुद्धि का कारण होने से श्रावको के लिए खास उपयोगी है, साधुओ के लिए नही। चारित्र मे विराधना लगाकर तीर्थयात्रा के लिए अपने भक्तो का समुदाय इकट्ठा करके इधर-उधर घूमते रहना यह खरतरगच्छ के आचार्यो का प्रचार मात्र है। जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि आदि को तीर्थयात्रा निकाल कर तीर्थों मे ले जाने वाला कोई नही मिला था क्या? खरी वात तो यह है कि वे साधु का कर्त्तव्य अकर्त्तव्य समझते थे। चन्द्रावती मे जिनपतिसूरि के साथ वार्तालाप करते हुए पौर्णमिक-गच्छीय आचार्य श्री अकलकदेवसूरि ने सघ के साथ साधु को जाने के लिए जो आपत्तिया उठायी हैं और जिनपतिसूरिजी ने उनका जो समाधान किया है उसके पढने से पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिनचन्द्रसूरि की उक्त गफलत ही नही किन्तु निष्कारण अपवाद का सेवन है। 

आषाढ़ शुक्ल ६ की रात्रि मे डेढ पहर रात्रि व्यतीत होने पर चतुर्विध सघ को मिथ्यादुष्कृत कर समाधिपूर्वक देह छोडकर स्वर्गवासी हुए ।

श्रावक-समुदाय ने नारियल आदि फल उछालते हुए ले जाकर आपका अन्तिम देहसस्कार किया ।

चातुर्मास्य के अनन्तर जयवल्लभ गणि जिनचन्द्र का दिया हुआ लेख-पत्र लेकर भीमपल्ली राजेन्द्राचार्य के पास गए, वहा से आचार्य साधु समुदाय के साथ पाटन पहुचे, उस प्रदेश मे दुर्भिक्ष चल रहा था तो भी श्रीपूज्य के आदेश का पालन करने के निमित्त राजेन्द्रा र्य ने सं० १३७७ के ज्येष्ठ वदि ११ को कुम्भलमेर मे मूलपद स्थापना का निश्चित किया ।

बाद मे सा० तेजपाल श्रावक ने मूलपद स्थापना का महोत्सव करने का भार स्वीकार कर विधिमार्ग श्रावको वाले सर्व गाव नगरो मे कु कुम-पत्रिकायें भेजी, सर्व स्थानो के विधिसमुदाय नियत दिन पर पाटन आ पहुचे, ठक्कुर विजयसिंह भी श्रीपूज्यदत्त चिट्ठी का गोलक लेकर दिल्ली से पाटन आया, श्री राजे द्रचन्द्राचार्य, विवेकसमुद्र महोपाध्याय, प्रवर्तक जयवल्लभ गणि, हेमसेन गणि, वाचनाचार्य हेमभूषण गणि प्रमुख साधु ३३ और जयर्द्धि महत्तरा, प्रवर्तिनी बुद्धिसमृद्धि, प्रियदर्शना प्रमुख २३ साध्विया सर्व-स्थानीय श्रावकसमुदाय के सामने जयवल्लभ गणि के हस्तक का लेख और ठा० विजयसिंह वाला चिट्ठी का गोलक राजेन्द्रचन्द्राचार्य को दिया, पत्र तथा चिट्ठी सभा मे पढ़ी गई, सुनकर चतुर्विध विधि-साघ आनन्दित हुआ और ४० वर्ष की उम्र वाले वाचनाचार्य कुशलकीर्ति को शान्तिनाथ देव के सामने आचार्य-पद प्रदान किया गया और "जिनकुशलसूरि" यह नाम रक्खा ।

(१२) जिनकुशलसूरि --

उसके वाद श्री जिनकुशलसूरिजी भीमपल्ली गए, और प्रथम चातु-र्मास्य वही किया, स० १३७८ के माघ शुक्ल ३ को भीमपल्ली मे नन्दी-महोत्सव हुआ । श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य ने माला ग्रहण की और देवप्रभ मुनि को दीक्षा दी, तथा वाचनाचार्य हेमभषण गणि को अभिषेक पद

और प० मुनिचन्द्र गरिण को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया, उसी वर्ष मे विवेकसमुद्रोपाध्याय का आयुष्य समाप्त होता जानकर भीमपल्ली से श्रीपूज्य पाटन गए और ज्येष्ठ वदि १४ के दिन विवेकसमुद्रोपाध्याय को चतुर्विध सघ के साथ मिथ्यादुष्कृत कराके अनशन दिया, उपाध्यायजी पचपरमेष्ठी नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए समाधि पूवक ज्येष्ठ शुदि २ को स्वर्गवासी हुए।

उसके वाद श्रीपूज्य ने विधि-समुदाय को उपदेश देकर श्री विवेकसमुद्र उपाध्याय के शरीर-सस्कार भूमि मे स्तूप करवाया और आषाढ शुक्ल १३ को उस पर वासक्षेप किया, वाद मे पाटन के समुदाय की प्रार्थना से पाटन मे द्वितीय चातुर्मास्य किया।

सं० १३७९ के मार्गशीर्ष वदि ५ को पाटन मे विधिचैत्य मे प्रतिष्ठा-महोत्सव कराया और उसी दिन सा० खीमड श्रावक के उद्यम से और सा० तेजपालादि विधि-समुदाय की तरफ से शत्रुञ्जय तीर्थ पर श्री युगादिदेव के विधिचैत्य का प्रारम्भ किया गया, पाटन के इस महोत्सव मे श्री शान्तिनाथ प्रमुख के शैलमय, रत्नमय, पित्तलमय १५० जिनबिम्बों की, दो समवसरणो की, श्री जिनचन्द्रसूरि, जिनरत्नसूरि और अधिष्ठायको की मूर्तियो की श्रीपूज्य ने प्रतिष्ठा की।

वाद मे श्री वीजापुर के सघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य वीजापुर पधारे और वीजापुर से वहां के समुदाय के साथ त्रिशृंगम पधारे, त्रिशृंगम से वीजापुर के तथा वहा के समुदाय के साथ आरासण तथा तारंगातीर्थ की यात्रा कर श्री जिनकुशलसूरिजी पाटन पहुचे और तीसरा चातुर्मास्य वहां किया।

सं० १३८० कार्तिक शुक्ल १४ को सा० तेजपाल श्रावक ने शत्रुञ्जय तीर्थ पर तैयार होने वाले विधि-चैत्य योग्य श्री युगादिदेव का २७ अगुल परिमाण जिनविम्ब जो तैयार करवाया था, उसकी प्रतिष्ठा की, अन्य भी अनेक शैलमय, पित्तलमय विम्बो तथा जिनप्रबोधसूरि,

जिनचन्द्रसूरि की दो मूर्तियो कपर्दियक्ष, क्षेत्रपाल, अम्बिका आदि की मूर्तियां उसमे प्रतिष्ठित हुई ।

शत्रुञ्जय पर विधीयमान प्रासाद योग्य दण्ड-ध्वज की प्रतिष्ठा भी इसी प्रतिष्ठा-महोत्सव मे की ।

उसके बाद उसी वर्ष मे दिल्ली निवासी सा० रयपति श्रावक ने बादशाह श्री गयासुद्दीन का फरमान हासिल कर पाटन श्रीपूज्य को अपनी तरफ से विज्ञप्ति करने के लिए मनुष्य भेजे और श्री जिनकुशलसूरिजी ने भी तीर्थयात्रा का आदेश दिया । गुरु आदेश प्राप्त कर हृष्ट-चित्त श्रीरयपति ने अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त योगिनीपुर का तथा योगिनीपुर निकटवर्ती अनेक गावो का विधि-समुदाय बुला कर वैशाख वदि प्रथम ७ को योगिनीपुर से प्रस्थान किया । प्रथम सघ कन्यानयन गया और श्री महावीर देव की यात्रा करके ग्राम, नगर आदि मे होता हुआ सघ नरभट पहुँचा और पार्श्वनाथ की यात्रा की, वहा से सघ फलौदी पार्श्वनाथ की यात्रार्थ गया । वहा से सघ जालोर पहुँचा और बडे ठाट से वहा की यात्रा की, वहां से सघ भीनमाल पहुँचा और शान्तिनाथ की यात्रा की, वहा से प्रयाण कर सघ भीमपल्ली, वायड महास्थान मे महावीर की यात्रा करता हुआ ज्येष्ठ वदि १४ को श्री पाटन पहुँचा ।

पाटन के देवालयो की यात्रा की और श्री जिनकुशलसूरिजी को सघ मे पधारने की प्रार्थना की । वर्षाकाल निकट जानते हुए भी श्रीपूज्य संघ का अपमान नही करना चाहिए, इस भावना से वर्षा-चातुर्मास्य की भी अवगणना कर १७ साधु और जयर्द्धि महत्तरा प्रमुख १९ साध्वियो के परिवार सहित सा० रयपति के सघ मे सम्मिलित हुए और बड़े आडम्बर के साथ ज्येष्ठ शुक्ल ६ के दिन सघ आगे रवाना हुआ ।

क्रमशः दण्डकारण्य[1] जैसे वालाक देश को उल्लघन कर सघ श्री शत्रुञ्जय की तलहटी मे पहुँचा, वहा पार्श्वनाथ की यात्रा की और

१ गुर्वावली-लेखक ने सौराष्ट्र के "भाल" प्रदेश को दण्डकारण्य की उपमा दी है, यह उनका साहित्य विषयक अज्ञान सूचन करता है, क्योकि उपमा वही दी जाती है जो

आषाढ वदि ६ के दिन तीर्थाधिराज शत्रुञ्जय पर चढे और युगादिदेव की यात्रा की। सघपति श्री रयपति ने सुवर्णटको से नवाग पूजा की और करवाई, अन्य महर्द्धिक श्रावको ने भी रूप्य टकादि से पूजा की। उसी दिन श्री युगादिदेव के आगे देवभद्र और यशोभद्र क्षुल्लको की दीक्षा सम्पन्न हुई और आषाढ वदि ७ को जल-यात्रा करके श्री युगादिदेव के मूलचैत्य मे स्वकारित नेमिनाथ बिम्ब प्रमुख अनेक जिनबिम्बो, भण्डागार योग्य समवसरण, जिनपतिसूरि, जिनेश्वरसूरि प्रमुख अनेक गुरु-मूर्तियो की श्री जिनकुशलसूरिजी ने प्रतिष्ठा की और उसी दिन पाटन मे प्रतिष्ठापित युगादिदेव के मूल नायक बिम्ब की शत्रुञ्जय पर नवनिर्मित प्रासाद मे स्थापना की। आषाढ वदि ९ को मालारोपण आदि उत्सव युगादिदेव के मूलचैत्य मे किया, उसी दिन सुखकीर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया और नूतन प्रासाद मे ध्वजारोप महोत्सव हुआ।

उक्त महोत्सव मे इन्द्रपद आदि के चढावे तथा अन्य तरीको से युगादिदेव के भण्डागार मे द्विवल्लक ५००९० द्रम्म उत्पन्न हुए।

बाद मे श्रीपूज्य सघ के साथ तलहटी मे सघ के पडाव पर आए और वहा से गिरनार तीर्थ की यात्रा के लिए जूनागढ की तरफ चले और आषाढ शुक्ल १४ के दिन सघ ने गिरनार पर श्री नेमिनाथ की यात्रा की। यहा पर भी सा० रयपति प्रमुख श्रावको ने सुवर्णटकादि से पूजा की और सघ चार दिन ठहरा तथा महापूजा, ध्वजारोपादि महोत्सव किए। यहा नेमिनाथ के देवभण्डार मे द्विवल्लक ४० हजार द्रम्म उत्पन्न हुए, उसके बाद पर्वत से उतर कर आचार्य तलहटी मे सघ के स्थान पर आए और वहा से सघ वापस पाटन के लिए रवाना हुआ।

सघवी रयपति पूज्य आचार्य को वन्दन कर पाटन से रवाना हुआ, बीच मे कोशवाणा मे श्री जिनचन्द्रसूरि के स्तूप पर ध्वजारोप किया, फिर

उपमेय से मिलती-जुलती हो। माल प्रदेश ऐसा स्थान है जहा घास तक नही उगता, तब दण्डकारण्य ऐसी घनी वनस्पति वाला प्रदेश है, जहा सामान्य मनुष्य चल भी नही सकता। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध स्वभाव के दो पदार्थों को आपस में उपमेय उपमान बनाना अज्ञान का परिणाम है।

卐

वहा से फलौदी की यात्रा कर देशान्तरीय यात्रिकों को अपने-अपने स्थान पहुँचा कर संघपति ने अपने निवास स्थान योगिनीपुर मे कार्तिक वदि ४ को प्रवेश किया।

स० १३८१ वैशाख सुदि ५ को सा० तेजपाल, सा० रुद्रपाल ने जलयात्रा पूर्वक प्रतिष्ठा महोत्सव कराया। इस उत्सव मे श्री जिनकुशल-सूरिजी ने जालोर योग्य महावीर देव का विम्ब, देवराजपुर युगादिदेव का विम्ब, शत्रुञ्जय स्थित वूल्हा-वस्ति-प्रासाद जीर्णोद्धारार्थ श्रीश्रेयास प्रमुख अनेक विम्ब, शत्रुञ्जय स्थित स्वप्रासादमध्यस्थ अष्टापद योग्य चौबीस जिनविम्ब इत्यादि शैलमय १५० जिनविम्बों की प्रतिष्ठा की। उच्चापुरीय योग्य श्रीजिनदत्तसूरि, जालोर तथा पाटन योग्य जिनप्रबोधसूरि और देवराजपुर योग्य जिनचन्द्रसूरि की मूर्तियो की और अम्बिका आदि अधिष्ठायको की प्रतिष्ठा की और अपने भण्डार योग्य श्रेष्ठ समवसरण भी प्रतिष्ठित किया। देवभद्र, यशोभद्र क्षुल्लको की उपस्थापना की, सुमति-सार, उदयसार, जयसार, क्षुल्लको और धर्मसुन्दरी, चारित्रसुन्दरी, क्षुल्लिकाओ को दीक्षा दी। जयधर्म गणि को उपाध्याय-पद दिया, अनेक साध्वी श्राविकाओ ने माला ग्रहण की।

पाटन से श्रीपूज्य भीमपल्ली पहुँचे और वैशाख वदि १३ को महावीर देव को नमस्कार किया। उसी वर्ष मे सा० वीरदेव श्रावक द्वारा रचित सघ के साथ जाने के लिए जिनकुशलसूरिजी ने स्वीकार किया। सा० वीरदेव ने बादशाह गयासुद्दीन से फर्मान निकलवा के नाना स्थानों के समुदायो को कुकुम-पत्रिका देकर बुलाया, श्रीजिनकुशलसूरिजी भी सा० वीरदेव तथा सघ के आग्रह से चतुर्मास्य निकट होने पर भी ज्येष्ठ वदि ५ को भीमपल्ली से सघ के साथ रवाना हुए। श्री वायड, सेरीशक आदि स्थानो मे ठहर कर ध्वजारोप की रस्म करता हुआ संघ सरखेज नगर पहुँचा। निकटवर्ती आशापल्ली नगर के विधि-समुदाय की प्रार्थना से जिनकुशलसूरि कतिपय श्रावको के साथ आशापल्ली पधारे, आशापल्ली की यात्रा कर आप वापस सघ मे आए और वहां से सर्व सघ स्तम्भतीर्थ पहुँचा, नवाग वृत्तिकार अभयदेवसूरि प्रकटित श्री स्तम्भनक पार्श्वनाथ

विधिचैत्य मे अजितनाथ को यात्रा की। आठ दिन तक सघ वहां ठहरा और इन्द्रमाला द्विवल्लक १२००० द्रम्म में पहनी गई, खम्भात से प्रस्थान कर सघ शून्य प्रदेशो मे चलता हुआ शत्रुञ्जय की तरफ आगे बढ़ा, बीच मे आने वाले धन्धूका नगर मे ठ० उदयकरण श्रावक ने सघ वात्सल्य आदि किया। क्रमश. सघ शत्रुञ्जय की तलहटी मे पहुँचा, वहा से श्रीपूज्य शत्रुञ्जय पर चढ़े और दूसरी बार श्री युगादिदेव की यात्रा की। दस दिन तक सघ वहां ठहरा और इन्द्रपदादि के चढावे किये। श्री युगादिदेव के भण्डार मे देकर विधि-सघ ने १५ हजार द्विवल्लक द्रम्म सफल किये, अपने युगादिदेव के विधि-चैत्य मे नई तैयारी हुई। २४ देवगृहिकाओ पर श्रीपूज्य ने कलश-ध्वजारोप किया, इसके अनन्तर श्रीपूज्य सघ के साथ तलहटी में आए, बाद मे सर्व सघ आया उसी रास्ते गया। क्रमशः सेरीशे होकर शखेश्वर पहुँचे। वहा चार दिन ठहर कर ध्वजारोप आदि करके सघ के साथ श्री जिनकुशलसूरि श्रावण शुक्ल ११ को भीमपल्ली पहुँचे[१]। देशान्तरीय यात्रिकगण अपने-अपने स्थान पहुँचे।

---

१ जिनचन्द्रसूरिजी ने यात्रा निमित्त दो वार चातुर्मास्य में भ्रमण करने के जो अपवाद सेवन किये थे उन पर टिप्पण करते हुए हम लिख आये हैं कि चातुर्मास्य में इधर उधर होने की अनागमिक रीति योग्य न्‌ी है, हमारे उस कथन के अनुसार ही परिणाम आया, जिनचन्द्रसूरिजी दो वार इधर-उधर हुए थे तब उनके पट्टधर श्री जिनकुशलसूरिजी ने भी चातुर्मास्य में दो वार यात्रार्थ भ्रमण किया।

प्रथम योगिनीपुर निवासी सा० रयपति के सघ के साथ सौराष्ट्र तीर्थ की यात्रा के लिए जाकर वापस भाद्रपद वदि ११ को पाटन पहुचे थे और चातुर्मास्य वहा पर पूरा किया था।

दूसरी वार भीमपल्ली निवासी सा० वीरदेव के सघ के साथ उन्ही तीर्थो की यात्रा करने गये और श्रावण शुल्क ११ को वापिस भीमपल्ली में प्रवेश किया था।

इसी प्रकार खरतरगच्छ के आचार्यो ने नाम मात्र का निमित्त पाकर चौमासे में इधर उधर जाने में पाप नही समझा और खूबी यह है कि इनके पिछले गुर्वावलीकार लेखक "रायाभिओगेण" इस आगार को आगे कर इस अनुचित प्रवृत्ति का बचाव करते हैं, उनको समझ लेना चाहिये कि इन बातो में "राजाभियोग, गणाभियोग" लागू ही नही होता। राजा साधुओ को वर्षाकाल में इधर उधर

स० १३८२ के वैशाख सुदि ५ को सा० वीरदेव ने वहां नन्दि-महोत्सव किया और श्रीपूज्यजी ने उसमें चार क्षुल्लक, २ क्षुल्लिकाओ को दीक्षा दी, जिनके नाम विनयप्रभ, हरिप्रभ, सोमप्रभ आदि और कमलश्री तथा ललितश्री, इसके बाद श्रीपूज्य साचोर पहुँचे।

एक मास सांचोर ठहर कर आगे लाटहृद (राडदरा) गए। वहां पर १५ दिन ठहर कर आगे बाडमेर गए और वर्षा चातुर्मास्य वही किया।

स० १३८३ के पौष शुक्ल पूर्णिमा को वाडमेर मे अट्ठाहिमहोत्सव हुआ और उसमे नव-दीक्षितो की उपस्थापना, मालारोपणादि उत्सव हुए। उसी वर्ष मे बाडमेर से विहार कर लवणखेट (पचपदरा) सिवाना होते हुए जालोर पहुँचे और वहा पर अट्ठाही-महोत्सव शुरु हुआ, जिसमें १३८३ के फाल्गुन वदि ९ को श्री जिनकुशलसूरिजी ने प्रतिष्ठा, व्रतग्रहण, उपस्थापना, मालारोपणादि कार्य कराये और उस उत्सव मे वैभारगिरि

होने की आज्ञा क्यो देंगे ? राजनीति तो साधु, नट, नर्तक आदि घुमक्कड जातियों को वर्षाकाल में एक स्थान में रहने की आज्ञा देती है, तव खरतरगच्छ के आचार्यो को वह वर्षाकाल में घूमने की आज्ञा क्यो देगी। युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरिजी वर्षाकाल में वादशाह अकवर के पास जाने को रवाना हुए और जालोर तक पहुचने के वाद उनको वादशाह की तरफ से समाचार पहुचे कि वर्षाकाल मे चलते हुए आने की कोई आवश्यकता नही है, तव आपने शेष वर्षाकाल जालोर में विताया, जहा तक हम समझ पाये हैं श्री जिनदत्तसूरिजी से ही खरतरगच्छ के अनुयायियो को गुरुपारतन्त्र्य का उपदेश मिलना प्रारम्भ हो गया था, उसके ही परिणाम स्वरूप खरतरगच्छ में यह वात एक सिद्धान्त बन गया है कि आगम से आचार्यपरम्परा अधिक बलवती है, किसो प्रसग पर आचरणा के विपरीत आगम की वात होगी तो आगमिक नियम को छोडकर आचरणा की वात को प्रमाण माना जायगा, शास्त्र विरुद्ध यात्रार्थभ्रमण और वर्षाकाल तक की उपेक्षा करना उसका कारण एक ही है कि वे इस प्रकार की प्रवृत्तियो के विरुद्ध कुछ भी कह नही सकते थे, ठीक है, गुरु पारतन्त्र्य में रहना चाहिए, परन्तु पारतन्त्र्य का अर्थ यह तो नही होना चाहिए कि शास्त्रविरुद्ध अथवा लोकविरुद्ध, प्रवृत्तियो के सम्बन्ध में भी गुरुओ को कुछ नहीं कहा जाय, आखे मून्दकर गुरुओ की प्रवृत्तियो को निभाने का परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे गुरु और गच्छ दुनिया से विदा हो चलेंगे। ★

पर के चतुर्विंशति जिनालय के मूलनायक श्री महावीरदेव प्रमुख अनेक शैलमय-विम्बो, पित्तलमय-विम्बो, गुरु-मूर्तियो तथा अधिष्ठायक-मूर्तियो की प्रतिष्ठा हुई। ६ क्षुल्लक किये जिनके नाम न्यायकीर्ति, ललितकीर्ति, सोमकीर्ति, अमरकीर्ति, नमिकीर्ति और देवकीर्ति दिये थे। उसके बाद देवराजपुर के श्रावको के अत्याग्रह से श्री जिनकुशलसूरिजी ने चैत्र वदि मे सिन्ध की तरफ विहार करने का मुहूर्त किया। सिवाना, खेडनगर आदि स्थानो मे होते हुए जसलमेरु पहुँचे। वहा १६ दिन ठहर कर उच्चा आदि स्थानो मे होते हुए श्रीपूज्य देवराजपुर पहुँचे और श्री युगादिदेव को नमस्कार किया।

देवराजपुर मे एक मास की स्थिरता कर वहा से विहार कर उच्चा पहुँचे। एक मास तक वहा ठहर कर विधिसमुदाय को स्थिर कर चातुर्मास्य करने के लिए आप फिर देवराजपुर पहुँचे। चातुर्मास्य के बाद सं० १३८४ मे माघ शुक्ला ५ को आपने वहा पर प्रतिष्ठामहोत्सव कर-वाया। इस महोत्सव मे राणुकोट, कियासपुर के चैत्यो के मूलनायक योग्य श्री युगादिदेव के २ विम्ब तथा अन्य अनेक पाषाणमय तथा पित्तल-मय विम्वो की प्रतिष्ठा हुई, तथा नव-क्षुल्लक बनाये और तीन क्षुल्लिकाएं, इनके नाम – भावमूर्ति, मोदमूर्ति, उदयमूर्ति, विजयमूर्ति, हेममूर्ति, भद्रमूर्ति, मेघमूर्ति, पद्ममूर्ति और हर्षमूर्ति इनको दीक्षा दी और कुलधर्मा, विनय-धर्मा, शीलधर्मा इन साध्वियों को भी।

सं० १३८५ मे फाल्गुन शुक्ल ४ के दिन श्री जिनकुशलसूरिजी ने उत्सव कराया। उसमें पं० कमलाकर गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, नूतन दीक्षितो की उपस्थापना की और मालारोपणादि कार्य हुए।

सं० १३८६ के वर्ष मे वहिरामपुरीय संघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य बहरामपुर गए और ठाट से नगर प्रवेश कर पार्श्वनाथ के दर्शन किये, कुछ दिन वहां ठहरे और वहां से विहार कर क्यासपुर गये और वहा से नारवाहन की तरफ विहार किया, छः दिन तक वहां ठहर कर वापस क्यासपुर की तरफ विचरे।

सं० १३८७ के वर्ष मे उच्चकीय समुदाय के आग्रह से और १२ साधुओ के परिवार के साथ उच्चा गए और एक मास वहां ठहरे, बाद मे परसुरोरकोट के श्रावको के आग्रह से वहां पधारे, वहां से विहार करके वहिरामपुर पहुँचे, वहा से क्यासपुरादि होते हुए, वर्षा चातुर्मास्य करने देवराजपुर पहुचे।

चातुर्मास्य के बाद १३८८ के वर्ष मे बिम्बप्रतिष्ठा संस्थापनादि के लिए उत्सव करवाया। उच्चापुरीय, वहिरामपुर, क्यासपुर, सिलारवाणादि अनेक गावो के रहने वाले सिन्धदेश के समुदायो की हाजरी मे मार्गशीर्ष शुक्ला १० के दिन तरुणकीर्ति गणि को आचार्यपद दिया और तरुणप्रभाचार्य नाम रखा। प० लब्धिनिधान गणि को अभिषेक पद देकर लब्धिनिधानोपाध्याय बनाया और जयप्रिय मुनि, पुण्यप्रिय मुनि को क्षुल्लक बनाया और राजश्री तथा धर्मश्री को क्षुल्लिका बनाया, उसके बाद देराउर मे चातुर्मास्य किया।

श्रीपूज्य अपना अन्त समय देखकर चातुर्मास्य के बाद भी उसी क्षेत्र मे ठहरे, माघ महीने मे ज्वरश्वासादि के बढ़ जाने से अपना निर्वाण समय निकट समझकर तरुणप्रभाचार्य को और लब्धिनिधानोपाध्याय को अपने पट्ट के योग्य पद्ममूर्ति क्षुल्लक को बनाकर उसको पद प्रतिष्ठित करने की शिक्षा दे के स० १३८९ के फाल्गुन कृष्ण ५ को चतुर्विध सघ के साथ मिथ्यादुष्कृत देने के बाद रात्रि के लगभग दो पहर बीतने पर आपने देह छोड देवगति को प्रयाण किया। आपके अग्निसस्कार स्थान पर देवराजपुर के विधि-समुदाय ने स्तूप निर्माण करवाया।

स० १३९० के ज्येष्ठ शु० ६ को मिथुन लग्न मे देवराजपुर के युगादि जिनचैत्य मे तरुणप्रभाचार्य ने जयधर्मोपाध्याय, लब्धिनिधानोपाध्याय प्रमुख ३० साधु, अनेक साध्वी समुदाय की हाजरी मे भावना के अनुसार पद्ममूर्ति क्षुल्लक को श्री जिनकुशलसूरिजी के पट्टपर स्थापित किया, पूज्य के आदेशानुसार ही "श्री जिनपद्मसूरि" यह नाम दिया। इस पद स्थापना महोत्सव पर- जयचन्द्र, शुभचन्द्र, हर्षचन्द्र, महाश्री, कनकश्री, क्षुल्लिकाओ को जिनपद्मसूरिजी ने दीक्षा दी। प० अमृतचन्द्र गणि को वाचनाचार्य-पद हुआ।

(१३) जिनपद्मसूरि –

स० १३९० के ज्येष्ठ शुक्ल ६ को युगादिदेव प्रमुख जिनबिम्बों और स्तूप योग्य, जैसलमेर योग्य, वयासपुर योग्य, जिनकुशलसूरिजी की तीन मूर्तियो की प्रतिष्ठा करने के लिए उत्सव किया और उसी दिन स्तूप मे जिनकुशलसूरि की मूर्ति स्थापित की, बाद मे श्रीपूज्य जिनपद्मसूरिजी ने दो उपाध्याय प्रमुख १२ साधुओ के साथ जैसलमेर की तरफ़ विहार किया और प्रथम चातुर्मास्य जैसलमेर मे किया।

सं० १३९१ के पौष वदि १० को जैसलमेर मे लक्ष्मीमाला गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, फिर बाड़मेर को तरफ विचरे। दस दिन तक वहां ठहर कर सांचोर की तरफ़ विहार किया, वहा पर माघ शुक्ला ६ के दिन समुदाय की तरफ से नन्दिउत्सव किया। उसमे नयसागर, अभयसागर क्षुल्लको को दीक्षा दी। वहा मास से कुछ कम ठहर कर वहां से आदित्य-पाटक गए और शान्तिनाथ की यात्रा की, उसके बाद माघ पूर्णिमा को समुदाय की तरफ से प्रतिष्ठा-महोत्सव किया। उसमे युगादिदेव आदि के ५०० बिम्बो की श्रीपूज्य ने प्रतिष्ठा की।

सं० १३९२ मार्गशीर्ष वदि ६ के दिन २ क्षुल्लकों की उप-स्थापना की।

स० १३९३ के कार्तिक मास मे पाटणस्थित श्रीपूज्य ने लघुवय के होते हुए भी प्रथमोपधान तप वहन किया, वहा से फाल्गुन वदि १० को पाटन से जीरावला की यात्रा के लिए प्रयाण किया। नारउद्र होते हुए श्रीपूज्य आशोटा (आसेडा) पहुचे। वहा भीमपल्लीय सा० वीरदेव श्रावक ने विधिसमुदाय के साथ श्रीराज० रुद्रनन्दन, राज० गोधा आदि को साथ मे लेकर प्रवेशोत्सव कराया। वहा से श्रीपूज्य विचरते हुए बूजद्री पधारे।

उसी वर्ष मे सा० मोकदेव ने आबू की यात्रा के लिए श्रीपूज्य से प्रार्थना की और उन्होने स्वीकृति दी। चैत्र शुक्ल ६ के दिन तीर्थयात्रा योग्य देवालय में शान्तिनाथ को स्थापित कर वासक्षेप किया, फिर अट्ठाई

उत्सव कर चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को वूजड़ी से सघ का प्रस्थान हुआ, श्रीपूज्य भी लब्धिनिधान उपाध्याय, वा० अमृतचन्द्र गणि प्रमुख १५ साधु और जयर्द्धि महत्तरा प्रमुख ८ साध्वियो के परिवार सहित चले। क्रमशः सघ आबू पहुँचा और विमलविहार मे श्री आदिनाथ और लूणिकविहार मे नेमिनाथ प्रमुख तीर्थङ्करो की यात्रा की। विधि-सघ ने इन्द्रपद आदि चढ़ावो मे तथा अन्य उत्सवो मे ५०० रूप्य टक सफल किये, वहां से संघ के साथ श्रीपूज्य मुडस्थला (मु गुथला) गाव जाकर जिनपतिसूरि की मूर्ति को वन्दन किया। वहा से सघ जीरापल्ली पहुँचा, वहा भी युगादिदेव के प्रासाद मे २०० टक खर्च किये। वहा से प्रयाण कर सघ आरासण गया और नेमिनाथ प्रमुख पचतीर्थो की यात्रा की। इन्द्रपदादि के चढावों द्वारा १५० रूप्य टक खर्च किये, वहा से सघ तारगा पहुँचा और अजित-नाथ की यात्रा की, वहा भी इन्द्रपदादि के चढावो में २०० रूप्य टक खर्च किये। वहा से वापस लौट कर सघ त्रिशृङ्गमक पहुँचा। श्रीपूज्य ने वहां के सर्व चैत्यो की यात्रा की, संघ ने इन्द्रपदादि द्वारा पार्श्वनाथ के प्रासाद मे १५० रूप्य टक खर्च किये। वहा से लौट कर चन्द्रावती के मार्ग से श्रीपूज्य वूजडी पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वही किया।

राजाओं का मोह –

खरतरगच्छ की पट्टावलियो तथा गुर्वावलियों के लेखको को राजाओं तथा महाराजाओ का वडा मोह था, एक साधारण गाव के जागीरदार अथवा कोली ठाकुर को भी राजा कहकर अपने गुरुओ के नगरप्रवेशो का महत्त्व वढाया है, एक छोटे से गांवड़े का गिरासिया ठाकुर भी उनकी दृष्टि मे वडा राजा तथा राजाधिराज था, इस प्रकार के वृहद् गुर्वावली में आने वाले नामो की एक लम्वी नामावली देकर खरतरगच्छ के एक लेखक महोदय ने 'खरतरगच्छ गुर्वावलो का ऐतिहासिक महत्त्व'' इस शीर्षक के नीचे नामावलि मे सूचित राजा, महाराजा, जागीरदारो के संवन्ध मे चर्चा की है। प्रस्तुत लेख मे वृहद् गुर्वावली की प्रशसा करने में लेखक ने सोमो-ल्लघन कर दिया है। कई स्थानो मे तो गुर्वावली के खरे अर्थ को छिपाकर

कल्पित अर्थ लगाकर अपने आचार्यों का महत्त्व बढ़ाया है, इस सम्बन्ध मे एक दो दृष्टान्त देकर इस चर्चा को पूरा कर दिया जायगा।

१. वृहद् गुर्वावलो मे सं० १२४४ की हकीकत मे पाटन के रहने वाले "व्यवहारी अभयकुमार सेठ" को खरतरगच्छ का एक अनुयायी भणशाली कहता है – 'अभयकुमार! तुम हमारे स्वजन हो, करोडपति हो और राजमान्य हो, परन्तु इससे हमको क्या फायदा, जो हमारे गुरुओं को गिरनार, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा नहीं करवाते।" भणशाली की इस वात से उत्साहित होकर अभयकुमार ने उसे आश्वासन दिया और महाराजा भीमदेव तथा उनके "प्रधान मन्त्री जगद्देव पडिहार" को मिलकर अजमेर से सघ निकलवाने की राजाज्ञा लिखवायी और अजमेर के खरतरगच्छ सघ तथा जिनपतिसूरि के नाम दो पत्र लिखकर अपने लेखवाहक द्वारा अजमेर के सघ के पास भेजे, अभयकुमार मार्फत आयी हुई राजाज्ञा तथा अभयकुमार के पत्रो को पढकर अजमेर के सघ के साथ जिनपतिसूरिजी ने यात्रा के लिए प्रयाण किया और वहा से सीधे आवु के निकटवर्ती चन्द्रावती होकर आशापल्ली आये और खभात होते हुए, सौराष्ट्र के तीर्थों मे गये, वहा की यात्रा करके संघ वापस आशापल्ली होता हुआ अन्त में पाटन आया, और वहां से अपने स्थान अजमेर पहुँचा तव "ऐतिहासिक महत्त्व लेखक" "पाटन से ही अभयकुमार की तरफ से सघ निकलवाता है। यह झूठा प्रचार नहीं तो क्या है? राजाज्ञा अजमेर पहुचाने के वाद अभयकुमार का सघ के प्रकरण मे कही नाम तक नही मिलता तब लेखक अभयकुमार द्वारा सघ निकलवाने की वात करते हैं, खरी वात तो यह है कि "खरतरगच्छ के पट्टधर आचार्यो के पाटन आने पर राजकीय प्रतिवन्ध लगा हुआ था," इसलिए संघ पाटन होकर ही नही पाटन राज्य की हद मे होकर भी जा नही सकता था, इसलिए अभयकुमार ने राजाज्ञा अजमेर भेजी थी। अभयकुमार स्वय पाटन से सघ निकालता तो राजाज्ञा अजमेर क्यो भेजता? और अजमेर का सघ पाटन को छोडकर सीधा तीर्थों मे क्यो जाता।

२. "स० १२८६ मे श्री जिनेश्वरसूरिजी के खम्भात जाने पर महामात्य वस्तुपाल द्वारा उनका समारोह से नगरप्रवेशोत्सव किया गया था,"

ऐसा लेखक लिखता है, यह भी गलत है – जिनेश्वरसूरि का नगरप्रवेशोत्सव उनके भक्तो ने किया था और वस्तुपाल भी अपने मित्रों के साथ उसमें सम्मिलित हुए थे इतना ही गुर्वावली में लिखा है ।

३. बृहद् गुर्वावली में सवत् १३५३ में मुसलमानों द्वारा पाटन का भंग होने की बात गुर्वावलीकार ने लिखी है, यह भी सुनी सुनायी झूठो अपवाह लिख दी है, पाटन का भंग १३५३ मे नहीं किन्तु १३६० में हुआ था, पहले मुसलमान पाटन पर चढ़ाई कर गुजरात तरफ आये थे, सही परन्तु आबु के निकट से ही गुजराती सैन्य की मार खाकर वापस भाग गए थे। स० १३६० तक पाटन मे वाघेले सोलंकियो का ही राज्य था ।

यो तो बृहद्गुर्वावली अतिशयोक्तियों, अफवाहों और कल्पित वर्णनों का खजाना है, परन्तु उन सभी बातों की चर्चा करने से कोई सारांश नहीं निकलता, जो कुछ इतिहास और वास्तविकता से विपरीत बाते प्रतीत हुई उनमें से कतिपय वृत्तान्तो की खरी समीक्षा लिखनी पड़ी है, आशा है, इसे पढकर पाठक गण सार ग्रहण करेंगे ।



हस्तलिखित खरतर-गच्छीय पट्टावलियां

हमारे शास्त्र-संग्रह मे कुछ हस्तलिखित खरतर पट्टावलियां भी हैं, जिनमे नम्बर २३२४,२३२७,२३२८,२३२९,२३३३ की पट्टावलियां खरतर-गच्छ के आचार्यो की परम्परा का प्रतिपादन करती हैं, यद्यपि इन पट्टावलियो में अव्यवस्थितता है, फिर भी इनमे से कुछ पट्टावलियो मे विशेष वृत्तान्त भी मिलते हैं, अतः इन का अवलोकन लिखना प्रासगिक होगा।

पट्टावली नम्बर २३२४ – उक्त पट्टावली १५ पत्रात्मक है, इसका लेखन समय विक्रम की सत्रहवी शती का उत्तरार्ध है, लेखक ने अपना नाम नही लिखा फिर भी यह पट्टावली श्री जिनराजसूरि के समय की है, इसमे कोई शका नही। पट्टावली लेखक का निम्नाकित उल्लेख इस पट्टावली का समय सूचित करता है – "श्री जिनचन्द्रसूरि अनेक अवदातकीया वृद्धावस्तायि पातिसाहजी कनई जई षट्दर्शन मुगता कीधा, अन्त समयि अणसण करी सं० १६७० आसु वदि २ बीलपुरइ दिवगत थया। दिवगत हुयां पछेई मुहपती अग्निरइ विषइ साबती रही, तेहना कितराएक अवदात कहीयइ तेहनइ पाटनइ विषइ श्री जिनसिंघसूरि हूया जाणिवा, चौपड़ा गोत्रीय तेहना जितरा दिहाड़ा तितरा पवाडा ते कितरा एक कहियइ, श्री संघइ दृष्टइ दीठा हुसी तेहनई पाटरइ विषयि बोहिथरा बश सिणगारहार चूडामणि समान श्री जिनराजसूरि विजयमान प्रवर्तइ, तेहनई पाटरइ विषइ बोहथहरा वंशीय श्री जिनसागरसूरि थापी (मू० ग्रन्थ।ग्रन्थ ३७६ ॥छः॥) "महो उपाध्याय श्री हंसप्रमोद गणि, महो उपाध्याय श्री चारित्रदत्त गणि, तत् शिष्य पंडित पीथाजी, तत् शिष्य प० आणदलिखितम् ॥छः॥"

उपर्युक्त पट्टावली मे आचार्य परम्परा श्री आर्यरक्षितसूरिजी से प्रारम्भ की है और आर्यरक्षितसूरि के पट्टपर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी को बिठाया

है, इससे इतना तो पहले से ही निश्चित हो जाता है कि पट्टावली प्रमादपूर्ण है। श्री हरिभद्रसूरि के बाद श्री शांतिसूरि, श्री देविन्दवाचक, गोविन्द-वाचक, उमास्वातिवाचक, श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण, इस क्रम से श्रुत-धरो के नाम लिखने के बाद लेखक कहते हैं – श्री देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगरी मे सर्वसाधु सघ का सम्मेलन किया और सर्व-सिद्धान्त पुस्तको मे लिखवाएं, भगवान् महावीर से ६८० वे वर्ष मे पुस्तक लिखे गए, श्री देवर्द्धि गणि के पट्टपर श्री शीलाङ्काचार्य हुए, जिन्होने एकादशांगी पर वृत्ति बनाई, शीलाङ्काचार्य के पट्ट पर श्री देवसूरि, इनके पट्ट पर श्री नेमिच-न्द्रसूरि, नेमिचन्द्र के पट्टपर श्री उद्योतनसूरि, उद्योतनसूरि के पट्टपर श्री वर्धमानसूरि, । वर्धमानसूरि के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि अभोहर देश मे ८४ स्थविरो की मण्डली में श्री जिनचन्द्राचार्य सब से बडे थे और जिनचन्द्रा-चार्य के शिष्य वर्धमान को सिद्धान्त का अवगाहन करते ८४ आशातनाओ का अधिकार आया, तब आपने गुरु से पूछा कि चैत्य मे रहने से आशातनाए लगती है, इस पर से जिनचन्द्रचार्य ने दिल्ली की तरफ विचरते हुए सुविहित श्री उद्योतनसूरिजी को पत्र लिखा कि मेरा शिष्य वर्धमानसूरि आपकी तरफ आरहा है सो आप इसे उपसपदा देकर जिस प्रकार इसका विस्तार हो वैसा करे, मैंने अपना यह शिष्य आपको सोप दिया है। वर्धमान उद्योतनसूरिजो के पास गया और उन्होने योग्य जानकर अपना पट्टधर बना लिया।

वर्धमानसूरि के पट्ट पर जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि हुए, । एक समय जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि पाटण गए और राजा के पुरोहित के यहा ठहरे, चैत्यवासियो के साथ दुर्लभराज की सभा मे जिनेश्वरसूरि का वाद हुआ और साधुओ का "वसति मे रहना प्रमाणित हुआ," इससे स० १०८० मे जिनेश्वरसूरि को "खरतर" विरुद दिया, तब से उनका गच्छ "सुविहित" इस नाम से प्रसिद्ध हुआ और "चौरासी गच्छ" "कोमल" इस नाम से प्रसिद्ध हुए।

इतिहास के जानने वालो को यह समझने मे तनिक भी देर न लगेगी कि आर्य रक्षित से पट्टावली की शुरुआत करवा कर उनके बाद हरिभद्र, श्री शान्तिसूरि, श्री देविन्दवाचक, गोविन्दवाचक, उमास्वातिवाचक श्री

जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण और देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के नाम लिख दिये, इन श्रुतधरो का न पट्टक्रम से सम्बन्ध है, न कालक्रम से ही, जैसे नाम याद आए वैसे ही एक के बाद एक लिख दिए। हरिभद्रसूरि के बाद के सभी श्रुतधर उनके पूर्ववर्ती हैं, तब लेखक ने हरिभद्र को सब से पूर्व में लिखा है। देवर्धिगणि के पट्ट पर शीलाङ्काचार्य का नाम लिखना भी इतिहास का अज्ञान ही सूचन करता है। श्री वर्धमानसूरि तथा इनके पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के नाम कल्पनाबल से लिखे गए हैं, वास्तव में यह पट्टावली श्री वर्धमानसूरिजी से प्रारम्भ होती है, यही कहना चाहिए।

"दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वरसूरि का चैत्यवासियो के साथ वाद हुआ" यह कथन भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है, क्योकि सं० १०८० के पहले ही राजा दुर्लभसेन सोलकी इस दुनिया से विदा हो चुके थे। गुजरात पाटन के सोलंकी राजाओ की वशावली प्राचीन शिलालेखो तथा ताम्रपत्रो के आधार से विद्वानों ने इस प्रकार तैयार की है –

(१)	मूलराज	सोलंकी	इ०	९४२	से	९९७	तक
(२)	चामुण्ड	,,	,,	९९७	,,	१०१०	,,
(३)	वल्लभसेन	,,	,,	१०१०	,,	१०१०	,,
(४)	दुर्लभसेन	,,	,,	१०१०	,,	१०२२	,,
(५)	भीमदेव (प्रथम)	,,	,,	१०२२	,,	१०७२	,,
(६)	करण	,,	,,	१०७२	,,	१०९४	,,
(७)	सिद्धराज	,,	,,	१०९४	,,	११४३	,,
(८)	कुमारपाल	,,	,,	११४३	,,	११७४	,,
(९)	अजयपाल	,,	,,	११७४	,,	११७७	,,
(१०)	मूलराज (दूसरा)	,,	,,	११७७	,,	११७९	,,
(११)	भीमदेव (दूसरा)	,,	,,	११७९	,,	१२४१	,,
(१२)	त्रिभुवनपाल	,,	,,	१२४१	,,	१२४१	,,

उक्त वशावली मे राजा दुर्लभसेन जिसको खरतरगच्छीय लेखकों ने दुर्लभराज लिखा है, इसका राजत्वकाल इ० १०१० से १०२२ तक रहा था,

इस इसवी सन् को अगर हम विक्रम सं० बना ले तो भी १०७९ के पहले ही दुर्लभसेन का समय पूरा हो जाता है, इस परिस्थिति मे दुर्लभराज के द्वारा जिनेश्वरसूरिजी को १०८० मे खरतर बिरुद प्राप्त होने की बात प्रमाणित नही होती। हम इतना मान लेते हैं कि जिनेश्वरसूरि का पाटन के किसी चौलुक्य राजा की राजसभा मे चैत्यवासियो के साथ चर्चा-विवाद होकर साधुओ का वसति-निवास प्रमाणित हुआ था। तथापि इस घटना से उन्हे "खरतर" विरद मिलने का कथन कल्पना मात्र ही ठहरता है, इस सम्बन्ध मे आचार्य श्री जिनदत्तसूरि निर्मित "गणधर सार्द्धशतक" को हमने ध्यान पूर्वक पढ़ा है। जिनदत्त सूरिजी ने अपने इस ग्रन्थ मे "खरतर विरद" मिलने का कोई सूचन नही किया, विक्रम की तेरहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे निर्मित सुमतिगणि की "गणधर सार्द्धशतक की वृहद्वृत्ति" को भी हमने अच्छी तरह पढा है। उसमे आचार्य जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, बुद्धिसागर, जिनचन्द्रसूरि और जिनवल्लभसूरि तथा ग्रन्थकर्त्ता श्री जिनदत्तसूरि के सविस्तर चरित्र दिए गए हैं, चैत्यवासियो के साथ वसतिवास के सम्बन्ध मे चर्चा होने की बात सूचित की है, परन्तु किसी भी राजा द्वारा जिनेश्वरसूरि को कोई विरुद मिलने की बात नही, ऐसी कोई घटना बनी होती तो जिनदत्तसूरिजी "सार्द्धशतक" के मूल मे ही उसका सूचन कर देते पर ऐसा कुछ नही किया, न प्राचीन वृत्तिकार श्री सुमतिगणिजी ने ही "खरतर विरुद" की चर्चा की है, इससे निश्चित होता है कि राजा द्वारा "खरतर विरुद" प्राप्त होने की बात पिछले पट्टावली लेखको की गढी हुई बुनियाद है।

श्री जिनेश्वरसूरि की परम्परा के कई विद्वान् साधुओ ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा मे ग्रन्थों का निर्माण किया है और उनके अन्त में अपनी गुरु-परम्परा की प्रशस्तियां भी दी हैं, जिनमे "चन्द्रकुल" का निर्देश मात्र मिलता है, कही भी "खरतर" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, जहां तक हमे ज्ञात हुआ है, "खरतर" शब्द श्री जिनदत्तसूरिजो के लिए प्रयुक्त हुआ है और वह भी इनके विरोधी साधुओ की तरफ से, जिनदत्तसूरि की प्रकृत्ति कितनी कठोर भाषी थी, यह बात इनके ग्रन्थो के पढ़ने से जानी जाती है।

श्री जिनवल्लभ गणि की पीठ थपेड़ कर उन्हे पाटन में संघ बाहर करवाया और जिनदत्तसूरि को भी उकसा कर जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य-मंडल ने उन्हे पाटन से मारवाड़ की तरफ विहार करवाया, जिनवल्लभ गणि ने पाटन से मेवाड़ की तरफ विहार करने के वाद, अपनी वाणी की उग्रता पर कुछ अंकुश डाल दिया था, जो उनके वाद के वने हुए "कुलको" पर से जाना जाता है, परन्तु जिनदत्तसूरि की उग्रता अन्त तक वनी रही, ऐसा "चर्चरी," "उपदेशरसायनरास," "कालस्वरूप कुलक" तथा "गणधर सार्द्धशतक उत्तरार्ध को ७५ गाथाएं" पढ़ने से जाना जाता है। अनेक विद्वानो का कहना है कि "जिनवल्लभ के निरकुश भाषणो से पाटण गुजरात मे उन्हें संघ से वहिष्कृत होकर गुजरात छोड़ना पड़ा था,"—इस कथन मे सत्यांश अवश्य है, अपने "संघपट्टक" मे जिनवल्लभ गणि ने तत्कालीन जैन संघ पर जो वचन-प्रहार किये हैं, वे इनके सघबहिष्कृत होने के वाद के वचन हैं, वाकी उन्होंने चैत्यवासियो की कतिपय अयोग्य प्रवृत्तियो का और उनके शिथिलाचार का खण्डन अवश्य किया है। "विधिचैत्यादि" कतिपय वातें जिनवल्लभ गणि पर थोपी जाती हैं, परन्तु वास्तव मे ये अधिकाश वातें "जिनदत्तसूरिजी" इनके वाद के आचार्य "जिनपतिसूरिजी" तथा "तरुणप्रभसूरिजी" आदि की चलाई हुई हैं, वास्तव मे जिनवल्लभ गणि के समय मे इन वातो की चर्चा तक नही चली थी। जिनवल्लभ गणि विद्वान् थे, और जिनेश्वरसूरि के कतिपय शिष्यो के उकसाने से वे चैत्यवासियो के खण्डन मे अगुआ वने थे, परन्तु जव पाटण का पूरा संघ उनके विरुद्ध हुआ और सघ वाहर का प्रस्ताव पास किया, तव से उन्हें अकेला मारवाड, मेवाड़ की तरफ फिरना पड़ा, उकसाने वाले तो क्या, उनका गुरुभाई जिनशेखर तक संघ वाहर होने के भय से साथ मे नही गया, आचार्य देवभद्र आदि कतिपय साधुओ को जिनवल्लभ गणि की तरफ पूरी सहानुभूति थी और इस सहानुभूति को चरितार्थ करने के लिए जिनवल्लभगणिजी को आचार्य-पद तक देना चाहते थे, परन्तु पाटण मे जो इनके संघ वाहर का प्रस्ताव हुआ था, उसके साथ यह भी प्रकट कर दिया था कि जो कोई जिनवल्लभ गणि के साथ सम्वन्ध रखेगा उसे भी संघ वाहर समझा जायगा, इस सघ वाहर के हथियार से डरकर वर्षो तक आचार्य देवभद्र और उनकी

पार्टी जिनवल्लभ के भाव तक नही पूछ सकी, परन्तु जिनवल्लभ गणि ने पाटण मे चैत्यवासियो के सामने जो विरोध की नीव डाली थी, वह धीरे-धीरे मजवूत होती गई। आचार्य चन्द्रप्रभ तथा आचार्य आर्यरक्षित आदि ने जिनवल्लभ की नीव पर तो नही, पर अपनी नयी विरोधी भित्तियों पर चैत्यवासियो के सामने ही नही, सारे जैन सघ के सामने अपने नये विरोध खड़े किये। आचार्य चन्द्रप्रभ ने प्राथमिक रूप मे साधु द्वारा जिनबिम्बो की प्रतिष्ठा करने का विरोध किया और धीरे-धीरे उनके अनुयायियों ने पूर्णिमा का पाक्षिक प्रतिक्रमण और भाद्रपद शुक्ल ५ को सावत्सरिक प्रतिक्रमण करने का प्रारंभ किया। "महानिशीथ सूत्र" के आधार पर पहले जो "उपधान" करवाया जाता था, उस प्रवृत्ति का भी त्याग किया। आर्य रक्षितसूरि, जो अचलगच्छ-प्रवर्तक माने जाते हैं, उन्होने तो चन्द्रप्रभ से भी दो कदम आगे रक्खे, प्रचलित धार्मिक क्रिया-काण्ड जो किसी न किसी सूत्र अथवा उसकी पचागी का आधार रखता था, उसे छोड़कर शेष सभी परम्परागत प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया, यहा तक कि "सूत्र की पचागी द्वारा प्रतिपादित नही है," यह कह कर श्राद्धप्रतिक्रमणादि अनेक बातो का उन्होने त्याग किया, इस विरोध तथा नये गच्छो की उत्पत्ति का परिणाम यह हुआ कि पाटण का सघ-वधारण जो सैकडो वर्षो से अक्षुण्ण चला आ रहा था, छिन्न-भिन्न हो गया।

सघ वधारण के विनाशक समय मे जिनवल्लभ गणि से सहानुभूति रखने वाले आचार्य देवभद्र के ग्रुप की भी हिम्मत वढी, उन्होने गुजरात से मारवाड होकर चित्रकूट की तरफ विहार किया और विक्रम सं० ११६७ के आपाढ़ शुक्ला ६ के दिन जिनवल्लभ गणि को आचार्य वनाकर अभयदेवसूरि के पट्ट पर विठाया।

जिनवल्लभ गणि को आचार्य वनाकर देवभद्रसूरि ने अभयदेवसूरि का पट्टधर होने की उद्घोषणा की, इसका कारण वताते हुए देवभद्र ने कहा — आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने प्रसन्नचन्द्राचार्य को एकान्त में सूचना की थी कि समय पाकर जिनवल्लभ को मेरा पट्टधर वना देना परन्तु प्रसन्नचन्द्राचार्य को अपने जीवनकाल मे ऐसा समय नही मिला कि वे जिनवल्लभ

को आचार्य पद देते, अन्तिम समय मे प्रसन्नचन्द्राचार्य ने मुझे एकान्त मे सूचित किया था, कि मुझे गुरु-महाराज की आज्ञा का पालन करने का मौका नही मिला, परन्तु तुम तो जिनवल्लभ को आचार्य बनाकर गुरु-महाराज की आज्ञा का पालन कर ही देना।"

उपर्युक्त बातो मे सत्यता कहा तक होगी यह कहना तो असभव है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि का पट्टधर बनाने सम्बन्धी बात मे वास्तविकता से कृत्रिमता अधिक होने का सभव प्रतीत होता है, इसके अनेक कारण है, प्रथम तो यह कि 'खरतरगच्छ' के किसी भी पट्टावलीकार ने श्री अभयदेवसूरिजी के स्वर्गवास का समय तक नही लिखा, उनके अनुयायी होने का दावा करने वालो के पास अपने पूर्वज आचार्य के स्वर्गवास का समय तक न हो यह क्या बताता है ? अभयदेव-सूरिजी सूत्रो के टीकाकार थे, इस कारण से अन्यान्य गच्छ की पट्टावलियो मे उनके स्वर्गवास का समय सगृहीत हैं, कोई उन्हे विक्रम स० ११३५ मे स्वर्गवासी हुआ मानते है तो दूसरे इन्हे सवत् ११३९ मे परलोकवासी हुआ मानते हैं, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि उक्त दोनो सवत् अन्य-गच्छीय पट्टावलियो मे मिलते है, खरतरगच्छ की किसी भी प्राचीन पट्टावली मे नही। हमारी देखी हुई और पढी हुई कोई १५ खरतरगच्छीय पट्टावलियो मे से केवल एक पट्टावली मे है—जिसकी कि समालोचना हो रही है। इस भाषा की पट्टावली मे अभयदेवसूरि के स्वर्गवास के विषय मे निम्नलिखित शब्द दृष्टि-गोचर होते हैं—'श्री जिनवल्लभवाचकई प्रतिष्ठ्यउ मरोटिमाहे नेमिनाथरउं देहरउ, तिहाथकी विहार करी गुजराती श्री अभयदेवसूरि कन्हई आवी वांदी कह्यउ मुनइ सिद्धांत भणावाओ, तिवारई गुरे कह्यउ, तप विण वह्यो सिद्धान्त भणिवा नहीं, कितराएक दिन अभयदेवसूरि कन्नइ रहि पछइ गुरु अभयदेव कहई हुतो भणावऊं जउ गुर कन्नहा जई अनुमति मागी कागल लिखावी ल्यावइ तो, अम्हारी उपसम्पदा ल्यइ तओ, गुरु कन्नहई जई घणओ आग्रह माडी अनुमति लई कागल लिखावी अभय-देवसूरि कन्हइ आव्या, अभयदेवसूरि उपसम्पदा देइ तप विहरावी, सिद्धान्त भणाया, महापडित पाट जोग्य महासवेगी देवभद्राचार्य नई कह्यउ माहरउ

पाट एह जिनवल्लभनु देज्यो, इसश्रो कहई संवत् ११ पंचावन अभयदेवसूरि गुरु देवलोकि श्हुता, भवत्रि जइ मोक्ष जासी ॥"

पट्टावली के उपर्युक्त फिकरे की अनेक बातें "गणधर सार्धशतक" की वातो से विरुद्ध जाती हैं, इसलिए ऐसी कल्पित पट्टावली के आधार से अभयदेवसूरि का सत्तासमय निर्णीत करना धोखे से खाली नही, अभयदेव-सूरिजी ने नवाग सूत्रो की वृत्तियां तो बनाई ही हैं और अधिकाश वृत्तियो के अन्त मे उनके निर्माण समय का भी आपने निर्देश किया है, "पचाशक" आदि प्राचीन प्रकरणो पर भी आपने वृत्तिया लिखी है, परन्तु आज तक हमने अभयदेवसूरिजी की किसी भी वृत्ति या टीका की प्रशस्ति विक्रम सवत् ११२८ के वाद की नही देखी। वृद्धावस्था या शारीरिक अस्वस्थता के कारण साहित्यनिर्माण के कामो के लिए आप अशक्त हो चुके थे, उसके वाद छः सात अगर दस ग्यारह वर्ष तक जीवित रहकर स्वर्ग प्राप्त हुए हो तो आश्चर्य की वात नही है, वृद्धपौपधशालिक पट्टावली आदि मे इनका स्वर्गवास स० ११३५ या ११३९ मे होना लिखा है, वह ठीक प्रतीत होता है।

जिनेश्वरसूरि के समय की प्रस्तुत पट्टावली मे जिनदत्तसूरिजी के सम्वन्ध मे अनेकानेक चमत्कार की अद्भुत वाते मिलती हैं, जिनकी सुमति-गणि की "सार्द्धशतक की बड़ी टीका" मे सूचना तक नही है, आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी की अनेक कृतिया मैंने पढी हैं, उनमे जोश है, लगन है, अपने कार्य का दृढ आग्रह है, ये सभी बाते आपकी धार्मिक-सशोधक वृत्ति की परिचायक है, परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि पिछले भक्तो ने आपको एक चामत्कारिक जादूगर आचार्य बनाकर आपके वास्तविक जीवन को ढाकसा दिया है। भले ही अनपढ़ और अन्धश्रद्धालु भक्त लोग इन बातो से आपको महान् मानें परन्तु समझदार विचारको के मत से तो इस प्रकार की वाते महापुरुषो के वास्तविक जीवन को अतिशयोक्तियो के स्तरो मे अन्तर्हित कर देती हैं।

---

(२) पट्टावली नम्बर २३२७ :

यह पट्टावली वास्तव मे "गणधर-सार्द्धशतक" की लघु टीका है, यह लघुवृत्ति ४३ पत्रात्मक है, इसके निर्माता वाचक सर्वराजगणि हैं कि जिनका सत्तासमय विक्रम की १५ वी शताब्दी है, वृत्तिकार ने वृत्ति के उपोद्घात में आचार्य जिनदत्तसूरिजी को अनेक प्रकार के ऐसे विशेषण दिए हैं, जो पिछले लेखकों ने इनके जीवन के साथ जोड़ दिये हैं, जैसे – "भूतप्रेत-निरसन, योगिनीचक्रप्रतिबोधक, कुमार्गनिरसन, प्रतिवादिसिंहनादविधान श्रीत्रिभुवनगिरिदे ानियमिन, पचसमयतिवारण, श्री पार्श्वनाथ (नव) फण धारण, वामावतीरात्रिकस्थापन, निरन्तरागच्छद्गच्छयान, सुरासुरविर-चिताधिसेवन, इत्यादि विशेषणो मे अधिकाश विशेषण ऐसे हैं, जो बृहद्-वृत्ति मे नही हैं, इससे यह प्रमाणित होता है कि या तो यह लघुवृत्ति बृहद्वृत्ति का अनुसरण करने वाली नही है, यदि यह शब्दशः बृहद्वृत्ति का अनुसरण करती है तो इसके उपोद्घात को किसी अर्वाचीन विद्वान् ने विगाड़कर वर्तमानरूप दे दिया है, इस प्रकार की प्रवृत्तियां खरतरगच्छ की पट्टावलियो मे होना अस्वाभाविक नही, कुछ वर्षों पहले इसी लघुवृत्ति को हमने मुद्रित अवस्था मे पढा था, जिसमे यह छपा हुआ था कि "अणहिल पाटण के राजा दुर्लभराज ने श्री जिनेश्वरसूरिजी को चैत्यवासियो को जीतने के उपलक्ष्य मे "खरतर" विरुद प्रदान किया था, वही लघुवृत्ति हमारे पास हस्तलिखित है और इसके कर्ता भी वाचक सर्वराज गणि हैं, परन्तु इस लघुवृत्ति की हस्तलिखित वृत्ति मे "खरतर विरुद" देने की वात कही नही मिलती और न उपोद्घात छोडकर जिनदत्तसूरि के जीवन मे किसी चम-त्कार की वात का ही उल्लेख मिलता है। आज तक हमने खरतरगच्छ से सम्बन्ध रखने वाले सकड़ो शिलालेखो तथा मूर्तिलेखो को पढ़ा है, परन्तु ऐसा एक भी लेख दृष्टिगोचर नही हुआ, जो विक्रम की १४ वी शती के पूर्व का हो और उसमे "खरतर" अथवा "खरतरगच्छ" नाम उत्कीर्ण हो, इससे ज ना जाता है कि "खरतर" यह "शब्द" पहले गच्छ के अर्थ में प्रयुक्त नही होता था। "जिनदत्तसूरि" के कठोर भाषी स्वभाव के कारण उनके विरोधी जिनदत्तसूरि के लिए "खरतर" यह शब्द प्रयोग मे लाते थे, तव

जिनदत्तसूरि और इनके अनुयायी विरोधियों को "कोमल" इस नाम से सम्बोधित करते थे, आगे जाते गच्छ वाले किसी न किसी गच्छ के नाम से अपनी परम्परा को प्रसिद्ध करने लगे, तब जिनदत्तसूरि तथा जिनकुशलसूरि के अनुयायियो ने भी अपने नाम के साथ "खरतर" शब्द का "गच्छ" के अर्थ मे प्रयोग करना प्रारम्भ किया और पन्द्रहवी शती के प्रारम्भ तक उसका पर्याप्त प्रचार हो गया।

"सार्द्धशतक" की लघुवृत्ति मे जिनेश्वरसूरि का चैत्यवासियो के साथ विवाद होने का विवरण दिया गया है, किन्तु दुर्लभराज द्वारा खरतर विरुद प्राप्त होने का सूचन तक नही दिया गया, इससे प्रमाणित होता है कि वाचक सर्वराज गणि के समय तक "खरतरगच्छ" यह नाम गच्छ के अर्थ में प्रचलित नही हुआ था। लघुवृत्ति के सम्बन्ध मे संक्षिप्त विवरण देने के बाद अब हम "गणधर सार्द्धशतक" के निरूपण के सम्बन्ध मे विचार करेंगे।

'गणधर सार्द्धशतक" नाम के अनुसार १५० गाथाओ का एक प्राकृत-भाषामय प्रकरण है। इसके कर्त्ता आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी है। आपने यह प्रकरण आचार्य पद प्राप्त होने के बाद तुरन्त बनाया मालूम होता है। यही कारण है कि प्रकरण के अन्त मे "जिनदत्त' और "सोमचन्द्र" इन दोनो नामों का निर्देश किया है। कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि यह "सार्द्धशतक" आपने पूर्वाचार्यो की स्तुति के रूप में निर्मित किया है न कि परम्पराप्रतिपादन के भाव से। यही कारण है कि इसमें परम्परा का हिसाब न रख कर सभी प्रसिद्ध श्रुतधरो की स्तुति की है, जिसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है:

प्रारम्भ में ऋषभदेव तीर्थङ्कर के प्रथम गणधर ऋषभसेन से लगा कर अजितादि चौवीस तीर्थङ्करो के गणधरो की स्मृति मे ५ गाथाएं लिखी हैं, फिर दो गाथाओ मे महावीर के पंचम गणधर सुधर्मा की स्तुति की है। सुधर्मा के बाद जम्बू स्वामी, प्रभवस्वामी, शय्यम्भवसूरि, यशोभद्रसूरि, सम्भूतविजयसूरि और भद्रबाहु स्वामी की क्रमश. सात गाथाओ मे स्तवना

की है, फिर आर्य स्थूलभद्र की प्रशसा की पाच गाथाएं लिखी हैं और उनके शिष्यद्वय आर्य महागिरि तथा सुहस्तीसूरि को दो गाथाओ मे याद कर आर्य समुद्र, आर्य मगु और आर्य धर्म नामक तीन युगप्रधानो को एक गाथा से नमस्कार किया है, फिर एक गाथा से युगप्रधान श्री भद्रगुप्त को वन्दन करके साढे चौदह गाथाओं मे वज्रस्वामी का वृत्तान्त लिखा है और इसके बाद अक्रमप्राप्त युगप्रधान श्री आर्यरक्षितजी की दश (१०) गाथाओ में स्तवना की है। इसके उपरान्त दो गाथाओ से सामान्य युग-प्रधानो का शरण स्वीकार करके दो गाथाओ से श्री उमास्वाति वाचक को वन्दन कर आठ गाथाओ मे याकिनी महत्तरा धर्मपुत्र श्री हरिभद्रसूरि की प्रशंसा की है। हरिभद्र के सम्बन्ध मे उस समय तक दन्तकथा प्रचलित थी कि वे चैत्यवासी आचार्यो द्वारा दीक्षित और शिक्षित हुए थे। इस दन्त-कथा का आपने निम्नलिखित गाथा से खण्डन किया है– वह गाथा यह है –

"जंपइ केई समनाम – भोलिया भोलियाइं जंपंति।
चीवासी दिक्खिओ सिक्खिओ य गीयाण तं न सयं॥"

उपर्युक्त गाथा मे आचार्य कहते है – नामसाम्य की भ्रान्ति मे पड कर कई भोले विद्वान् असत्य कहते हैं कि हरिभद्रसूरि चैत्यवासियो मे दीक्षित हुए थे और उन्ही के पास शिक्षित हुए थे, परन्तु यह कथन गीतार्थ-सम्मत नही है।

हरिभद्रसूरि के सम्वन्ध मे आचार्य जिनदत्तसूरिजी कहते हैं– हरिभद्र-सूरि जिनभटसूरि के शिष्य थे और युगप्रधान जिनदत्तप्रभु के पास सूत्रार्थ का अनुयोग लेने वाले थे। ग्रन्थकार के उक्त कथन से हमारा मतभेद है, क्योकि आचार्य हरिभद्रसूरिजी स्वयं अपने आपको जिनदत्तसूरि का शिष्य और जिनभटसूरि का आज्ञाकारी लिखते हैं, इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि हरिभद्रसूरि के दीक्षा-गुरु जिनदत्तसूरि थे और वे जिनभटसूरि की आज्ञा में रहते थे।

यहा पर लघुवृत्तिकार ने हरिभद्रसूरिजी को चतुर्दशशत प्रकरणकार लिखा है और उनके प्रकरणो तथा कतिपय टीकाग्रन्थों का नामनिर्देश किया है, जो इस प्रकार है –

"पंचवस्तुक, उपदेशपद, पंचाशक अष्टक, षोडशक, लोकतत्त्वनिर्णय, धर्मबिन्दु, लोकबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, दर्शनसप्ततिका, नानाचित्रक, बृहन्मिथ्यात्वमथन, पंचसूत्रक, संस्कृतात्मानुशासन, संस्कृत चैत्यवन्दनभाष्य, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेशक, परलोकसिद्धि, धर्मलाभसिद्धि, शास्त्रवार्तासमुच्चय, आवश्यकवृत्ति, दशवैकालिक बृहद्वृत्ति, दशवैकालिक लघुवृत्ति, पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, जीवाभिगमवृत्ति, प्रज्ञापनोपाङ्गवृत्ति, पंचवस्तुकवृत्ति, क्षेत्रसमासवृत्ति, शास्त्रवार्तासमुच्चयवृत्ति, अर्हद्श्रीचूडामणि, समरादित्य चरित्र, यथाकोश।"

आचार्य हरिभद्रसूरि के बाद सार्द्धशतककार ने आचाराग टीकाकार श्री शीलाङ्काचार्य की प्रशसा करने के उपरान्त सामान्य युगप्रधान गणधरो को प्रणाम किया है, उसके बाद देवाचार्य, नेमिचन्द्र और उद्योतनसूरि गुरु के पारतन्त्र्यगमन का निर्देश किया है, फिर श्री वर्धमानसूरि के चैत्यवास त्यागने और वसतिवास ग्रहण करने की बात कही है। इसके बाद १३ गाथाओं मे वसतिवास के उद्धारक युगप्रधान श्री जिनेश्वरसूरिजी की प्रशसा की है। जिनेश्वरसूरिजी को वर्धमानसूरिजी का शिष्य लिखा है, अणहिलवाड मे चैत्यवासियो के साथ शास्त्रार्थ करने के सम्बन्ध का तीन गाथाओ मे निम्न प्रकार से वर्णन किया है –

"अणहिल्लवाडए नाडइव्व दंसिअसुपत्तसंदोहे ।
पउरपए बहुकविदूसगेये नायगाणुगए ॥ ६५ ॥

सड्ढियदुल्लहराए, सरसइअंकोवसोहिए सुहए ।
मज्झे रायसहं पविसिऊण लोयागमाणुमयं ॥६६॥

नामायरिएहिं समं, करिय वियारं वियाररहिएहिं ।
वसहिनिवासो साहूणं, ठाविओ ठाविओ अप्पा ॥६७॥"

अर्थात् – अणहिल्ल पाटक (पाटण) नगर मे श्रद्धावान् श्री दुर्लभराज को सभा मे नामाचार्यो (चैत्यवासियो) के साथ विचार करके श्री जिनेश्वरसूरिजी ने साधुओ के लिए वसतिवास को प्रतिष्ठित किया।

उपर्युक्त तीन गाथाओ मे सार्द्धशतककार श्री जिनदत्तसूरिजी ने चैत्यवासियो के साथ जिनेश्वरसूरिजी का शास्त्रार्थ होने और वसतिवास का प्रमाणित होना बडी खूबी के साथ बताया है, परन्तु राजा की तरफ से जिनेश्वरसूरिजी को "खरतर बिरुद" मिलने का सूचन तक नही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिनदत्तसूरिजी के "गणधर सार्द्धशतक" का निर्माण हुआ तब तक "खरतर" नाम व्यवहार में आया नही था, अन्यथा जिनदत्तसूरिजी इसकी सूचना किये बिना नही रहते। हरिभद्रसूरिजी के सम्बन्ध मे उनके चैत्यवासी होने की दन्तकथा का खण्डन करने के लिए आप तैयार हो गए हैं तो जिनेश्वरसूरि को राजसभा मे "खरतर बिरुद" मिलने की वे चर्चा न करें, यह बात मानने काबिल नही है।

जिनेश्वरसूरिजी के बाद "सार्द्धशतक" मे श्री जिनचन्द्रसूरिजी का नम्बर आता है, जिनचन्द्रसूरि द्वारा अठारह हजार श्लोक[१] परिमाण "संवेगरगशाला" कथा बनाने का निर्देश किया है, फिर अभयदेवसूरि का वर्णन दिया है और जिनवल्लभ गणि के आने, अभयदेवसूरि के पास सिद्धान्त पढ़ने और अपने पूर्व गुरु जिनेश्वराचार्य से मिलकर फिर अभयदेवसूरि के पास आकर उनसे उपसम्पदा लेने की बात कही है।

आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने अपने पट्ट पर श्री वर्धमानसूरि को बैठने की बात भी लघुवृत्तिकार ने लिखी है, बाकी जिनदत्तसूरिजी ने "सार्द्धशतक" मे अपने परिचित और उपकारक आचार्यों, उपाध्यायो की प्रशसा करके "सार्द्धशतक" की १०० गाथाए पूरी की है – इसके बाद की ५० गाथाएं लेखक ने अपने अनुयायियो की चैत्यवासियो से रक्षा करने तथा चैत्यवासियों के खण्डन मे पूरी की हैं।

हमने "गणधर सार्द्ध शतक" को खरतर पट्टावली का नाम इसलिए दिया है कि इसका लगभग आधा भाग खरतर-गच्छ के मान्य पुरुषो की

१ "गणधर सार्द्धशतक" टीकाकार श्री सर्वराजगणि ने "सवेगरगशाला" का श्लोक-परिमाण अठारह हजार लिखा है जो ठीक नही जान पडता। "सवेगरगशाला" का श्लोक-परिमाण १० हजार ७५ श्लोक है।

प्रशसा मे पूरा हुआ है। वास्तव मे इसको पट्टावली कहने के वजाय "गणधर-स्तुति" कहना अधिक उपयुक्त है।

(३) पट्टावली नम्बर २३२८ :

उपर्युक्त पट्टावली सस्कृत भाषा मे ६ पत्रात्मक है, इसके कर्त्ता समयसुन्दर गणि हैं, लेखक का मगलाचरण निम्न प्रकार से है —

"गोतमादिगुरून्नत्वा: गणि: समयसुन्दर: ।
वक्ति गुर्वावली-ग्रन्थं गच्छे खरतराभिधे ॥१॥

इसके वाद गणि समयसुन्दरजी ने भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य गौतम स्वामी और प्रथम गणधर सुधर्मास्वामी का समय लिखा है, उनके समय की थोड़ी-थोडी जानकारी भी लिखी है, सुधर्म के वाद जम्वू, प्रभव, शयम्भवसूरि, यशोभद्रसूरि, आचार्य संभूतविजय, आर्य भद्रवाहु के नाम तथा इनके समय का परिचय दिया है। भद्रवाहु के पट्टधर स्थूलभद्र, स्थूलभद्र के वाद पट्टावली मे आर्य सभूतहस्तिसूरि नाम लिखा है, जो यथार्थ नही, आर्य सुहस्तीसूरि चाहिए, आर्य सुहस्ती के वाद श्री सुस्थितसूरि, उसके बाद इन्द्रदिन्नसूरि, इन्द्रदिन्न के वाद श्री दिन्नसूरि और श्री दिन्न के वाद सिंहगिरिजी का नाम उल्लिखित है।

यहां पर महावीर निर्वाण से ५०० वर्ष के वाद श्री वज्रस्वामी का जन्म वताया है। वज्रस्वामी के चार शिष्यो से नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृति, विद्याधर नामक चार शाखाओ का निकलना लिखा है, वीर निर्वाण के वाद ५४४ मे "जटावर मत१" निकलने का उल्लेख किया है, वीर निर्वाण से ६९६ मे दिगम्वर मत निकलने का लिखा है जो ठीक नहीं। दिगम्वर मत ६०९ मे निकला था। श्री वज्रस्वामी के पट्ट पर आचार्य वज्रसेन वैठे थे, यह १५ पट्टो का अनुक्रम कल्पसूत्र के अनुसार है, इसके वाद श्री चन्द्रसूरि

१, रोहगुप्त की त्रैराशिक प्ररूपणा के परिणाम स्वरूप वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति हुई थी, उसी वैशेषिक दर्शन के सन्यासियो को यहा जटावर कहा है।

१६, समन्तभद्रसूरि १७, वृद्धदेवसूरि १८, प्रद्योतनसूरि १६, श्री मानदेवसूरि २०, श्री देवेन्द्रसूरि २१, श्री मानतुगसूरि २२, श्री वीरसूरि २३, श्री जयदेवसूरि २४, श्री देवानन्दसूरि २५, श्री विक्रमसूरि २६, श्री नरसिंहसूरि २७, श्री समुद्रसूरि २८, श्री मानदेवसूरि २६, श्री विबुधप्रभसूरि ३०, श्री जयानन्दसूरि ३१, श्री रविप्रभसूरि ३२, श्री यशोभद्रसूरि ३३, श्री जिनभद्रसूरि ३४, श्री हरिभद्रसूरि ३५, श्री देवसूरि ३६, श्री नेमिचन्द्रसूरि ३७, सुविहितचूडामणि उद्योतनसूरि ३८, श्री उद्योतनसूरि के पट्ट पर वर्धमानसूरि ३६ हुए, श्री वर्धमानसूरि के पट्ट पर श्री जिनेश्वरसूरि जिन्होंने अणहिल पत्तन मे दुर्लभराज-सभा मे स० १०८० मे "खरतर" विरुद प्राप्त किया, जिनेश्वरसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए जिन्होने "सवेगरगशाला" ग्रन्थ वनाया और मोजदीन पिञ्जर को दिल्ली के राज्य का भविष्य कथन किया था जो सही उतरा।

श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर अभयदेवसूरि हुए, व्याख्यान मे पड्रसों का पोषण करने से गुरु ने प्रायश्चित्त के रूप मे छ महीने तक आचामाम्ल करने का दण्ड दिया, जिसमे उनके शरीर मे कुष्ठ रोग की उत्पत्ति हुई, स्तम्भनक पार्श्वनाथ मूर्ति प्रकटन, नवागी वृत्तिकरणादि सम्बन्ध स्वय समझ लेने चाहिए, अन्त मे कपडवज नगर मे अनशन द्वारा शरीर छोड़कर चौथे देवलोक गए।

श्री अभयदेवसूरि के पट्ट पर जिनवल्लभसूरिजी हुए जो पूर्वावस्था मे कूर्चपुरीय जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य थे, वाद श्री अभयदेवसूरिजी के पास उपसम्पदा लेकर उनके शिष्य हुए।

आचार्य अभयदेवसूरिजी जिनवल्लभ को अपना पट्टधर वनाना चाहते थे, परन्तु परगच्छीय को कैसे पट्ट दिया, इस प्रकार के लोकापवाद से डरते हुए वे उसे पट्ट नही दे सके और अपने शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य को पट्ट देने का कह गए।

प्रसन्नचन्द्राचार्य ने देवभद्राचार्य को जिनवल्लभ को पट्टधर वनाने की सूचना की, उसके वाद वारह वर्ष तक देवभद्राचार्य ने गच्छ का भार

चलाया, फिर स० ११६७ के वर्ष मे आचार्य देवभद्र ने श्री जिनवल्लभ गणि को अभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया, परन्तु छ मास के बाद जिनवल्लभसूरि वही पर देवगत हुए।

इस समय मे खरतरगच्छ में 'मधुकरा शाखा' निकली। श्री जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर श्री जिनदत्त हुए, जिनदत्त का पूर्व नाम सोमचन्द्र था और वे "जयदेव[1] उपाध्याय" के शिष्य थे तथा धन्धूका में इनका जन्म और धन्धूका मे ही स० ११४१ मे दीक्षा हुई थी। संवद् ११६९ में वैशाख वदि ६ के दिन श्री देवभद्राचार्य के द्वारा ये चित्तौड़ मे जिनवल्लभसूरि के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

श्री जिनवल्लभसूरि द्वारा समुदाय से निष्कासित किसी साधु को फिर गच्छ में लेने के अपराध में १३ आचार्यों ने मिलकर श्री जिनदत्तसूरि को अपने गच्छ से बहिष्कृत कर दिया।

जिनदत्तसूरि तीन वर्ष के लिए वहां से चले गए थे। उसके बाद पट्टावलीकार ने जिनदत्तसूरि को एक चमत्कारमूर्ति बना दिया है जो उनके जीवन के वास्तविक स्तर को ढाक देता है।

जिनदत्तसूरिजी ने कुल १५०० साधु और ७०० साध्वियों को दीक्षित किया, ऐसा लिखा हुआ है, परन्तु "चर्चरी" "उपदेशरसायन" और "कालस्वरूप कुलक" आदि इनकी खुद की कृतियों को पढ़ने से परिस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत ज्ञात होती है।

पट्टावली मे जिनदत्तसूरि के परकायप्रवेश की बात लिखी है, जो निराधार है। जिनके साथ परकायप्रवेश विद्या का सम्बन्ध है वे जिनदत्तसूरि वायट-गच्छीय थे, यह बात प्रभावकचरित्रादि प्राचीन ग्रन्थो से जानी जा सकती है।

---

१ गणधर सार्द्धशतक की लघुटीका में सर्वराजगणि ने सोमचन्द्र के गुरु का नाम "धर्मदेव उपाध्याय" और जन्म-स्थान का नाम "धवलक" लिखा है।

जिनदत्तसूरिजी १२११ के आषाढ सुदि ११ के दिन अनशन करके अजमेर मे स्वर्गवासी हुए थे। जिनदत्तसूरि के समय दर्म्यान स० १२०५ मे श्री जिनशेखरसूरि से 'रुद्रपल्लीय खरतर-गच्छ" निकला। जिनदत्तसूरिजी के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए। जिनचन्द्रसूरि का जन्म ११९७ मे, दीक्षा संवत् १२०३ मे, पट्ट स्थापना १२०५ मे जिनदत्तसूरि द्वारा हुई थी और स० १२३३ मे इनका स्वर्गवास हुआ।

यहा से प्रत्येक चतुर्थ पट्टधराचार्य का नाम "जिनचन्द्र" देने की पद्धति चली। श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनपतिसूरि हुए, जिन्होने खरतरगच्छ-सामाचारी स्थापित की। स० १२७७ मे श्री जिनपतिसूरिजी स्वर्गवासी हुए, जिनपतिसूरि के पट्ट पर श्री जिनेश्वरसूरि वैठे। इनके समय मे श्री जिनसिंहसूरि से लघु खरतरगच्छ उत्पन्न हुआ, जिनेश्वरसूरि के पट्ट पर जिनप्रवोधसूरि हुए, जिनेश्वरसूरि ने इन्हें आचार्य-पद दिया था। स० १३४१ मे आप स्वर्गवासी हुए थे। जिनप्रवोधसूरि के पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि हुए, जिनकी दीक्षा १३३२ मे श्री जालोर नगर मे हुई थी। सवत् १३४७ मे जालोर मे ही स्वर्गवासी हुए, श्री जिनचन्द्रसूरि के पद पर श्रीजिनकुशलसूरि हुए, जिनका जन्म सवत् १३३७ मे हुआ था। १३४७ मे दीक्षा, १३७७ मे आचार्य-पद और १३८९ मे आप स्वर्गवासी हुए। जिनकुशलसूरि के पट्ट पर स० १३९० मे श्री जिनपद्मसूरि को श्री तरुणप्रभाचार्य द्वारा आठ वर्ष की उम्र मे आचार्य-पद दिया गया। स० १४०० के वैशाख सुदि १४ के दिन किसी के छलने से पाटण मे आपका स्वर्गवास हुआ, श्री जिनपद्मसूरि के पट्ट पर श्री जिनलब्धिसूरि हुए, आपको भी सवत् १४०० मे तरुणप्रभाचार्य ने सूरि-पद दिया, स० १४१६ के वर्ष मे आप स्वर्गवासी हुए, जिनलब्धिसूरि के पट्ट पर श्री जिनोदयसूरि हुए, आप भी स० १४१५ मे तरुणप्रभाचार्य द्वारा सूरि-पद पर आरूढ हुए, स० १४३२ मे आपने पाटण मे स्वर्गवास प्राप्त किया। श्री जिनोदयसूरि के पट्ट पर श्री जिनराजसूरि हुए, जिनराजसूरि को स० १४३३ मे पत्तन में श्री लोकहितसूरि ने सूरि-पद दिया, जिनराजसूरि ने श्री स्वर्णप्रभाचार्य, श्री भुवनरत्नाचार्य और श्री सागरचन्द्राचार्य को आचार्य-पद पर स्थापित

किया और सं० १४६१ में देलवाड़ा मे स्वर्गवास प्राप्त किया, श्री जिनराज-सूरि के पट्ट पर श्री जिनवर्धनसूरि हुए।

जिनवर्धनसूरि –

जिनवर्धनसूरि को संवत् १४६१ मे सागरचन्द्रसूरि ने आचार्य-पद पर स्थापित किया, यहां खरतरगच्छ मे एक नया फाट पड़ा। जिनवर्धनसूरि से सवत् १४६१ मे "पीपलिया" खरतरगच्छ उत्पन्न हुआ, तब श्री सागरचन्द्र-सूरि ने सं० १४७५ के वर्ष मे श्री जिनभद्रसूरि को आचार्य-पद पर स्थापित किया।

जिनभद्रसूरि -

जिनप्रभसूरि ने भावप्रभाचार्य, कीर्तिरत्नसूरि प्रमुख अनेक अचार्य बनाये, स्थान-स्थान पर पुस्तक लिखवाकर भण्डागार स्थापित करवाए, स० १५१४ मे जिनभद्रसूरि ने श्री कुम्भलमेर मे स्वर्गवास प्राप्त किया,

श्री जिनचन्द्रसूरि –

श्री जिनभद्रसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए, जो १५१५ में जिनकीर्तिसूरि द्वारा आचार्य बने और धर्मरत्नसूरि, गुणरत्नसूरि आदि को आचार्य-पद पर विठाया, सं० १५३७ मे जिनचन्द्रसूरि का जैसलमेर में स्वर्गवास हुआ।

श्री जिनसमुद्रसूरि –

श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनसमुद्रसूरि हुए, इनकी दीक्षा स० १५२१ मे और पदस्थापना १५३३ मे जिनचन्द्रसूरि द्वारा हुई, आप स० १५५५ मे अहमदावाद मे परलोकवासी हुए।

श्री जिनहंससूरि –

श्री जिनसमुद्रसूरि के पट्ट पर जिनहससूरि हुए, इनका जन्म संवत् १५२४, दीक्षा स० १५३५ मे और आचार्य-पद १५५६ में शान्तिसागर द्वारा हुआ, स० १५८२ मे जिनहस पाटण मे स्वर्गवासी हुए, इनके समय मे स० १५६३ मे शान्तिसागर द्वारा "आचार्यीय" गच्छ की उत्पत्ति हुई।

श्री जिनमाणिक्यसूरि –

श्री जिनहंससूरि के पट्ट पर श्री जिनमाणिक्यसूरि हुए, जिनमाणिक्य को श्री जिनहंससूरि ने सं० १५८२ मे आचार्य-पद दिया, सं० १६१२ मे जिनमाणिक्यसूरि स्वर्गवासी हुए।

श्री जिनचन्द्रसूरि युग-प्रधान –

श्री जिनमाणिक्यसूरि के पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि युगप्रधान हुए, इनका जन्म सं० १५६५ में हुआ था और सं० १६१२ में जैसलमेर वेगडा भट्टारक श्री गुणप्रभसूरि ने इन्हें आचार्य-पद दिया था। जिनचन्द्रसूरि ने क्रियोद्धार किया था, इनके प्रथम शिष्य का नाम सकलचन्द्र था, इन्होने अकबर वादशाह द्वारा आपाढ महीने की अष्टाह्निका के दिनो मे जीवदया का फर्मान निकलवाया था। जिनचन्द्र ने अपना गच्छ जिनसिंहसूरि को सौंप कर स० १६७० मे परलोक प्राप्त किया।

श्री जिनसिंहसूरि –

जिनचन्द्र के पट्ट पर जिनसिंहसूरि हुए, जिनसिंह का जन्म १६१५ में और दीक्षा १६२३ मे हुई थी, स० १६४९ मे लाहोर मे आपको सूरि-पद प्राप्त हुआ था, स० १६७० मे विलाड़ा नगर मे मि० सु० १० के दिन भट्टारक-पद मिला और सं० १६७४ में मेड़ता मे आप परलोकवासी हुए।

श्री जिनसागरसूरि –

श्री जिनसिंहसूरि के पट्ट पर जिनसागरसूरि हुए, इनकी दीक्षा १६६१ मे और भट्टारक-पद १६७४ मे मेड़ता मे हुआ था। जिनराजसूरि द्वारा सं० १६८६ के वर्ष में किसी दुर्जन ने विपप्रयोग की मिथ्यावार्ता चलाई, जिसके परिणामस्वरूप गच्छ मे फूट पडी, फिर भी आपकी मान्यता सर्वत्र होती रही, सं० १७२० मे आपका अहमदावाद मे स्वर्गवास हुआ।

श्री जिनधर्मसूरि –

जिनसागर के पट्ट पर श्री जिनधर्मसूरि हुए, जिनधर्मसूरि को सं० १७०८ मे अहमदावाद मे जिनसागरसूरि ने दीक्षा दी। और सं० १७११ मे

अहमदावाद मे श्री जिनसागरसूरि द्वारा आचार्य-पद दिया गया और गुरु-महाराज दिवगत हो जाने के कारण सं० १७२० मे श्री बीकानेर मे स्वयं ने भट्टारक-पद प्राप्त किया। स० १७४७ मे लूणकरणसर मे आपका देहान्त हुआ।

श्री जिनचन्द्रसूरि –

जिनधर्मसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए, जिनचन्द्र को १७४६ मे लूणकरण मे भट्टारक-पद प्राप्त हुआ, स० १७६४ मे बीकानेर मे जिन-चन्द्रसूरि स्वर्गवासी हुए।

श्री जिनविजयसूरि –

जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनविजयसूरि हुए, आपको स० १७८५ में श्री बीकानेर मे जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य-पद दिया, उनकी आज्ञा मे श्री संघ प्रवृत्ति कर रहा है।

(४) पट्टावली न० २३२६ :

यह पट्टावली २६ पत्रात्मक सस्कृत भाषा मे लिखी हुई है, इसके लेखक ने इसका नाम पट्टावली न रखकर गुर्वावली रक्खा है, यह पट्टावली विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे आचार्य श्री जिनमहेन्द्रसूरि के समय मे बनी हुई है, हमारे पास वाली प्रति का लेखनकाल स० १६१७ है, कही-कही विस्तृत प्रसग भी इसमे लिखे गए है, फिर भी सामान्य रूप मे यह "गुर्वावली" खरतरगच्छीय अन्य पट्टावलियो से मिलती जुलती है, इसके सम्बन्ध मे हम विशेष विवरण न देकर पट्टधरो की नामावलिया तथा उनका यथोपलब्ध समय देकर ही इसका अवलोकन पूरा कर देगे।

पट्टावली का मंगलाचरण निम्न प्रकार से है –

"प्रणिपत्य जगन्नाथं, वर्धमानं जिनेश्वरम्।
गुरूणां नामधेयानि, लिख्यन्ते स्वविशुद्धये ॥१॥"

भगवान् महावीर चतुर्थारक के तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष रहे तब कार्तिकी अमावस्या को मुक्ति प्राप्त हुए।

महावीर के पट्ट पर इन्द्रभूति गौतम-वीर निर्वाण से १२ वर्ष के वाद मोक्ष, गौतम स्वामी की परम्परा आगे नही वढी इसलिए ये पट्टधरों मे नहीं गिने जाते।

(१) महावीर के पट्ट पर सुधर्मस्वामी, जिननिर्वाण से २० वर्ष के वाद मुक्ति।

(२) जम्बूस्वामी जिननिर्वाण से ६४ वर्ष के वाद मुक्ति प्राप्त हुए।

(३) प्रभवस्वामी वीरात् ७५ वर्षे स्वर्ग प्राप्ति।

(४) शय्यम्भवसूरि वीरात् ६८ वर्षे स्वर्ग गमन।

(५) श्री यशोभद्रसूरि का वीरात् १४८ वर्षे स्वर्ग गमन।

(६) सभूतविजय का वीरात् १६५ वर्षे स्वर्गवास।

(७) भद्रवाहु स्वामी-वीरात् १७० वर्षे परलोकगमन।

(८) स्थूलभद्र स्वामी-वीरात् २१६ वर्षे स्वर्गवास।

(९) आर्य महागिरि-वीरात् २४६ वर्षे स्वर्गवास।

(१०) आर्य सुहस्ती-वीरात् २९५ वर्षे स्वर्गवास।

(११) सुस्थितसूरि-वीरात् ३४३ वर्ष के वाद स्वर्ग। इन्ही से हमारा सम्प्रदाय कोटिकगच्छ कहलाया।

(१२) श्री इन्द्रदिन्नसूरि, (१३) श्री दिन्नसूरि (१४) श्री सिंहगिरि, इस समय में आचार्य पादलिप्तसूरि, वृद्धवादिसूरि, तथा सिद्धसेन दिवाकर हुए।

(१५) श्री वज्रस्वामी का जन्म वीरात् ४९६ मे, निर्वाण से ५८४ मे स्वर्गवास।

(१६) वज्रसेनाचार्य-नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृति, विद्याधर को दीक्षा और कुलो की उत्पत्ति।

(१७) श्री चन्द्रसूरि – इस समय मे आर्यरक्षित युगप्रधान हुए।

(१८) समन्तभद्रसूरि – (वनवासी)

(१९) श्री वृद्धदेवसूरि (२०) प्रद्योतनसूरि (२१) मानदेवसूरि (शान्ति-स्तव कर्त्ता)

(२२) मानतुंगसूरि (भक्तामर कर्त्ता)

(२३) वीरसूरि, इस समय के दर्म्यान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हुए जिन्होने ९८० मे वलभी नगरी मे सर्वसिद्धान्त लिखवाए, इसी समय मे श्री कालकाचार्य, जिन्होने भाद्रपद शुक्ल ५ से चतुर्थी पर्युषणा पर्व किया, यह घटना वीर निर्वाण से ९९३ मे बनी। इसके पहले दो कालकाचार्य और हुए, प्रथम श्यामाचार्य जो ३७६ में, द्वितीय गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य वीर से ४५३ मे, फिर इसी समय के भीतर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (विशेषावश्यक भाष्य कर्त्ता) हुए, जिनके शिष्य शीलाङ्काचार्य ने आचाराग और सूत्रकृतांग की वृत्ति बनाई और इसी समय के लगभग प्रसिद्ध श्रुतधर हरिभद्रसूरि हुए।

(२४) श्री जयदेवसूरि, (२५) देवानन्दसूरि, (२६) विक्रमसूरि, (२७) नरसिंहसूरि, (२८) समुद्रसूरि, (२९) मानदेवसूरि, (३०) विबुधप्रभसूरि, (३१) जयानन्दसूरि, (३२) रविप्रभ, (३३) यशोभद्र (३४) विमलचन्द्रसूरि।

(३५) श्री देवसूरि, इनके सुविहित मार्गाचरण से सुविधि गच्छ ऐसी प्रसिद्धि हुई।

(३६) श्री नेमिचन्द्रसूरि

(३७) श्री उद्योतनसूरि – इन्से चौरासी गच्छो की उत्पत्ति हुई।

(३८) वर्धमानसूरि। (३९) जिनेश्वरसूरि बुद्धिसाग सूरि "जिनेश्वरसूरि-मुद्दिश्यातिखरा एते इति राज्ञा प्रोक्तं तत एव "खरतर-बिरुद" लब्धं, तथा चैत्यवासिनां हि पराजयप्रापणात् "कुवला" इति नामधेय प्राप्ता एवं च सुविहितपक्षधारका जिनेश्वरसूरयो विक्रमत १००० वर्षे: "खरतर" विरुद-धारका जाताः।"

पट्टावली के उपर्युक्त फिकरे मे राजा दुर्लभ द्वारा जिनेश्वरसूरि को "अतिखर" और इनके सामने चर्चा करने वालो को 'कोमल' कहलाया है।

इन शब्दो से यही अर्थ निकलता है कि जिनेश्वरसूरि ने वसतिवास का निर्भयतापूर्वक प्रतिपादन किया, तब चैत्यवासियो ने इनके मुकाबिले में चैत्यवास का प्रतिपादन कोमलतापूर्वक किया, इस शब्दप्रयोगो से विरुद्ध प्रदान मान लेना यौक्तिक नही माना जा सकता है।

(४०) जिनचन्द्रसूरि (४१) अभयदेवसूरि

एक समय मे आचार्य-पद प्राप्त करने के बाद आचार्यश्री अभयदेव-सूरिजी ने नव रसों का पोषण किया, जिसे सुनकर सभा आनन्दित हुई, परन्तु गुरु ने उन्हे उपालम्भ दिया, तब अभयदेवसूरिजी ने आत्मशुद्ध्यर्थ प्रायश्चित्त मागा और गुरु ने १२ वर्ष तक आचामाम्ल व्रत करने का आदेश दिया[1] अभयदेवसूरिजी ने गुरु का वचन स्वीकृत करके छ ही विकृतियो का त्याग किया, परिणाम स्वरूप उनके शरीर मे गलत्कुष्ठ रोग की उत्पत्ति हो गई, बाद मे स्तम्भनक पार्श्वनाथ की स्तवना करके प्रतिमा निकलवाई, जिसके स्नात्रजल से शरीर नीरोग हुआ, बाद मे सूरिजी ने नवागसूत्रो की वृत्तिया बनाई और अन्त मे कपडवज मे अनशन कर चतुर्थ देवलोक प्राप्त किया।

(४२) जिनवल्लभसूरि –

जिनवल्लभसूरि जो पहले कूर्चपुरीय गच्छ के जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे, इन्होने "पिण्डविशुद्धिप्रकरण", "गणधर[2] सार्द्धशतक", "षडशीति" प्रमुख अनेक शास्त्र बनाये थे।

जिनवल्लभ स० ११६७ मे देवभद्राचार्य द्वारा आचार्य बने और छ: मास तक आचार्य-पद भोगा। इनके समय मे "मधुकर खरतर" शाखा निकली तथा इन्ही के समय मे शासन देवता के वचन से आचार्य के नाम की आदि मे "जिन" शब्द रखने की प्रवृत्ति चली।

---

१. समयसुन्दरजी की पट्टावली में ६ मास का प्रायश्चित्त लिखा है।

२ "गणधर सार्द्धशतक" जिनवल्लभसूरि की कृति नही, यह जिनदत्तसूरि की कृति है।

(४३) जिनदत्तसूरि –

जिनदत्तसूरि का जन्म ११३२ मे, दीक्षा ११४१ मे, आचार्य-पद ११६९ मे आचार्य देवभद्र द्वारा दिया गया। इनके समय मे सवत् १२०४ मे जिनशेखराचार्य से रुद्रपल्लीय शाखा निकली, यह द्वितीय गच्छभेद हुआ।

यहा पर वायटगच्छीय जिनदत्तसूरि सम्बन्धी गौशरीर में प्रवेश करने की हकीकत प्रस्तुत जिनदत्तसूरि के साथ जोड़ दी है जो अन्धश्रद्धा का परिणाम है, इसके सिवा अन्य भी अनेक वृत्तान्त जिनदत्तसूरि के जीवन के साथ जोड़ दिये हैं, जो इनकी महिमा बढ़ाने के बजाय महत्त्व घटाने वाले हैं।

जिनदत्तसूरि सं० १२११ के आषाढ शुक्ल ११ को अजमेर मे स्वर्गवासी हुए।

यहा पर क्षमाकल्याणक मुनि ने निम्न प्रकार का डेढ़ श्लोक लिखा है –

"श्री जिनदत्तसूरीणां, गुरूणां गुणवर्णनम्।
मया क्षमादिकल्याण–मुनिना लेशत. कृतम् ॥
सुविस्तरेण तत्कर्तुं, सुराचार्योऽपि न क्षमः ॥१॥"

उपर्युक्त षट्पदी से मालूम होता है कि या तो यह पट्टावली क्षमाकल्याणक-कृत होनी चाहिए, जिसका अन्तिम भाग जिनमहेन्द्रसूरि के किसी शिष्य ने जोड़ कर इसे अपना लिया है। अगर ऐसा नही है, तो कम से कम जिनदत्तसूरिजी का वर्णन तो क्षमाकल्याणकजी की पट्टावली से उद्धृत किया होगा, इसमे कोई शका नही है।

(४४) श्री जिनचन्द्रसूरि –

इनकी दीक्षा सवत् १२०३ मे अजमेर मे हुई थी। सं० १२११ में श्री जिनदत्तसूरिजी के हाथ से आचार्य-पद पर स्थापित हुए थे और सं० १२२३ में भाद्रपद कृष्णा १४ के दिन २६ वर्ष की उम्र मे आपका स्वर्गवास हुआ था।

(४५) श्री जिनपतिसूरि –

आपकी दीक्षा १२१८ को नाम में दिल्ली में हुई थी और संवत् १२२३ में श्री जयदेवाचार्य द्वारा आपकी पद-स्थापना हुई थी। सं० १२७० में पालनपुर में स्वर्गवास।

(४६) श्री जिनेश्वरसूरि –

आपकी दीक्षा सं० १२६५ में, १२७० में सर्वदेवाचार्य द्वारा जालोर में आचार्य-पद, इनके समय में ही १२१४ में आंचलिक मत की उत्पत्ति हुई। १२८५ में चित्रावालगच्छीय जगच्चन्द्रसूरि से तपागण प्रसिद्ध हुआ। सं० १३३१ में आपका स्वर्गवास हुआ। इनके समय में जिनसिंहसूरि से लघुखरतर शाखा प्रकट हुई।

(४७) श्री जिनप्रबोधसूरि –

इनका सं० १३३१ में जालोर मे आचार्य-पद हुआ और स्वर्गवास १३४१ मे।

(४८) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १३३२ मे जालोर मे दीक्षा, सं० १३४१ में जालोर मे पदमहोत्सव, सं० १३७६ मे स्वर्गवास। इनके समय मे "खरतरगच्छ" की "राजगच्छ" के नाम से प्रसिद्धि हुई थी।

(४९) श्री जिनकुशलसूरि –

सं० १३३० में जन्म, १३४७ में दीक्षा, सं० १३७७ मे राजेन्द्राचार्य द्वारा सूरिमन्त्र दिया गया। सं० १३८९ मे स्वर्गप्राप्ति।

(५०) श्री जिनपद्मसूरि –

सं० १३८९ में आचार्य तरुणप्रभ द्वारा सूरिमन्त्र दिया गया, सं० १४०० वैशाख सुदि १४ के दिन पाटण में स्वर्गवास।

(५१) जिनलब्धिसूरि –

श्री तरुणप्रभाचार्य द्वारा आचार्य-पद, सं० १४०६ मे स्वर्गवास ।

(५२) श्री जिनचन्द्रसूरि –

इनको सं० १४०६ मे तरुणप्रभाचार्य द्वारा सूरि-मन्त्र मिला और १४१५ मे स्वर्गवास ।

(५३) जिनोदयसूरि –

सं० १३७५ में जन्म, १४१५ में आषाढ शु० २ को तरुणप्रभाचार्य द्वारा पद स्थापना और सं० १४३२ मे पाटण मे स्वर्गवास, इनके समय में १४२२ में "वेगडखरतरशाखा" निकली । यह चतुर्थ गच्छ भेद हुआ ।

(५४) श्री जिनराजसूरि –

सं० १४३२ मे पाटण में आचार्य-पद हुआ, स्वर्णप्रभाचार्य, श्री भुवनरत्नाचार्य और सागरचद्राचार्य को आचार्य बनाया । सं० १४६१ मे देलवाड़ा में स्वर्गवास ।

(५५) श्री जिनभद्रसूरि –

सं० १४६१ मे सागरचन्द्राचार्य ने श्री जिनराजसूरि के पट्ट पर श्री जिनवर्द्धनसूरि को स्थापित किया था, उन्होने जैसलमेर के श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ के पास मे स्थापित क्षेत्रपाल की मूर्ति को गर्भगृह के बाहर ले जाकर स्थापित किया, इससे कुपित क्षेत्रपाल ने उनमें चतुर्थव्रत भग का दोष बताया, जिससे इनके भक्त नाराज हो गये । सं० १५१४ मे श्री जिनभद्रसूरि का कुम्भलमेर मै स्वर्गवास । इनके समय में १४७४ में श्री जिनवर्द्धनसूरि से 'पिप्पलक' नाम की "खरतर शाखा निकली," यह पांचवा गच्छ भेद हुआ ।

(५६) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १४९२ मे दीक्षा, १५१४ मे कीर्तिरत्नाचार्य द्वारा पद स्थापना और आबु ऊपर नवफणा पार्श्वनाथ · प्रतिष्ठा की । धर्मरत्नसूरि, गुण-

रत्नसूरि प्रमुख अनेक आचार्य बनाने वाले, श्री जिनचन्द्रसूरि १५३० मे जैसलमेर में स्वर्गवासी हुए, इनके समय मे १५०८ में अहमदाबाद मे लौंका नामक लेखक ने प्रतिमा-पूजा का विरोध किया; और सं० १५२४ में लौंका के नाम से मत प्रचलित हुआ।

(५७) श्री जिनसमुद्रसूरि –

१५२१ में दीक्षा, १५३० मे श्री जिनचन्द्रसूरि द्वारा पदस्थापना और सं० १५५५ मे अहमदाबाद मे स्वर्गवास।

(५८) श्री जिनहंससूरि --

स० १५६५ मे दीक्षा, सं० १५५५ मे आचार्य-पद, सं० १५५६ मे फिर विशेष पद महोत्सव, स० १५८२ मे पाटन में स्वर्गवास, इनके समय मे १५६४ मे मारवाड़ में आचार्य शान्तिसागर ने आचार्यीय खरतरशाखा निकाली।

(५९) श्री जिनमाणिक्यसूरि --

स० १५४९ मे जन्म, १५६० मे दीक्षा, स० १५८२ में आचार्य-पद श्री जिनहंससूरि द्वारा, श्री जिनमाणिक्यसूरि कई वर्षों तक जैसलमेर मे रहे। परिणामस्वरूप इनके सब साधु शिथिलाचारी हो गये, उधर प्रतिमोत्थापकों का मत बहुत बढ़ रहा था, यह देखकर मन्त्री संग्रामसिंह ने गच्छ की स्थिति ठीक रखने के लिए गुरु को अजमेर बुलाया, उन्होंने मन से तो क्रियोद्धार का संकल्प कर ही लिया था और कहा – प्रथम देराउल मे श्री जिनकुशलसूरिजी की यात्रा करके फिर यहां से क्रियोद्धार करके विहार करूंगा। देराउल से आप वापिस जैसलमेर आ ही रहे थे परन्तु स० १६१२ में आषाढ शुक्ल ५ को आप का स्वर्गवास हो गया।

(६०) श्री जिनचन्द्रसूरि --

इनकी दीक्षा स० १६०४ मे, सूरि-पद १६१२ मे, गच्छ में शिथिलाचारित्व देखकर सर्व परिग्रह का त्याग कर कर्मचन्द्र के आग्रह से बीकानेर

गए और वहां से सुविहित साधुओ के साथ विहार करते हुए, प्रतिमोत्थापक मत का खण्डन करते हुए, अपनी सामाचारी को दृढ़ करते हुए गुजरात की तरफ गए। अहमदाबाद मे शिवा, सोमजी नाम के दो भाइयो को प्रतिबोध करके धनवन्त किए, लाहोर जाकर अकबर को प्रतिबोध करके सब देशो में फर्मान भिजवाकर अट्ठाई के दिनों मे अमारि का पालन करवाया, सं० १६५२ में पाच नदियो का साधन किया, जहां ५ पीर मणिभद्रयक्ष, खोडिया क्षेत्रपालादि देव शामिल थे, स० १६७० मे बेणातट पर आपका स्वर्गवास हुआ, इनके समय मे सं० १६२१ मे भावहर्षोपाध्याय से "भावहर्षीय खरतर शाखा" निकली। यह सातवा गच्छभेद हुआ।

(६१) श्री जिनसिंहसूरि –

स० १६२३ मे दीक्षा, १६४९ के फाल्गुन शुक्ल २ को लाहोर मे आचार्य-पद और स० १६७० मे वेनातट पर सूरि-पद, १६७४ मे मेड़ता मे स्वर्गवास।

(६२) श्री जिनराजसूरि –

सं० १६५६ मे दीक्षा, १६७४ मे मेड़ता में सूरि-पद, इनके द्वितीय शिष्य सिद्धसेन गणि को आचार्य-पद देकर जिनसागरसूरि नाम रक्खा, १२ वर्ष तक आप इनकी आज्ञा में रहे, फिर समयसुन्दरोपाध्याय के शिष्य हर्ष-नन्दन के कदाग्रह से सं० १६८६ में आचार्य जिनसागरसूरि से "लघ्वाचार्य" खरतर शाखा निकली, यह अष्टम गच्छभेद हुआ। जिनराजसूरि ने नैषधीय काव्य पर "जैनराजी" नामक टीका बनाई, स० १६९९ मे आप स्वर्गवासी हुए। लगभग उसी समय १७०० में पं० रंगविजयजी गणि से "रंगविजया" शाखा निकली यह नवमा गच्छभेद हुआ और इस शाखा मे से श्रीसार उपाध्याय ने "श्रीसारीय खरतर शाखा' निकाली, यह दशवा गच्छभेद हुआ। ग्यारहवां सुविहित मूल खरतरगच्छ का भेद कायम रहा इस तरह ११ भेद पडे।

(६३) श्री जिनरत्नसूरि –

स १६९९ मे श्री जिनराजसूरिजी ने सूरिमन्त्र दिया। स० १७११ में जिनरत्नसूरि अकबराबाद मे स्वर्गवासी हुए।

(६४) श्री जिनचन्द्रसूरि –

आपकी सं० १७११ मे राजनगर मे पद-स्थापना हुई, सं० १७६३ मे सूरत वन्दर मे स्वर्गवासी हुए ।

(६५) श्री जिनसुखसूरि –

सं० १७५१ मे दीक्षा, १७६३ में पदस्थापना हुई और संवत् १७८० मे रीणी नगर मे स्वर्गवास ।

(६६) श्री जिनभक्तिसूरि –

सं० १७८० मे आचार्य-पद, स० १८०४ मे माडवी वन्दर में स्वर्गवास ।

(६७) श्री जिनलाभसूरि –

सं० १७६६ में जसलमेर मे दीक्षा, १८०४ मे आचार्य-पद, स० १८३४ में स्वर्गवास ।

(६८) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १८२२ में दीक्षा, स० १८३४ में पदस्थापना, १८५६ में सूरत में स्वर्गवास ।

(६९) श्री जिनहर्षसूरि –

सं० १८४३ में दीक्षा, स० १८५६ में पदस्थापना, १८९२ में ब्राह्म-मुहूर्त में मंडोवर मे स्वर्गवास ।

(७०) श्री जिनमहेन्द्रसूरि –

स० १८६७ में जन्म, १८८५ में दीक्षा, सं० १८९२ में जोधपुर महाराजा मानसिहजो के राज्यकाल में आचार्य-पद । श्री पादलिप्तपुर में तपागच्छीय उपाश्रय के आगे होकर वादित्र वजाते हुए जिनमन्दिर में दर्शनार्थ गए ।

श्री संघाधिप ने सपरिकर गुरु को अपने निवास-स्थान पर बुलाकर स्वर्णमुद्राओं से नवांग पूजा की और दस हजार रुपया और पालकी संघ के

समक्ष भेंट की। वाचक, पाठक साधुवर्ग को सुवर्ण रूप्य मुद्राएं तथा महावस्त्रादि ज्ञानोपकरण भेंट दिए।

श्री गुरु ने भी चौरासी-गच्छीय समस्त आचार्य तथा सहस्र साधुओं को महावस्त्र और प्रत्येक को दो-दो रूप्य-मुद्राएं अर्पण की।

ऊपर चौरासी गच्छ के आचार्यों तथा सहस्राधिक साधुओं को श्रीजी द्वारा महावस्त्र और वस्त्रादि दो-दो रुपयों के साथ देने की बात कही है तब आगे जाकर नीचे का फिकरा लिखते हैं —

"फाल्गुन सुदि २ दिने सर्व तपागच्छीयादि आचार्य साधूनुपत्यकायां संरोध्य श्रीजिनमहेन्द्रसूरयः सर्वसंघपतिभिः सार्द्धं श्रीमूलनायकजिनगृहाग्रतो गत्वा विधिना सर्वेषां कण्ठेषु संघमालाः स्थापिताः, अन्यगच्छीयाचार्याणां कौशिकानामिव मनोभिलाषं मनस्येव स्थितं, खरतरगच्छेश्वरसूर्योदयतेज प्रकरत्वात्तदनुत्तीर्य गीतगानतुर्यवाद्यमानगजाश्वशिबिकेन्द्रध्वजादिमहर्ध्या पादलिप्तपुरे जिनगृहे दर्शनं विधाय तपागच्छीयाचार्यस्थितोपाश्रयाग्रतो भूत्वा संघावासेऽयासिषुः भूयोऽपि तत्रस्थचतुरशीतिगच्छीय द्वादशशत साधुवर्गेभ्यो महावस्त्र-रूप्यमुद्रायुग्मं प्रत्येक प्रदत्तानि, तदवसरे श्रीमत्पूज्यैर्बहुतरद्रव्यव्ययं कृतं, तत्सम्बन्धः पूर्ववत् पुनः श्री मदादिजिनकोशकुंचिकायुग्मं श्रीखरतरगणश्राद्धैस्तपाश्रद्धालुभ्यः सकाशाद्गृहीतं कुंचिकायुग्मं तत्पार्श्वे रक्षितं।"

पट्टावली का ऊपर जो पाठ दिया है इससे अनेक गुप्त बाते ध्वनित होती हैं। फाल्गुन सुदि २ के दिन, जिनमहेन्द्रसूरिजी पादलिप्तपुर मे उपस्थित सघपतियो को माला पहिनाने वाले थे, परन्तु दादा की टूङ्क में मूलनायकजी के सामने माला पहिनाने मे तपागच्छीय तथा अन्यगच्छीय सभी आचार्य विरुद्ध थे, जिसके परिणामस्वरूप जिनमहेन्द्रसूरिजी ने राजकीय बल द्वारा अन्य सभी गच्छो के आचार्यों तथा साधुओ को ऊपर जाने से रुकवा दिया था, फिर आपने निर्भयता से दादा के सामने सघपतियो को मालायें पहिनाने का पुरुपार्थ किया था। पट्टावली के कथनानुसार यह घटना खरतरगच्छ के सूर्योदय के तेज का प्रकाश था, जिसके

सामने अन्यगच्छीय आचार्य-रूप उल्लुओं के नेत्र चौंधिया गए थे। ऊपर से उतर कर नगर के मन्दिर में दर्शनार्थ जाने के प्रसग मे तपागच्छ के उपाश्रय के सामने होकर गीत-वादित्रो के साथ जाने का उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि विशिष्ट प्रसगो के सिवाय तपागच्छ के उपाश्रय के आगे होकर वादित्रो के साथ निकलने का खरतरगच्छीय आचार्यों के लिए बन्द होगा अन्यथा यहा पर उक्त उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नही थी। पट्टावली के उपर्युक्त पाठ मे सघपति द्वारा अपने निवास-स्थान पर जिनमहेन्द्रसूरि को बुलाकर सुवर्ण मुद्राओ से नवाग पूजा करने और दस हजार की थैली भेट करने की बात कही है। ठीक तो है, सघपति जब धनवान् है तो अपने गुरु को धनहीन कैसे रहने देगा। इन बातो से निश्चित होता है कि उन्नीसवी शताब्दी के "श्रीपूज्य" नाम से पहिचाने जाते जैन आचार्य और "यति के नाम से प्रसिद्ध जैन साधु" पूरे परिग्रहधारी बन चुके थे। सघपति ने अपने आचार्य तथा साधुओ को वस्त्र और दो दो रुपये भेट किये, यह एक साधारण बात है, परन्तु आचार्य जिनमहेन्द्रसूरि द्वारा प्रत्येक साधु को दो-दो रुपयो के साथ वस्त्र देना, हमारी राय मे उचित नही था। कुछ भी हो, परन्तु खरतरगच्छ के अतिरिक्त अन्य सभी गच्छो के आचार्य तथा साधुओ को ऊपर जाने मे रोकने वाले सघपतियो से तथा उनके गुरु श्री जिनमहेन्द्रसूरि से अन्य गच्छ के आचार्यो तथा साधुओ ने वस्त्र तथा मुद्राओ की दक्षिणा ली होगी, इस बात को कौन मान सकता है। जिनके मन मे अपने सम्प्रदाय का और अपनी आत्मा का कुछ भी गौरव होगा, वे तो दक्षिणा तो क्या उनकी शक्ल तक देखने को तैयार नही हुए होगे। बाकी पट्टावली मे कुछ भी लिखे इसको कौन रोक सकता है।

पट्टावली-लेखक कहता है – "तदवसरे श्रीमत्पूज्यैर्बहुनर द्रव्यव्यय कृत।" पट्टावलीकार की भाषा से इतना तो स्पष्ट होता है कि इसका अन्तिम भाग किसी अर्धदग्ध सस्कृतपाठी का लिखा हुआ है। अधिकाश पट्टावली शुद्ध सस्कृत मे है, परन्तु जिनमहेन्द्रसूरि के वर्णन मे जो कुछ लिखा गया है, उसमे व्याकरण की अशुद्धियो का तो ठिकाना ही नही,

लिग, वचन और सन्धि तक का पूरा ज्ञान नही था, उसी ने जिनमहेन्द्र-सूरि के गुणगान किये है।

इसके अतिरिक्त पट्टावली में ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक स्खलनाएं दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उन सब की यहां चर्चा करके लेख को बढ़ाना उचित नही समझा गया।

(५) पट्टावली नम्बर २३३३ :

उपर्युक्त नम्बर की पट्टावली मे भिन्न-भिन्न पट्टावली तथा गुर्वावली के पाच पत्र है और इनमे भिन्न-भिन्न लेखकों की लिखी हुई पाच पाटपरम्पराए है, परन्तु उन सब की यहा चर्चा करना उपयुक्त नही, इनमे से जो बाते उपयोगी जान पड़ेगी मात्र उन्ही की चर्चा करना ठीक होगा, इन पानो में एक पाट परम्परा श्री जिनलाभसूरि पर्यन्त लिखो हुई है और जिनलाभसूरि का नम्बर ६९ वा दिया है, परन्तु वाद में किसी ने श्री जिन-चन्द्रसूरि और जिनहर्षसूरि के नाम बढ़ कर पट्टधरो के नम्बर ७१ कर दिये हैं।

एक दूसरे पट्टावली पत्र में युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि को ६२ वे नम्बर में लिया है और आगे जिनसिंह, जिनराज, जिनरत्न और जिनचन्द्र-सूरि के नाम लिखकर पट्टधरो के नम्बर ६६ कर दिये हैं परन्तु वाद मे जिनसुख, जिनभक्ति और जिनलाभ इन तीनो आचार्यो के नाम बढ़ाकर पट्टधरो के नम्बर ६९ कर दिये है।

एक पट्टावली का पत्र पद्यमय गुर्वावलो का है, आचार्यो की स्तुति उद्योतनसूरि से प्रारम्भ को है और जिनलाभसूरि तक परम्परागत आचार्यों की स्तुति करके इस कल्पवाचना का उपोद्घात लिखा है, यह पत्र जिनलाभसूरि के समय का लिखा हुआ है।

चौथा पत्र सुधर्म-स्वामी से लेकर जिनलाभसूरि के पट्टधर श्री जिन-चन्द्रसूरि तक के ७२ पट्टधरो के नम्बर लगाए हैं, परन्तु इस पट्टावली मे

कितने ही नाम युगप्रधानो के है जिनको यहां परम्परा में लिखा है, इनमें से वहुतेरे युगप्रधानो के नाम न आर्य महागिरि की परम्परा से मिलते हैं, न आर्य सुहस्तीसूरि की परम्परा से; यह पत्र जिनचन्द्रसूरि के समय का लिखा हुआ है, इसके अन्त मे "खरतरगच्छ" की शाखाओ के तथा अन्य गच्छों की उत्पत्ति के समयनिर्देशपूर्वक उल्लेख किये गए हैं। यह पत्र विशेष उपयोगी होने से इसका विशेष संक्षेप सार देंगे।

इस पत्र में आर्य सुहस्ती तक प्रचलित परम्परा दी है, आर्य सुहस्ती को १० नम्बर दिया है, इसके वाद ११ वां शान्तिभद्रसूरि, (१२) हरिभद्र-सूरि, (१३) गुणाकरसूरि, (१४) कालकाचार्य, (१५) श्री शण्डिलसूरि, (१६) रेवन्तसूरि, (१७) श्री धर्मसूरि, (१८) श्रीगुप्तसूरि, (१९) श्री आर्य-समुद्रसूरि, (२०) श्री मगुसूरि, (२१) श्री सुधर्मसूरि, (२२) श्री भद्रगुप्त-सूरि, (२३) श्री वयरस्वामी, (२४) आर्यरक्षितसूरि, (२५) दुर्वलिकापक्ष (पुष्य) मित्र, (२६) श्री आर्यनन्दसूरि, (२७) नागहस्तीसूरि, (२८) श्री लघुरेवतीसूरि, (२९) श्री व्रह्मद्वीपसूरि, (३०) श्री पाण्डिलसूरि, (३१) हिमवन्तसूरि, (३२) श्री नागार्जुन वाचक; (३३) श्री गोविन्द वाचक, (३४) श्री सम्भूतिदिन्न वाचक, (३५) श्री लोहित्यसूरि, (३६) श्री दुष्य-गणि वाचक, (३७) उमास्वाति वाचक, (३८) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, (३९) श्री हरिभद्रसूरि, (४०) श्री देवसूरि।

उपर्युक्त ४० नामो से आर्य सुहस्ती के वाद के ३० नाम अस्तव्यस्त और इधर-उधर से उठा कर लिख दिये हैं। इनमें न पट्टक्रम है, न समय ही व्यवस्थित है, कितनेक नाम तो कल्पित हैं, तव अधिकाश नाम युगप्रधान पट्टावलियो मे से लिये हुए हैं। (४१) श्री नेमिचन्द्र, (४२) श्री उद्योतन, (४३) श्री वर्धमान और (४४) श्री जिनेश्वरसूरि के नाम खरतर पट्टावलियो से मिलते-जुलते हैं। इसके आगे के (४५) श्री जिनचन्द्र, (४६) श्री अभयदेव, (४७) श्री जिनवल्लभ, (४८) श्री जिनदत्त, (४९) श्री जिन-चन्द्र, (५०) श्री जिनपति, (४१) श्री जिनेश्वर, (५२) श्री जिनप्रवोध, (५३) श्री जिनचन्द्रसूरि, (५४) श्री जिनकुशल, (५५) श्री जिनपद्म, (५६) श्री जिनलब्धि, (५७) श्री जिनचन्द्र, (५८) श्री जिनोदय, (५९)

श्री जिनराज, (६०) श्री जिनभद्र, (६१) श्री जिनचन्द्र, (६२) श्री जिनसमुद्र, (६३) श्री जिनहंस, (६४) श्री जिनमाणिक्य, (६५) श्री जिनचन्द्र, (६६) श्री जिनहंस, (६७) श्री जिनराज, (६८) श्री जिनरत्न, (६९) श्री जिनचन्द्र, (७०) श्री जिनसुख, (७१) श्री जिनभक्ति, (७२) श्री जिनलाभ, (७३) श्री जिनचन्द्रसूरि। इस प्रकार ये पिछले सभी नाम खरतर पट्टावली के अनुसार है। जिनचन्द्र के समय मे यह पाना लिखा गया है।

इस पत्र के अन्त में खरतरगच्छ की शाखाओ तथा अन्यगच्छ-मतों के प्रकट होने का समय-निर्देश नीचे लिखे अनुसार किया है।

१. सं० १२०४ मे जिनशेखराचार्य से "रुद्रपल्लीय" खरतर शाखा निकली।

२. सं० १२०५ मे श्री जिनदत्तसूरि के समय "मधुकर" खरतर शाखा निकली।

३. स० १२२२ मे जिनेश्वरसूरि द्वारा "वेगड" खरतर शाखा निकली।

४. सं० १४६१ के वर्ष में श्री वर्धमानसूरिजी ने "पीप्पलीया" खरतरगच्छ की शाखा का प्ररूपण किया।

५. स० १५६० में श्री शान्तिसागराचार्य ने "आचार्या" नामक नयी खरतरगच्छ की शाखा निकाली।

६. श्री जिनसागरसूरिजी ने सं० १६८७ मे "लघु आचार्य" नामक खरतरगच्छ मे एक नयी शाखा चलाई।

७. सं० १३३१ मे श्री जिनसिंहसूरि एवं जिनप्रभसूरि ने "लघु खरतरगण" नाम से अपने गच्छ को प्रसिद्ध किया।

८. सं० १६१२ मे भावहर्षगणि ने अपने नाम से खरतरगच्छ मे "भावहर्षीया" शाखा निकाली।

९. स० १६७५ मे श्री रंगविजयसूरि ने "रंगविजया" शाखा निकाली।

१०. १६७५ वर्ष खरतरगच्छ मे श्री सारजी से "श्री सारगच्छ" नामक भेद पडा।

स० १२३६ (१२२६) मे आचार्य हेमसूरि त्रिकोटी ग्रन्थो के कर्त्ता हुए ।

सं० १२८५ मे तपागच्छ की उत्पत्ति हुई ।

सं० ११५६ मे पूर्णमीयागच्छ निकला ।

स० १२१४ मे आचलीयागच्छ निकला ।

स० १३३३ (अन्यत्र १२५०) मे आगमिकगच्छ निकला ।

स० १५०८ मे अहमदावाद में लुकाशाह नामक पुस्तक-लेखक ने 'प्रतिमोत्थापक" मत निकाला और लखमसी से भेंट हुई ।

सं० १५२४ मे लूकागच्छ की उत्पत्ति हुई ।

उपसंहार :

इतिहास साधन होने के कारण हमने तपागच्छ, खरतरगच्छ, आचलगच्छ आदि की यथोपलब्ध सभी पट्टावलियो तथा गुर्वावलिया पढी हैं और इससे हमारे मन पर जो असर पड़ा है उसको व्यक्त करके इस लेख को पूरा कर देंगे ।

वर्तमानकाल में खरतरगच्छ तथा आंचलगच्छ की जितनी भी पट्टावलिया हैं, उनमे से अधिकाश पर कुलगुरुओ की वहियो का प्रभाव है, विक्रम की दशवी शती तक जैन श्रमणो मे शिथिलाचारी साधुओ को सख्या इतनी बढ गई थी कि उनके मुकावले मे सुविहित साधु बहुत ही कम रह गये थे । शिथिलाचारियो ने अपने अड्डे एक ही स्थान पर नही जमाये थे, उनके बडेरे जहा-जहा फिरे थे, जहा-जहां के गृहस्थो को अपना भाविक बनाया था, उन सभी स्थानो में शिथिलाचारियो के अड्डे जमे हुए थे, जहा उनकी पौषधशालाएं नही थी वहां अपने अड्डो से अपने गुरु-प्रगुरुओ के भाविको को सम्हालने के लिये जाया करते थे, जिससे कि उनके पूर्वजो के भक्तो के साथ उनका परिचय बना रहे, गृहस्थ भी इससे खुश रहते थे कि हमारे कुलगुरु हमारी सम्हाल लेते है, उनके यहां कोई भी धार्मिक कार्य प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, सघ आदि का प्रसंग होता, तब वे अपने कुलगुरुओं को आमन्त्रण करते और

धार्मिक विधान उन्ही के हाथ से करवाते, धीरे-धीरे वे कुलगुरु परिग्रहधारी हुए: वस्त्र, पात्र के अतिरिक्त द्रव्य की भेंट भी स्वीकारने लगे, तबसे कोई गृहस्थ अपने कुलगुरु को न बुलाकर दूसरे गच्छ के आचार्य को बुला लेता और प्रतिष्ठादि कार्य उनमे करवा लेता तो उनका कुलगुरु बना हुआ आचार्य कार्य करने वाले अन्य गच्छीय आचार्य से झगड़ा करता। इस परिस्थिति को रोकने के लिए कुलगुरुओ ने विक्रम की १२ वी शताब्दी से अपने-अपने श्रावकों के लिए अपने पास रखने शुरू किये, किस गांव में कौन-कौन गृहस्थ अपना अथवा अपने पूर्वजों का मानने वाला है उनकी सूचियां बनाकर अपने पास रखने लगे और अमुक-अमुक समय के बाद उन सभी श्रावको के पास जाकर उनके पूर्वजों की नामावलिया सुनाते और उनकी कारकीर्दियों की प्रशसा करते, तुम्हारे वड़ेरों को हमारे पूर्वज अमुक आचार्य महाराज ने जैन बनाया था, उन्होंने अमुक २ धार्मिक कार्य किये थे इत्यादि बातो से उन गृहस्थों को राजी करके दक्षिणा प्राप्त करते। यह पद्धति प्रारम्भ होने के बाद वे शिथिल साधु धीरे-धीरे साधुधर्म से पतित हो गए और "कुलगुरु" तथा "वही वंचो" के नाम से पहिचाने जाने लगे। आज पर्यन्त ये कुलगुरु जैन जातियों में बने रहे हैं, परन्तु विक्रम की बीसवी सदी से वे लगभग सभी गृहस्थ बन गए हैं, फिर भी कतिपय वर्षों के बाद अपने पूर्वज-प्रतिबोधित श्रावकों को वन्दाने के लिऐ जाते हैं, वहियां सुनाते हैं और भेट पूजा लेकर आते हैं, इस प्रकार के कुलगुरुओ की अनेक वहियां हमने देखी और पढ़ी है उनमे बारहवी शती के पूर्व की जितनी भी बाते लिखी गई है वे लगभग सभी दन्तकथामात्र हैं, इतिहास से उनका कोई सम्बन्ध नही, गोत्रो और कुलो की वहियां लिखी जाने के बाद की हकीकतो मे आंशिक तथ्य अवश्य देखा गया है, परन्तु अमुक हमारे पूर्वज आचार्य ने तुम्हारे अमुक पूर्वज को जैन बनाया था और उसका अमुक गोत्र स्थापित किया था, इन बातों में कोई तथ्य नही होता, गोत्र किसी के बनाने से नही बनते, आजकल के गोत्र उनके वडेरो के धन्धों रोजगारो के ऊपर से प्रचलित हुए हैं, जिन्हे हम "अटक" कह सकते हैं। खरतरगच्छ की पट्टावलियों मे अनेक आचार्यों के वर्णन में लिखा मिलता है कि अमुक को आपने जैन बनाया और उसका यह गोत्र कायम किया, अमुक आचार्य ने इतने लाख और इतने हजार अजैनो

को जैन बनाया, इस कथन का सार मात्र इतना ही होता है कि उन्होने अपने उपदेश से अमुक गच्छ मे से अपने सम्प्रदाय मे इतने मनुष्य सम्मिलित किए। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की बातो मे कोई सत्यता नही होती, लगभग आठवी नवमी शताब्दी से भारत मे जातिवाद का किला बन जाने से जैन समाज की सख्या बढ़ने के बदले घटती ही गई है। इक्का दुक्का कोई मनुष्य जैन बना होगा तो जातियो की जातिया जैन समाज से निकलकर अन्य धार्मिक सम्प्रदायो में चली गई हैं, इसी से तो करोड़ो से घटकर जैन समाज की संख्या आज लाखों में आ पहुँची है। ऐतिहासिक परिस्थिति उक्त प्रकार की होने पर भी बहुतेरे पट्टावलीलेखक अपने अन्य आचार्यों की महिमा बढ़ाने के लिए हजारो और लाखों मनुष्यो को नये जैन बनाने का जो ढिण्ढोरा पीटे जाते है इसका कोई प्रभाव नही पड़ सकता, इसलिए ऐतिहासिक लेखों प्रबन्धो और पट्टावलियो मे इस प्रकार की अतिशयोक्तियो और कल्पित-कहानियों को स्थान नही देना चाहिए।

हमने तपागच्छ की छोटी बडी पच्चीस पट्टावलियां पढी है और इतिहास की कसौटी पर उनको कसा है, हमको अनुभव हुआ कि अन्यान्य गच्छो की पट्टावलियों की अपेक्षा से तपागच्छ की पट्टावलियो मे अतिशयोक्तियो और कल्पित कथाओं की मात्रा सब से कम है और ऐसा होना ही चाहिए, क्योंकि कच्ची नींव पर जो इमारत खड़ी की जाती है, उसकी उम्र बहुत कम होती है। हमारे जैन सघ में कई गच्छ निकले और नामशेष हुए, इसका कारण यही है कि उनकी नीव कच्ची थी, आज के जैन समाज में तपागच्छ, खरतरगच्छ, आंचलगच्छ आदि कतिपय गच्छो में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकात्मक चतुर्विध जैन सघ का अस्तित्व है, इसका कारण भी यही है कि इनमे वास्तविक सत्यता है। जो भी सम्प्रदाय वास्तविक सत्यता पर प्रतिष्ठित नही होते, वे चिरजीवी भी नही होते, यह बात इतिहास और अनुभव से जानी जा सकती है।

॥ इति खरतरगच्छीय पट्टावली संग्रह ॥



चतुर्थ परिच्छेद

[लौंकागच्छ और कडवामत की पट्टावलियाँ]

गृहस्थों का गच्छ-प्रवर्तन

लौंकामत-गच्छ की उत्पत्ति

सूत्रकाल में स्थविरों के पट्टक्रम की यादी को "थेरावली" अर्थात् "स्थविरावली" इस नाम से पहिचाना जाता था, क्योकि पूर्वधरो के समय मे निर्ग्रन्थश्रमण वहुधा वसति के बाहर उद्यानो में ठहरा करते थे और पृथ्वीशिलापट्ट पर बैठे हुए ही श्रोतागणों को धर्मोपदेश सुनाते थे, न कि पट्टो पर वैठकर। देश, काल, के परिवर्तन के वश श्रमणो ने भी उद्यानों को छोड़कर ग्रामों नगरों में ठहरना उचित समझा और धीरे-धीरे जिननिर्वाण से ६०० वर्ष के वाद अधिकांश जैन श्रमणो ने वसतिवास प्रचलित किया। गृहस्थ वर्ग जो पहले "उपासक" नाम से सम्वोधित होता था वह धीरे-धीरे नियत रूप से धर्म-श्रवण करने लगा, परिणाम स्वरूप प्राचीन श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका-समुदाय श्रावक श्राविका के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह सब होते हुए भी तब तक श्रमणसंघ धार्मिक मामलो मे अपनी स्वतन्त्रता कायम रक्खे हुए था।

उपर्युक्त समय दर्मियान जो कोई निर्ग्रन्थ श्रमण अपनी कल्पना के वल से धार्मिक सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क प्रतिष्ठित करता तो श्रमण-सघ उसको समझा-बुझाकर सिद्धान्तानुकूल चलने के लिए वाध्य करता, यदि इस पर भी कोई अपने दुराग्रह को न छोड़ता तो श्रमण-संघ उसको अपने से दूर किये जाने की उद्घोषणा कर देता। श्रमण भगवान् महावीर को जीवित अवस्था में ही ऐसी घटनाएँ घटित होने लगी थी। महावीर को तीर्थ-

कर पद प्राप्त होने के वाद १४ वें और २० वें वर्ष में क्रमशः जमालि और तिष्यगुप्त को श्रमण-संघ से वहिष्कृत किये जाने के प्रसग सूत्रो में उपलब्ध होते है, इसी प्रकार जिन-वचन से विपरीत अपना मत स्थापित करने वाले जैन साधुओ के सघवहिष्कृत होने के प्रसग "आवश्यक-निर्युक्ति" में लिखे हुए उपलब्ध होते है, इस प्रकार से संघ वहिष्कृत व्यक्तियो को शास्त्र मे निह्नव इस नाम से उल्लिखित किया है और "औपपातिक" "स्थानाङ्गसूत्र" एवं आवश्यकनिर्युक्ति मे उनकी सख्या ७ होने का निर्देश किया है।

वीरजिन-निर्वाण की सप्तम शती के प्रारंभ में नग्नता का पक्ष कर अपने गुरु से पृथक् हो जाने और अपने मत का प्रचार करने की आर्य शिवभूति की कहानी भी हमारे पिछले भाष्यकार तथा टीकाकारो ने लिखी है, परन्तु शिवभूति को सघ से वहिष्कृत करने की वात प्राचीन साहित्य में नही मिलती। इसका कारण यही है कि तव तक जैन श्रमण बहुधा वसतियो मे रहने वाले वन चुके थे और उनके पक्ष, विपक्ष मे खड़े होने वाले गृहस्थ श्रावको का उनके साथ घनिष्ठ सम्वन्ध वन चुका था। यही कारण है कि पहले "श्रमण-सघ" शब्द की व्याख्या "श्रमणानां सघः श्रमण-संघः" अर्थात् "साधुओ का संघ" ऐसी की जाती थी, उसको वदलकर "श्रमणप्रधानः सघः श्रमणसघः" अर्थात् जिससघ मे साधु प्रधान हों वह "श्रमणसघ" ऐसी व्याख्या की जाने लगी।

आर्य स्कन्दिल के समय मे जो दूसरी वार आगमसूत्र लिखे गए थे, उस समय श्रमणसघ शब्द की दूसरी व्याख्या मान्य हो चुकी थी और सूत्र मे "चाउवण्णे सघो" शब्द का विवरण, "समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ" इस प्रकार से लिखा जाने लगा था। इसका परिणाम श्रमण-सघ के लिए हानिकारक हुआ, अपने मार्ग में उत्पन्न होने वाले मतभेदो और आचार-विपयक शिथिलताओ को रोकना उनके लिए कठिन हो गया था। जिननिर्वाण की १३ वी शती के उत्तरार्ध से जिनमार्ग मे जो मतभदो का और आचारमार्ग से पतन का साम्राज्य वढ़ा उसे कोई रोक नही सका।

वर्तमान आगमों मे से "आचाराग" और "सूत्रकृताग" ये दो सूत्र मौर्यकालीन प्रथम आगमवाचना के समय में लिखे हुए हैं। इन दो में से

"आचारांग" मे केवल एक "पासत्था" शब्द आचारहीन साधु के लिए प्रयुक्त हुआ उपलब्ध होता है, तब "सूत्रकृताग" मे एक शब्द जो आचार-हीनता का सूचक है अधिक बढ़ गया है। वह शब्द है "कुशील"।

उपर्युक्त दो सूत्रों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्रो मे "पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न, संसक्त, और यथाछन्द" इन पांच प्रकार के कुगुरुओ की परिगणना हुई; परन्तु आगे चलकर "नियय" अर्थात् 'नियत" रूप से "वसति" तथा "आहार" आदि का उपभोग करने वालो की छट्ठे कुगुरु के रूप मे परिगणना हुई। यह सब होने का मूल कारण गृहस्थो का संघ मे प्रवेश और उनके कारण से होने वाला एक दूसरे का पक्षपात है। साधुओ के समुदाय जो पहले "गण" नाम से व्यवहृत होते थे "गच्छ" वने और "गच्छ" मे भी पहले साधुओ का प्राबल्य रहता था वह धीरे-धीरे गृहस्थ श्रावकों के हाथों मे गया, गच्छो तथा परम्पराओ का इतिहास बताता है कि कई "गच्छपरम्पराए" तो केवल गृहस्थो के प्रपञ्च से ही खड़ी हुई थी, और उन्होने श्रमणगणो के सघटन का भयकर नाश किया था। मामला यहीं समाप्त नही हुआ, आगमो का पठन पाठन जो पहले श्रमणो के लिए ही नियत था, श्रावको ने उसमे भी अपना दखल शुरू कर दिया, वे कहते – अमुक प्रकार के शास्त्र गृहस्थ-श्रावक को क्यो नही पढ़ाये जाये? मर्यादारक्षक आचार्य कहते – श्रावक सुनने के अधिकारी हैं, वाचना के नही, फिर भी कतिपय नये गच्छ वालो ने अमुक सीमा तक गृहस्थो को सूत्र पढ़ाना, सुनाना प्रचलित कर दिया, परिणाम जो होना था वही हुआ, कई सुधारक नये गच्छो की सृष्टि हुई और अन्धाधुन्ध परिवर्तन होने लगे, किसी ने सूत्र-पचागी को ही प्रमाण मानकर परम्परागत आचार-विधियो को मानने से इन्कार कर दिया, किसी ने द्रव्य-स्तव भावस्तवो का बखेड़ा खड़ा करके, अमुक प्रवृत्तियो का विरोध किया, तब कइयो ने आगम, परम्परा दोनो को प्रमाण मानते हुए भी अपनी तरफ से नयी मान्यताए प्रस्तुत करके मौलिकता को तिरोहित करने की चेष्टा की, इस अन्धाधुन्ध मत सर्जन के समय मे कतिपय गृहस्थो को भी साधुओ के उपदेश और आदेशो

का विरोध कर अपनी स्वयं की मान्यताओं को मूर्त रूप देकर अपने मत गच्छ स्थापित करने का उत्साह बढ़ा। ऐसे नये मतस्थापको मे से यहां हम दो मतो की चर्चा करेंगे, एक "लौंकामत" की और दूसरी "कडुवामत" की। पहला मत मूर्तिपूजा के विरोध में खड़ा किया था, तब दूसरामत वर्तमानकाल मे शास्त्रोक्त आचार पालने वाले साधु नही हैं, इस वात को सिद्ध करने के लिये।

लौंका कौन थे ?

लौंकागच्छ के प्रादुर्भावक लौंका कौन थे? यह निश्चित रूप से कहना निराधार होगा। लौंका के सम्बन्ध मे प्रामाणिक वातें लिखने का आधारभूत कोई साधन नही है, क्योकि लौंकाशाह के मत को मानने वालो मे भी इस विषय का ऐकमत्य नही है। लौंका के सम्बन्ध में सर्वप्रथम लौंकागच्छ के यतियो ने लिखा है पर वह भी विश्वासपात्र नही। वीसवी शती के लेखको में शाह वाडीलाल मोतीलाल, स्थानकवासी साधु मणिलाल-जी आदि हैं, पर ये लेखक भी लौंका के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न दिशाओ मे भटकते हैं। शाह वाडीलाल मोतीलाल लौंकाशाह का जन्म अहमदावाद मे हुआ मानते हैं और इनको वड़ा भारी साहूकार एवं शास्त्र का वडा मर्मज्ञ विद्वान् मानते हैं, तव स्थानकवासी साधु मुनिश्री मणिलालजी अपनी पट्टा-वली में लौंका का जन्म "अर्हटवाडा" मे हुआ बताते हैं और लिखते है –

अहमदावाद मे आकर लौंका वादशाह की नौकरी करता था और कुछ समय के वाद नौकरी छोड़ कर पाटन मे यति सुमतिविजय के पास वि० सं० १५०६ में यतिदीक्षा ली थी और अहमदावाद मे चातुर्मास्य किया था, परन्तु वहा के जैनसघ ने यति लौंका का अपमान किया, जिससे वे उपाश्रय को छोड़ कर चले गये थे।

इसके विपरीत लौंका के समीपवर्ती काल मे वने हुए चौपाई, रास आदि मे लौंकाशाह को गृहस्थावस्था मे ही परलोकवासी होना लिखा है। इन परस्पर विरोधी वातो को देखने के वाद लौंकाशाह

के सम्बन्ध मे कुछ भी निश्चित रूप से अभिप्राय व्यक्त करना साहस मात्र ही माना जायगा ।

लौंकाशाह और इनका मन्तव्य

लौंकाशाह का अपना खास मन्तव्य क्या था, इसको इसके अनुयायी भी नही जानते। लौंका की मौलिक मान्यताओ का प्रकाश उनके समीपकालवर्ती लेखको की कृतियो से ही हो सकता है, इसलिए पहले हम लौंका के अनुयायी तथा उनके विरोधी लेखको की कृतियो के आधार से उनके मत का स्पष्टीकरण करेगे ।

लौंकागच्छीय यति श्री भानुचन्द्रजी-कृत "दयाधर्म चौपाई" के अनुसार लौंका के मत की हकीकत –

यति भानुचन्द्रजी कहते है – "भस्मग्रह के अपार रोप से जैनधर्म अन्धकारावृत हो गया था । भगवान् महावीर का निर्वाण होने के वाद दो हजार वर्षो में जो जो वरतारे वरते उनके सम्वन्ध मे हम कुछ नही कहेगे, जव से शाह लौंका ने धर्म पर प्रकाश डाला और दयाधर्म की ज्योति प्रकट हुई है उसके वाद का कुछ वर्णन करेगे ।१।२।"

"सौराष्ट्र देश के लीवड़ी गाव मे डुङ्गर नामक दशा श्रीमाली गृहस्थ वसता था । उसकी स्त्री का नाम था चूडा । चूडा वडे उदार दिल की स्त्री थी, उसने सवत् १४८२ के वैशाख वदि १४ को एक पुत्र को जन्म दिया और उसका नाम दिया लौंका । लौका जव आठ वर्ष का हुआ तव उसका पिता शा डुंगर परलोकवासी हो गया था ।३।४।"

"लौंका की फूफी का वेटा लखमसी नामक गृहस्थ था, जिसने लौंका का धनमाल अपने कब्जे मे रक्खा था । लौका की उम्र १६ वर्ष की हुई तब उसकी माता भी स्वर्ग सिधार गई । लौंका लीम्वड़ी छोड़कर अहमदावाद आया और वहा नाणावट का व्यापार करने लगा । हमेशा वह धर्म सुनने और पौपधशाला मे जाता और त्रिकाल-पूजा, सामायिक करता, व्या-

स्थान मे वह साधुओं का आचार सुनता, परन्तु उस समय के साधुओ मे शास्त्रोक्त-आचार पालन न देखकर उनको पूछता—आप कहते तो सही हैं परन्तु चलते उससे विरुद्ध हैं, यह क्या? लौंका के इस प्रश्न पर यति उसको कहते—धर्म तो हमसे ही रहता है, तुम इसका मर्म क्या जानो। तुम पाच आश्रवसेवतो हो और साधुओ को सिखामन देने निकले हो। ५ ६।७।८।"

"यति के उक्त कथन पर शाह लौंका ने कहा—शास्त्र मे तो दया को धर्म कहा है, पर तुम तो हिंसा का उपदेश देकर अधर्म की स्थापना करते हो? इस पर यति ने कहा—फिट् भोण्डे! हिंसा कहाँ देखी? यति के समान कोई दया पालने वाला है ही नही। लौंका ने यति के उत्तर को अपना अपमान माना और साधुओ के पास पौपधशाला जाने का त्याग किया। स्थान-स्थान वह दया-धर्म का उपदेश देता, और कहता—आज ही हमने सच्चा धर्म पाया है। दूकान पर बैठा हुआ भी वह लोगो को दया का उपदेश दिया करता, जिसे सुनकर यति लोग उसके साथ क्लेश किया करते थे, पर लौंका अपनी धुन से पीछे नही हटा। फलस्वरूप संघ के कुछ लोग भी उसके पक्ष मे मिले, बाद मे शाह लौंका अपने वतन लीबड़ी गया, लीबड़ी मे लौंका की फूफी का बेटा लखमसी कारभारी था, उसने लौंका का साथ दिया और कहा—हमारे राज्य मे तुम धर्म का उपदेश करो। दया-धर्म ही सब धर्मों मे खरा धर्म है। ९।१० ११।१२"

"शाह लौंका और लखमसी के उद्योग से बहुत लोग दया-धर्मी बने। इतने मे लौंका को भाणा का सयोग मिला। लौंका बुढ्ढा होने आया था, इसलिए उसने दीक्षा नही ली, परतु भाणा ने साधु का वेष ग्रहण किया और जिसका शाह लौंका ने प्रकाश किया था उस दया-धर्म की ज्योति भाणा ने सर्वत्र फैलायी। शाह लौंका सवत् १५३२ मे स्वर्गवासी हुए।१३।१४।"

"दया-धर्म जयवन्त है, परन्तु कुमति इसकी निन्दा और बुराइया करते हैं, कहते है—'लौंका साधुओ को मानने का निषेध करता है, पौपध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा और दान को नही मानता।' परन्तु हे

कुमतियो ! यह क्या कहते हो ? लौंका ने किस बात का खण्डन किया है, वह समझ तो लो। "लौंका सामायिक को दो से अधिक बार करने का निषेध करता है, पर्व बिना पौषध का निषेध करता है, व्रत बिना प्रतिक्रमण करने का निषेध करता है। वह भाव-पूजा से ज्ञान को अच्छा बताता है, वह द्रव्य-पूजा का निषेध करता है, क्योंकि उसमें धर्म के नाम से हिंसा होती है। ३२ सूत्रो को वह सच्चा मानता है, समता-भाव मे रहने वालो को वह साधु कहता है।" उक्त प्रकार से लौंका का धर्म सच्चा है, परन्तु भ्रम मे पडे हुए मनुष्य उसका मर्म नही समझते। १५। १६।१७।१८।१९।"

"जो कुमति है वह हठवाद करता है, जैसे विच्छूके काटने से उन्मादी हुआ बन्दर। झूठ बोलकर जो कर्म बांधता है वह धर्म का सच्चा मर्म नही जानता। यतना में धर्म है और समता मे धर्म है, इनको छोड़कर जो प्रवृत्ति करते हैं वे कर्म बाधते है, जो परनिन्दा करते हैं वे पाप का संचय करते हैं, जिनमे समता नही है उनके पास धर्म नही रहता। श्रीजिनवर ने दया को धर्म कहा हैं, शाह लौंका ने उसको स्वीकार किया है और हम उसी की आज्ञा को पालते है, यह तुमको बुरा क्यो लगता है ? क्या तुम दया में पाप मानते हो जो इतना विरोध खडा कर दिया है, तुम सूत्र के प्रमाण देखो, दया बिना का धर्म नही होता जो जिन आज्ञा का पालन करते है, उनको मेरा नमस्कार हो। मेरे इस कथन से जिनके मन में दुःख हुआ हो उनके प्रति मेरा मिथ्यादुष्कृत हो। स० १५७८ के माघ सुदी ७ को यति भानुचन्द ने अपनी बुद्धि के उल्लास से लौंका के दया-धर्म पर यह चोपाई लिखी है, जो पढ़ने वालो के मन का उल्लास बढ़ाये। २०।२१।२२। २३।२४।२५।"

ऊपर जिसका सारांश लिखा है उस दया-धर्म चोपाई से शाह लौंका का जीवन कुछ प्रकाश मे आता है। उसका जन्म-गांव, माता-पिता के नाम और जन्म-समय पर यह चोपाई प्रकाश डालती है। लौंका अरहटवाड़ा मे नही पर लीम्बड़ी (सौराष्ट्र) में जन्मे थे, उनका जन्म १५वीं शती के अन्तिम चरण मे हुआ था। अपनी २८ वर्ष की उम्र मे उसने यतियो

से विरुद्ध होकर उनके सामने "दया-धम के नाम से अपना मूर्तिपूजा विरोधी मत स्थापित किया था" और २२ वर्ष तक उन्होने महेता लखमसी के सहकार से उसका प्रचार किया। स० १५३२ मे अपने पीछे भाणजी को छोड़कर लौंका परलोकवासी हुए। भाणजी ने साधु का वेश लौंकाशाह के जीवनकाल मे धारण किया था या उनके स्वर्गवास के बाद ? इसमे दो मत प्रतीत होते हैं। उक्त "दया-धर्म चौपाई' मे लौंका यति भानुचन्द्रजी ने सं० १५३२ मे लौंकाशाह का स्वर्गवास माना है। लौंकाशाह ने खुद ने दीक्षा नही ली पर भाणा ने वेप-धारण किया था ऐसा चौपाई मे लिखा है। इसके विपरीत लौंकागच्छ के यति केशवजी-कृत लौंकाशाह के सिलोके मे लौंका द्वारा स० १५३३ मे भाणजी को दीक्षा देने और उसी वर्ष मे लौंका के स्वर्गवास प्राप्त करने का लिखा है। केशवर्षि-कृत लौंकाशाह-सिलोके मे लेखक ने कुछ ऐतिहासिक बाते भी लिखी हैं इसलिए सिलोका के आधार से लौंकामत को कुछ बातें लिखते हैं—

सौराष्ट्र मे नागनेरा नदी के तट पर आए एक गाव मे हरिचन्द्र नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम मूंगोबाई था। पूनमीया गच्छ के गुरु की सेवा से और सय्यद के आशीर्वाद से स० १४७७ में उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम "लक्खा" दिया गया। लक्खा ज्ञानसागर गुरु की सेवा करता हुआ पढ-लिखकर "लहिया" बना और वही पुस्तक लिखने का काम करने लगा। इस कार्य मे लक्खा को द्रव्य की प्राप्ति होती थी, श्रुत की भक्ति होती थी, और ज्ञान-शक्ति भी बढती थी। आगम लिखते-लिखते उसके मन मे शका उत्पन्न हुई कि "आगम मे कही भी दान देने का विधान नही दीखता, प्रतिमा-पूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पौषध भी मूल सूत्रो में कम दीखता है।" राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी तथा तुंगिया नगरो के श्रावक जो तत्त्वगवेषी थे उनमे से किसी ने प्रतिक्रमण नही किया, न किसी को दान दिया। सामायिक और पूजा एक ठट्ठा है, और यतियो की चलाई हुई यह पोल है, प्रतिमा-पूजा बडा सन्ताप है, इसको करके हम धर्म के नाम पर थप्पड़ खाते हैं। लक्खा को लोग "लुम्पक" कहते हैं सो ठीक ही है, क्योकि वह अविधि का लोप करने वाला है।

लखा का दूसरा नाम लऊका भी है। वह संयत नही है, फिर भी यति से अधिक है। लोगो ने लौंका-मत को परख लिया है।

स० १५०८ मे सिद्धपुर मे लौंका ने खोज-पूर्वक शुद्ध जिन मत की स्थापना की है। लौंका मत प्रसिद्ध हुआ। बादशाह मुहम्मद लुंका-मत को प्रमाण मानता है। सूबा, सेवक सब कोई इसको मानते है और लखा गुरु के चरणो मे शिर नवाते हैं।

उस समय सोरठ देश मे लीम्बडी गाव का लखमसी नामक एक कामदार था, उसने लुंकागुरु का उपदेश ग्रहण किया और देश-विदेश में विस्तार किया। इस मत के सम्बन्ध मे जो कोई वाद-विवाद करता है तो न्यायाधीश भी 'लौंका' का पक्षपात करता है।

"सं० १५३३ के वर्ष मे लौंका-मत के प्रादुर्भावक शाह लौंका ने ५६ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास प्राप्त किया और १५३३ मे ही लौंका ने भाणजी को शिक्षा दी थी।" भाणजी ऋषि सत्य का और जीव-दया का प्रचार करते थे। वर्धमान की पेढी के नायक बनकर भाणजी ऋषि देश-विदेश मे विचरते थे और अब तक उनकी शुद्ध परम्परा चलती है।



लौंकागच्छ की पट्टावली (१)

सिलोके मे केशवजी कहते है – अन्तिम तीर्थङ्कर श्री वर्द्धमान के गुणवान् ११ गणधर हुए इसलिए उनकी पाट-परम्परा कहते हैं –

१ महावीर के पंचम गणधर सुधर्मास्वामी हुए।

२ सुधर्मा के शिष्य गुणवान् जम्बू हुए।

३ जम्बू के प्रभव, ४ प्रभव के शय्यम्भव, ५ यशोभद्र, ६ संभूति, ७ बाहुस्वामी, ८ स्थूलभद्र, ९ महागिरि, १० सुहस्ती, ११ बहुल और १२ वल्लिस्सह स्वाति, १३ कालिकसूरि, १४ स्कन्दिलस्वामी, १५ आर्यसमुद्र, १६ श्रीमंगू, १७ श्रीधर्म, १८ भद्रगुप्त, १९ वज्र-स्वामी, २० सिंहगिरि, २१ वज्रसेन, २२ चन्द्र, २३ समन्तभद्र, २४ मल्लवादी, २५ वृद्धवादी, २६ सिद्धसेन, २७ वादीदेव, २८ हेमसूरि, २९ जगच्चन्द्रसूरि, ३० विजयचन्द्र, ३१ खेमकीर्तिजी, ३२ हेमजीस्वामी, ३३ यशोभद्र, ३४ रत्नाकर, ३५ रत्नप्रभ, ३६ मुनिशेखर, ३७ धर्मदेव, ३८ ज्ञानचन्द्रसूरि।



लौंकागच्छ की पट्टावली (२)

हमारे भण्डार में श्री कल्पसूत्र मूल की एक हस्तलिखित प्रति है, उसके अन्तिम पत्र १७२ से १७४ तक मे लौंकागच्छीय पट्टावली दी हुई है। यह कल्पसूत्र स० १७६४ मे लिखा गया था ऐसा इसकी निम्नोद्धृत पुष्पिका से ज्ञात होता है –

"इति कल्पसूत्र समाप्त "छ" श्री श्री संवत् १७६४ वर्षे शा० १६६० प्रवर्तमाने चैत्रमासे, कृष्णपक्षे ६ गुरौ लि० पूज्य श्री ५ नाथाजी, तत् शिष्य ५ मनजीजी तत् शिष्य श्री ५ मूलजी, गुरुभ्राता प्रेमजी लिपी कृतं स्वात्मार्थे।"

उपर्युक्त पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह पट्टावली आज से लगभग सवा दो सौ वर्ष पहले लिखी गई है और इसके लिखने वाले लौंकागच्छ के श्रीपूज्य मूलजी के गुरुभाई प्रेमजी यति थे। पट्टावली का प्रारम्भ श्री स्थूलभद्रस्वामी से किया है, अन्य पट्टावली-लेखकों की तरह इसके लेखक ने भी अनेक युगप्रधानो के नामो तथा समयनिरूपण मे गोलमाल किया है, फिर भी हम इसमे कुछ भी मौलिक परिवर्तन न करके पट्टावली को ज्यो का ज्यो उद्धृत करते हैं –

॥६॥ तत् पटे श्री स्थूलभद्रस्वामीऽत्र स्थूलभद्रजीकथा सर्वं जाणवी ॥७॥ दशपूर्वधारो महावीर पछी १७० वर्षे देवलोक पहोंतो ॥ ततपटे आर्य महागिरो १० पूर्वधर, ॥८॥ तत्पट्टे आर्य सुहस्तस्वामो, ॥६॥ तत्पट्टे श्री गुणगार स्वामो, ॥१०॥ तत्पट्टे श्री कालिकाचार्य, ॥११॥ तत्पट्टे श्री संडिल-स्वामी, ॥१२॥ तत्पट्टे श्री रेवतगिरस्वामी, ॥१३॥ तत्पट्टे सौधर्माचार्य,

॥१४॥ तत्पट्टे श्रीगुप्तास्वामी, ॥१५॥ तत्पट्टे श्री आर्यमंगुस्वामी, ॥१६॥ तत्पट्टे श्री आर्यसुधर्मस्वामी, ॥१७॥ तत्पट्टे श्री वृद्धवादधरस्वामी, ॥१८॥ तत्पट्टे श्री कुमुदचन्द्रस्वामी, ॥१९॥ तत्पट्टे श्री सिंहगिरिस्वामी, ॥२०॥ तत्पट्टे श्री वयरस्वामी दशपूर्वधर, ॥२१॥ तत्पट्टे श्री भद्रगुप्ताचार्य स्वामी, ॥२२॥ तत्पट्टे श्री आर्यनन्द स्वामी, ॥२३॥ तत्पट्टे श्री आर्यनागहस्ती स्वामी, ॥२४॥ तेणे वारे बीजी पट्टावलीमां सत्तावीसमे पाटे देवर (धि) गणि जेणे सर्व सूत्र पुस्तके चढाव्या ते समंस्थ जाणव्यो, आर्यनागहस्ती, तत्पट्टे श्री रेवतस्वामी, ॥२५॥ तत्पट्टे श्री ब्रह्मदिन्नस्वामी, ॥२६॥ तत्पट्टे श्री संडिलसूरि, ॥२७॥ तत्पट्टे श्री हेमवन्तसूरि, ॥२८॥ तत्पट्टे श्री नागार्जुनस्वामी, ॥२९॥ तत्पट्टे श्री गोवन्दवाचक स्वामी, ॥३०॥ तत्पट्टे श्री सम्भूतिदिनवाचक स्वामी, ॥३१॥ तत्पट्टे श्री लोहगिरिस्वामी, ॥३२॥ तत्पट्टे श्री हरिभद्रस्वामी, ॥३३॥ तत्पट्टे श्री सिलगाचार्यस्वामी ॥३४॥

तिवारपनी (छी) १२ दुकाली जोगे पाट लोहडीवडी पोसाल मां चाल्या जावत् पौशालिक धर्म प्रवर्त्यो। पौशालिक कालि माहात्मा नामधरवुई छै॥ पाट ३३। ३४ सूधी पूर्वधर छे, पछे पूर्व विद्या ढांकी पोसाल प्रवर्ति जातां जातां पाट १०। १२ पोसाल मां थया, तिणे समे सूत्रने ढांकी अनेरा दहेरा पोशालना माहातम ग्रन्थकरी पूजाऽर्चा धर्म चलाव्यो, वीर पछी १२ सौं वर्षे देहरा प्रवर्त्या, जावत् महावीर पछी बेसहस्र वर्ष वुओ तिहां सूधी पौशाल धर्म प्रवर्तना थई॥ तेणे समे श्री गुजर देशें अणहल्लपुर पाटन नें विषे मोटी पौशाल सूरी सूरपाट प्रवर्ति थई, तेणे समे ते नगरमां लोकासाह इसइ नामइं विवहारी वसे छे, जावत सिद्धवंत छे, लिखत कला छै, ते माटे एकदा समे सूरि सूरे सिद्धान्त परत जुनी थाई जांणी लका साहनें लिखवा दीधी, ते लिखतां वीरवांणी सिधांत जाण्यों, १ परत पोती ने अर्थ लिखें, १ परत सूरिसर ने लिखी देयें, एम करतां ३२ सूत्र लिख्यां, तेणे समे सूरिशरे जाण्यो ते पोतानी प्रति पण लिखे छै पछे भंडारमांथी लिखवा दीधी नहीं। पाटन ना भंडार मां ८४ सूत्र छै बीजी आगमोक्त सर्व विद्यापण छै, पण ३२ सूत्र लकेशाहि लिखयांति श्रावक आगेवांची सावना गुण दिघाडे॥ वीरवाणी ओलखाववे इम करतां केतलाक सूत्र रुचि

श्रावक थया, साध मूर्त मानता थया, तेणे समय मारवाड थी एक संघ सेत्रुजानीं जात्राइं जाइं, तेमां ८ संघ मुखी छे, भाणा, भीदा, जगमाल, सरवा प्रमुख ते पाटण आव्या, ते लकासाह नो नवीन धर्म प्रवोध सांभलवा आव्या, तेणे प्रवोध दई सिद्धान्त ओलखाव्यो, तेणे पोसाली धर्म, देहरों, प्रतमा पुजा मुकी, साधथया, तारे लके साही सूत्र ३३ साधनें ते सूंप्यां हवे, तुम्यो वांचो धर्म धुरंधर, त्यांर पछीं भाणादिक साधे वीरधर्मवाणी साधु धर्म देशे २ प्रवर्तना कीधीं, इम सूरिसरे जाण्यो जे सर्वे ए धर्म ग्रहसे, तारि पोसालमांथीं पाटधारी सूरि क्रियाउधारो निकल्यां, नाम "तपगछ" धराणों, इम करतां भाणा, भीदाना साधप्रवर्त्या, तेणे आचार्य-पद धरयो लके साहि धर्म प्रवर्ताव्यो ते माटे आचार्ये "लुंका नामे गच्छ स्थापना कीधी" लुंकागच्छ स्थापना जाणवी। श्रीवीरवाणी महापन्नवणा सूत्र मां तथा दुसरा ग्रन्थ मां कह्यो छै, जे पंचमा आरा मां 'रूपा, जीवा दो आरीया भवई", ते आचार्य अेमना साध धर्म प्रवर्त्या, तेणे समे संवत् १५०० मध्ये दक्षण देशे निकलंकी राजा ने घरे धर्मदत्त पुत्र उपनो, लोक मां वुध अवतारे कहवांणो, गुप्त पणे साधुधर्म प्रकासे, जिनशासन धर्मउदे करी सवुध कला ज्ञानप्रकासी पाचमां देवलोके देवता थया। तेलकगच्छ मां थया, तीर्थ गौत्री ते वीरवांणी सूत्र मांही छे, ते रूप रुष धर्म धूरंधर मंहत पुरुष धर्माचार्य भवप्राणी उधारक थया तिल (तेह) ना पाट लिखिये छे ॥ छ ॥

प्रथम पाट युगप्रधान श्री ६ श्री रुपरखजी (१), तत्पट्टे श्री युगप्रधान श्री ६ जीवरुषजी जी ॥२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ वरुद्धवरसंगाजी ॥३॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री लघुषरसंगजी ॥४॥, तत्पट्टे यु० जसवंतजी ॥५॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ रुपसिहजी ॥६॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ दामोदरजी ॥७॥, तत्पट्टे यु० ६ श्री क्रमसिहजी ॥८॥, तत्पट्टे युग० श्री ६ केशवजी ॥८॥, तत्पट्टे यु० त्तेजसिहजी ॥१०॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ लख्यमचंद्रजी ॥११॥, तत्पट्टे श्री ६ श्री दुर्लसिहजी ॥१२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री जगरूपजीजी जय-जयवन्त, अस्मिन् जंवुद्वीपे अस्मिन् भरतखण्डे, दक्षण भरते, अस्मिन् देशे, अस्मिन् ग्रांमनगरे, अस्मिन् चतुर्मासे चतुर्विध संग धर्म प्रबोधित तेहुना

गुणकीर्तिनां करतां संघ ने यर्भ (परम) कल्याणनी कोड हुई ॥श्रीरस्तु॥ तत्पट्टे श्री ६ श्री जगजीवनजी, तत्पट्टे श्री ः मेघराजजी, तत्पट्टे युगप्रधान जयवंता श्री ६ श्री सोमचंदजी, तत्पट्टे श्री ६ श्री हर्षचन्द्रजी, तत्पट्टे श्री ६ युगप्रवर्तक जयचन्द्रजी, तत् श्री युगप्रवर श्री ६ कल्याणचन्द्र सूरिसर छे ॥"



लौंकागच्छ की पट्टावली (३)

(वड़ोदे की गादी)

तपगच्छ की वड़ी पौशाल के आचार्य ज्ञानसागरसूरि के पुस्तक-लेखक लौंका गृहस्थ ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध मे अपना लौंकामत चलाया, उसके मतानुयायी ऋषि नामक वेशधारियो की एक परम्परा नीचे मुजव है –

१. भाणजी ऋषि
२. मीदाजी ,,
३. नूनाजी ,,
४. भीमाजी ,,
५. जगमालजी ,,
६. सर्वाजी ,,
७. रुपजी ,,
८. जीवाजी ,,

(१) ९. वरसिंहजी (वृद्ध) को सं० १६१३ के ज्येष्ठ वदि १३ को वड़ोदे के भावसारो ने श्रीपूज्य का पद दिया, तव से उनकी गादी वड़ोदे में स्थापित हुई और "गुजराती लौंकागच्छ मोटीपक्ष" ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ। इसी दर्म्यान अहमदावाद के मूल गादी के श्रीपूज्य कुंवरजी ऋषि के उत्तराधिकारी श्री मेघजी ऋषि ने २६ ऋषियो के साथ आचार्य श्री हीरसूरि के पास दीक्षा स्वीकार की, स० १६२८ मे।

(२) १० वरसिंहजी ऋषि (लघु) दूसरे वरसिंहजी जिनका स्वर्गवास

१६५२ मे हुआ था, के शिष्य कलाजी ने भी संवेग-मार्ग स्वीकार किया था जो विजयानन्दसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे ।

११. यशवन्त ऋषि
१२. रूपसिंहजी ,,
१३. दामोदरजी ,,
१४, कर्मसिंहजी ,,
१५. केशवजी ,, गुजराती लौंकागच्छ के वडे पक्ष का दूसरा नाम "केशवजी पक्ष' भी है ।
१६. तेजसिंहजी ,,
१७. कानजी ,,
१८. तुलसीदासजी ,,
१९. जगरूपजी ,,
२०. जगजीवनजी ,,
२१. मेघराजजी ,,
२२. सोमचन्दजी ,,
२३. हरकचन्दजी ,,
२४. जयचदजी ,,
२५. कल्याणचन्दजी ,,
२६. खूबचन्दजी ,,
२७. श्रीपूज्य न्यायचन्द्रसूरि



बालापुर की गादी की लौंका पट्टावली (४)

८. ऋषि जीवाजी

९. ,, कुंवराजी – इनको बालापुर के श्रावकों ने श्रीपूज्य का पद दिया, तब से इनकी गादी बालापुर में स्थापित हुई और "गुजराती लौंकापक्ष का छोटा पक्ष" इस नाम से वह प्रसिद्ध हुई। इनके शिष्य ऋषि मेघजी अहमदाबाद की गादी ऊपर थे, जिन्होंने संवेगी-मार्ग ग्रहण किया था।

१०. ,, श्रीमलजी

११. ,, रत्नसिंहजी

१२. ,, केशवजी – स्व० सं० १६८६ मे।

१३. ,, शिवजी – इनके शिष्य धर्मसिंह के शिष्य धर्मदासजी ने "ढुण्ढिया" मत चलाया।

१४. ,, संघराजजी – स्व० स० १७२५ मे। आनन्द ऋषि ने अपने शिष्य ऋषितिलक को श्रीपूज्य बनाकर नया गच्छ स्थापित किया जो "अढारिया" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१५. ,, सुखमलजी – स्वर्ग स० १७६३ मे।

१६. ,, भागचन्द्रजी

१७. ,, बालचंदजी

१८. ,, माणिक्यचंदजी

१९. ,, मूलचंदजी – स्वर्ग स० १८७६

२०. ,, जगतचंदजी

२१. ,, रतनचंदजी

२२. ,, नृपचंदजी – (मुनि मणिलाल-कृत "प्राचीन संक्षिप्त इतिहास")



गुजराती लौंकागच्छ की पट्टावली (४)

(पू० जयराजजो)

(पू०) ऋ० मेघराजजी)

(,, ,, कृष्णाजी)

(,, ,, वगतमलजी)

(,, ,, परसरामजी)

(,, ,, ज्योतिरूपजी) स० १८९५

(,, ,, हर्पजी)

(,, ,, जिनदासजी) स० १९१० आगरा



केशवर्षि वर्णित लौंकागच्छ की पट्टावली (६)

भाणाजी ऋषि के पाट पर सुबुद्धिभद्र ऋषि हुए।

भीमाजी स्वामी

जगमाल ऋषि

सर्वा स्वामी

इस समय कुमति वीजा पापी निकला जिसने फिर जिन-प्रतिमा की स्थापना की। सर्वा स्वामी के बाद—रूपजी।

जीवाजी।

कु वरजी।

श्रीमलजी ऋषि जो विचर रहे है, इन पूज्य के चरणो को प्रणाम करके केशव ने यह गुरुपरम्परा गाई है।

उपर्युक्त लौंकाशाह-सिलोका के लेख के श्री केशवजी ऋषि ने श्रीमल जी को अपना गुरु बताया है और श्रीमलजी लौंकाशाह के आठवे पट्टधर श्री जीवर्षि के तीन शिष्यो मे से एक थे, इससे सिलोका के लेखक केशवजी स. १६०० के आसपास के व्यक्ति होने चाहिए। इनसे २५-३० वर्ष पूर्ववर्ती लौंका-गच्छीय यति भानुचन्द्रजी लौ का की मान्यता के सम्बन्ध मे मन्दिर-मार्गियो की तरफ से होने वाले आक्षेपो का उत्तर देते हुए कहते हैं— "लौंका यतियो को नही मानता, लौंका सामायिक, पौपध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा, दान नही मानता इत्यादि।" क्या कहा ? लु का ने क्या उत्थान किया है ? वह तो दो वार से अधिक बार सामायिक करने, पर्वदिन बिना पौपध करने, १२ व्रत विना प्रतिक्रमण करने, आगार-सहित-

प्रत्याख्यान करने और असंयत को दान देने का निषेध करता है। तब भानुचन्द्रजी से बाद मे होने वाले केशवजी ऋषि मन्दिर-मार्गियो की तरफ से किये जाने वाले आक्षेपों का खण्डन न करके अपने लौंकाशाह के सिलोका की गाथा १३, १४, १५ में उनका समर्थन करते है। वे कहते हैं–"दान देने मे आगम साक्षी नही है। प्रतिमापूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पौषध भी आगम मे नही है। राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी और तत्त्व-गवेषक तुंगिया के श्रावको मे से किसी ने प्रतिक्रमण नही किया, न पर को दान दिया। सामायिक पूजा यह ठट्ठा है और यतियो की चलाई हुई पोल है, प्रतिमा-पूजा सन्ताप रूप है तो इसको करके हम धर्म को थप्पड़ क्यो लगाए ? यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि की इन परस्पर विरोधी बातो से मालूम होता है कि लौंकाशाह की मान्यताओ के सम्बन्ध मे होने वाले आक्षेप सत्य थे। यदि ऐसा नही होता तो केशवजी ऋषि उनका समर्थन नही करते, इसके विपरीत यति भानुचन्द्रजी ने इन आक्षेप-जनक बातो का रूपान्तर करके बचाव किया है। इससे निश्चित होता है कि लौंका की प्रारम्भिक मान्यताओं के सम्बन्ध मे लौंका के अनुयायी ऋषियो मे ही बाद मे दो मत हो गये थे, कुछ तो लौंकाशाह के वचनो को अक्षरशः स्वीकार्य्य मानते थे, तब कतिपय ऋषि उनको सापेक्ष बताते थे। कुछ भी हो एक बात तो निश्चित है कि कोई भी लौंका का अनुयायी लौंका के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी नही रखता था। यति भानुचन्द्रजी ने लौंका के सम्बन्ध मे जो कुछ खास बाते लिखी हैं, केशवजी ऋषि ने अपने लौंका-सिलोका मे उनसे बिल्कुल विपरीत लिखी हैं। भानुचन्द्रजी लौंका का जन्म स० १४८२ के वैशाख वदि १४ को लिखते हैं, उसका गाव लीम्बड़ी, जाति दशा श्रीमाली और माता-पिता के नाम शाह डुंगर और चूड़ा लिखते हैं तथा लौंका का परलोकवास १५३२ में हुआ बताते हैं। इसके विपरीत केशव-ऋषि लौंका का गाव नागनेरा नदी के तट पर बताते है और माता पिता के नाम सेठ हरिचन्द्र और मूंगीबाई लिखते हैं, लौंका का नाम लखा लिखते हैं और उसका जन्म १४७७ में बताते हैं और लौंका का स्वर्गवास स० १५३३ मे होना लिखते हैं। इस प्रकार लौंकाशाह के निकटवर्ती अनुयायी ही उनके सम्बन्ध मे एक-मत नही थे तो अन्य गच्छ

तथा सम्प्रदाय की मान्यता का निर्देश करके इस विषय को वढाना तो बेकार ही होगा ।

लौंका के जन्म-स्थान और जाति के सम्बन्ध मे तो इतना अज्ञान छाया हुआ है कि उसका किसी प्रकार से निर्णय नही हो सकता। कोई इनको दशा-श्रीमाली और लीम्बडी मे जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको ओसवाल जातीय अरहटवाडा का जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको दशा-पोरवाल जाति मे पाटन मे जन्मा हुआ मानते हैं। कोई इनको नागनेरा नदी-तट के गांव मे जन्म लेने वाला मानते हैं, कोई इनको जालोर मारवाड़ समीपवर्ती पौषालिया निवासी मानते हैं, कोई इनका जन्म-स्थान जालोर को मानते है, तब स्वामी जेठमलजी, श्री अमोलक ऋषिजी, श्री सन्तवालजी और शा० वाडीलाल मोतीलाल लौंकाशाह को अहमदाबाद निवासी मानते है।

पूर्वोक्त लौंकाशाह के सक्षिप्त निरूपण से इतना तो निश्चित हो जाता है कि लौंकाशाह १५वी शताब्दी के अन्तिम चरण से १६वो शती के द्वितीय चरण तक जीवित रहने वाले एक गृहस्थ व्यक्ति थे। लौंका ने मूर्तिपूजा के अतितिक्त अनेक बातो को अशास्त्रीय कहकर खण्डन किया था, परन्तु उनके अनुयायी ऋषियो ने एक मूर्तिपूजा के अतिरिक्त शेप सभी लौंका द्वारा निषिद्ध वातो को मान्य कर लिया था और कालान्तर मे लौंकागच्छ के अनुयायो यतियो और गृहस्थो ने मूर्तिपूजा का विरोध करना भी छोड़ दिया था। आज तक कई स्थानो मे लुंकागच्छ के यति विद्यमान है जो मूर्तियो के दर्शन करते हैं और उनकी प्रतिष्ठा भी करवाते हैं और लौंकागच्छ का अनुयायी गृहस्थवर्ग जिन-मूर्तियो की पूजा भी करता है।



लौंकागच्छ और स्थानकवासी

लौंकागच्छ के अनुयायी यति और गृहस्थ जब लौंका की मान्यताओं को छोड़ कर अन्य गच्छो के यतियो की मर्यादा के बिलकुल समीप पहुँच गए तब उनमे से कोई कोई यति क्रियोद्धार के नाम से अपने गुरुओ से जुदा होकर मुँह पर मुँहपत्ति बांध कर जुदा फिरने लगे। इन क्रियोद्धारको मे पहला नाम "धर्मसिहजी" का है, लौंकागच्छ वालो ने इनको कई कारणों से गच्छ बाहर कर दिया था। इस सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहरा पढ़ने योग्य है –

"संवत् सोलह पच्च्यसिए, अहमदाबाद मझार।
शिवजी गुरु को छोड़ के, धर्मसिह हुआ गच्छ बहार॥"

क्रियोद्धारकों में दूसरे पुरुष यति लवजी थे जो लौंकागच्छीय यति बजरंगजो के शिष्य थे। गुरु के मना करने पर भी लवजी मुंह पर मुंह-पत्ति बाधकर उनसे अलग हो गये। धर्मसिह और लवजी सूरत मे मिले, दोनो क्रियोद्धारक थे, दोनो मुंहपत्ति बाधते थे, पर छः-कोटि आठ-कोटि के बखेडे के कारण ये दोनो एक दूसरे से सहमत नही हुए, इतना ही नही, वे एक दूसरे को जिनाज्ञाभंजक और मिथ्यात्वी तक कहते थे।

तीसरे क्रियोद्धारक का नाम था धर्मदासजी। ये धर्मसिहजी तथा लवजी मे से एक को भी नही मानते थे और स्वय मुंहपत्ति बाधकर क्रियोद्धारक के रूप मे फिरते थे। इन क्रियोद्धारको से समाज और लौंकागच्छ को जो नुकसान हुआ है उसके सम्बन्ध मे वाडीलाल मोतीलाल शाह का निम्नोद्धृत अभिप्राय पढ़ने योग्य है। शाह कहते हैं –

"× × × इतना इतिहास देखने के बाद मैं पढ़ने वालो का ध्यान एक बात पर खीचना चाहता हूं कि स्थानकवासी व साधुमार्गी जैन-धर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ तब से यह धर्म अस्तित्व मे आया और आज तक यह जोर-शोर में था या नही ! अरे ! इसके तो कुछ नियम भी नही थे, यतियो से अलग हुए और मूर्तिपूजा को छोड़ा कि ढूंढिया हुए। × × ×"

"× × × मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार इस तरकीब से जैन-धर्म का बड़ा भारी नुकसान हुआ, इन तीनो के तेरह सौ भेद हुए। ×××"

ऊपर के विवरण से सिद्ध होता है कि आज का स्थानकवासी-सम्प्रदाय लौंकागच्छ का अनुयायी नही है, किन्तु लौंकागच्छ से बहिष्कृत धर्मदासजी लवजी तथा स्वयं वेशधारी धर्मसिंहजी का अनुयायी है, क्योकि मुंह पर मुंहपत्ति बांध कर रहना उपर्युक्त तीन सुधारको का ही आचार है। लौंकाशाह स्वयं असंयत दान का निषेध करते थे, तब उक्त क्रियोद्धारक अभयदान का शास्त्रोक्त मतलब न समझ कर पशुओ, पक्षियों को उनके मालिकों को पैसा देकर छोडाने को अभयदान कहते थे। आज तक स्थानकवासी-सम्प्रदाय मे यह मान्यता चली आ रही है।

आजकल के कई स्थानकवासी-सम्प्रदायो ने अपनी परम्परा मे से शाह लौंका का नाम निकाल कर ज्ञानजी यति, अर्थात् "ज्ञानचन्द्रसूरिजी" से अपनी पट्टपरम्परा शुरु की है। खास करके पजावी और कोटा की परम्परा के स्थानकवासी साधु लौंका का नाम नही लेते, परन्तु पहले के लौंकागच्छ के यति लौंकाशाह से ही अपनी पट्टपरम्परा शुरु करते थे। हमने पहले जिस लौंकाशाह के शिलोके को दिया है उसमे केशवजी ऋषि द्वारा लिखी हुई पट्टावली केशवर्षि वर्णित, "लौंकागच्छ की पट्टावली (६)", इस शीर्षक के नीचे दी है।

श्री देवर्द्धि गणि के बाद ज्ञानचन्द्रसूरि तक के आचार्यों के नामो की सूची देकर केशवजी लौंकाशाह का वृत्तान्त लिखते हैं तथा लौंकाशाह के उत्तराधिकारी के रूप मे भाणजी ऋषि को बताते हैं और भाणजी के बाद—

भद्र ऋषि
लवण ऋषि
भीमाजी
जगमाल ऋषि
सर्वा स्वामी
रूपजी
जीवाजी
कुवरजी और

श्रीमलजी के नाम लिखकर उनको प्रणाम करते हैं।

इस लेख से प्रमाणित होता है कि लुंकागच्छ वालो ने अपना सम्बन्ध वृद्धपौषालिक पट्टावली से जोड़ा था, परन्तु उनमे से निकले हुए धर्मदासजी लवजी और धर्मसिंहजी के बाद उनके अनुयायियो मे अनेक परम्पराए और आम्नाय स्थापित हुए। इन आम्नायो के अनुयायी स्थानकवासी साधु अपना सम्बन्ध प्रसिद्ध अनुयोगधर श्री देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण से जोड़ना चाहते हैं, इसके लिए उन्होने कल्पित नाम गढ़कर अपना सम्बन्ध जोड़ने का साहस भी किया है, परन्तु इसमे उनको सफलता नही मिली, क्योकि लौंकागच्छ वालो ने तो, ज्ञानचन्द्रसूरि तक के पूर्वाचार्यों को अपने पूर्वज मान कर सम्बन्ध जोडा था और वह किसी प्रकार मान्य भी हो सकता था, परन्तु स्थानकवासी समाज के नेता ५२५ वर्ष से अधिक वर्षों को कल्पित नामो से भर कर अपने साथ जोडते हैं, यह कभी मान्य नही हो सकेगा।

इस समय हमारे पास स्थानकवासी-सम्प्रदाय की चार पट्टावलिया मौजूद हैं –

(१) पजाबी स्थानकवासी साधुओ द्वारा व्यवस्थित की गई पट्टावली।
(२) अमोलक ऋषिजी द्वारा संकलित।
(३) कोटा के सम्प्रदाय द्वारा मानी हुई पट्टावली और
(४) श्री स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा व्यवस्थित की हुई पट्टावली।

ये चारो ही पट्टावलियां आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पर्यन्त की है। इनमे गणधर सुधर्मा से लेकर नवमें पट्टधर आचार्य महागिरि तक के नाम सब मे समान हैं, बाद के १८ नामो में एक दूसरे से बहुत ही विरोध है, परन्तु इसकी चर्चा में उतर कर समय खोना वेकार है।

पजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली मे देवर्द्धिगणि के बाद के १८ नाम छोड़ कर आगे के नाम निम्न प्रकार से लिखे हैं –

"४६ हरिसेन, ४७ कुशलदत्त, ४८ जीवनर्षि, ४९ जयसेन, ५० विजयर्षि, ५१ देवर्षि, ५२ सूरसेनजी, ५३ महासेन, ५४ जयराज, ५५ विजयसेन, ५६ मिश्र(त्र)सेन, ५७ विजयसिंह, ५८ शिवराज, ५९ लालजीमल्ल, ६० ज्ञानजी यति।



स्थानकवासियों की हस्तलिखित पट्टावली १.

स्थानकवासी पट्टावलियों के सम्बन्ध में ऊपर हमने जो ऊहापोह किया है, वे सभी मुद्रित पट्टावलियां हैं। अब हम एक हस्तलिखित पट्टावली के सम्बन्ध में विचार करेंगे। हमारे पास स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक ११ पत्र की पट्टावली है जिसका प्रारभ निम्नलिखित शब्दो से होता है—

"अथः श्री गुरुभ्यो नमो नमः" ॐ ह्रीं श्री मोतीचन्दजी, श्री बर्दीचन्दजी श्री नमो नमः।" "अथः श्री पटावली लिखंते" "वली पाट परंपराये चाल्यो आवे छे ते कहे छे—"

"श्री जेसलमेर ना भंडार मांहे थी पुस्तक लोंके महेताजीए कडावो जोया छे, तिरामांहे ऐसी वीगत निकली छे ॥"

उपर्युक्त प्रारम्भ वाली पट्टावली किसी स्थानकवासी पूज्य ने स० १९३९ के वर्ष में गाव सीतामऊ मे लिखी हुई है, ऐसा अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है। "पटावली" यह अशुद्ध नाम स्वयं बताता है कि इसका लेखक संस्कृत का जानकार नही था, उसने इस पट्टावली मे सुनी-सुनाई बातें लिखी हैं और जैसलमेर के भण्डार मे से पुस्तकें लौंका महेता ने निकालकर देखने की बात तो कोरी डीग है, क्योकि लौंका महेता ने अहमदाबाद और लीम्बड़ी के बीच के गावो के अतिरिक्त कोई गाव देखे ही नही थे। लौंका के परलोकवास के बाद भाराजी आदि ने गुजरात और अन्य प्रदेशों में फिरकर लौंका के मत का प्रचार किया था पर उनमें से कोई जैसलमेर गया हो ऐसा प्रमाण नही मिलता।

प्रस्तुत पट्टावली-लेखक जैनशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र से कितना दूर था यह बात उसके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट होती है—

लेखक इन्द्र के मुख से भगवान् महावीर को कहलाता है – "अहो भगवन्त ! पूज्य तुमारी जन्मरास उपरे भस्म ग्रहो वेठो छे, दोय हजार वरसनो सीघस्थ छ।" भगवान् महावीर की जन्मराशि पर दो हजार वर्ष की स्थिति वाला भस्मग्रह बैठने और उसको "सिहस्थ" कहने वाले लेखक ने "कल्प-सूत्र" पढ़ा मालूम नहीं होता, क्योंकि कल्पसूत्र देखा होता तो वह भगवन्त की जन्मराशि न कहकर जन्म-नक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थिति का भस्मग्रह बैठने की बात कहता, और "भस्मग्रह को सिंहस्थ" मानना भी ज्योतिष से विरुद्ध है। प्रथम तो भगवान् महावीर के समय में राशियों का प्रचलन ही नही हुआ था, दूसरा महावीर की जन्मराशि "कन्या" है और जन्म नक्षत्र "उत्तरा-फाल्गुनी।" इस परिस्थिति मे उक्त कथन करना अज्ञानसूचक है।

अब हम पट्टावलीकार की लिखी हुई देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक की पट्टपरम्परा उद्धृत करके यह दिखायेंगे कि मुद्रित लौंकागच्छ की सभी पट्टावलियो मे देवर्द्धिगणि की परम्परा नन्दी-सूत्र के अनुसार देने की चेष्टा की गई है, वह परम्परा वास्तव मे देवर्द्धि की गुरु-परम्परा नही है, किन्तु अनुयोगधर वाचको की परम्परा है। तब प्रस्तुत पट्टावली में लेखक ने देवर्धिगणि क्षमा-श्रमण की गुरु-परम्परा समझकर दी है, जिससे कई स्थानों पर भूले दृष्टिगोचर होती हैं।

प्रस्तुत पट्टावली की देवर्द्धिगणि-परम्परा :

(१) सुधर्मा	(२) जम्बु	(३) प्रभव
(४) शय्यम्भव	(५) यशोभद्र	(६) संभूतविजय
(७) भद्रबाहु	(८) स्थूलभद्र	(९) महागिरि
(१०) सुहस्ती	(११) सुप्रतिबुद्ध	(१२) इन्द्रदिन्न
(१३) आर्यदिन्न	(१४) वज्रस्वामी	(१५) वज्रसेन

(१६) आर्य रोहण	(१७) पुष्यगिरि	(१८) युगमन्त्र
(१९) धरणीधर स्वामी	(२०) शिवभूति	(२१) आर्यभद्र
(२२) आर्यनक्षत्र	(२३) आर्यरक्ष	(२४) नाग
(२५) जेहलविसन स्वामी	(२६) सदिदत्र	(२७) देवड्डि

पट्टावली लेखक यह परम्परा नन्दीसूत्र के आधार से लिखी वताते हैं जो गलत है। इस परम्परा के नामो मे आर्य-महागिरि और आर्य-सुहस्ती को एक पट्ट पर माना है, तव आर्य सुहस्ती के वाद के नामो मे से कोई भी नाम नन्दी मे नही है, किन्तु पिछले सभी नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली के हैं, इसमे दिया हुआ ११ वा सुप्रतिवुद्ध का नाम अकेला नही किन्तु स्थविरावली मे "सुस्थित सुप्रतिबुद्ध" ऐसे संयुक्त दो नाम हैं। आर्य-दिन्न के वाद इसमे वज्रस्वामी का नाम लिखा है जो गल्त है। आर्यदिन्न के वाद पट्टावली मे आर्य सिंहगिरि का नाम है, वाद मे उनके पट्टधर वज्र-स्वामी है। वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन के वाद इसमे आर्य-रोहण का नाम लिखा है जो गल्त है। आर्यरोहण आर्यसुहस्ती के शिष्य थे, न कि वज्रसेन के, वज्रसेन के शिष्य का नाम 'आर्य-रथ' था। पुष्यगिरि के वाद इसमे १८वे पट्टधर का नाम "युगमन्त्र" लिखा है जो अशुद्ध है। पुष्य-गिरि के उत्तराधिकारी का नाम आर्य "फल्गुमित्र" था, फल्गुमित्र के वाद के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली मे आर्य "धनगिरि" है जिसको विगाडकर प्रस्तुत पट्टावली मे "धरणीधर-स्वामी" लिखा है। आर्य-नक्षत्र के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली मे "आर्य-रक्ष" है, जिसके स्थान पर प्रस्तुत पट्टावलीकार ने "क्षत्र" ऐसा गल्त नाम लिखा है। आयनाग के वाद "कल्पस्थविरावली" मे "जेहिल" और इसके वाद "विष्णु" का नम्बर आता है, तव प्रस्तुत पट्टावली मे उक्त दोनो नामो को एक ही नम्वर के नीचे रख लिया है। विष्णु के वाद कल्पस्थविरावली मे "आर्यकालक" का नम्वर है, तव प्रस्तुत पट्टावली मे इसके स्थान पर "सढिल" यह नाम है जो शाण्डिल्य का उपभ्रंश है। शाण्डिल्य देवर्द्धिगणि के पूर्ववर्ती आचार्य थे, जवकि पट्टावली लेखक विष्णु के वाद के अनेक आचार्यों के नाम छोड़कर देवर्द्धिगणि के समीपवर्ती शाण्डिल्य का नाम खींच लाया है, इसके वाद

देवर्द्धिगरिण क्षमा श्रमरण का नाम लिखकर उन्हे २७वां पट्टधर मान लिया है। वास्तव मे देवर्द्धिगरिण क्षमा-श्रमरण की गुरु-परम्परा गिनने से उनका नम्बर ३४वां आता है, जबकि देवर्द्धिगरिण क्षमा-श्रमरण २७ वें पुरुप माने गये हैं, सो वाचक-परम्परा के क्रम से, न कि गुरु-शिष्य-परम्परा-क्रम से। इस भेद को न समझने के कारण से ही प्रस्तुत पट्टावलीकार ने कल्पस्थविरावली के क्रम से देवर्द्धिगरिण को २७वा पुरुप मानने की भूल की है।

देवर्द्धिगरिण तक के नाम लिखकर पट्टावली लेखक कहता है – ये २७ पाट नन्दीसूत्र मे मिलते हैं, "ये २७ पट्टधर जिनाराा के अनुसार चलते थे, तव इनके वाद मे पाट परम्परा द्रव्यलिंगियो की चली, फिर कालान्तर मे आत्मार्थी साधु शुद्धमार्ग को चलायेंगे उनका अधिकार आगे कहते है।"

लेखक के कहने का तात्पर्य यह है कि देवर्द्धिगरिण के वाद जो साधु परम्परा चली वह मात्र वेपधारियो की परम्परा थी। भाव साधुओ की नही। यहां लेखक को पूछा जाय कि भावसाधु देवर्द्धिगरिण के वाद नही रहे और स० १७०९ से भगवान् के दयाधर्म का प्रचार स्थानकवासी साधुओ ने किया, तव देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गवास के वाद और स्थानकवासो साधुओ के प्रकट होने के पहले के १२०० वर्षो मे भगवान् का दयाधर्म नही रहा था? क्योकि जैन शासन के चलाने वाले तो निर्ग्रन्थ भावसाधु ही होते थे। तुम्हारी मान्यता के अनुसार देवर्द्धि के वाद की श्रमरणपरम्परा केवल लिंगधारियो की थी तव तो सं० १७०९ के पहले के १२०० वर्षो में जैन दयाधर्म विच्छिन्न हो गया था, परन्तु भगवतीसूत्र मे भगवान् महावीर ने अपना धमशासन २१ हजार वर्षो तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहने की वात कही है, अव भगवतीसूत्र का कथन सत्य माना जाय या प्रस्तुत स्थानकवासी पट्टावली के लेखक पूज्यजी का कथन? समझदारो के लिए तो यह कहने की आवश्यकता ही नही है, कि वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ आरे के अन्तिम भाग मे भगवान् महावीर ने श्रमरणसंघ की स्थापना करने के साथ धर्म की जो स्थापना की है वह आज तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही है और पंचम आरे के अन्त तक चलती रहेगी, चाहे स्थानकवासी-सम्प्रदाय

बढ़ें घटे या विच्छिन्न हो जाय, जैनधर्म के अस्तित्व मे उसका कोई असर नही पडेगा ।

यद्यपि प्रस्तुत स्थानकवासी पट्टावली ११ पानो मे पूरी की है, फिर भी देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण की परम्परा के अतिरिक्त इसमे कोई भी व्यवस्थित परम्परा या पट्टक्रम नही दिया । आयकालक की कथा, पचकाली, सप्तकाली, वारहकाली सम्बन्धी कल्पित कहानियां और दिगम्बर तथा निह्नवो के उटपरांग वर्णनो से इसका कलेवर वढ़ाया है, हमको इन बातो की चर्चा मे उतरने की कोई आवश्यकता नही ।

"लौंकागच्छ तथा "स्थानकवासी सम्प्रदायो" से सम्वन्ध रखने वाली कुछ वातो की चर्चा करके इस लेख को पूरा कर देंगे ।

पट्टावली के आठवें पत्र के दूसरे पृष्ठ मे प्रस्तुत पट्टावलीकार लिखते है – श्री महावीर स्वामी के बाद दो हजार तेईस के वर्ष मे जिनमत का सच्चा श्रद्धालु और भगवन्त महावीर स्वामी का दयामय धर्म मानने वाला लौंकागच्छ हुआ१ ।"

लौंकागच्छ के यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि अपने कवित्तो मे लौंकाशाह के धमप्रचार का स० १५०८ मे प्रारम्भ हुआ वताते हैं और १५३२ मे तथा ३३ मे भाणजीऋषि की दीक्षा और लौंकाशाह का देवलोक गमन लिखते हैं, तव स्थानकवासो पट्टावली लेखक वीरनिर्वाण २०२३ मे अर्थात् विक्रम स० १५३३ में लौंकागच्छ का प्रकट होना वतते हैं, जिस समय कि लौंकाशाह को स्वर्गवासी हुए २० वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था । पट्टावली लेखक कितना असावधान और अनभिज्ञ है यह वताने के लिए हम ने समयनिर्देश पर ऊहापोह किया है ।

यहा पर पट्टावलोकार ने लौंकागच्छ की उत्पत्ति के सम्वन्ध में एक कल्पित कथा दी है जिसका सार यह है –

१ "श्री महावीर पछे २०२३ वरखेजिनमति साचीसरदाका धणी भगवन्त महावीर स्वामी नो धर्म दया मे चाल्यो लौंकागच्छ हुवा ।" (पट्टावली का मूल पाठ)

"पुस्तक भंडार मे से पुस्तक निकाले तो कुछ पाने दीमक खा गया था, यह देख यति ने उनके पास गए हुए मेहता लुंका को कहा – महेताजी। एक जैन मार्ग का काम है, महेता ने कहा – कहिये क्या काम है ? यति ने कहा – सिद्धान्त के पाने दीमक खा गया है, उन्हें लिख दो तो उपकार होगा, लौंका ने उनका वचन मान लिया। यति ने "दशवैकालिक" को प्रत लौंका को दी। लौंका ने मन मे सोचा-वीतराग भाषित दयाधर्म का मार्ग दशवैकालिक मे लिखे अनुसार है, आजकाल के वेषधारी इस आचार को छोड हिंसा की प्ररूपणा करते हैं, वे स्वय धर्म से दूर हैं इसलिए लोगो को शुद्धधर्म-मार्ग नही बताते, परन्तु इस समय इनको कुछ कहूंगा तो मानेंगे नही, इसलिए किसी भी प्रकार से पहले शास्त्र हस्तगत करलू तो भविष्य मे उपकार होगा, यह सोचकर महेता लुंका ने दशवैकालिक की दो प्रतियां लिखी, एक अपने पास रखी, एक यति को दी। इस प्रकार सब शास्त्रो की दो-दो प्रतिया उतारी और एक-एक प्रति अपने पास रखकर खासा शास्त्र-सग्रह कर दिया। महेता अपने घर पर सूत्र की प्ररूपणा करने लगा' बहुत से लोग उनके पास सुनने जाते और सुनकर दयाधर्म की प्ररूपणा करते।

उस समय हटवाणिया के वणिक् शाह नागजी १, मोतीचन्दजी २, दुलीचन्दजी ३, शम्भुजी ४, और शम्भुजी के बेटा की बेटी मोहीबाई और मोहीबाई की माता इन सब ने मिलकर सघ निकाला। घाडी, गोडे, ऊट, बैल, इत्यादि साज सामान के साथ निकले परन्तु मार्ग मे जलवृष्टि हो गई, जहा लौंका महेता अपने मत का उपदेश करता था वहा यात्रिक आए और लौंका की वाणी सुनने लगे। लौंका महेता भी बडी तत्परता से दयाधर्म का प्रतिपादन करते थे। सारा यात्री सघ लुंका महेता वाले गांव मे आया और वहा पड़ाव डालकर महेता की वाणी सुनने लगा, उस समय सघ के गुरु वेशधारी साधु ने सोचा – अगर सघ के लोग सिद्धान्त शैली सुनेंगे तो आगे चलेंगे नही और हमारी बात भी मानेंगे नही, यह विचार कर वेशधारी साधु सघनायक के पास आया और कहने लगा – सब के लोग खर्च और पानी से दुःखी हैं, तब संघनायक ने कहा – मार्ग मे तो त्रसजीव और

हरियाली के अकुर निकल जाने मे अयतना बहुत दीख रही है वास्ते अभी ठहरो ! इस पर द्रव्यलिगी गुरु बोले – शाहजी धर्म के निमित्त होने वाली हिंसा को हिंसा नही माना, यह सुनकर सघवी ने सोचा कि लौंका महेता के पास जो सुना था कि वेशधारी साधु अनाचारी हैं, छः काय की दया से हीन हैं, वह बात आज प्रत्यक्ष दीख रही है, द्रव्यलिगी यति वापस लौट गया और सघ के साथ सिद्धान्त सुनता वही ठहरा, सुनते-सुनते उनमे से ४५ जनो को वैराग्य उत्पन्न हुआ और सयम लिया, उनके नाम – सर्वोजी, भाणोजी, नयनोजी, जगमोजी आदि थे, इस प्रकार ४५ साधु जिनमार्ग के दयाधर्म की प्ररूपणा करने लगे और अनेक जीवो ने दयाधर्म का स्वीकार किया, उस समय लौंकाशाह ने पूछा तुम कैसे साधु कहलाते हो ? साधु बोले – महेताजी हमने तीर्थङ्कर का धर्ममार्ग आपसे पाया है, इसलिए हम "लौंका साधु" कहलाते है और हमारा समुदाय "लौंकागच्छ' कहलाता है ।

कल्पित कथा के प्रारभ मे "दशवैकालिक" के पाने दीमक खाने की बात कही गई है । और "दशवैकालिक" की प्रति लौंका को देने का कहा है अब विचारणीय बात यह है कि पुस्तक के पाने दीमक द्वारा नष्ट हो गये तो उसी "दशवैकालिक" की प्रति के ऊपर से लौंका ने दो प्रतिया कैसे लिखी ? क्योकि लौंका के पास तो पुस्तक भंडार था नही और लौंका को लिखने के लिए पुस्तक देने वाले यतिजी ने उसे "दशवैकालिक" की अखडित प्रति देने का का सूचन तक नही है, केवल "दशवैकालिक" ही नही यतिजी के पास से दूसरे भी सूत्र लिखने के लिए लौंका ले जाता था और उनकी एक-एक नकल अपने लिए लिखता था । यदि भण्डार के तमाम सूत्रो मे दीमक ने नुकसान किया था और यतिजी भडार के पुस्तको को लिखवाते थे तो साथ मे अखड़ित सूत्रो की प्रतिया देने की आवश्यकता थी, परन्तु इस कहानी से ऐसी बात प्रमाणित नही होती अतः "लौंकाशाह जिनमार्ग का काम समझकर सूत्रो की प्रतिया लिखते थे, यह कथन सत्यता से दूर है ।" सत्य बात तो यह है कि लौंकाशाह लेखक का धन्धा करता था । मेहनताना देकर साधु उससे पुस्तक लिखवाते थे,

उनमे से लौंका ने लिखवाने वाले की आज्ञा के विना अपने लिए पुस्तक की एक-एक प्रति लिख ली हो तो असम्भव नही है, परन्तु एक वात विचारणीय यह है कि लौंका के समय मे जैनसूत्रो पर टिब्बे नही वने थे। सूत्रों पर टिब्बे सर्वप्रथम पार्श्वचन्द्र उपाध्याय ने लिखे थे और पार्श्वचन्द्र का समय शाह लौंका के वाद का है। लौका "सस्कृत" या "प्राकृत" भाषा का जानकार भी नही था फिर उसने सूत्रो की नकल करते-करते मूल सूत्रो का अगर उसकी पचागी का तात्पर्य कैसे समझा कि सूत्रो मे साधु का आचार ऐसा है और साधु उसके अनुसार नही चलते है। सच वात तो यह है कि वह साधुओं के व्याख्यान सुना करता था, इस कारण से वह साधुओ के आचारो से परिचित था। वृद्ध पौषधशालिक आचार्य श्री ज्ञानचन्द्रसूरि का पुस्तक-लेखन का कार्य लौंकाशाह कर रहा था और इस व्यवसाय को लेकर ही ज्ञानचन्द्रसूरि ने लौंका को फिटकारा और लौंका ने साधुओ के पास न जाने की प्रतिज्ञा की थी और उनके आचार-विचार के सम्बन्ध मे टीका-टिप्पणिया करने लगा था।

लौंकामत की कल्पित कहानी मे दी गई, हटवाणिया गाव के सघ की कहानी भी सरासर झूठी है। क्योकि पहले तो "हटवाणिया" नामक कोई गाव ही मारवाड़ अथवा गुजरात मे नही है, दूसरा चातुर्मास्य आगे लेकर सघ निकालने की पद्धति जैनों मे नही है, फिर लौंकाशाह के निकट पहुँचने के लगभग जलवृष्टि होना और वनस्पति के अकुरो के उत्पन्न होने आदि की वाते केवल कल्पना-कल्पित है। विद्वान् साधुओ की विद्वत्तामयी धर्मदेशना सुनकर हजारो मे से शायद ही कोई दीक्षा के लिये तैयार होता है। तव लौंकाशाह के उपदेश से केवल यात्रिक-सघ मे से ४५ जनो के दीक्षा लेने की वात सफेद झूठ नही तो और क्या हो सकती है। लौंकाशाह के थोड़े ही वर्षों के वाद होने वाले लौंका भानुचन्द्रजी ऋषि और लौंका केशवजी ऋषि अपनी रचनाओ मे लौंकाशाह के अन्तिम समय मे केवल एक भाणजी की दीक्षा होने की वात लिखते हैं। तव वीसवीं शती का स्थानकवासी पट्टावलीकार ४५ जनो के दीक्षा की वात कहता है और लौंकाशाह के द्वारा पुछवाता है कि "तुम कैसे साधु कहलाते हो ?" साधु

कहते हैं कि—"हम लौंकागच्छ के साधु कहलाते हैं" यह क्या मामला है ? पट्टावलीकार के लेखानुसार लौंकाशाह के स्वर्गवास के बाद २१वे वर्ष मे लौंकागच्छ की उत्पत्ति होती है और ४५ साधु लौंकाशाह के सामने कहते है—"हम लौंकाशाह के साधु कहलाते हैं" क्या यह अन्धेरगर्दी नही है ? लौंकागच्छ को कहलाने वाली सभी स्थानकवासी पट्टावलियां इसी प्रकार के अज्ञान से भरी हुई हैं। न किसी मे अपनी परम्परा का वास्तविक क्रम है न व्यवस्था, जिसको जो ठीक लगा वही लिख दिया, न किसी ने कालक्रम से सम्बन्ध रक्खा, न ऐतिहासिक घटनाओ की शृंखला से।

पट्टावली-लेखक आगे लिखता है –

उसके बाद रूपजी शाह पाटन का निवासी संयमी होकर निकला, वह "रूपजी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह लौंकागच्छ का पहला पट्टधर हुआ।"

उसके बाद सूरत निवासी शाह जीवा ने रूपजी ऋषि के पास दीक्षा ली और जीवजी ऋषि बने। व्यवहार से हम इनको शुद्ध साधु जानते है। बाद मे स्थानक-दोष सेवन करने लगे। आहार की गवेषणा से मुक्त हुए, वस्त्र पात्र की मर्यादा लोपी, तब स० १७०६ मे सूरत निवासी बहोरा वीरजी का दोहिता शा० लवजी जो पढा-लिखा था, उसको वैराग्य उत्पन्न हुआ और संयम लेने के लिए अपने नाना वीरजी से आज्ञा मागी। वीरजी ने कहा – लौंकागच्छ मे दीक्षा ले तो आज्ञा दू, लवजी ने सोचा – अभी प्रसग ऐसा ही है, एक वार दीक्षा ले ही लू यह विचार कर लवजी ने लौंकागच्छ के यति बजरगजी के पास दीक्षा ली। उनके पास सूत्र सिद्धान्त पढा। कालान्तर मे अपने गुरु से पूछा – सिद्धान्त मे साधु का आचार जो लिखा है उस प्रकार आजकल क्यो नही पाला जाता ?, गुरु ने कहा – आजकल पाचवा आरा है। इस समय आगमोक्त आचार किस प्रकार पल सकता है ?, शिष्य लवजी ने कहा – स्वामिन् ! भगवन्त का मार्ग २१ हजार वर्ष तक चलने वाला है, सो लौंकागच्छ में से निकलो, आप मेरे गुरु और मैं आपका शिष्य। बजरंगजी ने कहा – मैं तो गच्छ से

निकल नही सकता, तब लवजी ने कहा – मैं तो गच्छ का त्याग कर चला जाता हूं, यह कह कर ऋषि लवजी, ऋषि भाणोजी और ऋषि सुखजी तीनों वहा से निकल गये और तीनो ने फिर से दीक्षा ली। गांव नगरो मे विचरते हुए जैनधर्म की प्ररूपणा की, अनेक लोगों को धर्म समझाया, तब लोगों ने उनका "ढुण्ढिया" ऐसा नाम दिया।

अहमदाबाद के कालुपुर के रहने वाले शाह सोमजी ने लवजी के पास दीक्षा ली। २३ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा लेकर बड़ी तपस्या की, उनके अनेक साधु-साध्वियो का परिवार बढ़ा जिनके नाम हरिदासजी १, ऋषि प्रेमजी २, ऋषि कानाजी ३, ऋषि गिरधरजी ४, लवजी प्रमुख बजरंगजी के गच्छ से निकले थे जिनके अनुयायियों का नाम अमीपालजी १, ऋषि श्रीपालजी २, ऋ० धर्मपालजी ३, ऋ० हरजी ४, ऋ० जीवाजी ५, ऋ० कर्मणजी ६, ऋ० छोटा हरजी ७, और ऋ० केशवजी ८। इन महापुरुषो ने अपना गच्छ छोड़ कर दीक्षा ली और जैनधर्म को दीपाया। बहुत टोले हुए, समर्थजी पूज्यश्री धर्मदासजी, श्री गोदाजी, फिर होते ही जाते हैं। इनमे कोई कहता है – मैं उत्कृष्ट हू, तब दूसरा कहता है – मैं उत्कृष्ट हूं।

उपर्युक्त शुद्ध साधुओ का वृत्तान्त है, पीछे तो केवली स्वीकारे, सो सही। यह परम्परा की पट्टावली लिखी है।

पट्टावली-लेखक ने रूपजी ऋषि को लौंकागच्छ का प्रथम पट्टधर लिखा है, परन्तु लौंकागच्छीय ऋषि भानुचन्द्रजी तथा ऋषि केशवजी ने लौंकागच्छ का और लोंकाशाह का उत्तराधिकारी भाणजी को बताया है।

उपर्युक्त दोनो लेखको का सत्ता-समय लौंकाशाह से बहुत दूर नही था, इससे इनका कथन ठीक प्रतीत होता है। पट्टावलीकार रूपजी ऋषि को लौंकागच्छ का प्रथम पट्टधर कहते हैं वह प्रामाणिक नही है।

पट्टावलीकार रूपजी जीवाजी को महापुरुष और शुद्ध साधु कहकर उनको उसी जीवन मे स्थानक-दोप, आहार-दोष, वस्त्रापात्र आदि मर्यादा

का लोप आदि दोषो के कारण शिथिलाचारी बताता है. और १७०६ मे शा० लवजी की दीक्षा की बात कहता है। लवजी दीक्षा लेने के बाद अपने गुरु वजरगजी को लौंकागच्छ से निकालने का आग्रह करते है, और इनके इन्कार करने पर भी ऋ० लवजी, ऋ० भाणजी और ऋ० सुखजी के साथ लौंकागच्छ को छोड़कर निकल जाते हैं, और तीनो फिर दीक्षा लेते है और लोग उनको "ढुण्ढिया" यह नाम देते है। पट्टावलीकार ने उक्त त्रिपुटी को दीक्षा तो लिवाली, पर दीक्षा-दाता गुरु कौन थे ? यह नही लिखा। अपने हाथ से कल्पित वेश पहिन लेना यह दीक्षा नही स्वाग होता है। दीक्षा तो दीक्षाधारी अधिकारी-गुरु से ही प्राप्त होती है, न कि वेश-मात्र धारण करने से। लौंकागच्छ के साधु स्वयं गृहस्थ-गुरु के चेले थे तो उनमे से निकलने वाले लवजी आदि नया वेश धारण करने से नये दीक्षित नही बन सकते।

पट्टावली के अन्त मे लेखक ऋषि लवजी के मुह से कहलाता है – "अरे भाई ! पांचवा आरा है, ऐसी कठिनाई हम से नही पलेगी, ऐसा करने से हमारा टोला बिखर जाय।

पट्टावलीकार ने पूर्व के पत्र मे तो लवजी को महात्यागी और लौंकागच्छ का त्याग करके फिर दीक्षा लेने वाला बताया और आगे जाकर उन्ही लवजी के मुंह से पचम आरे के नाम से शिथिलाचार को निभाने की बात कहलाता है। यह क्या पट्टावली-लेखक का ढग है ! एक व्यक्ति को खूब ऊंचा चढ़ाकर दूसरे ही क्षण मे उसे नीचे गिराना यह समझदार लेखक का काम नही है।



ढुण्ढक-मत की पट्टावली २.

श्री आत्मारामजी महाराज के हाथ से लिखी हुई स्थानकवासियों की पट्टावली सम्यक्त्व शल्योद्धार के आधार से नीचे दी जाती है – पूज्य लेखक का कथन है कि "यह पट्टावली हमने अमरसिंहजी के परदादा श्री मुल्कचन्दजी के हाथ से लिखी हुई, ढुंढकपट्टावली के ऊपर से ली है।" हमनें सभी स्थानकवासियों की अन्यान्य पट्टावलियो की अपेक्षा से इसमें कुछ वास्तविकता देखकर यहां देना ठीक समझा है। पट्टावलीकार लिखते है कि "अहमदावाद में रहने वाला लौंका नामक लेखक ज्ञानजी यति के उपाश्रय मे उनके पुस्तक लिखकर अपनी आजीविका चलाता था, एक पुस्तक में से सात पाने उसने यों ही छोड़ दिए। यतिजी को मालूम हुआ कि लौंका ने जान बुझकर वेईमानी से पाने छोड़ दिये हैं, उसे फटकार कर उपाश्रय में से निकाल दिया और दूसरे पुस्तक लिखाने वालों को भी सूचित कर दिया कि इस लुच्चे लेखक लौंका के पास कोई पुस्तक न लिखावें।"

उक्त प्रकार से लौंका की आजीविका टूट जाने से वह जैन साधुओं का द्वेषी वन गया, पर अहमदावाद मे उसका कुछ नही चला, तब वह अहमदावाद से ४० कोस की दूरी पर आये हुए लीम्बड़ी गांव गया, वहां उसका मित्र लखमशी नामक राज्य का कार्यभारी रहता था। लौंका ने लखमशी से कहा – "भगवान् का मार्ग लुप्त हो गया है, लोग उल्टे मार्ग चलते है, मैंने अहमदावाद मे लोगो को सच्चा उपदेश किया, पर उसका परिणाम उलटा आया, मैं तुम्हारे पास इसलिए आया हूं कि मैं सच्चे दयाधर्म की प्ररूपणा करूं और तुम मेरे सहायक बनों।" लखमशी ने लौंका को आश्वासन देते हुए कहा – खुशी से अपने राज्य में तुम दयाधर्म का प्रचार करो, मैं तुम्हारे खान-पान आदि की व्यवस्था कर दूंगा।

स० १५०८ मे लौंका ने जैन साधुओ के विरोध मे मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का खण्डन करना शुरू किया, लगभग २५ वर्ष तक दयाधर्म-सम्बन्धी चौपाइया सुना-सुनाकर लोगो को मन्दिरो का विरोधी वनाता रहा, फिर भी उसका उत्तराधिकारी वनकर उसका कार्य सम्हालने वाला कोई नही मिला।

स० १५३४ मे भाणा नामक एक वनिया उसे मिला, अशुभ कर्म के उदय से वह लौंका का अनन्य भक्त वना। इतना ही नही, वह लौंका के कहने के अनुसार विना गुरु के ही साधु का वेश पहन कर अज्ञ लोगो को लौंका का अनुयायी बनाने लगा। लौंका ने ३१ सूत्र मान्य रखे थे। व्यवहार सूत्रो को वह मानता नही था और माने हुए सूत्रो मे भी जहा जिनप्रतिमा का अधिकार आता वहां मन कल्पित अर्थ लगाकर उनको समझा देता।

स० १५६८ मे भाणजी ऋषि का शिष्य रूपजी हुआ।

स० १५७८ मे माघ सुदि ५ के दिन रूपजी का शिप्य जीवाजी हुआ।

स० १५८७ के चैत्र वदि १४ के दिन जीवाजी का शिष्य वृद्धवरसिंहजी नामक हुआ।

सं० १६०६ मे उनका शिष्य वरसिंहजी हुआ।

स० १६४९ मे वरसिंहजी का शिष्य यशवन्त नामक हुआ और यशवन्त के पीछे वजरंगजी नामक साधु हुआ, जो वाद मे लौंकागच्छ का आचार्य वना था।

उस समय सूरत के रहने वाले वोहरा वीरजी की पुत्री फूलावाई के दत्तपुत्र लवजी ने लौंकाचार्यजी के पास दीक्षा ली और दीक्षा लेने के वाद उसने अपने गुरु से कहा – दशवैकालिक सूत्र में जो साधु का आचार वताया है, उसके अनुसार आप नही चलते है। लवजी की इस प्रकार की वातों से वजरगजी के साथ उनका झगड़ा हो गया और वह लौंकामत और अपने गुरु का सदा के लिए त्याग कर थोमण ऋपि आदि कतिपय लौंका साधुओ को साथ में लेकर स्वयं दीक्षा ली और मुख पर मुंहपत्ति वांधी।

लवजी के सोमजी और कानजी नामक दो शिष्य हुए।

कानजी के पास एक गुजराती छीपा दीक्षा लेने आया था, परन्तु कानजी के आचरण अच्छे न जानकर उनका शिष्य न होकर वह स्वयं साधु वन गया और मुहपर मुँहपत्ति वांध ली। धर्मदास को एक जगह उतरने को मकान नहीं मिला, तव वह एक ढुण्ढे (फुटे टुटे खण्डहर) में उत्तरा तव लोगो ने उसका नाम "ढुण्ढक" दिया।

लोंकामति कुंवरजी के धर्मशी; श्रीपाल और अभीपाल ये तीन शिष्य थे, इन्होने भी अपने गुरु को छोड़कर स्वयं दीक्षा ली, इनमें से आठ कोटि प्रत्याख्यान का पन्थ चलाया, जो आजकल गुजरात मे प्रचलित है।

धर्मदास के धनजी नामक शिष्य हुए।

धनजी के भूदरजी नामक शिष्य हुए और भूदरजी के रघुनाथजी जयमलजी और गुमानजी नामक तीन शिष्य हुए जिनका परिवार मारवाड़ गुजरात और मालवा मे विचरता है।

रघुनाथजो के शिष्य भीखमजी ने १३ पंथ चलाया।



भीखमजी के तेरापंथ सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा

तेरापन्थी सम्प्रदाय स्थानकवासी साधु रघुनाथमलजी के शिष्य भिक्खूजी से चला। तेरापन्थी भिक्खूजी को श्री भिक्षुगणी के नाम से व्यवहृत करते हैं। आज तक इस सम्प्रदाय को दो सौ वर्ष हुए और इसके उपदेशक आचार्य ९ हुए। नवों आचार्यों की नामावलि क्रमशः इस प्रकार है –

(१) आचार्य श्री भिक्षुगणी
(२) ,, ,, भारमल गणी
(३) ,, ,, ऋषिराय गणी
(४) ,, ,, जयगणी – श्री मज्जयाचार्य
(५) ,, ,, मघवागणी
(६) ,, ,, माणकगणी
(७) ,, ,, डालगणी
(८) ,, ,, कालूगणी
(९) ,, ,, तुलसीगणी

ऊपर की तेरापन्थी आचार्यों की नामावलि तेरापन्थी मुनि श्री नगराजजी लिखित "तेरापन्थ दिग्दर्शन" नामक पुस्तिका से उद्धृत की है। पुस्तिका मे लेखक ने अतिशयोक्तियाँ लिखने में मर्यादा का उल्लघन किया है, जिसका एक ही उदाहरण यहां उद्धृत किया जाता है –

"संस्कृत भापा के अभ्यासी ऐसे भी साधु संघ में हैं, जिन्होंने एक-एक दिन मे पांच-पाच सौ व सहस्र-सहस्र श्लोकों की रचना की है।"

ठीक तो है जिस संघ मे प्रतिदिन पांच-पांच सौ और सहस्र-सहस्र श्लोक बनाने वाले साधु हुए हैं उस संघ में संस्कृत-साहित्य के तो भण्डार भी भर गए होंगे, परन्तु दुःख इतना ही है कि ऐसे संघ की तरफ से एक भी संस्कृत ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ देखने में नही आया।

लवजी के शिष्य सोमजी हुए।
हरिदासजी के शिष्य वृन्दावनजी हुए।
वृन्दावनजी के भवानीदासजी हुए।
भवानीदासजी के शिष्य मलूकचन्दजी हुए।
मलूकचन्दजी के शिष्य महासिंहजी हुए।
महासिंहजी के शिष्य खुशालरामजी हुए।
खुशालरामजी के शिष्य छजमलजी हुए।
रामलालजी के शिष्य अमरसिंहजी हुए।

अमरसिंहजी का शिष्य-परिवार आजकल पंजाब में मुख बांध कर विचरता है।

लवजी के शिष्यों का परिवार मालवा और गुजरात में विचरता है।

"समकितसार" के कर्त्ता जेठमलजी धर्मदासजी के शिष्यों में से थे और उनके आचरण ठीक न होने के कारण उनके चेले देवीचन्द और मोतीचन्द दोनो जन उनको छोड़ कर जोगराजजी के शिष्य हजारीमलजी के पास दिल्ली मे आकर रहे थे।

ऊपर हमने जो लोंकामत की और स्थानकवासी लवजी की परम्परा लिखी है वह पूर्वोक्त अमोलकचन्दजी के हाथ से लिखी हुई ढुण्ढकमत की पट्टावली के ऊपर से लिखी है, इस विषय मे जिस किसी को शंका हो, वह हस्तलिखित मूल प्रति को देख सकता है।

लौंकाशाह, लौंकागच्छ और स्थानकवासी सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे अनेक व्यक्तियो ने लिखा है। वाडीलाल मोतीलाल शाह ने अपनी "ऐतिहासिक नोंध" में, संत वालजी ने "धर्मप्राण लौंकाशाह" में, श्री मणिलालजी ने "प्रभुवीर पट्टावली" में और अन्यान्य लेखको ने इस विषय के लेखो मे जो कुछ लिखा है, वह एक दूसरे से मेल नही खाता, इसका कारण यही है कि सभी लेखको ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पनाओ द्वारा कल्पित वातो से अपने लेखों को विभूषित किया है। इन सव में शाह वाडीलाल मोतीलाल सव के अग्रगामी है। इनकी असत्य कल्पनाए सव से वढ़ी-चढ़ी हैं, इस विषय का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। लौंकागच्छ के आचार्य श्री मेघजी ऋषि अपने २५ साधुओ के साथ लौंकामत को छोड़ कर तपागच्छ के आचार्य श्री विजयहीरसूरिजी के शिष्य वने थे। इस घटना को वढ़ा-चढ़ा कर शाह वाडीलाल लौंकागच्छ के ५०० साधु तपागच्छ मे जाने की वात कहते है। अतिशयोक्ति की भी कोई हद होती है, परन्तु शाह ने इस वात का कोई ख्याल नही किया। इसी प्रकार शाह वाडीलाल ने अपनी पुस्तक "ऐतिहासिक नोंध" मे अहमदावाद मे मूर्तिपूजक और स्थानकवासी साधुओ के वीच शास्त्रार्थ का जजमेन्ट लिख कर अपनी असत्यप्रियता का परिचय दिया है, शाह लिखते हैं –

"आखिर सं० १८७८ मे दोनो ओर का मुकद्दमा कोर्ट में पहुँचा। सरकार ने दोनो में कौन सच्चा कौन झूठा? इसका इन्साफ करने के लिए दोनों ओर के साधुओं को वुलाया। "स्था० की ओर से पूज्य रूपचन्दजी के शिष्य जेठमलजी आदि २८ साधु उस सभा मे रहने को चुने गये" और सामने वाले पक्ष की ओर से "वीरविजय आदि मुनि और शास्त्री हाजिर हुए।" मुझे जो यादी मिली है, उससे मालूम होता है कि मूर्तिपूजकों का पराजय हुआ और मूर्तिविरोधियो का जय हुआ।" शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी-कृत "समकितसार" पढ़ना चाहिए × × × १८७८ के पोष सुदि १३ के दिन मुकद्दमा का जजमेन्ट (फैसला) मिला।"

ऐ० नो० पृ० १२६।

शाह शास्त्रार्थ होने का वर्ष १७८७ वताते है और मिति उसी वर्ष के पौष मास की १३। शाह ने वर्ष-मिति की यह कल्पना पं० वीरविजयजी और ऋषि जेठमलजी के बीच हुए शास्त्रार्थ की यादगार मे पं० उत्तमविजयजी द्वारा निर्मित "लुंपकलोप-तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास" के ऊपर से गढी है, क्योकि उत्तमविजयजी के वनाये हुए रास की समाप्ति में सं० १७८७ के वर्ष का और माघ मास का उल्लेख है। शाह ने उसी वर्ष को शास्त्रार्थ के फैसले का समय मान कर पौष शुक्ल १३ का दिन लिख दिया है पर वार नही लिखा, क्योंकि वार लिखने से लेख की कृत्रिमता तुरन्त पकड़ी जाने का भय था। शाह का यह फैसला उनके दिमाग की कल्पना मात्र है, यह वात निम्न लिखे विवरण से प्रमाणित होगी –

"समकितसार" के लेखक जेठमलजी लिखते है – श्री वर्द्धमान स्वामो मोक्ष गए तव चौथा आरा के ३ वर्ष और साढे आठ मास शेष थे। उसके वाद पाचवां आरा लगा और पांचवे आरे के ४७० वर्ष तक वीर संवत् चला, उसके वाद विक्रमादित्य ने संवत्सर चलाया, जिसको आजकल १८६५ वर्ष हो चुके हैं।"

शाह के जजमेन्ट के समय मे अहमदावाद मे कम्पनी का राज्य हो चुका था और अंग्रेजी अदालत मे ही अर्जी हुई और जजमेन्ट भी अंग्रेजों में लिखा गया था, फिर भी जजमेन्ट मे अग्रेजी तारीख न लिखकर पौष सुदि १३ लिखा है इसका अर्थ यही है कि उक्त जजमेन्ट उत्तमविजयजी के रास के आधार से शाह वाड़ीलाल ने लिखा है, जो कल्पित है यह निश्चित होता है।

शाह शास्त्रार्थ के फैसले मे लिखते हैं – "शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी कृत समकितसार पढ़ना चाहिए," यह शाह का दम्भ वाक्य है और "समकितसार" के प्रचार के लिए लिखा है, वास्तव मे जेठमलजी के "समकितसार" मे वीरविजयजी के साथ होने वाले शास्त्रार्थ की सूचना तक भी नही है।

"ऐतिहासिक नोंध" के पृष्ठ १३० में शाह लिखते हैं "परन्तु किसी प्रकार के लिखित प्रमाण के अभाव में किसी तरह की टीका करने को खुश नहीं हूं।" भला किसी लिखित प्रमाण के अभाव में शास्त्रार्थ का जजमेन्ट देने को तो खुश हो गए तब उस पर टीका-टिप्पणी करने में आपत्ति ही क्या थी ? परन्तु शाह अच्छी तरह समझते थे कि केवल निराधार बातों की टीका-टिप्पणी करता हुआ कहीं पकड़ा जाऊंगा, इसलिए वे टीका करने से बाज आए है।

शाह स्वयं स्वीकार करते है कि दोनों सम्प्रदायों के बीच होने वाले शास्त्रार्थ मे कौन जीता और कौन हारा, इसका मेरे पास कोई लिखित प्रमाण नही है, इससे इतना तो सिद्ध होता है कि इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध मे जेठमलजी ऋषि अथवा उनके अनुयायियो ने कुछ भी लिखा नही है, अन्यथा शाह वाड़ीलाल को ऐसा लिखने का कभी समय नही आता। पं० वीरविजयजी और उनके पक्षकारो ने प्रस्तुत शास्त्रार्थ का सविस्तर वर्णन एक लम्बी ढुढक चौपाई बनाकर किया है, जिसमे दोनों पक्षों के साधुओ तथा श्रावको के नाम तक लेख-बद्ध किये हैं, इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रार्थ में जय मूर्तिविरोध पक्ष का नही, परन्तु मूर्तिपूजा मानने वाले पं० वीरविजयजी के पक्ष का हुआ था, इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में लिखित प्रमाण होते हुए भी शाहने अपने पक्ष के विरुद्ध होने से उनको छुआ तक नही है।

रासकार पं० उत्तमविजयजी कहते है—मुंहपर पाय बांधकर गांव गांव फिरते और लोगों को भ्रमणा में डालते हुए एक समय लौंका के अनुयायी साणंद आये और वहां लोगो को फंसाने के लिए पास फैलाया, वहां पर तपागच्छ का एक श्रावक नानचन्द शान्तिदास रहता था, कर्मवश वह ढुंढको के फंदे मे फंस गया। वह ढुंढकों को मानने लगा और परापूर्व के अपने जैनधर्म को भी पालता था, इस प्रकार कई वर्षों तक वह पालता रहा और वीसा श्रीमाली न्यात ने उसको निभाया, अब नानूशाह के पुत्रों की बात कहता हूं। अफीमची, अमरा, परमा पनजी और हमका ये चारों पुत्र भी न्यात जात की शर्म छोड़कर ढुंढकधर्म पालने लगे, इस समय न्यात

ने देखा कि यह चेप बढ़ रहा है, अब इसका प्रतीकार करना जरूरी है, यह सोचकर नानचन्द और उसके पुत्रो को न्यात से बहिष्कृत कर दिया, कोई उनको पानी तक नही पिलाता था। सगे सम्बन्धी भी अलग हो गये, फिर भी वे अपना दुराग्रह नही छोडते थे। उनके घरो मे लड़कियां १२-१२ वर्ष की हो गई थी, फिर भी उनसे कोई संबन्ध नहीं करता था और जो लड़की राजनगर मे व्याही थी वह भी न्याती का विचार कर घर नही आती थी इस पर नानचन्द ने अपनी न्यात पर १४ हजार रुपयो का राजनगर की राज्यकोर्ट मे दावा किया।"

उधर अमरचन्द के घर में उसकी औरत के साथ रोज क्लेश होने लगा। औरत कहती – "तुमने न्यात के विरुद्ध झगड़ा उठाया, यह मूर्खता का काम किया। न्यात से लड़ना झगड़ना आसान बात नही। पहले यह नही सोचा कि इसका परिणाम क्या होगा, तुमने न्यात से सामना किया और लोगो के उपालम्भ मैं खाती हू बडी उम्रको बेटी को देखकर मेरी छाती जलती है," साह अमरा अपनी औरत की बातों से तग आकर शा० पूंजा टोकर से मिला और कहने लगा – न्यात बहिष्कृति वापस खीचकर हमे न्यात मे कैसे लें, इसका कोई मार्ग बताओ। बेटी बडी हो गई है, उसको व्याहे विना कैसे चलेगा, अमरा की बात सुनकर पूंजाशाह ने अमरा को उल्टी सलाह दी, कहा – न्यात पर कोर्ट मे अर्जी करो, इस पर अमरा ने अर्जी की और अपनी पुत्री को खंभात के रहने वाले किसी ढुण्ढक को व्याह दी। पूंजाशाह ने न्यात में कुछ "करियावर" किया – तब उनके वेवाई जो ढुण्ढक थे, उसके वहां मर्यादा रक्खी तो भी ढुण्ढक लज्जित नही हुए, बहुत दिनो के बाद जब अर्जी की पेशी हुई तब शहर के धर्मप्रेमी सेठ भगवान् इच्छाचन्द माणकचन्द और अन्य भी जो धर्म के अनुयायी थे सब अदालत मे न्यायार्थ गए। अदालत ने अर्जी पर हुक्म दिया कि "मामला धर्म का है, इसलिए सभा होगी तब फैसला होगा, दोनो पक्षकार अपने-अपने गुरुओ को बुलाकर पुस्तक प्रमाणो के साथ सभा मे हाजिर हो," अदालत का हुक्म होते ही गाव-गाव पत्र-वाहक भेजे, फिर भी कोई ढुण्ढक आया नही था।

इस समय पाटन मे रहे हुए जेठमलजी ऋषि ने अहमदाबाद पत्र लिखा कि 'मूर्तिपूजको की तरफ से वाद करने वाला विद्वान् कौन आएगा ? मूर्तिपूजको की तरफ से एक वीरविजयजी झगड़े मे आयें तो अपने पक्ष के सब ऋषि राजनगर आने के लिए तैयार हैं," इस प्रकार का जेठमलजी ऋषि का पत्र पढकर प्रेमाजी ऋषि ने गलत पत्र लिखा कि "वीरविजयजी यहा पर नही है और न आने वाले हैं" इस मतलब का पत्र पढकर जेठमलजी ऋषि लगभग एक गाड़ी के बोझ जितनी पुस्तके लेकर अहमदाबाद आए और एक गली में उतरे, वहां बैठे हुए अपने पक्षकारो से सलाह मशविरा करने लगे। लीम्बडी गांव के रहने वाले देवजी ऋषि अहमदाबाद आने वाले थे परन्तु विवाद के भय से बीमारी का बहाना कर खुद नही आए और अपने शिष्य को भेजा। मूलजी ऋषि जो शरीर के मोटे ताजे थे और चलते वक्त हाँफते थे, इसलिए लोगो ने उनका नाम "पूज्यहाँफूस" ऐसा रख दिया था। इनके अतिरिक्त नरसिह ऋषि जो स्थूलबुद्धि थे। वसराम ऋषि आदि सब मिलकर ८१ ढुण्ढक साधु जो मुह पर मुंहपत्ति बाधे हुए थे, अहमदाबाद मे एकत्रित हुए।

शहर मे ये सर्वत्र भिक्षा के लिए फिरते थे। लोग आपस मे कहते थे – ये ढुण्ढिये एक मास भर का अन्न खा जायेगे। तब दीनानाथ जोशी ने कहा – "फिकर न करो आने वाला वर्ष ग्यारह महीने का है," जोशी के वचन से लोग निश्चिन्त हुए। श्रावक लोग उनके पास जाकर प्रश्न पूछते थे, परन्तु वे किसी को उत्तर न देकर नये-नये प्रश्न आगे धरते थे। तपागच्छ के पण्डितो के पास जो कोई प्रश्न आते उन सब का वे उत्तर देते, यह देखकर ढुण्ढकमत वाले मन मे जलते थे, इस प्रकार सब अपनी पार्टी के साथ एकत्रित हुए। इतने में सरकारी आदमी ने कहा – 'साहब अदालत मे बुलाते है," उस समय जो पण्डित नाम धराते थे, सभा मे जाने के लिए तैयार हुए; मन्दिर मार्गियो के समुदाय मे सब से आगे पं० वीरविजयजी चल रहे थे, उनकी मधुर वाणी और विद्वत्ता से परिचित लोग कह रहे थे – जयकमला वीरविजयजी को वरेगी। हितचिन्तक कहते थे – महाराज !

अच्छे शकुन देखकर चलियेगा, इतने में एक मालिन फूलमाला लेकर वीरविजयजी को सामने मिली इस शकुन को देखकर जानकार कहने लगे – ये शकुन जेठाजी ऋषि को हरायेंगे और उनके समर्थक नीचां देखेंगे। वीर-विजयजी से कहा – तुम्हारी कीर्ति देश-देश में फैलेगी। उस समय वीर-विजयजी के साथ खुशालविजयजी, मानविजयजी, भुजनगर से आये हुए आनन्दशेखरजी, खेड़ा के चौमासी दलोचन्दजी और साणंद से आए हुए लब्धिविजयजी आदि विद्वान् साधु चल रहे थे, इतना ही नही गाव-गांव के पढे लिखे श्रोता श्रावक जैसे वीसनगर के गलालशाह, जयचन्दशाह आदि। इन के अतिरिक्त अनेक साधु सूत्र-सिद्धान्त लेकर साथ मे चल रहे थे और धन खर्च ने मे श्रीमाली सेठ रायचन्द, बेचरदास, मनोहर, वक्तचन्द, महेता, मानचन्द आदि जिनशासन के कार्यो मे उल्लास पूर्वक भाग ले रहे थे। भाविक श्रावक केसर चन्दन वरास आदि घिसकर तिलक करके भगवान् की पूजा करके जिनाज्ञा का पालन कर रहे थे, नगर सेठ मोतीभाई धर्म का रग हृदय मे धरकर सर्व-गृहस्थो के आगे चल रहे थे।

इधर ऋषि जेठमलजी अपने स्थान से निकलकर छीपा गली में पहुँचे, वहां सभी जाति के लोग इकट्ठे हुए थे, वहां से ऋषि जेठमलजी और उनकी टुकड़ी अदालत द्वारा बुलाई गई, सब सरकारी सभा की तरफ चले, मूर्ति-पूजक और मूर्तिविरोधियो की पार्टियां अपने-अपने नियत स्थानो पर बैठी।

शास्त्रार्थ मे पूर्वपक्ष मन्दिर-मार्गियों का था, इसलिए वादी पार्टी के विद्वान् अपने-अपने शास्त्र-प्रमाणो को बताते हुए मूर्तिविरोधियो के मत का खण्डन करने लगे। जब पूर्व पक्ष ने उत्तर पक्ष की तमाम मान्यताओ को शास्त्र के आधार से निराधार ठहराया तब प्रतिमापूजा-विरोधी उत्तर पक्ष ने अपने मन्तव्य का समर्थन करते हुए कहा – "हम प्रतिमापूजा का खण्डन करते हैं, क्योकि प्रतिमा मे कोई गुण नही है, न सूत्र मे प्रतिमापूजा कही है, क्योकि दशवें अग सूत्र "प्रश्न व्याकरण" के आश्रवद्वार मे मूर्ति पूजने वालो को मन्दबुद्धि कहा है और निरंजन निराकार देव को छोडकर चैत्या-लय मे मूर्ति पूजने वाला मनुष्य अज्ञानी है।"

उत्तर पक्ष की युक्तियो को सुनकर प० वीरविजयजी प्रत्युत्तर देते हुए बोले – "तुम ढुण्ढक लोगो का प्रवाह जानवरो के जैसा है, जिस प्रकार जानवरो के टोले को एक आदमी जिधर ले जाना चाहता है, उसी तरफ ले जाता है, वही दशा तुम्हारी है, तुम्हारे आदि गुरु लौंका ने किसी को गुरु नही किया और मूर्तिपूजा आदि का विरोध कर अपना मत स्थापित किया, उसो प्रकार तुमने भी किसी भी ज्ञानी गुरु के विना उनकी बातो को लेकर उसके पन्थ का समर्थन किया है, जिससे एक को साधते हो और दस टूटते हैं। प्रतिमा मे गुण नही कहते हो तो उसमे दोष भी तो नही है और उसके पूजने से भक्तिगुण की जो पुष्टि होती है वह प्रत्यक्ष है। सूत्र-सिद्धान्त मे अरिहन्त भगवन्त ने जिनप्रतिमा पूजनीय कही है आश्रव द्वार मे प्रतिमापूजा वालो को मन्दबुद्धि कहा है – वह प्रतिमा जिन की नही, परन्तु नाग भूत आदि की समझना चाहिए ऐसा "अगविद्या" नामक ग्रन्थ मे कहा है। इतना ही नही वल्कि उसी "प्रश्नव्याकरण" अग के सवरद्वार से जिनप्रतिमा की प्रशसा की है और पूजने वाले के कर्मों को निर्वल करने वाली वताई है। छट्ठे अग "ज्ञातासूत्र" मे द्रौपदी के ठाठ के साथ पूजा करने का पाठ है, इसके अतिरिक्त विद्याचारणमुनि जिनप्रतिमा वन्दन के लिए जाते हैं, ऐसा भगवती सूत्र मे पाठ है। सूर्याभदेव के शाश्वत जिनप्रतिमाओं की पूजा करने का "राजप्रश्नीय" में विस्तृत वर्णन दिया हुआ है और "जीवाभिगम" सूत्र मे विजयदेव ने जिनप्रतिमा की पूजा करने का वर्णन विस्तारपूर्वक लिखा है, इस प्रकार जिन-जिन सूत्रो मे मूर्तिपूजा के पाठ थे वे निकालकर दिखाये जिस पर ढुण्ढक कुछ भी उत्तर नही न दे सके। आगे प० वीरविजयजी ने कहा – जव स्त्री ऋतुधर्म से अपवित्र वनती है, तव उसको "सूत्र-सिद्धान्त" पढना तथा पुस्तको को छूना तक शास्त्र मे निषेध किया है। यह कह कर उन्होने "ठाणाङ्ग" सूत्र का पाठ दिखाया, तव ढुण्ढको ने राजसभा में मजूर किया कि ऋतुकाल मे स्त्री को शास्त्र पढ़ना जैन सिद्धान्त मे वर्जित किया है। परन्तु यह वात शास्त्रार्थ के अन्तर्गत नही है हमारा विरोध प्रतिमा से है इसके उत्तर मे वीरविजयजी ने कहा – यज्ञ कराने वाला शय्यम्भव भट यूप के नीचे से निकली हुई शान्तिनाथ की प्रतिमा को देखकर प्रतिबोध पाया, इसी प्रकार अनेक भव्य मनुष्यों ने जिनप्रतिमा के दर्शन से जैनधर्म

को पाया और दीक्षा लेकर मोक्ष के अधिकारी हुए। प्रतिमा का विरोध करने वाले लौंका के अनुयायी सं० १५३१ मे प्रकट हुए, उसके पहले जैन नामधारी कोई भी व्यक्ति जिनप्रतिमा का विरोधी नही था। इस पर नृसिह ऋषि बोले – सूत्र में जिनप्रतिमा का अधिकार है यह बात हम मानते हैं, परन्तु हम स्वय प्रतिमा को जिन के समान नही मानते। नरसिह ऋषिजी के इन इकबाली बयानो से अदालत ने मूर्तिपूजा मानने वालो के पक्ष मे फैसला सुना दिया और जैनशासन की जय बोलता हुआ मूर्तिपूजक समुदाय वहां से रवाना हुआ।

बाद मे मूर्तिपूजा विरोधियों के अगुआओ ने संघ के नेताओं से मिल कर कहा – "हम शहर में झूठे तो कहलाये, फिर भी हम वीरविजयजी से मिल कर कुछ समाधान करले। इसलिए जेठमलजी ऋषि को वीरविजयजी मिलें ऐसी व्यवस्था करो" इस पर इच्छाशाह ने कहा – यह तो चोरों की रीति है, साहूकारों को तो खुल्ले आम चर्चा करनी चाहिए। तुम मूर्ति को उत्थापन करते हो, इस सम्बन्ध मे तुम से पूछे गये १३ प्रश्नो के उत्तर नही देते, राजदरबार में तुम झूठे ठहरे, फिर भी धीठ बनकर एकान्त में मिलने की बातें करते हो ?, मोटे ताजे मूलजी ऋषि अदालत में तो एक कोने में जाकर बैठे थे और अब एकान्त में मिलने की बात करते हैं ?, अगर अब भी जेठाजी ऋषि और तुमको शास्त्रार्थ कर जीतने की होंश हो तो हम बड़ी सभा करने को तैयार हैं। उनमें शास्त्र के जानकार चार पण्डितो को बुलायेंगे, दूसरे भी मध्यस्थ पण्डित सभा मे हाजिर होंगे। वे जो हार-जीत का निर्णय देंगे, दोनो पक्षो को मान्य करना होगा। तुम्हारे कहने मुजब एकान्त मे मिलकर कुलड़ी में गुड़ नही भागेंगे।

सभा करने की बात सुनकर प्रतिपक्षी बोले – हम सभा तो नही करेंगे, हमने तो आपस मे मिलकर समाधान करने की बात कही थी।

सभा करने का इनकार सुनने के बाद प्रतिमा पूजने वालों का समुदाय और प्रतिमा-विरोधियो का समुदाय अपने-अपने स्थान गया।

अपने स्थानक पर जाने के बाद जेठाजी ऋषि ने हकमाजी ऋषि को कहा – आज राजनगर मे अपने धर्म का जो पराजय हुआ है, इसका

मुख्य कारण तुम हो। हमने पहले ही तुमको पूछाया तो तुमने लिखा कि शहर मे शास्त्रार्थ करने वाला कोई पण्डित नही है। तुम्हारे इस झूठे पत्र के भरोसे हम सब हर्षपूर्वक यहां आये और लूटे गये। इस प्रकार एक दूसरे की भूलें निकालते हुए, ढुण्ढक अहमदाबाद को छोड कर चले गये। शहर से बहुत दूर निकल जाने के बाद वे गाव-गाव प्रचार करने लगे कि राजनगर की अदालत मे हमारी जीत हुई। ठीक तो है, सुवर्ण थाल से कासे का रणकार ज्यादा ही होता है। विष को बघारना इसी को तो कहते हैं, "काटने वाला घोड़ा और आंख से काना", "झूठा गाना और होली का त्यौंहार", "रण का जगल और पानी खारा" इत्यादि कहावते ऐसे प्रसंगों पर ही प्रचलित हुई हैं।

रास के रचियता प० श्री उत्तमविजयजी जो उस शास्त्रार्थ के समय वहां उपस्थित थे, रास की समाप्ति मे अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहते हैं –

"जैनिंदक वस्त लहिइंरे ॥ जै० ॥ निंदा तेनो नवी कहिइंरे ॥ जै० ॥
अहमदावाद सेहर मजार रे ॥ जै० ॥ सहु चल्या हता दरबार रे ॥जै०॥३॥
करयो न्याय अदालत मांये रे ॥जै०॥ त्यारे अमे गया ता साथे रे ॥जै०॥
त्यारे ढुण्ढ सभा थी भागा रे ॥जै०॥ जिनसासन डंका वागा रे ॥जै०॥४॥
ए वातो नजरें दीठी रे ॥ जै० ॥ हइयामां लागी मीठी रे ॥ जै० ॥
जब जाजा वरसते थाय रे ॥ ज० ॥ तब कांइक वीसरि जाय रे ॥जै०॥५॥
पछे कोइ नर पुछाय रे ॥ जै० ॥ आडुं अवलुं बोलाय रे ॥ जै० ॥
जूठा बोला करी गाय रे ॥ जै० ॥ दुनिया जीति नवि जाय रे ॥जै०॥६॥
अंग चौथुं जे समवाय रे ॥ जै० ॥ जूठा ना पाप गवाय रे ॥ जै० ॥
अमें जूठ नथी कहेंवाय रे ॥ जै० ॥ आटा मां लूण समाय रे ॥जै०॥७॥
जिन सासन फरसी छाय रे ॥ जै० ॥ साचा बोला मुनि राय रे ॥जै० ॥
जे मृग तृष्णा जल धाय रे ॥ जै० ॥ ते आपमति कहेवाय रे ॥जै०॥८॥
अमे अवलंब्या गुरु पाय रे ॥ जै० ॥ साचुं सोनु ते कसाय रे ॥जै०॥
साची वातों अमे भाषी रे ॥ जै० ॥ छे लोक हजारो साखी रे ॥जै०॥९॥

अढार अठयोत्तर वरसे रे ॥ जै० ॥ सुदि पौष नी तेरस दिवमें रे ॥जै०॥
कुमति ने शिक्षा दीधी रे ॥ जै० ॥ तव रास नी रचना कीधी रे ॥जै०॥१७॥
राधनपुर ना रहेवासी रे ॥ जै० ॥ तपगच्छ केरा चौमासी रे ॥ जै० ॥
खुशालविजयजी नु सीस रे ॥ जै० ॥ कहे उत्तमविजय जगीस रे ॥जै०॥११॥
जे नारी रस भर गास्ये रे ॥ जै० ॥ सोभाग्य अषंडित थास्ये रे ॥ जै० ॥
सांभल से रास रसीला रे ॥ जै० ॥ ते लेस्यें अविचल लीला रे ॥जै०॥१२॥

"॥इति लुंपक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास संपूर्ण । सं० १८७८ ना वर्षे माघ मासे कृष्णपक्षे ५ वार चन्द्र पं० वीरविजयजी नीं आज्ञा थीं कत्तपुरा गच्छे राजनगर रहेवासी पं० उत्तमविजय । स० १८८२ रः वर्षे लिपिकृतमस्ति पाटन नगरे पं० मोतीविजय ॥"

'जो निन्दक होता है, उसके वास्तविक स्वभाव का वर्णन करना वह निन्दा नहो है । अहमदाबाद मे जव दोनों पार्टिया कोर्ट मे जाकर लड़ी थी और अदालत ने जो फंसला दिया था, उस समय हम भी अदालत में उनके साथ हाजिर थे । ढुण्ढको के विपक्ष मे फंसला हुआ और जैनशासन का डंका वजा, तव ढुण्ढक सभा को छोड़ कर चले गये थे । यह हमने अपनी आंखो से देखी वात है । जव कोई भी घटना घटती है और उसको अधिक समय हो जाता है, तव वह विस्मृत हो जाती है । लम्वे काल के वाद उस घटना के विषय मे कोई पूछता है तो वास्तविक स्थिति से ज्यादा कम भी कहने मे आ जाता है और तव जानकार लोग उसको असत्यवादी कहते हैं, हालाकि कहने वाला विस्मृति के वश ऊचा-नीचा कह देता है, परन्तु दुनिया को कौन जीत सकता है, वह तो उसको असत्यवादी मान लेती हैं । चौथे समवायांग सूत्र मे असत्य वोलने का पाप वताया है, इसलिये जो वात ज्यों वनी है हम वही कहते हैं । वर्णन में असत्य की मात्रा आटे मे नमक के हिसाव से रह सकती है, अधिक नही । जिन्होने जैनशासन को छाया का भी स्पर्श किया है, वैसे मुनि तो सत्यभाषी ही कहलाते हैं । जो मृग की तरह मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते हैं, वे आपमति कहलाते हैं । हमने तो गुरु के चरणो का आश्रय लिया है । जिस प्रकार

सच्चा सोना कसौटी पर कसा जाता है, हमारी वातों की सच्चाई के हजारो लोग साक्षी हैं ।

सं० १८७८ के पौष सुदि १३ के दिन जब दुर्बुद्धि मूर्तिलोपको को शिक्षा दी, उस समय इस रास की रचना की है । राधनपुर रहने वाले तपागच्छ के चौमासी श्री खुशालविजयजी के शिष्य उत्तमविजयजी कहते हैं – जो नारी इस रास को रसपूर्वक गायेगी उसका सौभाग्य अखडित होगा और जो इस रसपूर्ण रास को सुनेंगे वे शाश्वत सुख पायेंगे ।

"इस प्रकार लुम्पक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास पूर्ण हुआ । सं० १८७९ के माघ कृष्णपक्ष मे ५ सोमवार को पंडित वीरविजयजी की आज्ञा से कत्तपुरागच्छीय राजनगर के निवासी पं० उत्तमविजयजी ने रास की रचना की और सं० १८८२ के वर्ष मे पं० मोतीविजय ने पाटन नगर में यह प्रति लिखी ॥"

उपर्युक्त पं० उत्तमविजयजी के रास से और वाडीलाल मोतीलाल शाह के जजमेन्ट से प्रमाणित होता है कि "समकितसार" के निर्माण के बाद स्थानकवासियों का प्रचार विशेष हो रहा था, इसलिए इस प्रचार को रोकने के लिए अहमदावाद के जैनसघ ने स्थानकवासियों के सामने कड़ा प्रतिवन्ध लगाया था । परिणामस्वरूप अदालत द्वारा दोनों पार्टियो से सभा में शास्त्रार्थ करवा कर निर्णय किया था । निर्णयानुसार स्थानकवासी पराजित होने से उन्हे अहमदावाद छोड़ कर जाना पड़ा था ।



प्रभुवीर - पट्टावली (२)

स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा संकलित "प्रभुवीर पट्टावली" के पृ० १५७ मे ३३ पट्टधरो के उपरान्त आगे के पट्टधरों के नाम निम्न प्रकार से दिये है –

३४ वर्धनाचार्य	४२ जयदत्ताचार्य
३५ भूराचार्य	४३ जयदेवाचार्य
३६ सूदनाचार्य	४४ जयघोपाचार्य
३७ सुहस्ती	४५ वीरचक्रधर
३८ वर्धनाचार्य	४६ स्वातिसेनाचार्य
३९ सुवुद्धि	४७ श्री वन्ताचार्य
४० शिवदत्ताचार्य	४५ सुमतिआचार्य (लौंकाशाह के गुरु)
४१ वरदत्ताचार्य	

अव हम पजाव की पट्टावली और श्री मणिलालजी की पट्टावली के नाम तुलनात्मक दृष्टि ने देखते है तो वे एक दूसरे से मिलते नहीं हैं, इसका कारण यही है कि ये दोनो पट्टावलिया कल्पित है और इसी कारण से पजावी स्थानकवासियो की पट्टावली के अनुसार लौंकाशाह के गुरु ज्ञानजी यति का पट्ट न० ६० वां दिया है, तव श्री मणिलालजी ने ज्ञानजी यति के स्थान पर "सुमति" आचार्य नाम लिखा है और उनको ४८ वा पट्टधर लिखा है ।



स्थानकवासी पंजाबी साधुओं की पट्टावली (३)

पंजाब के स्थानकवासियो की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोंध" पृ० १६३ मे दी गई है, उसमे देवर्द्धिगणि के बाद के १८ नाम छोड़कर शेष ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे है –

४६	हरिसेन	५३	महासेन
४७	कुशलदत्त	५४	जयराज
४८	जीवनर्षि	५५	गजसेन
४९	जयसेन	५६	मिश्रसेन
५०	विजयर्षि	५७	विजयसिंह
५१	देवर्षि	५८	शिवराज
५२	सूरसेन	५९	लालजीमल्ल

६० ज्ञानजी यति



सुत्तागमों की प्रस्तावनों की स्थानकवासी पट्टावली (४)

१ सुधर्मा	२ जम्बू	३ प्रभव
४ शय्यम्भव	५ यशोभद्र	६ सम्भूति
७ आर्य भद्रबाहु	८ स्थूलभद्र	९ आर्य महागिरि
१० बलिस्सह	११ सन्तायरिय	१२ श्यामाचार्य
१३ साण्डिल्य	१४ जिनधर्म	१५ समुद्र
१६ नन्दिल	१७ श्री नागहस्ती	१८ रेवत
१९ खन्दिल	२० सिंहगिरि	२१ श्रीमन्त
२२ नागार्जुन	२३ गोविन्द	२४ भूतदिन्न
२५ लोहाचार्य	२६ दुप्रस्सह	२७ देवर्द्धिगणि
२८ वीरभद्र	२९ शिवभद्र	३० जसवीर
३१ वीरसेन	३२ णिज्जामय	३३ जससेन
३४ हर्षसेन	३५ जयसेन	३६ जग्रपाल गणि
३७ देवर्षि	३८ भीमसेन	३९ कर्मसिंह
४० राजर्षि	४१ देवसेन	४२ शकरसेन
४३ लक्ष्मीलाभ	४४ रामर्षि	४५ पद्माचार्य
४६ हरिशर्म्मा	४७ कुशलप्रभ	४८ उन्मूनाचार्य
४९ जयसेन	५० विजयर्षि	५१ श्री देवचन्द्र
५२ सूरसेन	५३ महासिंह	५४ महासेन
५५ जयराज	५६ गजसेन	५७ मित्रसेन
५८ विजयसिंह	५९ शिवराज	६० लालाचार्य

६१ ज्ञानाचार्य	६२ भाणा	६३ रूपाचार्य
६४ जीवर्षि	६५ तेजराज	६६ हरजी
६७ जीवराज	७८ घनजी	६९ विस्सणायरियो
७० मनजी	७१ नाथूरामाचार्य	७२ लक्ष्मीचन्द्र
७३ छित्तरमल	७४ राजाराम	७५ उत्तमचन्द
७६ रामलाल	७७ फकीरचन्द	७८ पुप्फभिक्खू
७९ सुमित्त	८० जिणचन्द	

(२०११ में जिनचन्द्र ने यह पट्टावली बनाई)



श्रमण - सुरतरु की स्थानकवासि - पट्टावली (२)

पुप्फभिक्खू की पट्टावली लिखने के बाद स्थानकवासी मुनि श्री मिश्रीमलजी (मरुधर केसरी) निर्मित "श्रमणसुरतरु" नामक एक पट्टक हमारे देखने मे आया, उसमें दी गई सुधर्मा स्वामी से ज्ञानजी ऋषि पर्यन्त के ६७ नाम पट्टावली में लिखे गए हैं। तव पुप्फभिक्खू की नूतन पट्टावली में ज्ञानजी ऋषि को "ज्ञानाचार्य" नाम दिया है, और ६१ वा पट्टधर बताया है, इस प्रकार इन दो पट्टावलियों में ही छः नाम कम ज्यादह आते हैं और जो नाम लिखे गए हैं उनमे से छः नाम दोनों में एक से मिलते हैं। वे ये हैं –

२८ आ० वीरभद्रजी
३१ आ० वीरसेनजी
३६ आ० जगमालजी
३८ आ० भीमसेनजी
४० आ० राजर्षिजी
४१ आ० देवसेनजी

उपर्युक्त छः आचार्यों के नाम और नम्बर दोनों पट्टावलियों में एक से मिलते हैं' तव शेष देवर्द्धिगणि के बाद के ३४ नामों मे से एक भी नाम एक दूसरे के साथ मेल नही खाता, इससे प्रमाणित होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के बाद के ज्ञानजी यति तक के सभी नाम कल्पित हैं, जिनकी पहिचान यह है कि इन सब नामों के अन्त में 'जी' और 'महाराज' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, 'जी' कारान्त और 'महाराजान्त' नाम मौलिक नही है,

यह बात नामों की रचना और उनके प्रयोगों से ही पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं।

सुधर्मा से देवर्द्धिगणि तक के २८ नामो मे भी लेखक महोदय ने अनेक स्थानो मे अशुद्धियां घुसेड़ दी है, इनके दिये हुए देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक के नाम वास्तव मे किसी की गुरु-परम्परा के नाम नही हैं, किन्तु ये माथुरी वाचनानुयायी वाचक-वंश के नाम है, जिसका खरा क्रम निम्न प्रकार का है –

९ श्री आर्य महागिरि	१० श्री वलिस्सहसूरि
११ ,, स्वास्तिसूरि	१२ ,, श्यामार्य
१३ ,, जीतधर-शाण्डिल्य	१४ ,, आर्य समुद्र
१५ ,, आर्य मंगू	१५ ,, आर्य नन्दिल
१७ ,, नागहस्ती	१८ ,, रेवती नक्षत्र
१९ ,, ब्रह्मद्वीपकसिंह	२० ,, स्कन्दिल
२१ ,, हिमवान्	२२ ,, नागार्जुन
२३ ,, गोविन्द वाचक	२४ ,, भूतदिन्न
२५ ,, लोहित्य	२६ ,, दूष्यगणि
२७ ,, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण	

'श्रमणसुरतरु' के लेखक महाशय ने ११ वें नम्बर में सुहस्तीसूरि को रखा है, जो ठीक नही, क्योकि महागिरि के बाद उनके अनुयोग-धर शिष्यो के नाम ही आते हैं, सुहस्ती का नही।

१२ वें नम्बर मे आचार्यश्री शान्ताचार्य लिखा है, इसी लाइन मे नन्दिलाचार्य नाम लिखा है, वे भी यथार्थ नही हैं, खरा नाम स्वात्याचार्य है। सुप्रतिबुद्ध का नाम वाचक-परम्परा में नही है, किन्तु सुहस्तिसूरि की की शिष्य-परम्परा में है और नन्दिल का नाम १६ वे नम्बर में आता है।

१३ वां नम्बर स्कन्दिलाचार्य का दिया है, जो गलत है। १३ वे नम्बर के श्रुतधर जीतश्रुतधर शाण्डिल्य है, स्कन्दिल नही। स्कन्दिलाचार्य का

नम्बर २० वां है, १३ वां नही, कोष्टक में आर्यदिन्न का नाम भी गलत लिखा है, आर्यदिन्न आर्य सुहस्ती की परम्परा के स्थविर थे और इनका पट्ट नम्बर ११ वां था, १३ वां नही।

१४ वें नम्बर में जीतधर स्वामी का नाम लिखा है, जो ठीक नहीं है, क्योकि जीतधर विशेष नाम नही है, किन्तु १३ वे नम्बर के आर्य शाण्डिल्य का विशेषण मात्र है।

१५ वे नम्बर में आर्य समुद्र का नाम दिया है पर आर्य समुद्र १४ वें नम्वर मे हैं और आगे कोष्टक के श्री वज्रधर स्वामी ऐसा नाम लिखा है, यह भी यथार्थ नही है, क्योकि इस नाम के कोई भी स्थविर हुए ही नही हैं।

१६ वें नम्बर के आगे "वयर-स्वामी" लिखा है, जो गलत है, इस नम्बर के नन्दिलाचार्य स्थविर ही हुए हैं, इनके आगे वज्रशाख १, चन्द्र-शाखा २, निवृत्तिशाखा ३ और ४ विद्याधरीशाखा नाम लिखे हैं, ये भी यथार्थ नही हैं। वज्रस्वामी से वाज्रीशाखा जरूर निकली है, "चन्द्र" नाम कुल का है शाखा का नही इसी तरह "निवृति" नही किन्तु "निवृंति" नाम है और वह नाम शाखा का नही "कुल" का है, इसी तरह "विद्याधर" भी "कुल" का नाम है। शाखा का नही।

१७ वें नम्बर के आचार्य "रेवतगिरि" "श्री आर्यरक्षित" और श्री "धरणीधर" इनमे से पहले और तीसरे नाम के कोई श्रुतधर हुए ही नहीं है और आर्यरक्षित हुए हैं, तो इनका नम्वर २० वां है, १७ वा नही।

१८ वें और १९ वें नम्बर के आगे आचार्य "श्री सिंहगणि" और "स्थविर-स्वामी" ये नाम लिखे हैं, परन्तु दोनो नाम गलत है, क्योंकि इन नामो के कोई श्रुतधर हुए ही नही, सिंहगणि के आगे शिवभूति का नाम लिखा है, सो ठीक है परन्तु शिवभूति वाचक-वंश में नही किन्तु देवर्द्धिगणि की गुर्वावली में है, यह बात लेखक को समझ लेना चाहिए थी।

२० वें नम्बर में आचार्य शाण्डिल्य का नाम लिखा है, और कोष्टक में आर्य नागहस्ती एवं आर्य भद्र के नाम हैं, परन्तु ये शाण्डिलाचार्य श्रुतधर शाण्डिल्य नही, क्योकि श्रुतधर शाण्डिल्य का नाम १३ वां है, जो पहले लेखक ने खन्दिलाचार्य के रूप में लिख दिया है। प्रस्तुत शाण्डिल्य आर्य नागहस्ती और आर्य भद्र ये तीनों नाम देवर्द्धिगरिण की गुर्वावली के हैं और गुर्वावली मे इनके नम्बर क्रमशः ३३, २२ और २० हैं, जिनको लेखक ने ऊटपटांग कही के कही लिख दिए हे।

२५ वें नम्बर के आगे श्री लोहगरिण नाम लिखा है, सो ठीक नही, शुद्ध नाम "लौहित्यगरिण" है।

२६ नम्बर के आगे इन्द्रसेनजी लिखकर कोष्टक मे दूष्यगरिण लिखा है, वास्तव मे "इन्द्रसेनजी" कोई नाम ही नही है, शुद्ध नाम "दूष्य-गरिण" ही है।

जैनसंघ तीर्थयात्रा को जा रहा था। लौंकाशाह जहां अपने मत का प्रचार कर रहे थे वहां संघ पहुंचा और वृष्टि हो जाने के कारण संघ कुछ समय तक रुका। संघजन लौंका का उपदेश सुनकर "दयाधर्म के अनुयायी बन गए और संघ को आगे ले जाने से रुक गए," यह कल्पित कहानी स्थानकवासी सम्प्रदाय की अर्वाचीन पट्टावलियो में लिखी मिलती है; परन्तु न तो सिरोही स्टेट के अन्दर अहवाड़ा अथवा अर्हटवाड़ा नामक कोई गाव है, न इस कहानी की सत्यता ही मानी जा सकती है, तव अहवाड़ा में लौंका का जन्म बताने वाली बात सत्य कैसे हो सकती है। सं० १४७२ के कार्तिक सुदि १५ को गुरुवार होना पचाग गरिणत के आधार से प्रमाणित नही होता, न उनके स्वर्गवास का समय ही १५४६ के चैत्र सुदि ११ को होना सिद्ध होता है।

उपर्युक्त दोनो संवत् मनघडन्त लिखे हैं, क्योकि उन दोनो तिथियो मे "एफेमेरिज" के आधार से लिखित वार नहीं मिलते। अब रही दीक्षा की बात सो लौंकागच्छ की किसी भी पट्टावली में लौंकाशाह के दीक्षा लेने की बात नही लिखी। प्रत्युत केशवजी ऋषि ने लौंका को अदीक्षित माना है,

तब २१ वी सदी के स्थानकवासी श्रमणसंघ और "श्रमणसुरतरु" के लेखक मुनिजी को लौंकाशाह के जन्म, दीक्षा और स्वर्गारोहण के समय का किस ज्ञान से पता लगा, यह सूचित किया होता तो इस पर कुछ विचार भी हो सकता था। खरी बात तो यह है कि पट्टावली-लेखको तथा लौंका-गच्छ को अपना गच्छ कहने वालों को लौंकाशाह को गृहस्थ मानने में संकोच होता था, इसलिये पंजावी पट्टावली मे से लौंकाशाह को पहले से ही अदृश्य वना दिया था, अब मारवाड के श्रमणो को भी अनुभव होने लगा कि लौंकाशाह को साधु न मानला अपने गच्छ को एक गृहस्थ का चलाया हुआ गच्छ मानना है, इसी का परिणाम है कि 'श्रमणसुरतरु' के लेखक ने लौंकाशाह को दीक्षा दिलाकर "अपने गच्छ को श्रमण प्रवर्तितगच्छ वताने की चेष्टा की है," कुछ भी करें, लौंका के अनुयायियो की परम्परा गृहस्थोपदिष्ट मार्ग पर चलने वाली है, वह इस प्रकार की कल्पित कहानियो के जोड़ने से आगमिक श्रमण-परम्पराओ के साथ जुड़ नही सकती।

प्रारम्भिक पट्टावलियो के विवरण मे लौंकागच्छीय और स्थानक-वासियो की पट्टावलियो के सम्बन्ध मे हम लिख आए है कि ये सभी पट्टा-वलियां छिन्नमूलक हैं। देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक के २७ नामो से भी इनका एकमत्य नही है। किसो ने देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण को आर्य-महागिरि की परम्परा के मानकर नन्दी की स्थविरावली मे लिया है, तब किसी ने उन्हें आर्य-सुहस्ती की गुरु-परम्परा के स्थविर मानकर कल्पसूत्र की स्थविरावली मे घसीटा है। वास्तव मे दोनों प्रकार के लेखक देवर्द्धिगणि-क्षमा-श्रमण की परम्परा लिखने मे मार्ग भूल गये है।

देवर्द्धिगणि-क्षमा-श्रमण के वाद के कतिपय स्थविरो को छोड़कर "प्रभुवीर पट्टावली" मे उसके लेखक श्री मणिलालजी ने लौंकाशाह के गुरु तक के जो नाम लिखे है, वे लगभग सव के सव कल्पित हैं। उधर पंजाब के स्थानकवासियो की पट्टावली मे जो नाम देवर्द्धिगणि के वाद १८ नामो को छोड़कर शेष लिखे गए है, उनमें से भी अधिकाश कल्पित ही ज्ञात होते हैं, क्योकि आधुनिक स्थानकवासी साधु उनमे के अनेक नामो को भिन्न

प्रकार से लिखते हैं। पजाब की पट्टावलियो मे देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के वाद १८ नाम छोड़कर ज्ञानजी यति तक के जो नाम मिलते है, उनसे भी नही मिलने वाले आधुनिक स्थानकवासी पजाबी साधु श्री फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के दूसरे भाग के प्रारम्भ मे दी गई पट्टावली मे उपलब्ध होते हैं, जो १८ नाम अन्य पट्टावलियों में नही मिलते, वे भी इसमे लिखे मिलते हैं।



पुष्फभिक्खू की पट्टावली (६)

२७ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण	२८ वीरभद्र	२९ शिवभद्र
३० जसवीर	३१ वीरसेन	३२ णिज्जामय
३३ जससेन	३४ हर्षसेन	३५ जयसेन
३६ जयपाल गणि	३७ देवर्षि	३८ भीमसेन
३९ कर्मसिंह	४० राजर्षि	४१ देवसेन
४२ शंकरसेन	४३ लक्ष्मीलाभ	४४ रामर्षि
४५ पद्माचार्य	४६ हरिशर्म्मा	४७ कुशलप्रभ
४८ उन्मनाचार्य	४९ जयसेन	५० विजयर्षि
५१ देवचन्द्र	५२ सूरसेन	५३ महासिंह
५४ महासेन	५५ जयराज	५६ गजसेन
५७ मित्रसेन	५८ विजयसिंह	५९ शिवराज
६० लालाचार्य	६१ ज्ञानाचार्य	६२ भाणाचार्य
६३ रूपाचार्य	६४ जीवर्षि	६५ तेजराज
६६ हरजी	६७ जीवराज	६८ धनजी
६९ विस्सणायरिओ	७० मनजी	७१ नाथूरामाचार्य
७२ लक्ष्मीचन्द्र	७३ छितरमल	७४ राजाराम
७५ उत्तमचन्द	७६ रामलाल	७७ फकीरचन्द
७८ पुष्पभिक्षु	७९ सुमित्र	८० जिनचन्द्र

उपर्युक्त ८० नामो मे से देवर्द्धिगणि पर्यन्त के २७ नाम ऐतिहासिक हैं। इनमे भी कतिपय नाम अस्त-व्यस्त और अशुद्ध बना दिये हैं। २७ मे से ११वा, १४वां, २०वां, २१वां, २५वां और २६ वां, ये सात नाम वास्तव

मे देवर्द्धिगरिण की वाचक-वशावली के नही है और न देवर्द्धि की गुरु-परम्परा के ये नाम हैं, तथा २८ से लेकर ६० तक ये नाम कल्पित हैं। इन नामों के आचार्यो या साधुओ के होने का उल्लेख माथुरी या वालभी स्थविरावली मे अथवा तो अन्य किसी पट्टावली स्थविरावली मे नही है। ६१वां ज्ञानाचार्य वास्तव मे वृद्धपौपधशालिक आचार्य ज्ञानचन्द्रसूरि हैं। इसके आगे के ६२ से लेकर ८० तक के १८ नामों मे प्रारम्भ के कतिपय नाम लौंकागच्छ के ऋषियो के हैं, तव अन्तिम कतिपय नाम पुष्पभिक्षु के वड़ेरों के और उनके शिष्य-प्रशिष्यों के हैं।

पजाव के स्थानकवासियो की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोंव" पृ० १६३ मे दी है उसमे देवर्द्धिगरिण के वाद के १८ नाम छोडकर ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे हैं—

४६ हरिसेन	४७ कुशलदत्त	४८ जीवनर्षि
४९ जयसेन	५० विजयर्षि	५१ देवर्षि
५२ सूरसेन	५३ महासेन	५४ जयराज
५५ गजसेन	५६ मिश्रसेन	५७ विजयसिंह
५८ शिवराज	५९ लालजीमल्ल	६० ज्ञानजी यति

पजावी साधु फूलचन्दजी ने अपनी नवीन पट्टावली मे देवर्द्धिगरिण-क्षमाश्रमरण के वाद जो २८ से ४५ तक के नम्बर वाले नाम लिखे हैं वे तो कल्पित है ही, परन्तु उसके वाद के भी ४६ से ६० नम्बर तक के १५ नामो मे से ७ नाम फूलचन्दजी की पट्टावली के नामो से नही मिलते। ४६वां पट्टधर का नाम पजावी पट्टावली मे हरिसेन है, तव फूलचन्दजी नें उसके स्थान पर हरिशर्म्मा लिखा है। प० पट्टावली मे ४७वां नाम कुशलदत्त है, तव फूलचन्दजी ने उसे कुशलप्रभ लिखा है। प० पट्टावली मे ४८वां नाम जीवनर्षि है, तव फूलचन्दजी ने उसके स्थान पर "उमणायरियो" लिखा है। ५१वा नाम प० पट्टावली मे "देवर्षि" है तब फूलचन्दजी नें "देवचन्द्र" लिखा है। प० पट्टावली मे ५३वां नाम "महासेन" मिलता है तव फूलचन्दजी ने "महासिंह" लिखा है। प० पट्टावली में ५४वां नाम

जयराज है तब फूलचन्दजी ने उस नम्बर के साथ "महासेन" लिखा है और "जयराज" को नम्बर ५५वां में लिया है, और पं० पट्टावली मे ५५वे नंबर के साथ गजसेन का नाम लिखा है। प० पट्टावली में ५६वां पट्टधर "मिश्रसेन" बताया है, तब फूलचन्दजी ने इन्हीं को "मित्रसेन" लिखा है और नम्बर ५७वां दिया है। पं० पट्टावली मे ५७वां नाम "विजयसिंह" का है, तब फूलचन्दजी ने विजयसिंह को ५८वें नम्बर में रखा है। पं० पट्टावली में ५८–५९–६० नम्बर क्रमशः शिवराज, लालजीमल्ल, और ज्ञानजी यति को दिए है, तब फूलचन्दजी ने इन्ही को ५९–६०–६१ नम्बर में रखा है।

उपर्युक्त नामो की तुलना से जाना जा सकता है कि पंजाबी साधु श्री फूलचन्दजी सूत्रो के पाठो के परिवर्तन में और नये नाम गढने में सिद्ध-हस्त प्रतीत होते है। इन्होंने स्थविरों के नामों में ही नही आगमों के पाठों मे भी अनेक परिवर्तन किये हैं और कई पाठ मूल में से हटा दिये हैं। इस हकीकत की जानकारी पाठकगण आगे दिये गए शीर्षकों को पढ़कर हासिल कर सकते हैं।

जैन आगमों में काट-छांट :

लौंकामत का प्रादुर्भाव विक्रम सं० १५०८ मे हुआ था और इस मत में से १८वी शती के प्रारम्भ मे अर्थात् १७०९ मे मुख पर मुहपत्ति बांधने वाला स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला, इत्यादि वातों का विस्तृत वर्णन लौंकागच्छ की पट्टावली में दिया जा चुका है। शाह लौंका ने तथा उनके अनुयायी ऋषियो ने मूर्तिपूजा का विरोध अवश्य किया था, परन्तु जैन आगमो मे काटछाट करने का साहस किसी ने नही किया था।

सर्वप्रथम स० १८६५ मे स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी ने "समकितसार" नामक ग्रन्थ लिखकर मूर्तिपूजा के समर्थन में जो आगमों के पाठ दिये थे उनकी समालोचना करके अर्थ-परिवर्तन द्वारा अपनी मान्यता

का बचाव करने की चेष्टा की, परन्तु मूल-सूत्रों में परिवर्तन अथवा काट-छांट करने का कातर प्रयास किसी ने नहीं किया।

उसके बाद स्थानकवासी साधु श्री अमोलकऋषिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया। उस समय भी ऋषिजी ने कहीं-कही शब्द परिवर्तन के सिवा पाठों पर कटार नही चलाई थी।

विक्रम की २१ वी शती के प्रथम चरण में उन्हीं ३२ सूत्रों को "सुत्तागमे" इस शीर्षक से दो भागों मे प्रकाशित करवाने वाले श्री पुष्फ-भिक्खू (श्री फूलचन्दजी) ने उक्त पाठो को जो उनकी दृष्टि में प्रक्षिप्त थे निकालकर ३२ आगमो का संशोधन किया है। उन्होने जिन-जिन सूत्रो मे से जो-जो पाठ निकाले हैं उनकी सक्षिप्त तालिका नीचे दी जाती है –

(१) श्री भगवती सूत्र मे से शतक २० । ३०९ । सू० ६८३ – ६८४ । भगवतीसूत्र शतक ३ । ३०२ मे से ।
भगवतीसूत्र के अन्दर जघाचारण विद्याचारणों के सम्बन्ध मे नन्दीश्वर मानुषोत्तर पर्वत तथा मेरु पर्वत पर जाकर चैत्यवन्दन करने के पाठ मूल में से उड़ा दिए गए हैं।

(२) ज्ञाताधर्म-कथांग में द्रौपदी के द्वारा की गई जिनपूजा सम्बन्धी सारा का सारा पाठ हटा दिया है।

(३) स्थानांग सूत्र मे आने वाले नन्दीश्वर के चैत्यों का अधिकार हटाया गया है।

(४) उपासक-दशांग सूत्र के आनन्द श्रावकाध्ययन में से सम्यक्त्वोच्चारण का आलापक निकाल दिया है।

(५) विपाकश्रुत मे से मृगारानी के पुत्र को देखने जाने के पहले मृगादेवी ने गौतम स्वामी को मुंहपत्ति से मुंह बांधने की सूचना करने वाला पाठ उड़ा दिया है।

(६) औपपातिक सूत्र का मूल पाठ जिसमें अम्बडपरिव्राजक के सम्यक्त्व उचरने का अधिकार था, वह हटा दिया गया है, क्योंकि उसमें

"अरिहन्तचैत्य" और "अन्य तीर्थिक परिगृहीत अरिहन्त चैत्यों" का प्रसग आता था।

(७) राजप्रश्नीय सूत्रों में सूर्याभदेव के विमान मे रहे हुऐ सिद्धायतन में जिनप्रतिमाओ का वर्णन और सूर्याभदेव द्वारा किये हुए उन प्रतिमाओ के पूजन का वर्णन सम्पूर्ण हटा दिया है।

(८) जीवाभिगम सूत्र मे किये गए विजयदेव की राजधानी के सिद्धायतन तथा जिनप्रतिमाओं का, नन्दीश्वर द्वीप के जिनचैत्यों का रुचक तथा कुण्डल द्वीप के जिनचैत्यो का, वर्णन निकाल दिया गया है। श्री जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देश में विरुद्ध जाने वाला जो पाठ था उसको हटा दिया है।

(९) इसी प्रकार जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि सूत्रो में आने वाले सिद्धायतन कूटो मे से "आयतन" शब्द को हटाकर "सिद्धकूट" ऐसा नाम रक्खा है।

(१०) वहार-सूत्र के प्रथम उद्देशक के ३७ वे सूत्र के द्वितीय भाग में आने वाले "भाविजिनचेइअ" शब्द को हटा दिया है।

उपर्युक्त सभी पाठ स्थानकवासी साधु धर्मसिहजी से लगाकर वीसवीं सदी के स्थानकवासी साधु श्री अमोलक ऋषिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया तव तक सूत्रो में विद्यमान थे।

गतवर्ष सं० २०१९ के शीतकाल मे जब हमने श्री पुप्फभिक्खू सम्पादित "सुत्तागमे" नामक जैनसूत्रों के दोनों अश पढ़े तो ज्ञात हुआ कि सूत्रो के इस नवीन प्रकाशन में श्री फूलचन्दजी (पुप्फभिक्खू) ने वहुत ही गोलमाल किया है। सूत्रों के पाठ के पाठ निकालकर मूर्तिविरोधियों के लिए मार्ग निष्कण्टक वनाया है। मैंने प्रस्तुत सूत्रो के सम्पादन मे की गई काट-छांट के विषय मे स्थानकवासी श्री जैनसघ सहमत है या नही, यह जानने के लिए एक छोटा सा लेख तैयार कर "जनवाणी" कार्यालय जयपुर (राजस्थान) तथा चांदनी चौक देहली नं० ६ "जैनप्रकाश" कार्यालय को

एक-एक नकल प्रकाशनार्थ भेजी, परन्तु उक्त लेख स्थानकवासी एक भी पत्रकार ने नही छापा, तब इसकी नकल भावनगर के "जैन" पत्र के ऑफिस को भेजी और वह लेख जैन के "भगवान् महावीर-जन्म कल्याणक विशेषाङ्क" में छपकर प्रकट हुआ, हमारा वह सक्षिप्त लेख निम्नलिखित था ।

श्री स्थानकवासी जैनसंघ से प्रश्न :

पिछले लगभग अर्द्धशताब्दी जितने जीवन में अनेक विषयो पर गुजराती तथा हिन्दी भाषा में मैंने अनेक लेख तथा निवन्ध लिखे है, परन्तु श्री स्थानकवासी जैनसंघ को सम्बोधन करके लिखने का यह पहला ही प्रसंग है, इसका कारण है "श्री पुप्फभिक्खू" द्वारा संशोधित और सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक का अध्ययन ।

पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन जैन साहित्य का स्वाध्याय करना मेरे लिए नियम सा हो गया है, इस नियम के फलस्वरूप मैंने "सुत्तागमे" के दोनो अंश पढे, पढने से मेरे जीवन में कभी न होने वाला दुःख का अनुभव हुआ ।

मेरा झुकाव इतिहास-सशोधन की तरफ होने से "श्री लौंकागच्छ" तथा "श्री वाईस सम्प्रदाय" के इतिहास का भी मैंने पर्याप्त अवलोकन किया है । लौंकाशाह के मत-प्रचार के बाद में लिखी गई अनेक हस्तलिखित पुस्तको से इस सम्प्रदाय की पर्याप्त जानकारी भी प्राप्त की, फिर भी इस विपय में कलम चलाने का विचार कभी नही किया, क्योकि संप्रदायों के आपसी संघर्ष का जो परिणाम निकलता है उसे मैं अच्छी तरह जानता था । लौंकाशाह के मौलिक मन्तव्य क्या थे, उसको उनके अनुयायियो के द्वारा १६वीं शताब्दी के अन्त मे लिखित एक चर्चा-ग्रन्थ को पढ कर मैं इस विषय मे अच्छी तरह वाकिफ हो गया था । उस हस्तलिखित ग्रन्थ के बाद में बनी हुई अनेक इस गच्छ की पट्टावलियों तथा अन्य साहित्य का भी मेरे पास अच्छा संग्रह है । स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी द्वारा सद्दब्ध "समकितसार" और इसके उत्तर मे श्री विजयानन्दसूरि-लिखित "सम्यक्त्व-

शल्योद्धार" पुस्तक तथा श्री अमोलकऋषिजी द्वारा प्रकाशित ३२ सूत्रो में से भी कतिपय सूत्र पढे थे। यह सब होने पर भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरुद्ध लिखने की मेरी भावना नही हुई। यद्यपि कई स्थानकवासी विद्वानो ने अपने मत के बाधक होने वाले सूत्र-पाठो के कुछ शब्दो के अर्थ जरूर बदले थे, परन्तु सूत्रो में से बाधक पाठो को किसी ने हटाया नही था। लौंकागच्छ को उत्पत्ति से लगभग पौने पांच सौ वर्षो के बाद श्री पुप्फभिक्खू तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उन बाधक पाठों पर सर्वप्रथम कैंची चलाई है, यह जान कर मन में अपार ग्लानि हुई। मैं जानता था कि स्थानकवासी सम्प्रदाय के साथ मेरा सद्भाव है, वैसा ही बना रहेगा, परन्तु पुप्फभिक्खू के उक्त कार्य से मेरे दिल पर जो आघात पहुँचा है, वह सदा के लिए अमिट रहेगा।

भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथाग, उपासकदशांग, विपाकसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय ,जीवाभिगम, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र आदि मे जहां-जहां जिनप्रतिमा-पूजन जिनचैत्यवन्दन, सिद्धायतन, मुंहपत्ति वांधने के विरुद्ध जो जो सूत्रपाठ थे, उनका सफाया करके श्री भिक्खूजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय को निरापद बनाने के लिए एक अप्रामाणिक और कापुरुषोचित कार्य किया है, इसमे कोई शका नही, परन्तु इस कार्य के सम्बन्ध मे मैं यह जानना चाहता हू कि "सुतागमे" छपवाने मे सहायता देने वाले गृहस्थ और सुत्तागमे पर अच्छी-अच्छी सम्मतिया प्रदान करने वाले विद्वान् मुनिवर्य मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने का कष्ट करेंगे कि इस कार्य मे वे स्वयं सहमत हैं या नही ?

उपर्युक्त मेरा लेख छपने के बाद "अखिल भारत स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेन्स" के माननीय मन्त्री और इस सस्था के गुजराती साप्ताहिक मुखपत्र "जैन-प्रकाश" के सम्पादक श्रीयुत् खीमचन्दभाई मगनलाल वोहरा द्वारा "जैन" पत्र के सम्पादक पर तारीख १-५-६२ को लिखे गये पत्र मे लिखा था कि – "सुत्तागमें" पुस्तक श्री पुप्फभिक्खू महाराज का खानगी प्रकाशन है, जिसके साथ "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसघ" अथवा "अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेन्स" का कोई सम्बन्ध

नही है, सो जानिएगा। "इस पुस्तक के प्रकाशन के सम्वन्ध मे श्रमणसघ के अधिकारी मुनिराजो ने तथा कॉन्फ्रेन्स ने श्री पुष्फभिक्खू महाराज के साथ पत्र व्यवहार भी किया है, इसके अतिरिक्त यह प्रश्न श्रमणसघ के विचारणीय प्रश्नो पर रक्खा गया है और श्रमणसघ के अधिकारी मुनिराज थोडे समय मे मिलेगे तब इस पुस्तक प्रकाशन के विषय मे आवश्यक निर्णय करने का सोचा है।"

कुछ समय के बाद पत्र मे लिखे मुजब ता० ७-६-६२ के "जैन-प्रकाश" मे स्थानकवासी श्रमणसघ की कार्यवाहक समिति ने "सुत्तागम" पुस्तक को अप्रमाणित ठहराने वाला नीचे लिखा प्रस्ताव सर्वानुमति से पास किया –

"मन्त्री श्री फूलचन्दजी महाराज ने "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के प्रकाशन मे आगमो में कतिपय मूल पाठ निकाल दिए हैं, वह योग्य नही। शास्त्र के मूल पाठों मे कमी करने का किसी को अधिकार नहीं है, इसलिए "सुत्तागमे" नामक सूत्र के प्रस्तुत प्रकाशन को यह कार्यवाहक समिति अप्रमाणित उद्घोपित करती है।"

उपर्युक्त स्थानकवासी श्रमणसघ की समिति का प्रस्ताव प्रसिद्ध होने के वाद इस विपय मे अधिक लिखना ठीक नही समझा और चर्चा वही स्थगित हो गई।

पट्टावली के विवरण मे श्री पुष्फभिक्खू के "सुत्तागमे" नामक सूत्रो के प्रकाशन के सम्वन्ध मे पुष्फभिक्खूजी द्वारा किये गये पाठ परिवर्तन के सम्बन्ध मे कुछ लिखना आवश्यक समझ कर ऊपर निकाले हुए सूत्रपाठो की तालिका दी है। पुष्फभिक्खूजी का पुरुषार्थ इतना करके ही पूरा नही हुआ है, इन्होने सूत्रो मे से चैत्य शब्द को तो इस प्रकार लुप्त कर दिया है कि सारा प्रकाशन पढ लेने पर भी शायद ही एकाध जगह चैत्य शब्द दृष्टिगोचर हो जाये[१]।

---

१ उत्तराध्ययन-सूत्र के महानियठिज्ज नामक वीसवें अध्ययन की दूसरी गाथा के चतुर्थ "मण्डि कुच्छिसि चेइए" इस चरण में "चैत्य" शब्द रहने पाया है, वह भी भिक्खूजी

भिक्खूजी की चैत्य शब्द पर इतनी अब कृपा कैसे हुई यह समझ में नही आता, मन्दिर अथवा मूर्तिवाचक "चैत्य" शब्द को ही काट दिया होता तो बात और थी। पर आपने चुन-चुन कर "गुणशिलकचैत्य," "पूर्णभद्रचैत्य," और चौवीस तीर्थङ्करो के "चैत्यवृक्ष" आदि जो कोई भी चैत्यान्त शब्द सूत्रो में आया, उसको नेस्तनाबूद कर दिया। इनके पुरोगामी ऋषि जेठमलजी आदि "चैत्य" शब्द को "व्यन्तर का मन्दिर" मानकर इसको निभाते थे, उनके बाद के भी बीसवी शती तक के स्थानकवासी लेखक "चैत्यशब्द" का कही 'ज्ञान,' कही 'साधु,' कही 'व्यन्तर देव का मन्दिर' मानकर सूत्रो में इन शब्दो को निभा रहे थे, परन्तु "श्री पुप्फ-भिक्खूजी" को मालूम हुआ कि इन शब्दो के अर्थ बदलकर चैत्यादि शब्द रहने देना यह एक प्रकार की लीपापोती है। "चैत्यशब्द" जब तक सूत्रो मे बना रहेगा तब तक मूर्तिपूजा के विरोध में लड़ना झगड़ना बेकार है, यह सोचकर ही आपने "चैत्य" "आयतन" "जिनघर" "चैत्यवृक्ष" आदि शब्दो को निकालकर अपना मार्ग निष्कण्टक बनाया है। ठीक है; इनकी समझ से तो यह एक पुरुपार्थ किया है, परन्तु इस करतूत से इनके सूत्रों में जो नवीनता प्रविष्ट हुई है, उसका परिणाम भविष्य मे ज्ञात होगा।

पुप्फभिक्खूजी ने पूजा-विपयक सूत्र-पाठों, मन्दिरो और मूर्तिविपयक शब्दों को निकालकर यह सिद्ध किया है, कि इनके पूर्ववर्ती शाह लौंका, धर्मसिंह, ऋषि जेठमलजी और श्री अमोलक ऋषिजी आदि शब्दो का अर्थ बदलकर मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे, वह गलत था।

"चैत्य शब्द" का वास्तविक अर्थ :

आजकल के कतिपय अदीर्घदर्शी विद्वान् "चैत्यशब्द" की प्रकृति "चिता" शब्द को मानते हैं और कहते हैं मरे मनुष्य को जहा पर जलाया

के प्रमाद से नही किन्तु निरुपायता से, क्योकि "चेइए" इस शब्द के स्थान में रखने के लिए आपको दूसरा कोई रगणात्मक "चेइय" शब्द का पर्याय नही मिलने से चैत्य शब्द कायम रखना पडा और नीचे टिप्पण में "उज्जाणे" यह शब्द लिखना पडा।"

जाता था उस स्थान पर लोग चबूतरा आदि कुछ स्मारक बनाते थे, जो "चैत्य" कहलाता था। इस प्रकार "चिता" शब्द की निष्पत्ति बताने वाले विद्वान् व्याकरण-शास्त्र के अनजान मालूम होते हैं। "चिता" शब्द से "चैत्य" नही बनता पर "चैत" शब्द बनता है। आज से लगभग ५ हजार वर्ष पहले के वैदिक धर्म को मानने वाले सवर्ण भारतीय लोग अग्निपूजक थे, उन प्रत्येक के घरो मे पवित्र अग्नि को रखने के तीन-तीन कुण्ड होते थे, उन कुण्डो मे अग्नि की जो स्थापना होती थी उसको "अग्निचित्या" कहते थे। सैकड़ो वर्षों के बाद "अग्निचित्या" शब्द मे से "अग्नि" शब्द तिरोहित होकर व्यवहार मे केवल "चित्या" शब्द ही रह गया था। आज से लगभग २४०० वर्ष पहले के प्रसिद्ध वैयाकरण श्री पाणिनिऋषि ने अपने व्याकरण मे व्यवहार मे प्रचलित "चित्या" शब्द को ज्यो का त्यो रखकर उसको स्पष्ट करने वाला उसको पर्याय शब्द "अग्निचित्या" को उसके साथ जोड़कर "चित्याग्निचित्ये" ३।१॥३२, यह सूत्र बना डाला, इसी अग्निचयनवाचक "चित्या" शब्द से "चैत्य' शब्द की निष्पत्ति हुई, जिसका अर्थ होता है – "पवित्र अग्नि, पवित्र देवस्थान, पवित्र देवमूर्ति और पवित्र वृक्ष" इन सब अर्थों मे "चैत्य" शब्द प्रचलित हो गया और आज भी प्रचलित है।

जिनचैत्य का अर्थ – जिन का पवित्र स्थान अथवा जिन की पवित्र प्रतिमा, यह अर्थ आज भी कोशो से ज्ञात होता है। जिस वृक्ष के नीचे बैठकर जिन ने धर्मोपदेश किया वह वृक्ष भी श्रीजिन चैत्य-वृक्ष कहलाने लगा और कोशकारो ने उसी के आधार से "चैत्य जिनौरस्तद्बिम्बं, चैत्यो जिनसभातरु:" इस प्रकार अपने कोशों मे स्थान दिया।

कौटिल्य अर्थशास्त्र जो लगभग २३०० वर्ष पहले का राजकीय न्याय-शास्त्र है, उसमे भी अमुक वृक्षो को "चैत्यवृक्ष" माना है और उन पवित्र वृक्षो के काटने वालो तथा उसके आस-पास गन्दगी करने वालों के लिए दण्डविधान किया है।" नगर के निकटवर्ती भूमि-भागों को देवताओ के नामो पर छोड़कर उनमे अमुक देवो के मन्दिर बना दिये जाते थे और उन भूमि-भागो के नाम उन्हीं देवो के नाम से प्रसिद्ध होते थे। जैसे –

राजगृह नगर के ईशानदिक्कोण में "गुणशिलक" नामदेव का स्थान होने से वह सारा भूमिभाग "गुणशिलक चैत्य" कहलाता था। इसी प्रकार चम्पा-नगरी के ईशान दिशा-भाग मे "पूर्णभद्र" नामक देव का स्थान था जो "पूर्णभद्र चैत्य" के नाम से प्रसिद्ध हो गया था और उस सारे भूमिभाग को देवता-अधिष्ठित मानकर उस स्थान की लकड़ी तक लोग नही काटते थे।

इसी प्रकार प्राचीनकाल के ग्रामों, नगरों के वाहर तत्कालीन भिन्न-भिन्न देवो के नामो से भूमि-भाग छोड़ दिए जाते थे और वहां उन देवों के स्थान वनाए जाते थे, जो चैत्य कहलाते थे। आजकल भी कई गांवो के वाहर इस प्रकार के भूमिभाग छोड़े हुए विद्यमान है। आजकल इन मुक्त भूमिभागो को लोग "वण" अर्थात् "उपवन" इन नाम से पहिचानते हैं।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवरण से पाठकगण समझ सकेंगे कि "चैत्यशब्द" "साधुवाचक" अथवा "ज्ञानवाचक" न कभी था न आज ही है। क्योकि चैत्य शब्द की उत्पत्ति पूजनीय अग्निचयन वाचक "चित्या" शब्द से हुई है, न कि "चिता" शब्द से अथवा "चिति सज्ञाने" इस धातु से। इस प्रकृतियों से "चैत" "चित्त" "चैतस्" शब्द बन सकते है, "चैत्य-शब्द" नही। श्री पुष्फभिक्खू की समझ मे यह बात आ गई कि शब्दों का अर्थ वदलने से कोई मतलव हल नही हो सकता। पूजनीय पदार्थ-वाचक "चैत्य" शब्द को सूत्रो में से हटाने से ही अमूर्तिपूजकों का मार्ग निष्कण्टक हो सकेगा।

श्री पुष्फभिक्खू अपने प्रकाशन के प्रथम अंश के प्रारम्भ मे "सूचना" इस शीर्षक के नीचे लिखते हैं—

"यह प्रकाशन मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य साधुकुल-शिरोमणि १०८ श्री-फकीरचन्दजीमहाराज (स्वर्गीय) के धारणा-व्यवहारानुसार है।"

पुष्फभिक्खूजी की इस सूचना में "धारणा-व्यवहार" शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है यह तो प्रयोक्ता ही जाने, क्योकि "धारणा-व्यवहार" शब्द प्रायश्चित्त विषयक पांच प्रकार के व्यवहारों में से एक का वाचक है।

शास्त्र के प्रकाशन मे प्रायश्चित सबन्धी व्यवहार का कोई प्रयोजन नही होता, फिर भी आपने इसका प्रयोग किया है। यदि "हमारे गुरु की धारणा यह थी कि चैत्यादि-वाचक शब्द-विशिष्ट पाठो को निकालकर सूत्रों का सम्पादन करना" यह धारणा व्यवहार के अर्थ मे अभिप्रेत है तो जिनके विशेषणो से पौने दो पृष्ठ भरे है वे विशेषण अपार्थक है और यदि वे लेखक के कथनानुसार विद्वान् और गुणी थे तो सम्पादक ने उनकी 'धारणा" का नाम देकर अपना बोझा हल्का किया है, क्योकि गुणी और जिनवचन पर श्रद्धा रखने वाला मनुष्य जैनागमो में काट-छाँट करने की सलाह कभी नही दे सकता। श्री भिक्खूजी के सम्पादन मे सूत्रो की काफी काटछाँट हुई है, इसकी जवाबदारी पुप्फभिक्खूजी अपने गुरुजी पर रक्खे या स्वयं जवाबदार रहे इस सम्बन्ध मे हमको कोई साराश निकालना नही है। पुप्फभिक्खूजी के समानधर्मी श्रमणसमिति ने इस प्रकाशन को अप्रमाणित जाहिर किया, इससे इतना तो हर कोई मानेगा कि यह काम भिक्षुजी ने अच्छा नही किया।

पुप्फभिक्खूजी ने अपने प्रस्तुत कार्य में सहायक होने के नाते अपने शिष्य श्री जिनचन्द्र भिक्खू की अपने वक्तव्य मे जो सराहना की है उसका मूल आधार निम्नलिखित गाथा है –

"दो पुरिसे धरइ धरा, अहवा दोहिंवि धारिआ धरणी।
उवयारे जस्स मई, उवयरिअं जो न फुसेई ॥"

अर्थात्;– पृथ्वी अपने ऊपर दो प्रकार के पुरुषो को धारण करती है उपकार बुद्धि वाले उपकारक को और उपकार को न भूलने वाले "कृतज्ञ" को अथवा दो प्रकार के पुरुषो से पृथ्वी धारण की हुई है। एक उपकारक पुरुष से और दूसरे उपकार को न भूलने वाले कृतज्ञ पुरुष से।

उपर्युक्त सुभाषित को गुरु-शिष्यो के पारस्परिक सहकार को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त करना शिष्टसम्मत है, या नही, इसका निर्णय हम शिष्ट वाचको पर छोड़ते हैं।

श्री पुप्फभिक्खू, सुमित्तभिक्खू और जिणचन्दभिक्खू यह त्रितय "सुत्तागमे" के सम्पादन में एक दूसरे का सहकारी होने से आगे हम इनका उल्लेख "भिक्षुत्रितय" के नाम से करेंगे ।

पुस्तक की प्रस्तावना में "आगमों की भाषा" नामक शोर्षक के नीचे लिखा है –

"देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण ने आगमों को लिपिबद्ध किया, इतने समय के बाद लिखे जाने पर भी भापा की प्राचीनता में कमी नही आई ।"

देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के समय मे भाषा की प्राचीनता में कमी नही आई, यह कहने वाले भिक्षुत्रितय को प्रथम प्राचीन और अर्वाचीन अर्द्धमागधी भाषा में क्या अन्तर है, यह समझ लेना चाहिए था । आगमों मे आचारांग और सूत्रकृताग हैं और आगमों मै विपाक और प्रश्न व्याकरण भी हैं, इन सूत्रो की भापाओ का भी पारस्परिक अन्तर समझ लिया होता तो वे "प्राचीनता मे कमी नही हुई" यह कहने का साहस नही करते ।

आचारांग तथा सूत्रकृतांग सूत्र आज भी अपने उसी मूल रूप में वर्तमान हैं, जो रूप उनके लिखे जाने के मौर्य्य-समय मे था । इनके आगे के स्थानाग आदि सभी अंग सूत्रो मे भिन्न-भिन्न वाचनाओ के समय में थोड़ा थोड़ा परिवर्तन और सक्षेप होता रहा हैं । स्थानांग आदि नव अंग सूत्रो में दूसरी वाचना के समय मे स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता मे सूत्रो का जो स्वरूप निर्धारित हुआ था, वह आज तक टिका हुआ है । देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के समय मे जो पुस्तकालेखन हुआ उसमे मुख्यता माथुरी और वालभी वाचनानुगत सूत्रों मे चलते हुए पाठान्तरों का समन्वय करने की प्रवृत्ति को थी । देवर्द्धिगरिण नें तत्कालीन दोनो वाचनानुयायी श्रमरणसघो की सम्मति से सूत्रो का समन्वय किया था, तत्कालीन प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, जैसे अंगुष्ठप्रश्नादि, बाहु-प्रश्नादि, आदर्श-प्रश्नादि के उत्तरो का निरूपण था । इनके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक विचित्र विद्याओ के अतिशय थे उनको तिरोहित करके वर्तमानकालीन

पंचसवर–पंचाश्रवमय प्रश्नव्याकरण बनाया और प्राचीन प्रश्न-व्याकरण के स्थान मे रखा। भाषा की प्राचीनता अर्वाचीनता की मीमांसा करने वाला भिक्षुत्रितय यह बताएगा कि आचारांग, सूत्रकृतांग की भाषा में और आगे के नव अंगसूत्रों की भाषा मे क्या अन्तर पड़ा है, और उनमे प्रयुक्त शब्दो तथा वाक्यो में कितना परिवर्तन हुआ है ?

अंग्रेज विचारकों के अनुयायी बनकर जैन-आगमों की भाषा को महाराष्ट्रीय प्राकृत के असर वाली मानने के पहले उन्हें देशकाल-सम्बन्धी इतिहास जान लेना आवश्यक था। डा० हार्नले जैसे अंग्रेजो की अपूर्ण शोध के रिपोर्टों को महत्त्व देकर जैन मुनियों के दक्षिण-देश मे जाने की बात जो दिगम्बर भट्टारको की कल्पनामात्र है, सच्ची मानकर जैन-आगमों मे दक्षिणात्य प्राकृत का असर मानना निराधार है। न तो मौर्य्य चन्द्रगुप्त के समय मे जैनश्रमण दक्षिण प्रदेश में गए थे, न उनकी अर्द्धमागधी सौत्र भाषा मे दक्षिण-भाषा का असर हुआ था। जो दिगम्बर विद्वान् कुछ वर्षों पहले श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी के चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण मे जाने की बात करते थे वे सभी आज मानने लगे हैं कि दक्षिण मे जाने वाले भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दूसरे थे, श्रुतधर भद्रबाहु और मौर्य्य-सम्राट चन्द्रगुप्त नहीं, क्योकि दिगम्बरों के ग्रन्थो मे भद्रबाहु का और चन्द्रगुप्त का दक्षिण में जाना उज्जैनी नगरी से बताया है, और उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी में अनुमानित किया है। आज तो डा० ज्योतिप्रसाद जैन जैसे शायद ही कोई अति-श्रद्धालु दिगम्बर विद्वान् श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण मे जाने की बात कहने वाले मिलेंगे। श्रवणबेलगोल आदि दिगम्बरों के प्राचीन तीर्थों के शिलालेखो के प्रकाशित होने के बाद अब विद्वानो ने यह मान लिया है कि दक्षिण मे जाने वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली नही किन्तु दूसरे ज्योतिषी-भद्रबाहु हो सकते हैं। इसका कारण उनके प्राचीन तीर्थों मे से जो शिलालेख मिले हैं वे सभी शक की आठवी शती और उसके बाद के हैं। हमारी खुद की मान्यता के अनुसार तो अधिक दिगम्बर साधुओं के दक्षिण में जाने सम्बन्धी दंतकथाएं सही हो, तो भी इनका समय विक्रम की छट्ठी शती के पहले का नही हो सकता। दिगम्बर-सम्प्रदाय की ग्रंथप्रशस्तियो तथा पट्टावलियो में

जो प्राचीनता का प्रतिपादन किया गया है, वह विश्वासपात्र नही है। इस स्थिति मे श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मान्य आगमों पर दक्षिणात्य प्राकृत-भाषा का प्रभाव बताना कोई अर्थ नही रखता।

"सुत्तागमे" के प्रथम अंश की प्रस्तावना के १४ वें पृष्ठ की पादटीका में लेखक कहते है —

"इतना और स्मरण रहे कि इससे पहले पाटलीपुत्र का सम्मेलन और नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान मे माथुरी-वाचना हो चुकी थी।"

लेखको का नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान मे माथुरीवाचना बताना प्रमादपूर्ण है, माथुरी-वाचना नागार्जुन वाचक के तत्वावधान में नही' किन्तु आचार्य स्कन्दिल की प्रमुखता मे मथुरा नगरी मे हुई थी; इसलिये यह वाचना "माथुरी" तथा "स्कन्दिली" नामो से भी पहचानी जाती है।

एक आगम के नाम का निर्देश दूसरे मे होने के सम्बन्ध में भिक्षुत्रितय समाधान करता है – कि यह आगमो की प्राचीन शैली है। भिक्षुत्रय का यह कथन यथार्थ नही, भगवान् महावीर के गणधरो ने जब द्वादशांगी की रचना की थी, उस समय यह पद्धति अस्तित्व में नही थी। पूर्वाचार्यों ने नाश के भय से जब आगमों को सक्षिप्त रूप से व्यवस्थित किया, तब उन्होने सुगमता के खातिर यह शैली अपनाई है, और जिस विषय का एक अंग अथवा उपांगसूत्र मे विस्तार से वर्णन कर देते थे। उसको दूसरे में कट करके विस्तृत वर्णन वाले सूत्र का निर्देश कर देते थे। अंगसूत्रो में "पन्नवणा" आदि उपांगो के नाम आते है उसका यही कारण है।

जैन-साहित्य पर नई-नई आपत्तियाँ :

उपर्युक्त प्रस्तावनागत शीर्षक के नीचे भिक्षुत्रितय एक नया आविष्कार प्रकाश मे लाता हुआ कहता है – "जिस काल मे जैनों और बौद्धो के साथ हिन्दुओ का महान् सघर्ष था उस समय धर्म के नाम पर बड़े से

वड़े-अत्याचार हुए। उस अन्धड़ में साहित्य को भी भारी धक्का लगा, फिर भी जैन समाज का शुभ उदय या आगमो का माहात्म्य समझो कि जिससे आगम वाल-वाल वचे और सुरक्षित रहे।"

भिक्षुत्रितय की उपर्युक्त कल्पना उसके फलद्रूप भेजे की है। इतिहास इसकी साक्षी नही देता कि वौद्ध और जैनों के साथ हिन्दुओं का कभी साहित्यिक संघर्ष हुआ हो। साहित्यिक संघर्ष की तो बात ही नही, किन्तु धार्मिक असहिष्णुता ने भी वौद्ध और जैनों के साथ हिन्दुओ को संघर्ष में नही उतारा। किसी प्रदेश विशेष में राज्यसत्ताधारी धर्मान्ध व्यक्ति-विशेष ने कही पर वौद्ध जैन अथवा दोनो पर किसी अंश तक ज्यादती की होगी तो उसका अपयश हिन्दू समाज पर थोपा नही जा सकता और उससे जैन-साहित्य को हानि होने की तो कल्पना ही कैसे हो सकती है। इस प्रकार की देश-स्थिति जैन-साहित्य को हानिकर मुसलमानो के भारत पर आक्रमण के समय में अवश्य हुई थी, परन्तु उससे केवल जैनो का ही नहीं, हिन्दू, जैन, वौद्ध आदि सभी भारतीय सम्प्रदायो को हुई थी। आगे भिक्षुत्रितय अपनी मानसिक खरी भावनाओ को प्रकट करता हुआ कहता है—

"इसके अनन्तर चैत्यवासियों का युग आया। उन्होंने चैत्यवास का जोर-शोर से आन्दोलन किया और अपनी मान्यता को मजबूत करने के लिए नई-नई बातें घड़नी शुरु की, जैसे कि अंगूठे जितनी प्रतिमा बनवा देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो पशु मन्दिर की ईंटें ढोते हैं वे देवलोक जाते हैं आदि-आदि। वे यही तक नही रुके, वल्कि उन्होंने आगमो में भी अनेक वनावटी पाठ घुसेड़ दिये। जिस प्रकार रामायण मे क्षेपको की भरमार है, उसी प्रकार आगमो में भी।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियो के युग की वात कहता है, तव हमको आश्चर्य के साथ हंसी आती है। युग किसे कहते है और 'चैत्यवास" का अर्थ क्या है? इन वातों को समझ लेने के वाद भिक्षुत्रितय ने इस विषय मे कलम चलाई होती, तो वह हास्यास्पद नही वनता।

"चैत्यवास" यह कोई नई संस्था नही है और चैत्यों में रहना भी वर्जित नहीं है। मौर्य्यकाल और नन्दकाल से ही पहाड़ो की चट्टानों पर "लेरा" बनते थे जिसका संस्कृत अर्थ "लयन" होता था, ये स्थान बनाने वाले राजा, महाराजा और सेठ साहूकार होते थे और मेलों उत्सवों के समय में इनका उपयोग होता था, शेषकाल मे उनमे साधु सन्यासी ठहरा करते थे, "लयन" बनाने वाला धनिक जिसधर्म की तरफ श्रद्धा रखने वाला होता, उस धर्म के प्रवर्तक देवों और उपदेशक श्रमणो की मूर्तियां भी उन्ही पत्थरों में से खुदवा लेता था, जिससे कि उनमें ठहरने वाले श्रमण लोग उनको लक्ष्य करके ध्यान करते, आज भी इसी प्रकार के लयन उडीसा के खण्डगिरि आदि पर्वतों में और एजण्टा, गिरनार आदि के चट्टानो में खुदी हुई गुफाओं के रूप मे विद्यमान हैं। सैकड़ों लोग उनको देखने जाते है, खोदी हुई मूर्तियो से सुशोभित इस प्रकार के लयनो को भिक्षुत्रितय "चैत्य" कहे चाहे अपनी इच्छानुसार दूसरा नाम कहे, वास्तव में इस प्रकार के स्थान "चैत्यालय" ही कहलाते थे और उनमें निस्सग और त्यागी श्रमण रहा कहते थे, खास कर वर्षा के समय में श्रमण लोग उनका आश्रय लेते थे जिनको वड़े-वड़े राजा महाराजा पूज्य दृष्टि से देखते और उनकी पूजा करते थे। धीरे-धीरे समय निर्वल आया, मनुष्यों के शक्ति-संहनन निर्वल हो चले, परिणामस्वरूप विक्रम की दूसरी शती के निकट समय में श्रमणगण ग्रामो के परिसरों में बसने लगे, जब उनकी संख्या अधिक बढ़ी और परिसरो में इस प्रकार के ठहरने के स्थान दुर्लभ हो चले, तब धीरे-धीरे श्रमणों ने गावों के अन्दर गृहस्थों के अव्यापृत मकानों में ठहरना शुरु किया, पर इस प्रकार के मकानों में भी जब उनका निर्वाह नहीं होने लगा तब गृहस्थों ने सामूहिक धार्मिक क्रिया करने के लिए स्वतन्त्र मकान बनवाने का प्रारम्भ किया। उन मकानों में वे सामायिक प्रतिक्रमण, पोषव आदि धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए जाने लगे, पौषध क्रिया के कारण ये स्थान "पौषधशाला" के नाम से प्रसिद्ध हुए, यह समय विक्रम की आठवीं शती का था।

साधुओ के उपदेश के सम्बन्ध में भिक्षुत्रितय का कथन अतिरंजित है, उपदेश के रूप में गृहस्थों के आगे उनके कर्तव्य का उपदेश करना उपदेशको

वड़े अत्याचार हुए। उस अन्धड़ में साहित्य को भी भारी धक्का लगा, फिर भी जैन समाज का शुभ उदय या आगमों का माहात्म्य समझो कि जिससे आगम वाल-वाल वचे और सुरक्षित रहे।"

भिक्षुत्रितय की उपर्युक्त कल्पना उसके फलद्रूप भेजे की है। इतिहास इसकी साक्षी नही देता कि बौद्ध और जैनो के साथ हिन्दुओं का कभी साहित्यिक सघर्ष हुआ हो। साहित्यिक संघर्ष की तो बात ही नही, किन्तु धार्मिक असहिष्णुता ने भी बौद्ध और जैनो के साथ हिन्दुओ को संघर्ष में नही उतारा। किसी प्रदेश विशेष मे राज्यसत्ताधारी धर्मान्ध व्यक्ति-विशेष ने कहीं पर बौद्ध जैन अथवा दोनो पर किसी अंश तक ज्यादती की होगी तो उसका अपयश हिन्दू समाज पर थोपा नही जा सकता और उससे जैन-साहित्य को हानि होने की तो कल्पना ही कैसे हो सकती है। इस प्रकार की देश-स्थिति जैन-साहित्य को हानिकर मुसलमानो के भारत पर आक्रमण के समय में अवश्य हुई थी, परन्तु उससे केवल जैनो का ही नहीं, हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि सभी भारतीय सम्प्रदायो को हुई थी। आगे भिक्षुत्रितय अपनी मानसिक खरी भावनाओ को प्रकट करता हुआ कहता है –

"इसके अनन्तर चैत्यवासियो का युग आया। उन्होंने चैत्यवास का जोर-शोर से आन्दोलन किया और अपनी मान्यता को मजबूत करने के लिए नई-नई बातें घड़नी शुरु की, जैसे कि अगूठे जितनी प्रतिमा बनवा देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो पशु मन्दिर की ईंटें ढोते हैं वे देवलोक जाते हैं आदि-आदि। वे यही तक नही रुके, बल्कि उन्होंने आगमो मे भी अनेक बनावटी पाठ घुसेड़ दिये। जिस प्रकार रामायण मे क्षेपको की भरमार है, उसी प्रकार आगमों में भी।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियों के युग की वात कहता है, तव हमको आश्चर्य के साथ हंसी आती है। युग किसे कहते हैं और 'चैत्यवास" का अर्थ क्या है ? इन वातों को समझ लेने के वाद भिक्षुत्रितय ने इस विषय मे कलम चलाई होती, तो वह हास्यास्पद नही वनता।

"चैत्यवास" यह कोई नई संस्था नही है और चैत्यों में रहना भी वर्जित नहीं है। मौर्य्यकाल और नन्दकाल से ही पहाड़ों की चट्टानों पर "लेण" बनते थे जिसका संस्कृत अर्थ "लयन" होता था, ये स्थान बनाने वाले राजा, महाराजा और सेठ साहूकार होते थे और मेलों उत्सवों के समय में इनका उपयोग होता था, शेषकाल में उनमें साधु सन्यासी ठहरा करते थे, "लयन" बनाने वाला धनिक जिसधर्म की तरफ श्रद्धा रखने वाला होता, उस धर्म के प्रवर्तक देवों और उपदेशक श्रमणों की मूर्तियां भी उन्हीं पत्थरों में से खुदवा लेता था, जिससे कि उनमे ठहरने वाले श्रमण लोग उनको लक्ष्य करके ध्यान करते, आज भी इसी प्रकार के लयन उडीसा के खण्डगिरि आदि पर्वतों में और एजण्टा, गिरनार आदि के चट्टानों में खुदी हुई गुफाओं के रूप मे विद्यमान हैं। सैकड़ों लोग उनको देखने जाते है, खोदी हुई मूर्तियो से सुशोभित इस प्रकार के लयनों को भिक्षुत्रितय "चैत्य" कहे चाहे अपनी इच्छानुसार दूसरा नाम कहे, वास्तव में इस प्रकार के स्थान "चैत्यालय" ही कहलाते थे और उनमें निस्संग और त्यागी श्रमण रहा करते थे, खास कर वर्षा के समय में श्रमण लोग उनका आश्रय लेते थे जिनको बड़े-बड़े राजा महाराजा पूज्य दृष्टि से देखते और उनकी पूजा करते थे। धीरे-धीरे समय निर्बल आया, मनुष्यों के शक्ति-संहनन निर्बल हो चले, परिणामस्वरूप विक्रम की दूसरी शती के निकट समय में श्रमणगण ग्रामों के परिसरों में बसने लगे, जब उनकी संख्या अधिक बढ़ी और परिसरो में इस प्रकार के ठहरने के स्थान दुर्लभ हो चले, तब धीरे-धीरे श्रमणों ने गांवों के अन्दर गृहस्थों के अव्यापृत मकानों में ठहरना शुरु किया, पर इस प्रकार के मकानों में भी जब उनका निर्वाह नहीं होने लगा तब गृहस्थों ने सामूहिक धार्मिक क्रिया करने के लिए स्वतंत्र मकान बनवाने का प्रारम्भ किया। उन मकानों में वे सामायिक प्रतिक्रमण, पोषध आदि धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए जाने लगे, पोषध क्रिया के कारण ये स्थान "पोषधशाला" के नाम से प्रसिद्ध हुए, यह समय विक्रम की आठवीं शती का था।

साधुओ के उपदेश के सम्बन्ध में भिक्षुत्रितय का कथन अतिरंजित है, उपदेश के रूप में गृहस्थो के आगे उनके कर्तव्य का उपदेश करना उपदेशको

का कर्त्तव्य है और इसी रूप मे सुविहित गीतार्थ साधु जैन गृहस्थो को उनके अन्यान्य कर्तव्यों के उपदेश के प्रसग मे दर्शन-शुद्धचर्थं जिनभक्ति का भी उपदेश करते थे और करते हैं। प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्रसूरि के प्रतिष्ठा पंचाशक और षोडशक आदि में इसी प्रकार के निरवद्य उपदेश दिये गये हैं। अर्वाचीनकाल में अंगुष्ठ मात्र जिनप्रतिमा के निर्माण से स्वर्गप्राप्ति का किसी ने लिखा होगा तो वह भी अधार्मिक वचन नही है, किसी भी धार्मिक अनुष्ठान के करने में कर्ता का मानसिक उल्लास उनके फल मे विशिष्टता उत्पन्न कर सकता है इसमे कोई असम्भव की बात नही, दो तीन घटे तक मुंह बधवाकर स्थानक में जैनो अजैनों को बिठाना और बाद में उनको मिष्टान्न खिलाकर रवाना करना इस प्रकार दया पल वानेके धार्मिक अनुष्ठान से तो भावि शुभ फल की आशा से मन्दिर तथा मूर्तियां का निर्माण करवाना और उनमें जिनदेव की कल्पना कर पूजा करना हजार दर्जे अच्छा है।

भिक्षुत्रितय ने उपर्युक्त फिकरे में आगमों में बनावटी पाठ घुसेड़ देने की बात कही है, वह भी उनके हृदय की भावना को व्यक्त करती है, यों तो हर एक आदमी कह सकता है कि अमुक ग्रन्थ में अमुक पाठ प्रक्षिप्त है, परन्तु प्रक्षिप्त कहने मात्र से वह प्रक्षिप्त नही हो सकता, किन्तु पुष्ट प्रमाणो से उस कथन का समर्थन करने से ही विद्वान् लोग उस कथन को सत्य मानते हैं। संपादक ने बनावटी पाठ घुसेड़ने की बात तो कह दी पर इस कथन पर किसी प्रमाण का उपन्यास नहीं किया। अत. यह कथन भी अरण्यरोदन से अधिक महत्त्व नही रखता, आगमों में बनावटी पाठ घुसेड़ने और उसमें से सच्चे पाठो को निकालना यह तो भिक्षुत्रितय के घर की रीति परम्परा से चली आ रही है। इनके आदि मार्गदर्शक शाह लूंका ने जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, दान, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, साधर्मिक, वात्सल्य आदि अनेक आगमोक्त धार्मिक कर्त्तव्यो का उच्छेद कर दिया था। और इन कार्यों का उपदेश करने वालो की निन्दा करने मे अपना समय बिताया था, परन्तु इनके मन्तव्यों का प्रचार करने वाले वेशधारी शिष्यो ने देखा कि लुंका के इस उपदेश का प्रचार करने से तो सुनने

वाला अपने पास तक नही फटकेगा, न अपनी पेटपूजा ही सुख से होगी, इस कारण से लौंका के वेशधारी शिष्यों ने प्रतिमापूजा के विरोध के अतिरिक्त शेष सभी लौंका के उपदेशों को अपने प्रचार में से निकाल दिया, इतना ही नही, कतिपय बातें तो लौंका के मन्तव्यों का विरोध करने वाली भी प्रचलित कर दी।

भिक्षुत्रितय ने जिन 'सूत्रपाठों' को मूल मे से हटा दिया है, उनको बनावटी कहकर अपना बचाव करते हैं। "गणधरों की रचना को ही ये आगम मानकर दूसरे पाठों को बनावटी मानते हैं, तब तो इनको मूल आगमो में से अभी बहुत पाठ निकालना शेष है। स्थानांग सूत्र और औपपातिक सूत्र में सात निन्हवों के नाम संन्निहित हैं, जो पिछला प्रक्षेप है, क्योकि अन्तिम निन्हव गोष्ठामाहिल भगवान् महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष बीतने पर हुआ था, इसी प्रकार नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार में कौटिल्य, कनकसप्तति, वैशेषिकदर्शन, बुद्धवचन, त्रैराशिकमत, षष्ठितन्त्र, माठर, भागवत, पातञ्जल, योगशास्त्र आदि अनेक अर्वाचीनमत और ग्रन्थों के नामो के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनका अस्तित्व ही गणधरो द्वारा की गई आगम-रचना के समय मे नही था, इनको प्रक्षिप्त मानकर भिक्षुत्रितय ने आगमों में से क्यों नही निकाला, यह समझ में नही आता। प्रक्षिप्त पाठ मानकर ही आगमो में से पाठो को दूर करना था तो सर्वप्रथम उपर्युक्त पाठों का निकालना आवश्यक था; अथवा तो अर्वाचीन पाठ वाले आगमो को अप्रमाणिक घोषित करना था सो तो नही किया, केवल "चैत्यादि के पाठों को सूत्रो में से हटाए," इससे सिद्ध है कि बनावटी कहकर चैत्य-सम्बन्धी पाठो को हटाने की अपनी जवाबदारी कम करने की चाल मात्र है।

गणधर तीर्थङ्करो के उपदेशो को शब्दात्मक रचना में व्यवस्थित करके मूल आगम बनाते हैं और उन आगमो को अपने शिष्यों को पढ़ाते समय गणधर और अनुयोगधर चार प्रकार के व्याख्यानांगों से विभूषित कर पंचांगी के रूप मे व्यवस्थित करते हैं। आगमों की पंचांगी के नाम ये हैं – १ सूत्र, अर्थ २, ग्रन्थ ३, निर्युक्ति ४ और ५ संग्रहणी। आज भी

यह पंचांगी तीर्थङ्कर भाषित आगमों का खरा अर्थ बता सकती है। मूल सूत्र के ऊपर उसी भाषा में अथवा तो संस्कृत आदि अन्य भाषाओं द्वारा सूत्रों का जो भाव स्पष्ट किया जाता है, उसको संक्षेप में "अर्थ" कहते हैं। सूत्र का अर्थ ही पद्यों में रचकर प्रकरणों द्वारा समझाया जाता है उसको "ग्रन्थ" कहते हैं, सूत्रो में प्रकट रूप से नही बंधे हुए और लक्षणा-व्यंजनाओं से उपस्थित होने वाले अर्थों को लेकर सूत्रोक्त-विषयों का जो शंका-समाधान-पूर्वक ऊहापोह करने वाला गाथात्मक निबन्ध होता है वह "निर्युक्ति" नाम से व्यवहृत होता है, तथा सूत्रोक्त विषयों को सुगमतापूर्वक याद करने के लिए अध्याय, शतक, उद्देशक आदि प्रकरणों की आदि मे उनमे वर्णित विषयों का सूचित करने वाली गाथाओं का संग्रह बनाया जाता था, उसको "संग्रहणी" के नाम से पहिचानते हैं।

आजकल सूत्रों पर जो प्राकृत चूर्णियां, संस्कृत टीकाएं आदि व्याख्याए हैं, इनको प्राचीन परिभाषा के अनुसार "अर्थ" कह सकते हैं। सूत्र तथा अर्थ में व्यक्त किये गये विषयों को लेकर प्राचीनकाल में गाथाबद्ध निर्मित भाष्यों को भी प्राचीन परिभाषा के अनुसार "ग्रन्थ" कहना चाहिए। भद्रबाहु आदि अनेक श्रुतधरों ने आवश्यक, दशवैकालिक आदि सूत्रो के ऊपर तर्कशैली से गाथाबद्ध निबन्ध लिखे हैं, उन्हें आज भी "निर्युक्ति" कहा जाता है। "भगवती", "प्रज्ञापना" आदि के कतिपय अध्यायों की आदि में अध्यायोक्त विषय का सूचन करने वाली गाथाएं दृष्टिगोचर होती हैं इनका पारिभाषिक नाम "संग्रहणी" है। भगवती-सूत्र के प्रथम शतक के प्रारम्भ मे ऐसी संग्रहणी गाथा आई तब भिक्षु महोदय ने पुस्तक के नीचे पाद-टीका के रूप में उसे छोटे टाइपों में लिया, परन्तु बाद मे भिक्षु महोदय की समझ ठिकाने आई और आगे की तमाम संग्रहणी गाथाएं मूल सूत्र के साथ ही रक्खीं। सम्प्रदायानभिज्ञ व्यक्ति अपनी समझ से प्राचीन साहित्य में संशोधन करते हुए किस प्रकार सत्यमार्ग को भूलते हैं, इस बात का भिक्षु महोदय ने एक उदाहरण उपस्थित किया है।

भिक्षुत्रितय आगे लिखता है – "इसके बाद युग ने करवट बदली और उसी कटाकटी के समय धर्मप्राण लौंकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुष

प्रकट हुए। उन्होने जनता को सन्मार्ग सुझाया और उस पर चलने की प्रेरणा दी × × × जिससे लोगों में क्रान्ति और जागृति उत्पन्न हुई तथा लवजी, धर्मशी, धर्मदासजी, जीवराजजी जैसे भव्य भावुकों ने धर्म की वास्तविकता को अपनाया और उसके स्वरूप का प्रचार आरम्भ किया; परिणामस्वरूप आज भी उनकी प्रेरणाओं को जीवित रखने वालों की सख्या ५ लाख से कही अधिक पाई जाती है। लौंकाशाह सहित इन चारों महापुरुषो ने "चैत्यवासी मान्य अन्य आगमों में परस्पर विरोध एवं मनघड़न्त वातें देखकर ३२ आगमों को ही मान्य किया।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासी युग के वाद लौंकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुषों के उत्पन्न होने की बात कहता है, जो अज्ञानसूचक है, क्योकि विक्रम की चौथी शती से ग्यारहवी शती तक शिथिलाचारी साधुओं का प्रावल्य हो चुका था। फिर भी वह उनका युग नही था। हम उसे उनकी बहुलता वाला युग कह सकते हैं, क्योकि उस समय भी उद्यतविहारी साधुओं की भी संख्या पर्याप्त प्रमाण मे थी। शिथिलाचारी संख्या में अधिक होते हुए भी उद्यतविहारी संघ में अग्रगामी थे। स्नानमह, प्रथमसमवसरण आदि प्रसंगो पर होने वाले श्रमण-सम्मेलनो मे प्रमुखता उद्यतविहारियों की रहती थी। कई प्रसंगों पर वैहारिक श्रमणो द्वारा पार्श्वस्थादि शिथिलाचारी फटकारे भी जाते थे, तथापि उनमें का अधिकांश शिथिलता की निम्न सतह तक पहुंच गया था और धीरे-धीरे उनको सख्या कम होती जाती थी। विक्रम की ग्यारहवी शती के उत्तरार्ध तक शिथिलाचारी धीरे-धीरे नियतवासी हो चुके थे और समाज के ऊपर से उनका प्रभाव पर्याप्त रूप से हट चुका था। भले ही वे जातिगत गुरुओ के रूप में अमुक जातियों और कुलों से अपना सम्वन्ध वनाए हुए हों, परन्तु सघ पर से उनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में मिट चुका था, इसी के परिणाम स्वरूप १२ वी शती के मध्यभाग तक जैनसंघ में अनेक नये गच्छ उत्पन्न होने लगे थे। पौर्णमिक, आंचलिक, खरतर, साधुपौर्णमिक और आगमिक गच्छ ये सभी १२ वी और १३ वी शती मे उत्पन्न हुए थे और इसका कारण शिथिलाचारी चैत्यवासी कहलाने वाले साधुओं की कमजोरी थी। यद्यपि उस समय में भी वर्द्धमान-

सूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभगणि, मुनिचन्द्रसूरि, धनेश्वरसूरि, जगचन्द्र-सूरि आदि अनेक उद्यतविहारी आचार्य और उनके शिष्य परिवार अप्रतिबद्ध विहार से विचरते थे, तथापि एक के बाद एक नये सुधारक गच्छों की सृष्टि से जैनसंघ में जो पूर्वकालीन संघटन चला आ रहा था वह विशृंखल हो गया। इसी के परिणाम-स्वरूप शाहलौंका शाह कडुआ आदि गृहस्थो को अपने पन्थ स्थापित करने का अवसर मिला था, न कि उनके खुद के पुरुषार्थ से। उपर्युक्त जैनसंघ की परिस्थिति का वर्णन पढ़कर विचारक समझ सकेंगे कि श्रमणसमुदाय मे से अधिकांश शिथिलाचार के कारण निर्बल हो जाने से सुधारकों को नये गच्छ और गृहस्थो को श्रमणगण के विरुद्ध अपनी मान्यताओं को व्यापक बनाने का सुअवसर मिला था, किसी भी संस्था या समाज को बनाने में कठिन से कठिन पुरुषार्थ और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है, न कि नष्ट करने में। समाज की कमजोरी का लाभ उठाकर क्रियोद्धार के नाम से नव गच्छसर्जको ने तो अपने वाड़े मजबूत किये ही, पर इस अव्यवस्थित स्थिति को देखकर कतिपय श्रमणसस्था के विरोधी गृहस्थों ने भी अपने-अपने अखाड़े खडे किये और आपस के विरोधों और शिथिलाचारो से बलहीन बनी हुई श्रमणसंस्था का ध्वंस करने का कार्य शुरू किया। लौंका तथा उसके अनुयायी मन्दिर तथा मूर्तियो की पूजा की अतिप्रवृत्तियों का उदाहरण दे देकर गृहस्थवर्ग को साधुओं से विरुद्ध बना रहे थे। कडुवा जैसे गृहस्थ मूर्तिपूजा के पक्षपाती होते हुए भी साधुओं के शिथिलाचार की बातो को महत्त्व दे देकर उनसे असहकार करने लगे, चीज बनाने मे जो शक्ति व्यय करनी पड़ती हैं वह बिगाड़ने में नही। लौंकाशाह तथा उनके वेशधारी चेले हिंसा के विरोध में और दया के पक्ष में बनाई गई, चौपाइयो के पुलिन्दे खोल-खोलकर लोगों को सुनाते और कहते – "देखो भगवान् ने दया मे धर्म बताया है, तब आजकल के यति स्वयं तो अपना आचार पालते नही और दूसरो को मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का उपदेश करके पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के जीवो की हिंसा करवाते हैं, बोलो – धर्म दया, में कि हिंसा में ? उत्तर मिलता दया मे," तब लौंका के चेले कहते – "जब धर्म दया में है तो हिंसा को छोड़ों और दया पालो" अनपढ़ लोग, लौंका के अनपढ अनुयायियो की इस प्रकार की बातो से भ्रमित

होकर पूजा, दर्शन आदि जो श्रमसाध्य कार्य थे, उन्हें छोड़ छोड़कर लौंका के अनुयायी बन गये, इसमें लौंका और इनके अनुयायियो की वहादुरी नही, विध्वसंक पद्धति का ही यह प्रभाव है, मनुष्य को उठाकर ऊचे ले जाना पुरुषार्थ का काम है, ऊपर खड़े पुरुष को धक्का देकर नीचे गिराना पुरुषार्थ नही कायरता है, जैनो में से हो पूजा आदि की श्रद्धा हटाकर शाह लौंका, लवजी, रूपजी, धर्मसिंह आदि ने अपना वाडा वढाया, यह वस्तु प्रशसनीय नही कही जा सकती, इनकी प्रशसा तो हम तब करते जब कि ये अपने त्याग और पुरुषार्थ से आकृष्ट करके जैनेतरो को जैनधर्म की तरफ खीचते और शिथिलाचार मे डूबने वाले तत्कालीन यतियो को अपने आदर्श और प्रेरणा से शिथिलाचार से ऊँचा उठाने को वाध्य करते ।

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियो द्वारा लौंका आदि को कष्ट दिये जाने की बात कहता है, इसके पुरोगामी लेखक शाह वाडीलाल मोतीलाल तथा स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी ने भी यही राग अलापा है कि यतियों ने लौंकाशाह को कष्ट दिया था, परन्तु यतियों पर दिये जाने वाले इस आरोप की सच्चाई को प्रमाणित करने के लिए कोई प्रमाण नही बताया, वास्तव में यह हकीकत लौंकाशाह को महान् पुरुष ठहराने के अभिप्राय से कल्पित गढी है। ईसाइयो के धर्मप्रवर्तक "जेसस क्राईष्ट' को उनके विरोधियो ने क्रॉस पर लटकाया था, जिसके परिणामस्वरूप लगभग सारा यूरोप उसका अनुयायी वन गया था, इसी प्रकार लौंका को कष्ट-सहिष्णु महापुरुष बताकर लोगो को उसकी तरफ खीचने का लौंका के भक्तो का यह झूठा प्रचार मात्र है। लौंका ने तो तत्कालीन किन्ही भी साधुओ के साथ मुकावला करने की कोई बात नही लिखी, परन्तु लौंकाशाह के वेशधारी शिष्यो के साथ श्री लावण्यसमय आदि अनेक विद्वान् साधु चर्चा शास्त्रार्थ मे उतरे थे और उनको पराजित किया था, लेकिन यह प्रसंग कोई उनको कष्ट देने का नही माना जा सकता, समाज के अन्दर फूट डालने और हजारो वर्षों से चले आते धार्मिक मार्ग मे वखेडा डालने के कारण उन पर किसी ने कटुशब्द प्रहार अवश्य किए होगे और यह होना अत्याचार नही है, ऐसी वातें तो लौंका के वाडे मे से भाग छूटने वालो पर लौंका के अनुयायियो ने भी की हैं, देखिये —

सं० १५७० मे लौंकामत को छोड़कर श्री विजजऋषि ने मूर्तिपूजा मानना स्वीकार किया; तव लौंका के अनुयायियों ने उन पर कैसे वाग्वाण वरसाये थे, उसका नमूना निम्नलिखित केशवजी ऋषि कृत लौंकाशाह के सिलोके की कडी पढिए –

"लवण ऋषि भीमाजी स्वामी, जगमाला रुषि सखा स्वामी।
वीजो निकल्यो कुमति पापी तेणइं वली जिनप्रतिमा थापी ॥२३॥"

इसी प्रकार लौंकाशाह के विरोध मे मूर्तिमण्डन पक्ष के विद्वानों ने लौंकाशाह के लिए "लुम्पक" "लुकट" आदि शब्दो से कोसा होगा, तो यह कुछ कष्ट देना नही कहा जा सकता। लौंका की ही शती के लोंकागच्छीय भानुचन्द्र यति, केशवजो ऋषि उन्नोसवी शती के मध्यभागवर्ती "समकितसार" के कर्त्ता श्री जेठमलजी ऋषि आदि ने लौंकाशाह तथा उनके मत के सम्बन्ध मे वहुत लिखा है, फिर भी उनमे से किसी ने भी यह सूचन तक नही किया कि चैत्यवासियो ने लौंकाशाह को कष्ट दिया था, वास्तव मे लौंकाशाह की तरफ जन समाज का ध्यान खीचने के लिए बीसवी सदी के लेखको की यह एक कल्पना मात्र है।

भिक्षुत्रितय आगे कहता है – वर्तमानकालीन जैन साहित्य में चैत्यवासियो ने अनेक प्रक्षेप कर उन्हे परस्पर विरोधी वना दिया है, इसलिए लौंका और उसके अनुयायी धर्मशी, आदि ने ३२ सूत्रो को ही मान्य रक्खा है। भिक्षुत्रितय की ये वाते उनके जैसे ही सत्य मानगे, विचारक वर्ग नही, जैन आगमो का शास्त्रवर्णित स्वरूप आज नही है, इस वात को हम स्वय स्वीकार करते है, परन्तु लौंका के अनुयायी जिन ३२ आगमो को गणधर कृत मानते हैं, वे भी काल के दुष्प्रभाव से वचे हुए नही हैं, उनमें सौकर्यार्थ संक्षिप्त किये गये है, एक दूसरे के नाम एक दूसरे मे निर्दिष्ट किये हुए हैं, उनसे यही प्रमाणित होता है, कि सूत्रो मे जिस विषय का वर्णन जहा पर विस्तार से दिया गया है, उसको फिर मूल-सूत्र में न लिखकर उसी वर्णन वाले सूत्र का अतिदेश कर दिया है, जैन-सिद्धान्त के द्वादश आगम गणधर कृत होते हैं तब उपाग, प्रकीर्णक आदि शेष श्रुतस्थविर कृत होते हैं।

स्थविरो मे चतुर्दश पूर्वधर भी हो सकते है और सम्पूर्ण दशपूर्वधर भी हो सकते है, इन श्रुतधरो की कृतियां आगमो में परिगणित होती है, तब इन से निम्न कोटि के पूर्वधरो की कृतियां सूत्रव्याख्याग या प्रकीर्णक कहलाते है और उनमे द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार पढ़ने वालो के हितार्थ सिद्धान्त मर्यादा के बाहर नही जाने वाले उपयुक्त परिवर्तन भी होते रहते है, इस प्रकार के परिवर्तन ३२ सूत्रो मे भी पर्याप्त मात्रा मे हुए है, परन्तु लौंका के अनपढ अनुयायियो को उनका पता नही है । लौंका के अनुयायियो मे प्रचलित सैंकड़ो ऐसी बातें हैं जो ३२ आगमो में नही हैं और उन्हे वे सच्ची मानते हैं तब कई बाते उनमे ऐसी भी देखी जाती हैं जो उनके मान्य आगमो से भी विरुद्ध हैं, इसका कारण मात्र इस समाज में वास्तविक तलस्पर्शी ज्ञान का अभाव है ।

व्याकरण व्याधिकरण है :

आज से कोई ५० वर्ष पहले लुकामत के अनुयायी साधुओ को कहते सुना है कि "व्याकरण मे क्या रक्खा है, व्याकरण तो व्याधिकरण है ।"

स्थानकवासी साधुओ के उपर्युक्त उद्गारो का खास कारण था सत्रहवी शती मे लुंकागच्छ के आचार्य मेघजी ऋषि ने अपना गच्छ छोडकर तपागच्छ मे दीक्षित होने की घटना । इस घटना के बाद लुंकागच्छ वालो ने व्याकरण का पढ़ना खतरनाक समझा और अपने पाठ्यक्रम मे से उसको निकाल दिया था, यही कारण है कि बाद के लौंकागच्छ के आचार्य, यति और स्थानकवासी साधुओ के बनाये हुए संस्कृत, प्राकृत आदि के ग्रन्थ दृष्टि-गोचर नहीं होते "समकितसार" के कर्ता ऋषि जेठमलजी जैसे अग्रगामी स्थानकवासी साधु भी सूत्रो पर लिखे हुए टिबो मात्र के आधार से अपना काम चलाते थे, यही कारण है कि भौगोलिक आदि की आवश्यक बातो मे भी वे अज्ञान रहते थे, इस विषय मे हम "समकितसार" का एक फिकरा उद्धृत करके पाठको को दिखाएगे कि उन्नीसवी शती तक के लौंकागच्छ के वंशज कितने अबोध होते थे ।

"समकितसार" के पृष्ठ ११-१२ में "आर्यक्षेत्र की मर्यादा" इस शीर्षक के नीचे ऋषि जेठमलजी ने "बृहत्कल्पसूत्र" का एक सूत्र देकर आर्य अनार्य क्षेत्र को हद दिखाने का प्रयत्न किया है –

"कप्पइ निग्गन्थाणं वा निग्गंथीणं वा पुरत्थिमेणं जाव अंग मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ एत्तए, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए एयावयावकप्पइ, एयावयाव आरिएं खेत्ते, नो से कप्पइ एत्तो वांहि, तेण परं जत्थ नाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्पन्ति ॥४८॥"

उपर्युक्त पाठ "समकितसार" मे कितना अशुद्ध छपा है, यह जानने की इच्छा वाले सज्जन "समकितसार" के पाठ के साथ उपर्युक्त पाठ का मिलान करके देखे कि "समकितसार" मे छपा हुआ पाठ कितना भ्रष्ट है, इस पाठ को देकर नीचे चार दिक्षा की क्षेत्र मर्यादा बताते हुए ऋषिजी कहते हैं –

"पूर्व दिशा मे अगदेश और मगधदेश तक आर्यक्षेत्र है, अत्र भी राजगृह और चम्पा की निशानिया पूर्व दिशा मे है।

दक्षिण में कौशम्वी नगरी तक आर्यक्षेत्र है, आगे दक्षिण दिशा मे समुद्र निकट है इसलिए समुद्र की जगती लगती है।

पश्चिम दिशा मे थूभणानगरो कही है, वहां भी कच्छ देश तक आर्यक्षेत्र है, आगे समुद्र की जगती आती है।

उत्तर दिशा मे कुणाल देश और श्रावस्ती-नगरी है, जहां आज स्यालकोट नामक शहर है।

आगे ऋषिजी कहते हैं – कितनेक नगरो के नाम बदल गए हैं; उनको लोकोत्तर से जानते हैं, जैसे – पाटलीपुर जो आज का पटना है, देसारणपुर वह मन्दसोर है, हत्थणापुर वह आज की दिल्लो, सोरीपुर वह आगरा अट्टीगांव वह वढवाण है।

इसी प्रकार बृहत्कल्पोक्त गगा, यमुना, सरयू, इरावती और मही इन पाच महानदियो का परिचय देते हुए जेठमलजी इरावती को लाहोर के पास की रावी वताते हैं और मही गुजरात में वडौदा शहर के उत्तर में ८-१० माईल के फैसले पर वहने वाली मही वताते हैं ।

जेठमलजी कौशम्बी के आगे दक्षिण मे समुद्र और उसकी जगती वताते हैं, यह भौगोलिक "अज्ञान" मात्र है, कौशम्बी नगरी आधुनिक इलाहवाद से दक्षिण मे वत्स देश की राजधानी थी। उनकी दक्षिण सीमा विन्ध्याचल के उत्तर प्रदेश मे ही समाप्त हो जाती थी और समुद्र वहां से १ हजार माईल से भी अधिक दूर था, इस परिस्थिति मे कौशम्बी की दक्षिण सीमा समुद्र के निकट वताना भौगेलिक अज्ञानता सूचक है । -

पश्चिम दिशा में आर्यदेश की अन्तिम सीमा थूभरणानगरी कहते हैं और उनकी हद कच्छ देश तक वताते हैं, यह भी गल्त हैं, प्रथम तो नगरी का नाम ही गल्त लिखा है, नगरी का नाम थूभरणा नहीं, पर उसका नाम "स्थूरणा" है और वह सिन्ध देश के पश्चिम मे कही पर आयी हुई थी और उसके आस-पास के प्रदेश को जैनसूत्रो मे "स्थूरणाविषय" बताया है, कच्छ को नही ।

भारत के उत्तरीय आर्यक्षेत्र की सीमा पजाव के शहर स्यालकोट तक वताते हैं, यह भी अज्ञानजन्य हैं, स्यालकोट पजाव प्रदेद मे वर्तमान भारत के वायव्यकोण मे आया हुआ है, तव कुणाल देश भारत के उत्तरीय भाग मे था और आजकल के "सेटमहेट" के किले को प्राचीनकाल में श्रावस्ती कहते थे । गोरखपुर तथा वस्ति जिले के आस-पास का प्रदेश पूर्वकाल में कुणाल देश कहलाता था ।

दशार्णपुर को जेठमलजी देसारणपुर लिखते हैं और उसको आधुनिक मन्दसोर कहते हैं जो यथार्थ नही है । दशार्णपुर आजकल का मन्दसौर नहीं किन्तु पूर्व मालवा के पहाड़ी प्रदेश मे आए हुए दशार्ण देश की राजधानी थी और दशार्णपुर अथवा मृत्तिकावती इन नामों से प्रसिद्ध थी,

आधुनिक मन्दसौर का पूर्वकालीन नाम दशार्णपुर नही किन्तु 'दशपुर" था, यह वात शायद जेठमलजी के स्मरण मे से उतर गई है।

हत्थाणापुर अर्थात् हस्तिनापुर दिल्ली नही, किन्तु वह कुरु जागल देश की राजधानी स्वतन्त्र नगरी थी और आज भी है। सोरीपुर आगरा नही किन्तु आगरा से भिन्न प्राचीन सौर्य्यपुर नगर का नाम है। वढ़वाण को अट्ठीगांव कहना भूल से भरा है, अस्थिकग्राम प्राचीन भारत के विदेह प्रदेश में था, पश्चिम भारत मे नही।

लाहौर के पास की रावी नदी इरावती नहो, किन्तु कुणाल प्रदेश में वहने वाली इरावती नामक एक बड़ी नदी थी, इसी प्रकार मही नदी भी वड़ौदा के निकटवर्ती गुजगत की मही नही किन्तु दक्षिण कोशल की पहाड़ियों से निकलने वाली मही नदी को सूत्र मे ग्रहण किया है जो गगा की सहायक नदी है।

"समकितसार" के लेखक श्री जेठमलजी के प्रमादपूर्ण उपर्युक्त पाच सात भूलो मे ही "समकितसार" गत अज्ञान विलास की समाप्ति नही होती। यो तो सारी पुस्तक भूलों का खजाना है, प्रमाण के रूप मे दिये गये संस्कृत प्राकृत अवतरण इतनी भद्दी भूलो से भरे पड़े है जो देखते ही पुस्तक पढ़ने की श्रद्धा को हटा देते है और पुस्तक की भापा तो किसी काम की नही रही, क्योकि शब्द-शब्द पर विपयगत अज्ञान और मुद्रण-सम्वन्धी अशुद्धियो को देखकर पढने वाले का चित्त ग्लानि से उद्विग्नि हो जाता है।

हमारे सामने जो "समकितसार" की पुस्तक उपस्थित है यह "समकितसार" की तृतीयावृत्ति के रूप मे विक्रम सं० १९७३ मे अहमदावाद मे छपी हुई है, इसी "समकितसार" की सम्भवत: प्रथमावृत्ति विक्रम सं० १९३८ मे निकली थी, इसकी द्वितीयावृत्ति कव निकली इसका हमे पता नही है और ७३ के वाद इसकी कितनी आवृत्तियां निकली यह भी साधनाभाव से कहना कठिन है। १९३८ की आवृत्ति निकलने के वाद इसके उत्तर मे सं० १९४१ मे "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" नामक पुस्तक पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने लिखकर प्रकाशित करवाई "समकितसार"

मे इसके लेखक, "ऋषि जेठमलजी ने मूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय का "हिंसा-धर्मी" यह नाम रक्खा है और सारी पुस्तक में उनको इसी नाम से सबोधित किया है। "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" मे जेठमलजी की इस भापा का ही प्रत्याघात हैं और उसके लेखक ने "मूढ़जेठाऋष, निन्हव" इत्यादि शब्दों के प्रयोगो से लेखक ने उत्तर दिया है। जेठमलजी के "समकितसार गत" अज्ञान को देखकर वीसवी शती के पजाबविहारी स्थानकवासी साधुओ के मन में आया कि संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओ का जानना जैनसाधुओं के लिए जरूरी है, इसके परिणामस्वरूप कतिपय बुद्धिशाली स्थानकवासी साधुओ ने संस्कृत भापा सीखी और हस्तलिखित सटीकसूत्र पढ़े। सस्कृत सीखने के बाद सटीकसूत्रो के पढ़ने से वे समझने लगे कि सूत्रों में अनेक स्थानों पर मूर्तिपूजा का विधान है और दिनभर मुंह पर मुंहपत्ति बांधना शास्त्रोक्त नही है, इन दो वातो को पूरे तौर पर समझने के बाद उनकी श्रद्धा वर्तमान स्थानकवासी सम्प्रदाय मे से निकल जाने की हुई, प्रथम श्री बूटेरायजी, श्री मूलचन्दजी, श्री वृद्धिचन्दजी नामक तीन श्रमण मुंहपत्ति छोड़कर सम्प्रदाय से निकल गये, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रायें कर श्री बूटेरायजी ने अहमदावाद आकर प० मणिविजयजी के शिष्य बने, नाम बुद्धिविजयजी रक्खा। शेष दो साधु बुद्धिविजयजी के शिष्य बने और क्रमशः मुक्तिविजयजी, वृद्धिविजयजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके अनन्तर लगभग दो दशकों के बाद श्री आत्मारामजी श्री वीसनचन्दजी आदि लगभग २० साधु स्थानकवासी सम्प्रदाय छोडकर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे आये और बुद्धिविजयजी आदि के शिष्य बने, इस प्रकार सम्प्रदाय मे से पठित साधुओं के निकल जाने से स्थानकवासी सम्प्रदाय मे सस्कृत व्याकरण आदि भाषा विज्ञान के ऊपर से श्रद्धा उठ गई और व्याकरण को तो वे 'व्याधिकरण" मानने लगे।

बीसवीं शती का प्रभाव :

यों तो अन्तिम दो शतियो से जैनश्रमणो मे सस्कृत का पठन-पाठन बहुत कम हो गया था, परन्तु वीसवी शती के उत्तरार्ध मे संस्कृत भापा की

फिर कदर होने लगी। बनारस, मेसाणा आदि स्थानों में संस्कृत पाठशालाएं स्थापित हुई और उनमें गृहस्थ विद्यार्थी पढ़कर विद्वान् हुए कतिपय उनमें से साधु भी हुए, तब कई साधु स्वतंत्र रूप से पण्डितों के पास पढ़कर व्युत्पन्न हुए, इस नये संस्कृत प्रचार से अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय को एक नई चिंता उत्पन्न हुई, वह यह कि सम्प्रदाय मे से पहले अनेक पठित साधु चले गये तो अब न जायेंगे, इसका क्या भरोसा ? इस चिंता के वश होकर सम्प्रदाय के अमुक साधुओ ने अपने मान्य सिद्धान्तों पर नई सस्कृत टीकाएँ बनवाना शुरू किया। अहमदावाद शाहपुर के स्थानक मे रहते हुए स्थानकवासी साधु श्री घीसीलालजी लगभग ७-८ साल से यही काम करवा रहे हैं, संस्कृतज्ञ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा आगमों पर अपने मतानुसार संस्कृत टीकाएँ तैयार करवाते हैं, साथ-साथ उनका गुजराती तथा हिन्दी भाषा में भाषान्तर करवा कर छपवाने का कार्य भी करवा रहे हैं, इस प्रकार की नई टीकाओं के साथ कतिपय सूत्र छप भी चुके हैं। टीकाकार के रूप में उन पर अमुक प्रसिद्ध साधुओं के नाम अंकित किये जाते हैं।

उपर्युक्त व्यवस्था चालू हुई तभी से श्री फूलचन्दजी ने सबसे आगे कदम उठाया, उन्होंने सोचा नई टीकाओ के बनने पर भी संस्कृत के जानकार साधु को प्राचीन मूर्तिपूजक सम्प्रदाय-मान्य टीकाओं को पढ़ने से कौन रोक सकेगा, इस वास्ते सबसे प्रथम कर्त्तव्य यही है कि आगमों में से तमाम मूर्तिपूजा के पाठ तथा उनके समर्थक शब्दो तक को हटा दिया जाय ताकि भविष्य में सूत्रो का वास्तविक अर्थ समझकर अपने सम्प्रदाय मे से मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे साधुओं का जाना रुक जाय। अगर प्राचीन टीकाओं वाले आगमों में मूर्तिपूजा के अधिकार देखकर कोई यह शंका करेंगे कि मूर्तिपूजक सम्प्रदाय-मान्य आगमों में तो प्रतिमापूजा के अधिकार विद्यमान है और अपने आगमो में नही इसका क्या कारण है, तो उन्हे कह दिया जायगा कि मूर्तिपूजा के पाठ चैत्यवासी यतियो ने आगमो मे घुसेड़ दिये थे उनको हटाकर आगमो को संशोधित किया गया है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओ में व्याकरण को "व्याधिकरण" कहने की जो पुरानी परम्परा थी वह सचमुच ठीक ही थी, क्योंकि उनमें से

व्याकरण पढे हुए कई साधु सम्प्रदाय छोड़कर चले गये थे, श्री फूलचन्दजी तथा उनके शिष्य-प्रशिष्य भी साधारणतया व्याकरण पढे हुए है, तो उनके लिए भी "व्याकरण व्याधिकरण" होना ही था, यदि ये सम्प्रदाय मे से निकल जाते तो इतना ही व्याधिकरण" होता, अन्यथा इन्होने सूत्रो के पाठ निकालकर सूत्रों को जो खण्डित किया है और इस प्रक्रिया द्वारा सूत्रो की प्राचीनता मे जो विकृति उत्पन्न की है, इसके परिणामस्वरूप भविष्य मे कोई भी जैनेतर सशोधक विद्वान् इन सूत्रों को छूएगा तक नही, क्योंकि आगमो की मौलिकता ही उनका खरा जौहर है। वह फूलचन्दजी ने उनके सम्प्रदाय मान्य ३२ आगमो मे से खत्म कर दिया है। अब उन पर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती भाषा की टीकाएँ लिखवाते रहे और छपवाते रहे, जैन आगमो के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता, जैनधर्मियो की प्राचीन सभ्यता और आगम-कालीन जैनो के आचार-विचार जानने के लिए ये "स्थानकवासी आगम" किसी काम के नही रहे। शोध, खोज, करने वालो के लिए ये आगम बीसवी सदी के बने हुए किसी भी ग्रन्थ सदर्भ से अधिक महत्त्व के नही रहे।

भिक्षुत्रितय 'सुत्तागमे' के दोनो पुस्तकों मे लिखता है – "पाठ शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा है, इसके सम्पादन मे शुद्धि प्रतियो का उपयोग किया गया है।"

सम्पादकों की पाठ-शुद्धि का अर्थ है इनकी मान्यता मे बाधक होने वाले पाठो को "हटाना"। अन्यथा कई स्थानो पर सम्पादकीय अशुद्धियां ही नही बल्कि सम्पादको द्वारा अपनी होशियारी से की गई अनेक अशुद्धियां सूत्रो मे दृष्टिगोचर होती हैं, इस स्थिति मे सम्पादन मे शुद्ध प्रतियों का उपयोग करने की बात केवल दम्भपूर्ण है, क्योकि स्थानकवासियो के पास जो भी सूत्रो के पुस्तक होगे वे अशुद्धियो के भण्डार ही होगे, क्योकि इनके पुस्तकालयो तथा स्थानको मे मिलने वाले पुस्तक बहुधा इनके अनपढ़ साधुओ के हाथ के लिखे हुए ही मिलते हैं। सोलहवी शती मे लौंका का मत निकला और अठारहवी शती के प्रारभ मे स्थानकवासी ऋषियो ने टिव्बे के साथ सूत्र लिखने शुरु किये थे, लिखने वाले साधु नकल करने

वाले लहियो से तो वढकर होशियार थे नही, फिर सम्पादको को शुद्ध प्रतिया कहा से हाथ लगी, यह सूचित किया होता तो इनके कथन पर विश्वास हो सकता था, परन्तु यह वात तो है ही नही, फिर कौन मान सकता है कि इनके सम्पादन कार्य के लिए ६०८-७०० वर्ष पहले के आगमो के शुद्ध आदर्श उपलब्ध हुए होगे। 'सुत्तागमे" के द्वितीय अश मे दी हुई पट्टावली से ही यह तो निश्चित होता है कि सम्पादको को शुद्ध-पुस्तक नही मिला था। अन्यथा नन्दी की वाचक-वशावली के ऊपर से ली हुई गाथाओं मे मे इतनी गडवड़ी नही होती।

पट्टावली मे सप्तम पट्टधर आर्य भद्रवाहु के सम्बन्ध मे लेखक निम्न प्रकार का उल्लेख करते हैं – **"तयाणंतरं अज्ज भद्दवाहु चउणाण चउदह-पुव्वधारगो दसाकप्पववहारकारगो सुयसमुद्दपारगो ॥ ७ ॥"**

उपर्युक्त प्रतीक मे दो भूलें हैं, एक तो सम्पादक के सम्पादन की और दूसरी सम्पादक के शास्त्रीय ज्ञान के अभाव की, सम्पादन की भूल के सम्बन्ध मे चर्चा करना महत्त्वहीन है, परन्तु दूसरी भूल के सम्बन्ध मे ऊहापोह करना आवश्यक है, क्योकि पट्टावली-निर्माता ने इस उल्लेख मे भद्रवाहु स्वामी को "चतुर्ज्ञानधारक" लिखा है, वह शास्त्रोत्तीर्ण है – क्योकि भद्रवाहु "ज्ञानद्वयधारक" थे। लेखक ने इनको चतुर्ज्ञानधारक कहने मे किसी प्रमाण का उपन्यास किया होता, तो उस पर विचार करते। अन्यथा भद्रवाहु को चतुर्ज्ञानधारक कहना प्रमाणहीन है।

पट्टावली-लेखक ने अपनी पट्टावली मे ११ वे नम्वर के स्थविर को "सन्तायरिओ" लिखा है जिसका सस्कृत "शान्त्याचार्य" होता है जो कि गलत है, इन स्थविरजी का नाम "स्वात्याचार्य" (आचार्य स्वाति) है आचार्य शान्ति नही। शाण्डिल्य के वाद १४ वे स्थविर का नाम 'जिनधर्म' और १६ वें स्थविर का नाम "नन्दिन" लिखा है, जो दोनो अक्रम प्राप्त है, क्योकि इन मे से "आर्यधर्म" का नाम नन्दी की मूल गाथाओ मे नही है और "नन्दिल" का नम्वर मूल नन्दी मे १७ वा है। नम्वर २० और २१ मे स्थविरो के नाम भी पट्टावली-लेखक ने गलत लिखे है, आर्य महागिरि

की वाचक-परम्परा मे सिहगिरि का नाम नही है, किन्तु इस परम्परा मे वाचक "ब्रह्मद्वीपकसिह" का नाम अवश्य आता है, २१ वे स्थविर को "सिरिमन्तो" नाम से उल्लिखित किया है, जो गलत है, वास्तव मे इनका नाम "हिमवन्त" है।

पट्टावलीकार ने २३ वा नम्बर गोविन्द को दिया है, जो वास्तव मे नन्दी की मूल गाथाओ मे नही है, किन्तु यह नाम "प्रक्षिप्त गाथा मे" आता है।

पट्टावलीकार ने २५ वें स्थविर का नाम "लौहाचार्य" लिखा है, जो यथार्थ नही है, इनका खरा नाम "लौहित्याचार्य" है।

पट्टावलीलेखक ने २६ वे स्थविर का नाय "दुप्पस" लिखा है, जो अशुद्ध है। देवर्द्धिगरिण के पट्टगुरु का नाम ',दुप्पस" नही किन्तु "दूष्यगरिण" है, यह लेखक को समझ लेना चाहिए था।

पट्टावलीकार ने देवर्द्धिगरिण के वाद वीरभद्र २८ शिवभद्र २९ आदि ३३ नाम कल्पित लिखे है, अतः इन पर ऊहापोह करना निरर्थक है, इनके आगे पट्टावली लेखक ने "ज्ञानाचार्य" "भाणजी" आदि लौकागच्छ की परम्परा के ऋषियो के नाम दिए है, इन नामो मे भी पजावी साधुओ की पट्टावली के कई नामो के विरुद्ध पढने वाले नाम है जिनकी चर्चा पहले ही पट्टावली-विवरण मे की गई है।



कडवा-मत गच्छ की पट्टावली

१. शाह कडवा :

नाडुलाई गाव मे नागरज्ञातीय वीसानागर श्री कानजी की भार्या कनकादे की कोख से सं० १४६५ मे शाह कडुवा का जन्म हुआ था। कडवा जब आठ वर्ष का हुआ, तब से हरिहर के पद बनाने लगा था। कुछ समय के बाद कडुआ को अचलगच्छ का एक श्रावक मिला। श्रावक ने कडुआ को कहा – तुम हरिहर के पद बनाते हो वैसे जैनमार्ग के बनाओ तो तुम्हारी कदर होगी "जैन" यह शब्द सुनकर कडवा को बड़ा आनन्द हुआ, वह बोला मुझको जैनमार्ग सुनाओ तो मैं जैनधर्म के भी पद बनाऊ। आंचलिक श्रावक कडुवा को अपने गच्छ के उपाश्रय मे ठहरे हुए साधुजी के पास ले गया, साधुजी ने उसे वार्ता के रूप मे धर्म का उपदेश किया। कडुआ ने इस प्रकार उनके पास जाते-जाते जैनधर्म का खासा परिचय पा लिया, उसने सर्वप्रथम एक कविता बनाई जिसका प्रथम पद्य इस प्रकार था।

माइ बाप नी कीजई भगति' विनय करन्ता रुढी युगति।
जीव दया साची पालीजइ, सील धरी कुल उजुआलीइ ॥ १ ॥

इस प्रकार साधु-समागम से और उनको औपदेशिक बातें सुनने से कडुआ के मन मे ससार की असारता का आभास हुआ, उसकी इच्छा ससार त्याग करने की हुई, अपना भाव कडुआ ने माता-पिता के सामने प्रकट किया जिसे सुनकर उसके माता-पिता को वडा दुःख हुआ और दीक्षा लेने की आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। मेहता कानजो का स्वभाव

जानने वाला साधु उनकी आज्ञा के बिना कडुआ को दीक्षा देने के लिए कोई तैयार नही हुआ। दीक्षा लेने की धुन में कडुआ अनेक साधुओं का परिचय करता हुआ अहमदाबाद पहुँचा, वहा रूपपुरा में आगमिक पं० हरिकीर्ति शुद्ध प्ररूपक सवेग पाक्षिक साधु थे, वे अपनी शक्ति के अनुसार क्रिया कलाप करते थे। गुणी साधुओं को वन्दन करते थे, परन्तु आप किसी से वन्दन नही करवाते, कहते मैं वन्दन-योग्य नही हूँ, मुझ से शास्त्रोक्त साधु का आचार नही पलता। हरिकीर्ति रूपपुरे की एक शून्य शाला मे रहते थे, कडुवा ने उनका व्यवहार देखा और उसको पसन्द आया, उसने हरिकीर्तिजी के सामने अपना परिचय देते हुए कहा – मेरी इच्छा ससार छोड़कर साधु होने की है, मुझे दीक्षा दीजिये। हरिकीर्ति ने सोचा – मैं अगर इसको योग्य मार्ग न दिखाऊँगा तो यह किसी कपटी कुगुरु के जाल मे फंस जायगा, उन्हो ने कडुवा से कहा – प्रथम दशवैकालिक के चार अध्ययन पढ़ने से ही दीक्षा पाली जा सकती है, इस वास्ते पहले तुम दशवैकालिक के ४ अध्ययन पढो, उसने स्वीकार किया और हरिकीर्ति के पास दशवैकालिक के चार अध्ययन अर्थ के साथ पढे। अध्ययन पढ़ने के बाद कडुआ ने उन्हे पूछा – पूज्य ! सिद्धान्त मार्ग तो इस प्रकार है, तब आजकल साधु इस मार्ग के अनुसार क्यो नही चलते ? हरिकीर्ति ने कहा – अभी तुम पढो और सुनो, बाद मे सिद्धान्त की चर्चा मे उतरना, महता कडुवा ने पन्यास के पास सारस्वत व्याकरण, काव्यशास्त्र, छंदशास्त्र, चिन्तामणि प्रमुख वाद शास्त्र पढा और आचारांगादि सूत्रो के अर्थ सुनकर प्रवीण हुआ, बाद मे पन्यास हरिकीर्ति ने कडुआ को कहा – हे वत्स ! आचारागादि सूत्रो मे जो साधु का आचार लिखा है, वह आज के साधुओ मे देखा नही जाता, आज के सर्व यति पूजा-प्रतिष्ठा कल्पितदान आदि कार्यों मे लगे हुए है, जिनमन्दिरो के रक्षक बने हुए हैं, क्योकि वर्तमानकाल मे दसवां अच्छेरा चल रहा है, यह कहकर उसने "ठाणाग" सूत्र की आश्चर्य-प्रतिपादक गाथाएँ, "संघपट्टक" की गाथाएँ और "षष्टिशतकप्रकरण" की गाथाएँ सुनाकर वर्तमानकालीन साधुओ की आचारहीनता का प्रतिपादन किया और उसकी श्रद्धा कुण्ठित करने के लिए हरिकीर्ति ने पिछले समय में जैनश्रमणो मे होने वाली धड़ाबन्दियों का विवरण सुनाया, उन्होने कहा –

"११५६ में पौर्णमिक, १२०४ में खरतर, १२१३ में अंचल, १२३६ मे सार्द्धपौर्णमिक, १२५० में त्रिस्तुतिक १२८५ में तपा अपने-अपने आग्रह से उत्पन्न हुए, १५०८ में लुंका ने अपने आग्रह से मत चलाया, अब तुम ही कहो तो इन नये गच्छ-प्रवर्तकों मे से किस को युगप्रधान कहना और किसको नही, इस समय शास्त्रोक्त चतुष्पर्वी का आम्नाय भी दिखता नही, जहां युगप्रधान होगा, वहां उक्त सभी बातें एक रूप मे ही होगी, इसलिए तुम श्री युगप्रधान का ध्यान करते हुए श्रावक के वेश मे "सवरी" वनकर रहो, जिससे तुम्हारे आत्मा का कल्याण होगा।"

शाह कडुवा ने जैन सिद्धान्तो की बाते सुनी थी, उसको हरिकीर्ति की वात ठीक जची, वह साधुता की भावना वाला प्रासुक जल पीता, अचित्त आहार करता, अपने लिए नही करा हुआ भोजन विशुद्ध आहार श्रावक के घर से लेता था। ब्रह्मचर्य का पालन करता, १२ व्रत धारण करता हुआ किसी पर ममता न रखता हुआ पृथ्वी पर विचरने लगा।

कडुआशाह ने सर्व-प्रथम पाटण में लीम्वा मेहता को प्रतिबोध किया, सं० १५२४ में शाह मेहता लीम्बा ने शाह कडुआ को विरागी जानकर अपने घर भोजनार्थ वुलाया, भोजन मे परोसने के लिए अनेक चीजें हाजिर की। कडुआ ने उनका काल पूछा, जो काल के उपरान्त की चीजें थी उन्हे नही लिया। लीम्बा ने — दही शक्कर आप लेंगे ? कडुआ ने पूछा — दही कव का है। लीम्बा ने कहा — हमारे घर पर ३९ भैंसियां दूध देती है इसलिए यह कैसे जाना जा सकता है — कि यह दही कव का है। कडुआ ने कहा — हमको १६ पहर के उपरान्त का दही नही कल्पता, मेहता लींबा ने कहा — आप सव में जीव कहते हैं, दूध मे से भी पोरा निकालते है तो एक आध हमको दृष्टान्त दिखाओ तो मैं स्वयं जैनधर्म स्वीकार कर लूं, इस पर कडवाशाह ने दांत रंगने का पोथा मंगवाकर दही के उपरि भाग मे लकीर खीचकर दही का वर्तन धूप में रखवाया और दही मे से ताप लगने के कारण पोथा की लकीर पर ऊपर आए हुए दही से सफेद जीवो को दिखाया, इससे मेहता लीम्वा जैनधर्म का श्रद्धालु वन गया।

सं १५२५ मे वीरमगांव में ३०० घर अपने मत में लिए, सं० १५२६ मे सलक्खपुर मे चातुर्मास्य कर अनेक मनुष्यों को प्रतिबोध किया और १५० घर अपने मत मे लिये, सं० १५२८ मे श्री अहमदाबाद मे चतुर्मास्य किया, ७०० घर अपने मत में प्रतिबोध किये। सं० १५२९ मे खम्भात मे चतुर्मास किया ५०० घर को प्रतिबोध किया, । सं० १५३० मे मांडल मे चतुर्मास किया और ५०० घरो को प्रतिबोध दिया। स० १५३१ मे सूरत मे चतुर्मास, स० १५३२ मे भरुच मे चतुर्मास किया, १५३३ में चापानेर चतुर्मासक किया, घर ३०० को प्रतिबोध किया तथा थराद मे ९०० घर अपने मत मे किये। सं० १५३६ मे राधनपुर चतुर्मास, १५३७ में मोखाड़ा मे चतुर्मास किया तथा सोईगात्र आदि मे अपना मत फैलाया। सं० १५३८ मे सर्वत्र विहार किया। स० १५३९ मे नाडलाई मे ऋषि भाणा के साथ वाद किया और शास्त्रानुसार प्रतिमा को प्रमाणित किया और लुको के १५० घर अपने मत मे लिये। सं० १५४० मे पाटन मे चतुर्मासक किया और ९०० घर कडुआ के समवाय मे हुए, शाह खीमा, शाह तेजा, कर्मसिंह, शाह नाकर द्वादश व्रतधारक, शाह श्रीकृत १०१ नियमो के पालक सवरी गृहस्थ के वेश मे रहकर दीक्षा का भाव रक्खे, सवर का खप करे।

१ नीची नजर रखकर चले।
२ रात्रि मे भूमि का प्रमार्जन किये विना न चले।
३ खास कारण विना रास्ते चलते हुए वातचीत न करें, कोई प्रश्न करे तो यह कहे कि ज्यादा वाते स्थान पर करना।
४ औषध को छोड़कर सच्चित्त आहार न खावे।
५ दिवस की पिछली दो घडी दिन रहते, चउविहाहार का पच्चक्खान करे,
६ भोजन करते समय अन्नकण न बिखेरे, न झूठा छोड़े, प्रमाणातिरिक्त भोजन न करे, न विना इच्छा के खाएँ।
७ भोजन करते न वोले।
८ द्विदल अन्न कच्चे गोरस के साथ न खाएं।
९ छुटे हाथ कोई पदार्थ न फेके।
१० पाट पाटला प्रमुख किसी भी वस्तु को न घसीट कर ले जाय।

११ स्थण्डिल सम्बन्धी शुद्ध भूमि की यतना करे।
१२ प्रस्रवण कीडी प्रमुख जीव-जन्तु न हो वहां छोडे।
१२ मात्रा की कुड़ी को छोडकर अन्य वर्तन मे मल त्याग न करे।
१४ जल प्रमुख त्याज्य पदार्थ विना प्रमार्जन किये न परठे।
१५ दूसरे को पीडाकारी वचन तथा हास्यादिक वचन न बोले।
१६ शरीर को विना प्रमार्जन किये खाज न खणे।
१७ पांच स्थावर जीवो का आरम्भ न करें।
१८ निवाण से स्वयं पानी न ले, अगर लाए तो सब उपयोग करे।
१६ बिना छाने पानी में कपड़े न धोएँ।
२० अपने हाथ से अग्नि का आरभ न करे।
२१ पखे से हवा न लें।
२२ वनस्पति अपने लिए न काटे।
२३ त्रस जीव की पीडा के परिहार में नियम धारण करना :
२४ त्रस जीव को मारने का त्याग करना।
२५ सर्वथा असत्य का त्याग करना।
२६ चोरी-यारी और अदत्तावस्तु लेने का त्याग।
२७ मनुष्य तथा चतुष्पद जाति की स्त्री का स्पर्श तथा सघट्ट न करना यदि, हो तो घृत का उस दिन त्याग करना।
२८ अपने पास धन न रक्खे।
२६ पिछली ४ घड़ी रात्रि में शयन का त्याग करे।
३० खुले मुंह न बोले, बोलते समय हाथ अथवा कपड़ा रखकर बोले।
३१ रात्रि के प्रथम पहर मे न सोवे।
३२ रोगादि कारण के सिवाय दिन मे न सोवे।
३३ प्रतिदिन तिविहार एकाशन करें।
३४ यथाशक्ति ग्रन्थि-सहित प्रत्याख्यान करे।
३५ त्रिकाल देव-वन्दन करे तथा अपने-अपने समय मे आवश्यक तथा प्रतिलेखनादि करे।
३६ प्रतिदिन सात अथवा पांच चैत्य वन्दन करें।
३७ पढने गुणने का अभ्यास करे, प्रतिदिन गाथा एक याद करे और कम

से कम ५०० गाथा गिने ।

३८ पासत्थादि पांच कुदर्शनियो का सग न करे ।

३९ सामायिक दिनप्रति वहुत करे ।

४० प्रतिदिन एक विकृति वापरे, अधिक नही ।

४१ दिन में पाव सेर से अधिक घृत न खाएँ ।

४२ पन्द्रह दिन में दो उपवास करे ।

४३ लोगस्स १० तथा १५ का कार्योत्सर्ग करे ।

४४ एक स्थान मे एक वर्ष उपरान्त न रहे ।

४५ अपने लिये घर तथा द्वार न कराये ।

४६ वस्त्र न धोए, ५ के उपरान्त अपने पास वस्त्र न रक्खे । कपडो की गठड़ी अन्यत्र न रखे ।

४७ विस्तर, तकिया, गादो न वापरे ।

४८ पलंग, खाट आदि पर सोवे नही, तथा बैठे नही ।

४९ चौराहे पर न बैठे ।

५० कलगिया एक, वाटकी एक, इसके अतिरिक्त वर्तन न रखे ।

५१ ज्वर आदि रोग मे तीन दिन तक लघन करे ।

५२ स्त्री से एकान्त मे वात न करे ।

५३ ब्रह्मचर्य की नव वाडी पालने में यत्न करे ।

५४ मास में एक बार वस्त्र धोवे ।

५५ एकान्तर संघट्ट न करे ।

५६ चार कषाय न करे ।

५७ कषाय उत्पन्न होने पर विगई का त्याग करे ।

५८ किसी को अभ्याख्यान न दे ।

५९ किसी को पीछे दोष न दे, चुगली न खाये ।

६० सुगन्ध तेल शौक के लिए न वापरे ।

६१ द्रव्य १२ के अतिरिक्त एक दिन मे न ले ।

६२ सुपारी, पान, इलायची प्रमुख का उपयोग न करे ।

६३ उत्कट वस्त्र न पहिने ।

६४ रेशमी वस्त्र का त्याग करे ।

६५ खेल, तेल इकट्ठा कर स्नान न करे।
६६ अपने हाथ से न पकावे, न सचित्त वस्तु दूसरे से पकवावें।
६७ हरी वनस्पति का आहार स्वाद की दृष्टि से न करे।
६८ वर्षाकाल मे खोपरा, खारक प्रमुख न वापरे।
६९ स्त्री सुनते राग न आलापे।
७० आभूषण न पहिने।
७१ दो पुरुष एक पथारो पर न सोवे।
७२ स्त्री सोती हो वहा विना अन्तर के पुरुष न सोवे।
७३ लौकायतिक के यहा का अन्न जल न लेवे।
७४ जिस पर देव द्रव्य का देना हो और वह दे न सकता हो उसके वहा न जीमे।
७५ भुखायति के यहा भोजन न करे।
७६ अकेली स्त्री को न पढाए।
७७ मन्दिरजी की हद मे न सोवे।
७८ अपने सगे के लिए कोई चीज न मागे।
७९ दूसरे का द्रव्य अपने पास हो तो उसके स्वजन को आज्ञा विना धर्म-स्थानक मे न खर्चे।
८० निरन्तर एक घर मे दो दिन न जीमे।
८१ जिसके यहा श्राद्ध-सवत्सरी हो उसके यहा तीन दिन नहीं जीमे।
८२ उत्कट आहार का उपयोग न करे।
८३ सिघोडे लीले, सुखे, न खाए।
८४ डगला पहनने की छूट।
८५ दूसरो के बच्चो को प्यार न करे।
८६ स्वजन के अतिरिक्त लोग जीमते हो वहा न जीमे।
८७ कन्दोई के पक्वान्न की यतना।
८८ रात मे तैयार किये हुए अन्न को न जीमे।
८९ गृहस्थ के घर बैठकर गप्पे न लडाये।
९० जूते न पहने।
९१ रथ, गाडी, यान पर न बैठे।

९२ घोडा प्रमुख वाहन पर न चढे।
९३ महीने मे एक वार नख उतराए।
९४ कूलर, पकवान आदि वनवाकर अपने पास न रखे।
९५ मार्ग मे खडे रहकर अथवा चलते हुए स्त्री से वार्तालाप न करे।
९६ मार्ग मे चल न सके तो यान मे वैठे।
९७ पचवर्ण वस्त्र न पहिने।
९८ अकेली स्त्रियो के समूह मे भोजन के लिए अथवा अन्य किसी कार्य के लिए न जाये।
९९ राग उत्पन्न करने वाले गीत न गाए, न सुने।
१०० ब्राह्मण का सग न करे।
१०१ दूसरे के घर मे जाते खखार करना।

इसके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक वाते जो सवरी की अपभ्राजना कराने वाली हो उनको न करे, तथा शाह कडुवा के लिखे हुए १०४ नियम शील पालने सम्बन्धी है, उनको धारण करना स्त्रियो के लिए शील पालन के ११३ नियम हैं ये सभी नियम यहा नही लिखे।

उस वर्ष श्री कडुवाशाह पाटन मे अमरवाडा दरवाजा के वाहर जाते दो दिन एक योगीशाह को देखकर वहुत खुश हुआ और शाह को आग्रह करके कुछ आम्नाय दिए। यन्त्र, तन्त्र तथा रूपा सिद्धि भी दी, ऐसा वृद्धवाद है, परन्तु शाहश्री ने एक भी विद्या न चलाई, उन्होने यावज्जीव के लिए एक घृत विकृति छूटी रखी। प्रतिदिन के लिए १० द्रव्य छूटे रखे, यावज्जीव एकाशन करने का नियम था, फिर भी महिने मे १० आयम्बिल करते और श्री युगप्रधान का ध्यान धरते हुए दीक्षा की भावना रखते थे।

स० १५४१ मे शाहश्री वडौदे मे शाह कुवरपाल के घर चातुर्मास रहे, वहा भट देपाल के साथ वाद हुआ, जैन वोल ऊपर रहा, वहा पर "जय जग गुरु देवाधिदेव" यह स्तवन वनाया।

सं० १५४२ मे गन्धार मे शाह देवकर्ण के घर पर चातुर्मास किया, वहा चैत्यवासियो के साथ चर्चा हुई, वहा पर शाह ने "सखिसार नयर गन्धार गाव" ऐसा वीर स्तवन वनाया।

स० १५४३ में चूडा राणपुर मे शाह सघराज के घर चातुर्मास ठहरे, वहा शाहश्री के पास शाह राणा, शाह कर्मण, शाह शवसी, शाह पुन्ना, शाह धीगा, पाच श्रावक संवरी हुए, चूड़ा राणपुर मे २०० घर शाहश्री कडुआ की श्रद्धा मे आए।

स० १५४४ मे जूनागढ़ मे ठक्कुर राजपाल के घर चतुर्मासक किया, वहा लुंका के १५० घर अपनी श्रद्धा के बनाए।

स० १५४५ मे सौराष्ट्र मे विचर कर अमरेली में ठक्कुर काशी के घर चातुर्मास किया।

स० १५४६ में अहमदाबाद के पास अहमदपुरे में चतुर्मास किया, वहां परिख चोकसी ने आबू, राणकपुर, चित्तौड़ का सघ निकाला, उसके साथ श्री कडुवा प्रमुख ६ संवरी चले, जहा-जहां सघ गया, या ठहरा उन सब गावो के चैत्यो की चैत्य-परिपाटी का स्तवन बनाया। श्री कडुवाशाह ने सिरोही मे चत्यवासी के साथ वाद कर चैत्यवास का खण्डन किया। वहां से नाडलाई तक को यात्रा करके वापस अहमदावाद आए और शाह कडुवा रूपपुर मे ठहरे।

सं० १५४७ में खम्भात मे चतुर्मासक किया, वहा लगु(घु)शालिक तपा के साथ चर्चा हुई, जो श्री वन्तकृत हुण्डी से जान लेना, शाहश्री ने वहा से अन्यत्र विहार किया और "शाह रामा जो पहले उपाध्याय रामत्रिमल था, वह स्तम्भतीर्थ मे प्रतिक्रमण मे चार स्तुतियां कराता था, दूसरे भी शाह रामा के साथ प्रतिक्रमण करने वाले चार थुई करते थे, अब भी खम्भात में इसी प्रकार का मार्ग चलता है। अर्थात् कितनेक सवरी चार थुई करते हैं, सिद्धान्तोक्त गणधरोक्त ३ थुई है, परन्तु आवश्यक मे, आवश्यक चूर्णि मे, आवश्यक वृत्ति मे, ललितविस्तरा आदि ग्रन्थो मे चतुथ स्तुति लिखो है।

स० १५४८ मे पाटन मे चतुर्मासक किया, वहा परी० थावर तथा दोसी समर्थ के वडेरो को प्रतिबोध दिया, पाटन मे वु० धनराज परी० की का के दादे का त्रिम्ब प्रवेश किया, उस समय शाह कडुवा मन्दिर में दर्शनार्थ

आये उसी समय शाह देदा जो धर्मानुरागी और दीक्षा का अभिलाषी वहां आया था, शाहश्री को मन्दिर में पगड़ी उतारकर प्रतिमा के दर्शन करते हुए देखा, उसके सम्बन्ध में पूछने की इच्छा हुई, शाह चैत्यवन्दन कर मन्दिर से बाहर निकले, तब शाह देदा ने अपनी बनाई हुई १२ प्रश्न की चतुष्पदी कडुआशाह के सामने रक्खी शाह उसे पढ़कर बहुत खुश हुए, बाद में देदा-शाह ने मन्दिरजी में पगड़ी उतारने का कारण पूछा, तब श्री शाह ने शास्त्र के आधार से कहा – भगवान् के सामने शिरोवेष्टन सिर पर रखकर जाना एक प्रकार की आशातना है, इस विषय की विस्तृत चर्चा और शास्त्र के पाठ शाहश्री तेजपाल कृत "दन्तदी" में देख लेना चाहिए, शाह देदा ने शाहश्री के पास संवरीपन स्वीकार किया और उनके साथ विचरने लगा, पचो० जूनाशाह के पास बहुत पढ़े और होशियार हुए थे।

सं० १५४९ में शाह कडुआ नाडलाई में वहोरा टीला के घर चातुर्मासिक ठहरे, वहोरा टोला भी वैराग्यवान् और सद्गृहस्थ था। शाहश्री के पास छट्ठ-छट्ठ पारणा करने की प्रतिज्ञा की थी। शाहश्री के पास वहां तीन संवरी हुए, शाह धीरपाल, शाह वीरा, शाह जीवा, एवं १४ संवरी शाहश्री के पास रहते थे।

सं० १५५० में सादड़ी गए और दोशी संघराज के घर चातुर्मासिक ठहरे, वहां पर खरतरों के साथ महावीर के कल्याणकों के सम्बन्ध में चर्चा हुई और कल्पसूत्र, आचारांगवृत्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों के प्रमाण से महावीर के पांच कल्याणक सिद्ध किये और गर्भापहार कल्याणक जिनवल्लभ ने स्थापित किया है, तथा स्त्री को पूजा करने का निषेध खरतरों ने किया है जिसका ज्ञातासूत्र के आधार से शाहश्री ने खण्डन किया। सादड़ी में दो संवरी हुए – शाह सिद्धर, शाह डूंगा।

सं० १५५१ में शाहश्री ने सिरोही में चातुर्मासिक किया, वहां एक श्रावक संवरी हुआ, जिसका नाम शाह भगाण था, वहां पर तपागच्छ वालों के साथ सामायिक उच्चार करने में ईरिया वहियं-प्रतिक्रमण पहले या पीछे इस विषय की चर्चा हुई।

सं० १५५२ में थराद मे चतुर्मासक हुआ, उस समय पं० हरिकीर्ति भी वही थे। शाह कडुवा की व्याख्या सुनकर वहुत खुश हुए, थराद मे वहुतेरे आदमियो को प्रतिवोध किया, वहा पर चार श्रावक शाहश्री के पास संवरी हुए। उनके नाम शाह लूणा, शाह मागजी, शाह जसवन्त और शाह डाहा। थराद मे शाहश्री के धर्म की श्रद्धा सारे नगर को हो गई। थराद निवासी श्रावक शाह राया (राजा) शाहश्री के पास वहुत पढा कुछ दिन तक उनके पास रहा, थराद, निवासी शाह दूदा पन्यास के पास वहुत पढा।

सं० १५५३ मे, १५५४ मे और १५५५ मे जालोर प्रमुख नगरो मे विचरे और अनेक तीर्थो की यात्रा की, वहा यति द्वारा प्रतिष्ठा की जाने सम्बन्धी तथा साधु के कृत्यो के विषय मे चर्चा हुई, तथा पर्व के दिनो को छोड़कर शेष दिनो मे पौपध करने के सम्बन्ध मे आंचलिक तथा खरतरो के साथ चर्चा हुई और स्थानाग ज्ञातादि के आधार से पौषध करना प्रमाणित किया। स० १५५६ मे आगरा की तरफ गये, नागोर, मेड़ता, आगरा यावत् सर्वस्थानो मे यात्राएँ की।

सं० १५५८ मे पाटन गए, वहाँ परीख पूना ने शाहश्री के पास वृद्ध-शाखीय ओसवाल ज्ञातीय माता-पिता रहित एक ग्यारह वर्ष के वच्चे को लाया, जिसका नाम श्रीवत था। शाहश्री को कहा – इस कुमार को आप पढ़ाइये, शाहश्री ने कुमार का हाथ देखा और शिर हिलाते हुए कहा – इसका आयुष्य तो कम है, परन्तु पढ़ने वाला इसकी वरावरी नही कर सकेगा। परीख पूना ने उसको अपने घर रक्खा और कुछ दिनो तक शाहश्री के पास पढ़ाया।

सं० १५५९ में शाहश्री नवानगर गए, वहा चौमासा करके अनेक मनुष्यो को धर्म का मार्ग समझाया।

स० १५६० मे राजनगर मे चतुर्मासक किया, वहां पर पटेल सधा, पटेल हांसा संवरी वने।

सं० १५६१ मे सूरत मे चातुर्मासक रहे, वहा शाह वेला, शाह जीवा, संवरी हुए।

स० १५६२ मे वीरमगांव में डोसी तेजपाल के घर चतुर्मासिक रहे, वहां शरीर मे वेदना हुई परन्तु कुछ दिनों के वाद नीरोग हो गए।

स० १५६३ मे महेसाने मे डो० वासन के घर चतुर्मासक रहे।

स० १५६४ मे कडुवाशाह पाटन गए, उस समय इनके पास जो सवरी थे उनके नाम नीचे लिखे अनुसार थे – १. शाह खीमा, २. शाह तेजा, ३. शाह कर्मसिंह, ४. शाह नाकर, ५. शाह राणा, ६. शाह कर्मण, ७ शाह शवसी, ८ शाह पुन्ना, ९. शाह धींगा, १० शाह देपा, ११. शाह लीम्वा, १२ शाह सिघर, १३. शाह कवा, १४ शाह शवगण, १५. शाह लुणा, १६. शाह मांगजी, १७. शाह जसवत, १८. शाह डाहा, १९. शाह वेला, २०. शाह जीवा, २१. पटेल हांसा, २२ पटेल संघा, इनके अतिरिक्त शाह वीरा, १. शाह थीरपाल, २. शाह धीरु ये तीन नाड़लाई मे थे और शाह रामा कर्णवेधी १ खम्भात मे थे।

सं० १५६३ मे थराद में पन्यास हरिकीर्ति दिवगत हुए। उन दिनो शाह रामा श्रावक वहा व्याख्यान वांचते थे, शाम को शाह दूदा भी व्याख्यान वाचते थे। एक दिन पाक्षिक दिन के सम्बन्ध मे वात चली, रामा की वात पर शाह दूदा ने कहा – पन्यास तो यह कहते थे, तव रामा ने कहा – नही पन्यास यह नही कहते थे, इस मतभेद का निराकरण शाहश्री कडुवा को पूछकर करने का निश्चय हुआ, उस समय कडुवाशाह पाटन मे थे, उनको पूछने के पहले ही कडुवाशाह के शरीर मे फिर पीड़ा उत्पन्न हुई, उन्होने अपने आयुष्य की समाप्ति निकट समझकर शाह खीमा को वुलाकर अन्तिम शिक्षा देते हुए कहा – सवरी का मार्ग अच्छी तरह पालना।

कडुवाशाह ने उन्हे निम्नलिखित अपनी मान्यताओ का पुनरुच्चारण करके उन्हे फिर सावचेत किया, उन्होने कहा –

१ जिनचैत्यो में पगडी उतार कर देव वन्दन करना।

२ प्रतिष्ठा करना श्रावक का कर्त्तव्य हैं, यति का नही।

३ पाक्षिक सिद्धान्त में पूर्णिमा को नामा है, परन्तु आचरणा से चतुर्दशी को करते है।
४ पर्युषणा युगप्रधान कालकाचार्य की आचरणा से चतुर्थी को करते है।
५ श्रावक श्राविका के लिए मुंहपत्ति चरवला रखना शास्त्रानुसार है।
६ सामायिक वार-वार करना चाहिए, ऐसा आवश्यक मे लेख है।
७ पर्व विना भी पौषध करना चाहिए, ऐसा ज्ञातासूत्र मे प्रमाण है।
८ द्विदल छोड़ना चाहिए, ऐसा कल्पभाष्यादि में प्रमाण है।
९ मालारोपण उपधान का निषेध।
१० स्थापनाचार्य रखना सिद्धान्तोक्त है।
११ स्तुति तीन करना, आवश्यक में लेख है।
१२ वासी विदल खाना निषेध है, योगशास्त्रानुसार।
१३ पौषध त्रिविधाहार चतुर्विधाहार करने का आवश्यक चूर्णि मे विधान हैं।
१४ सिद्धान्तानुसार पंचांगी मान्य है।
१५ प्रथम सामायिक पीछे इरियावही करने का आवश्यक चूर्णि में लेख है।
१६ वीर के पांच कल्याणक मानना कल्पादिक मे प्रमाण है।
१७ दूसरा वन्दन बैठे देना समवायांग वृत्ति मे लेख है।
१८ साधु के कृत्यों का विचार दशवैकालिक आचारांग आदि मे है।
१९ श्रावण दो होने पर पर्युषणा दूसरे श्रावण मे और कार्तिक दो होने पर चातुर्मासिक समाप्ति दूसरे कार्तिक में करना, ऐसा चूर्णि आदि में है।
२० स्त्री को पौषध करने का प्रमाण उपासकदशा मे और पूजा करने का ज्ञातासूत्र मे है।
२१ वर्तमानकाल मे संघपटक आदि के आधार से दसवा आश्चर्य चल रहा है।

प्रतिक्रमण विधि प्रमुख अनेक वातो का खुलासा कर अपने पद पर शाह खीमा को स्थापित किया। शाह खीमा आदि संवरियों ने शाहश्री को औषध के लिए कहा, इस पर शाहश्री ने कहा – मेरे लिए औषध "श्री अरि-

हन्त" का नाम है, यह कहकर उन्होने सीमन्धर स्वामी को साक्षी से त्रिविधाहार का अनशन कर दिया, दूसरे १७ संवरियो ने भी अनशन शाह श्री कडुवा के पास किये, जिनके नाम ये हैं – शाह तेजा, शाह कर्मसी, शाह नाकर, शाह राणा, शाह कर्मण, शाह डाहा और शाह पूना, अन्य दस संवरियों ने शत्रुञ्जय तीर्थ पर जाकर अनशन किये, उनके नाम – शाह शवसी, शाह धीगा, शाह देपा, शाह लीम्बा, शाह सीधर, शाह शवगण, शाह लूणा, शाह मागजी, शाह जसवन्त और पटेल हांसा

शाह श्री कडवा अरिहन्त, सिद्ध का जाप करते २१ वें दिन दिवगत हुए, तथा अन्य सवरी अनशन करने वालो मे से कोई महोने में, कोई ३५ दिन मे स्वर्ग प्राप्त हुए।

शाह श्री कडवा के लिए मांडवो बनाकर चन्दन प्रमुख पदार्थो से देह का अग्निसस्कार किया गया। शाह श्री खीमा के मुख से श्लोक सुनकर अग्निसस्कार के समय आने वाले सब अपने-अपने स्थान पहुंचे।

शाह श्री कडुवा १९ वर्ष गृहस्थ रूप मे रहे, १० वर्ष सामान्य संवरी के रूप मे रहे, ४० वर्ष तक अपने समवाय के पट्टवर के रूप मे रहकर ६९ वर्ष की उम्र में परलोकवासी हुए।

शाह श्री कडुवा के बनाये हुए गीत, स्तवन, साधु-वन्दना प्रमुख ग्रन्थो का श्लोक प्रमाण ६ हजार के लगभग पाटन मे है।

थराद से शाह रामा, शाह दूदा, प्रमुख कडुआशाह को पाक्षिकतिथि के विषय में पूछने आ रहे थे, तब रास्ते मे सुना कि शाहश्री दिवगत हो गए हैं, तब यह बात विवादास्पद ही रही, शाह रामा आठवी पाक्षिक जानकर कहने लगे, शाह दूदा और खीमा की एक बात मिली, इसलिए वर्तमान मे थराद मे दो उपाश्रय हैं, उनमे शाह रामा कहते हैं – शाह कडुआ यही कहते थे कि जैसा मैं कहता हूँ, यह सब पंचम आरे का प्रभाव है। कभी-कभी अष्टमी और पाक्षिक का दिन जुदा-जुदा आता है, शेष सभी बातें शा० कडुआ के समवाय मे समान हैं।

२. शा० खीमा चरित्र :

पाटन राजकावाडा मे पोरवाल ज्ञातीय शा० कर्मचन्द की भार्या कर्मादे की कोख से शा० खीमा का जन्म हुआ और १६वे वर्ष मे वह शा० कडुआ के पास सवरी वने थे। २४ वर्ष सामान्य सवरी रहे, परी० पूना के घर शाह श्रीवत बहुत पढे। परी० पूना ने प्रतिदिन एक कोडी ब्राह्मण को देकर उसके पास न्यायशास्त्र पढ़ा। थोडे ही समय मे विद्वान् वना।

शा० कडुआ के स्वर्गवास के वाद शाह खीमा के शरीर मे ववासीर की वीमारी हुई, जिससे वे विहार भी नही कर सकते थे और सवरी के अभाव मे श्रावक शिथिल होने लगे थे।

इसी समय दर्म्यान संवत् १५६८ में थराद मे पौषधशाला स्थापित हुई। कोई पौषधशाला मे जाते, कोई संवरियो के स्थान पर, परन्तु सर्वत्र सामाचारी कडुआ की चलती। वर्तमान में भी इसी प्रकार चलता है।

शाह रामा के पट्टधर शाह राघव और दूसरे उपाश्रय मे जाने वाले शाह दूदा के उत्तराधिकारी शाह ब्रह्मा हुए।

शाह खीमा १६ वर्ष तक गृहस्थ रूप मे रहे, २४ वर्ष तक सामान्य सवरी के रूप मे रहे और सात वर्ष शा० कडुआ के पट्टधर रह कर ४७ वर्ष की उम्र में शाह वीरा को अपने पद पर स्थापन कर सं० १५७१ मे पाटन मे देवगत हुए।

३. शाह वीरा चरित्र :

नाडलाई गांव मे श्रीश्रीमाली ज्ञातीय वृद्धशाला मे दोसी कुमारपाल की भार्या कोडमदे की कोख से शाह वीरा का जन्म हुआ था। शाह वीरा श्री शा० कडुआ के पास सवरी वने थे। शाह श्री खीमा ने श्रीवन्त शाह को पढ़ा-लिखा और समझदार जानकर भण्डार की पोथिया उन्हे सोपी थी, वे पोथिया इस समय लीम्बा महेता के घर पर हैं। जब शाह खीमा ने काल किया उस समय शाह वीरा सिरोही मे थे।

एक समय प० पूना पाटन मे व्याख्यान दे रहे थे तब एक श्रावक बहुत दिनो से व्याख्यान मे आया। उसको पूंना ने उपालम्भ दिया और व्याख्यान आगे चलाया। जिस श्रावक को पूंना ने उपालम्भ दिया था उसने सोचा कि पूंना को पोथो का भण्डार न सम्भलाया इसलिए वह हृदय मे जलता है। पोथियां लीम्बा कसुम्बीया के यहा से अपने घर मगाई। बात बढ़ गई, श्रीवन्त को कहा – चलो दूसरे समवाय के पास जाकर इसका न्याय कराए। शाह श्रीवन्त ने कहा – शाह श्री कडुआ के तथा शाह श्री खीमा के सिद्धान्तोक्त वचन सुनकर हीनाचारो को नमें वे हीन। इतना पढे लिखे आदमी को हीनाचारी को दृष्टि से भी देखना न चाहिए, इत्यादि वहुत चर्चा हुई। शाह श्रीवन्त ने हीनाचारियो का खण्डन किया तब परीख पूना ने हीनाचारी का समर्थन किया, इस प्रसग मे शाह श्रीवन्त ने "गुरु तत्त्वनिर्णय हुण्डी" रूप ग्रन्थ बनाया जो इस समय हेवतपुर मे उपाश्रय के भण्डार मे ४८ पत्र का ग्रन्थ रहा हुआ है, उस ग्रन्थ के अनुसार साधु का मार्ग देखना, परन्तु हीनाचारी को नमन नही करना। बाद मे परी० पूना ने शाह श्रीवन्त को कहा – मैंने तुमको पढ़ाया, तैयार किया और मेरा ही वचन न माने यह ठीक नही हैं, मेरी बात का परसमवाय मे आकर समर्थन करना चाहिए। श्रीवन्त ने कहा – आप कहो वैसा करने को तैयार हूँ, परन्तु ऐसा करने से अपना ही धर्म ठहरेगा नही, वास्तव मे वीतराग के मार्ग मे रहकर १०० वर्ष तक सूली पर रहना अच्छा, परन्तु धर्मबुद्धि से अगीतार्थ का सग करना अच्छा नही, इस पर परीख पूंना ने कहा – अपन दोनो खम्भात शाह रामा कर्णवेधी को पत्र लिखे और वे जो निर्णय दें, उसे मान्य करे, शाह श्रीवन्त ने शाह पूना का उक्त प्रस्ताव स्वीकार किया और रामा को खम्भात पत्र लिखा। शाह रामा ने शास्त्राधार से उत्तर दिया, परन्तु परी० पूना ने उस वात पर श्रद्धा नही की, इस सम्बन्ध मे आए हुए शाह रामा के १० पत्र इस समय "हैबतपुर भण्डार में पड़े हुए है।" शाह रामा वडे विद्वान् थे परन्तु परी० पूना ने उनकी बात पर विश्वास नही किया और उल्टे गुस्से मे आकर शाह श्रीवन्त के पास अपनी जो-जो वस्तु थी वह भी अपने कब्जे मे ले ली, वहुत मनुष्यो को पक्ष मे करके ७०० घर लेकर पोपधशाला मे चला गया, परन्तु भण्डार नही ले

सका, वहां जाने के बाद परी० पूना मूत्र कृच्छ्र रोग से एक वर्ष के बाद मरण को प्राप्त हुए।

वहा से श्रीवन्त निकलकर अहमदाबाद गए, उस समय वहां दोसी देघर की डेहली मे सर्व श्रावक इकट्ठे हुए थे। शाह खीमा के देवगत होने तथा परीख० पूना के पौषधशाला जाने सम्बन्धी विचार कर रहे थे। शाह श्रीवन्त ने क्या किया होगा? इस विषय की भी विचारणा हो रही थी, इतने मे शाह श्रीवन्त वहा पहुँचे। फटे वस्त्र आदि देखकर श्रीवन्त को पहचाना तक नही और पूछा कि कहा से आए? उत्तर दिया – "पाटन" से आता हूँ, यह सुनकर पूछा गया – परी० पूना का पौषाल गमन सुना जाता है, क्या सच हैं? उसने कहा – हां! आगे पूछा गया – शाह श्रीवन्त की कुछ खबर जानते हो, उसने कहा – हा जानता हूँ, सभा ने पूछा कहो वे कैसे हैं, उसने कहा – जिसको आप पूछते हैं, वह आपके पास है, यह सुनकर सब खुश हुए और आनन्द से मिले तथा श्रीवन्त को दूसरे कपडे पहनाए। सर्व धार्मिक कहने लगे – अगर तुम हो तो सब कुछ है। शाह श्रीवन्त वहां रहा और वहा रहते हुए सुख शान्ति के निमित्त श्री ऋषभदेव का विवाहला ढाल ४४ मे जोडा, जो सब गच्छो मे प्रसिद्ध है।

सं० १५७२ में पार्श्वचन्द्र नागौरी तपा मे से निकला और अपना नया मत प्रचलित करके मलीन वेश मे विचरता हुआ लोगो को अपने मत मे खींचने लगा, जहां धर्मार्थी उपदेशक का योग नहीं वहां लोगों को अपने मत में जोड़ता था। वीरमगांव प्रमुख अनेक स्थान पार्श्वचन्द्र ने ले लिये थे, आंचलिक तथा खरतर भी क्रिया उद्धार करके जहां संवरी श्रावक का योग नहीं था, वहां उनको अपने समाज मे मिलाते थे, इस समय भी कितने ही गावो मे सवरियो के विना भी शाह श्री कडुवा की सामाचारी रख रहे हैं।

शाह श्रीवन्त जो देवर की देहली मे रहे हुए हैं, वहा इनकी ख्याति सुनकर अनेक ब्राह्मण शाह श्रीवन्त के पास आए और इनके साथ प्रमाणवाद छन्दशास्त्र आदि के सम्बन्ध मे वार्तालाप हुआ। ब्राह्मणो ने कहा –

तुम अपनी रचनाएँ हमको दिखाओ। शाह श्रीवन्त ने अपने काव्य उनको दिखाए, देखकर ब्राह्मण बोले, वणिक् मे ऐसी शक्ति नही होती, यह तो तब सच्च माने जो इस डेहली मे रहे हुए पलंग का वर्णन करके हमको सुनाओ। तब शाह श्रीवन्त ने उस पलग का धार्मिक दृष्टि से वर्णन किया, जिसे सुनकर ब्राह्मण बहुत ही खुश हुए, उन्होने कहा – हम ब्राह्मण हैं, फिर भी हमसे इतना जल्दी काव्य बनना कठिन हैं।

शाह श्रीवन्त सर्वत्र विचरते, परन्तु शाह घोरा; शाह सरपति, जो बादशाह के वजीरशाह श्री कडुवा के समवायो थे उन्होंने शाह श्रीवन्त को बादशाह से मिलाया, वहां लहुआ व्यास के साथ दो दिन चर्चा हुई, एक दिन लहुआ व्यास ने बादशाद से कहा – श्रीवन्त आदे के एक टुकड़े में अनन्त जीव बताता है, इस पर से बादशाह ने श्रीवन्त को अपने पास बुलाया, नौकर बुलाने गए। श्रीवन्त ने नौकर से कहा मैं अभी आता हूँ, पर यह तो कहो कि क्या काम है? सेवक ने कहा – मैं नही जानता, पर लहुआ व्यास अदरख का टुकड़ा लेकर आया है और वह बुलाता हैं। शाह श्रीवन्त बादशाह की तरफ चला और उसकी दृष्टि मर्यादा मे एक गाय को देखकर श्रीवन्त उसकी पूंछ देखने लगा। बादशाह के पास पहुचने पर श्रीवन्त को बादशाह ने पूछा, श्रीवन्त गाय की पूछ मे क्या देखा? श्रीवन्त ने कहा – लहुआ व्यास गाय के पूंछ मे ३३ करोड़ देवता बताया है, उनको देखता था। बादशाह ने पूछा – क्यों लहुआ क्या बात है? लहुआ ने कहा – जी हा हमारे शास्त्र में ऐसा लिखा है और श्रीवन्त ऐसा कहता है – आदे के टुकड़े में अनन्त जोव होते हैं, इस पर श्रीवन्त ने कहा – जी हा, हमारे शास्त्र मे ऐसा लिखा है। जो लहुआ व्यास गाय की पूंछ में देव दिखाये तो मैं जीव दिखाउँ। व्यास ने कहा – देव दीखते नही हैं। शास्त्र ही प्रमाण है, तब शाह श्रीवन्त ने आदा खंड़ बोया, उसके खंड-खंड में सजीवता प्रमाणित की।

शाह श्रीवन्त चांपानेर के सुलतान के पास भी रहते थे, उस समय स० १५७९ मे खम्भात के पास कसारी गाव मे कडुवामति के मन्दिर मे जो पर समवाय का आदमी भी दर्शनार्थ आए वह पगड़ी उतार कर जिनवन्दन

करें अन्यथा नही, खंभात में शा० धनुवा और मनुवा राज्यमान्य पुरुष हैं, उनमें से मनुआ देववन्दन करने आए हैं, यदि वे अपने मन्दिर मे पगडी नही उतारेंगे तो नियम टूट जायगा, यह सोचकर श्रावक मिलकर मन्दिर आए और मनुआ को कहा – "हम पर समवायी है, क्यो पगडो उतारेंगे." मनुआ का विरोध होते हुए भी पगडी उतारी गई, इस पर विरोधियो ने मनुआ के भाई को कहा – कसारी के कडुआमतियो ने तुम्हारे भाई की पगड़ी उतार दी, यह सुनकर मनुआ का भाई उत्तेजित होकर वहां आया, अपना भाई सन्मुख मिला और पूछा भाई ? क्या मामला था ? जब कि तुम्हारी पगड़ी उतार दी गई। भाई ने कहा – नही मैं स्वयं उतार रहा था उस समय उन्होने हाथ लगाया, मनुआ के भाई का क्रोध शान्त हो गया। बाद मे यथार्थ जानकर मनुआ ने कसारी का महाजन इकट्ठा किया और बंधा लगाया कि कसारी के कडुआमतिको कोई कुछ भी चीज न दे, यह बात सुनकर चापानेर शाह गोरा के पास कसारी के कडुआमति के श्रावक गए, साधर्मी जानकर उनसे गोरा मिले और आने का कारण पूछा। जाने वालो ने कहा.– हम खम्भात के पास के कसारी गाव से आये है, शाह गोरा ने पूछा – कंसारी मे दोसी छांछा, दोसीपासा, सहिसा, आदि समस्त सकुशल हैं ? उत्तर मे जाने वालो ने कहा – वे सब आपके सामने खड़े हैं, तब दूसरी वार मिले, देवपूजा की और भोजन के बाद पूछा – इतनी दूर से कैसे आना हुआ ? इस पर सब बात कही, जिसे सुनकर शाह गोरा सुलतान के पास जाके स्तम्भतीर्थ मे महाजन पर बादशाह का फर्मान भिजवाया सर्व महाराज मिलकर चांपानेर पहुँचे और शाह गोरा को मिले और कसारी के महाजन के साथ समाधान कर सकुशल घर आये। शाह गोरा ने सुलतान की आज्ञा लेकर, शत्रुञ्जय का सघ निकाला। शाह श्रीवन्त भी शत्रुञ्जय गये, शत्रुञ्जय की यात्रा कर वापस तलहटी आए, तब उनके पेट मे दर्द होने लगा और शाह श्रीवन्त अरिहत, सिद्ध जपते हुए ३३ वर्ष की उम्र में दिवगत हुए।

बाद मे शाह श्रीवीरा गुजरात गए, जहा सवरी का योग नही था, वहां कुछ दिन तक श्रावक ने भी व्याख्यान वांचा। सं० १५८१ मे शाह रामा थराद मे दिवंगत हुए तब उसके पट्टधर शाह राघव बैठे।

"सं० १५८५ में ऋषिमति की उत्पत्ति हुई, श्री आनन्दविमलसूरि क्रियोद्धार कर सर्वत्र फिरने लगे, धर्मार्थी के योग के विना कडुआमति के सर्वक्षेत्रों को अपनी तरफ खींच लिया, जहां कहीं पढ़े लिखे श्रावक थे वहां लोग ठिकाने रहे।" सं० १५८६ मे शाह श्रीराग ने स्तम्भतीर्थ के पास कसारी में दोसो पासा, सहेसा के श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा की।

सं० १५८८ मे सघवी श्रीदत्त ने आबु, गौडी, चित्तौड़, कुम्भलमेर प्रमुख तीर्थों का सघ निकाला।

शाह वीरा स० १५९० अहमदावाद मे चतुर्मासक रहे, वहां शाह जीवराज को सवरी किया, दोसी मगल को प्रतिबोध देकर पूनमिया से कडुवामति किया।

सं० १५९१ में पाटण मे चौमासा किया, शाह रामा ने भी स्तम्भतीर्थ प्रमुख से मनुष्या को ठिकाने रक्खा।

"सं० १५९२ में शाह रामा कर्णवेधी ने "श्री वीर विवाहला" और "लुम्पक वृद्ध हुँडी" जिसके पाने ३२९ और अधिकार ५७४ हैं बनाई, इस समय राजनगर के भण्डार में वह प्रति रक्खी हुई है।"

शा० वीरा सं० १५९३ में राधनपुर, थराद प्रमुख सर्वत्र विचरे और "सं० १५९४ में शाह रामा कर्णवेधी दिवंगत हुए।"

सं० १५९४ मे सिरोही मे चातुर्मास किया। स० १५९५ मे सादड़ी की तरफ विहार किया और नाडुलाई आये। वृद्धावस्था के कारण अब विहार भी नही कर सकते थे। सं० १६०१ में नाडुलाई मे शरीर में बाधा हुई। यह वर्ष कठिन था अन्न से और रोग से। दूसरे संवरी शा० जीवराज प्रमुख सब पास में थे। शाह श्री वीरा के औषधार्थ किसी चीज की जरूरत थी, वह श्रावक के घर होते हुए भी मांगने पर नहीं मिली। औषध करना जल्दी था अतः शाह वीरा के पास की चार छापरी में से दो छापरी श्रावक के हाथ में दी और कहा – शाह भाणा के घर अमुक वस्तु है वह

लाओ, भाणा ने नाणा लेकर चीज तुरन्त दे दी। वह वस्तु शाहश्री के पास आयी, शाहश्री ने औषध प्रयोग किया। बाद में शाह श्री वीरा ने शाह श्री जीवराज को कहा – देख लिया न, संसार मे सब स्वार्थी हैं, इसलिए आज से तुम संख्या मात्र ममता-रहित होकर द्रव्य रक्खो, आमन्त्रण से अथवा बिना आमन्त्रण से भोजन करने जाओ, हाथ में मुद्रिका पहनो, दो-चार वस्त्र ज्यादा रक्खो, समय विषम है, अपन तो द्वादशव्रतधारी श्रावक हैं, जितना भी संक्षेप करे उतना अच्छा, इनके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक प्रकार की शिक्षा दीं और शाह श्री वीरा १६०१ मे सात दिन का अनशन पालकर दिवंगत हुए। शाह वीरा १४ वर्ष गृहस्थावस्था मे रहे, २५ वर्ष सामान्य संवरी के रूप मे रहे, ३० वर्ष पट्टधर रहकर ६९ वर्ष की उम्र मे शाह जीवराज को अपने पद पर स्थापन कर स्वर्गवासी हुए।

४. शा० वीरा के पट्टधर शाह जीवराज :

जीवराज का जन्म अहमदाबाद मे परीख जगपाल की भार्या बाई सोभी की कोंख से स० १५७८ मे हुआ था, सवत् १५९० में शा० वीरा के पास संवरी बने, १२ वर्ष गृहस्थ रूप में, ११ वर्ष सामान्य संवरीरूप मे संवरी रहने के पश्चात् आप पट्टधर बने थे। जीवराज बड़े यशस्वी थे। आपने खम्भात, अहमदाबाद, पाटन, राधनपुर, मोरवाड़ा, थराद प्रमुख अनेक स्थलो में मन्दिर तथा उपाश्रय करवाये, स्थान-स्थान पर श्रावको को स्थिर रक्खा।

सं० १६०३ मे थराद में शाह राघव दिवंगत हुए और उनके पट्टधर संवत् १६०४ में शाह जायसा (सी?) बैठे। शाह नरपति को संवरी बनाया, शाह साजन को संवरी किया।

सं० १६०३ में ब्रह्मामत की उत्पत्ति हुई सो लिखते हैं :

शा० जीवराज राधनपुर मे ठहरे हुए थे, उस समय राजनगर में पार्श्वचन्द्र ने विजयदेव को पद दिया जिससे ऋषि ब्रह्मा मन में नाराज

हुए, दरमियान पार्श्वचन्द्र हेवतपुर में उपाश्रय बनाने वाले थे। उनका अभिप्राय कडुग्रामतियों को अपनी तरफ खींचने का था, परन्तु महेता आनन्द ने सोचा कि हेवतपुर में उपाश्रय हो गया तो हमारे साधर्मी शिथिल बन जायेंगे, इस कारण से ब्रह्मा ऋषि से मेहता आनन्द ने कहा – आप चिन्तामणि तक पढ़े हुए पण्डित होते हुए भी आपको पद नहीं यह क्या बात है ?, ब्रह्मा ऋषि ने कहा – आप भी तो उनके मुकाबिले के हैं, आप अपना नया गच्छ ही चला दो, आपको भी पूर्णिमा को पाक्षिक करने की श्रद्धा तो है ही ? ब्रह्मा ऋषि ने कहा – तुम्हारे कहना सत्य है, शास्त्र के आधार से मैं पूर्णिमा को पाक्षिक स्थापित कर सकता हूं, परन्तु मेरे पास श्रावक नहीं हैं, इस पर मेहता आनन्द ने कहा – मैं आपका श्रावक, यह कहकर आनन्द ने कहा – इसके लिए जो भी खर्च खाते की जरूरत हुई तो मैं करूंगा। ऋषि ब्रह्मा ने नया गच्छ कायम किया, म० आनन्द के प्रेम से उन्होने नागिल सुमति की चतुष्पदी जोड़कर आनन्द को दी। पूर्णिमा को पाक्षिक कायम किया। पार्श्वचन्द्र जो उपाश्रय करवाने वाले थे, वह रुक गया, वहां के गृहस्थ ब्रह्मा ऋषि के गच्छ मे मिल गए थे इधर राधनपुर में शाह श्री जीवराज ने सुना कि मेहता आनन्द ब्रह्मामति हो गया, इससे शाह जीवराज ने मेहता आनन्द को पत्र लिखकर पूछा कि – हमने ऐसी वातें सुनी हैं सो क्या वात है ? इस पर मेहता आनन्द ने ऋषि ब्रह्मा के पास आकर "मिच्छामि दुक्कडं" देकर बोला – मैंने प्रयोजन-विशेष से तुमको साथ दिया था सो तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया है, अब मैं अपने उपाश्रय जाऊंगा। बाद में आनन्द ने शाह श्री जीवराज को पत्र द्वारा अपनी सर्व हकीकत लिखी जिसे पढ़कर शाह जीवराज बहुत खुश हुए।

शाह श्री जीवराज वड़े प्रभावक थे। उन्होने सं० १६०९ का चतुर्मासक पाटन मे किया और वही से आबु प्रमुख की यात्रा की।

सं० १६१६ में शाह श्री जीवराज ने थराद में चतुर्मास किया बहुत उत्सव हुए, मासखमण प्रमुख तप हुए और शाह डुगर को सवगी बनाया।

सं० १६१७ मे शा० जीवराज राधनपुर चतुर्मासक रहे थे, दरयियान

खभात मे धर्मसागर के साथ सो० पीमसी ठा० मेरु ने मास छह तक चर्चा की, प्रतिदिन सो० पीमसो, सो० वस्तुपाल, सो० रीढा, सो० लाला प्रमुख समवाय ठा० मेरू के साथ जाकर यति की प्रतिष्ठा-सम्बन्धी चर्चा करते थे, परन्तु शास्त्राधार से यति की प्रतिष्ठा प्रमाणित नही हुई, किन्तु श्रावक की प्रतिष्ठा सिद्ध हुई।

स० १६१८ मे शाह श्री जीवराज ने पाटन मे चतुर्मास किया, वहां मन्दिर प्रमुख बहुत धर्मकार्य हुए।

स० १६१६ में राजनगर मे चतुर्मासक किया।

सं० १६२० मे खम्भात मे चतुर्मासक किया, वहा वहोरा जिनदास के मन्दिर की प्रतिष्ठा की और दोसी थावर द्वारा घृतपटी मे मन्दिर करवाया और वहा से अनेक मनुष्यो के साथ आबु प्रमुख को यात्राए की।

स० १६२१ मे थराद आकर शाहश्री ने एक श्रावक को यावज्जीव तीन द्रव्य के उपरान्त का प्रत्याख्यान कराया।

स० १६२२ मे मोरवाड़ा प्रमुख स्थानो मे विचरे।

सं० १६२३ मे पाटन मे चतुर्मासक किया और वहा शा० तेजपाल को और थराद मे शा० नरपति तथा चोपसीशाह को सवरी किया। तथा सघवी सग्राम ने आबु प्रमुख का संघ निकाला।

सं० १६२५ मे खम्भात मे शाह रत्नपाल को संवरी किया।

स० १६२६ मे राजनगर मे शाह श्रीवन्त तथा शा० वजूड को सवरी किया और शाह काशो प्रमुख को शाहपुरा में प्रतिबोध किया।

स० १६२८ में शाह नरपति और शाह चोकसी के भाई जिनदास को सवरी किया।

स० १६३० मे शाह श्री जीवराज राधनपुर में चतुर्मासक रहे और शाह साजन राजनगर में, वहा आजमखान ने विरोध किया, उसने मनुष्य मरवाकर लटकाया, उसे देखकर शाह साजन विरक्त भाव से सोचते है देखो जीवधर्म के विना इस प्रकार की पीडा पाते हैं, परन्तु अपनी इच्छा से कोई कष्ट नही करता और मनुष्य जन्म निरर्थक गवाते हैं, यह सोचकर शाह

सज्जन ने चतुर्दशी का उत्तर वारणा किया और पाक्षिक के दिन पौषध कर काल के देव-वन्दन के बाद श्री चन्द्रप्रभ जिन की साख से जावज्जीवाए तिविहाहार का प्रत्याख्यान किया। दूसरे दिन पारणे के समय पारणा न करने से लोगो ने जाना आज भी उपवास होगा, बाद मे शाह साजन ने स्वय बात कही – "मैंने तो अनशन किया है।" दोसी मगल, दोसी सोना, शाह धना प्रमुख सघ ने विनती की, कि शाहजी यह कार्य बड़ा दुष्कर है, वास्ते आठ, अथवा १५, अथवा तो मासखमण करो पर अनशन न करो, इस पर शाह साजन ने कहा – मैंने यावज्जीव का प्रत्याख्यान कर लिया है, तब संघ ने राधनपुर शाह जीवराज को पत्र लिखकर जल्दी बुलाया, शाह जीवराज १७ वें उपवास के दिन आए, उत्सव बहुत हुए, ६१ दिस अनशन पालकर शाह साजन दिवंगत हुए, तब सघ ने माडवी प्रमुख उत्सव करके अग्निसस्कार किया और सघ ने असारउआ की धर्मसी पटेल की वाडी मे स्तूप बनवाया, आज भी वह मौजूद है। तथा मेहता जयचन्द को जो मेहता नीम्बा के सन्तानीय थे उनको काबिलखान ने जेल मे रक्खा था, उन्हे अहमदाबाद से दो० मगल, प० रतना, दो० सोना, शाह धना ने पाटन जाकर तुरन्त मुक्त करवाया।

परी० कीका को शाह नरपति ने पढ़ाया, शा० नरपति बड़े पण्डित थे, अनेक विद्याएँ पढे थे।

सं० १६३१ मे शाह नरपति दिवगत हुए।

स० १६३५ मे शाह चोपसी दिवगत हुए।

सं० १६३६ मे शाह तेजपाल ने थराद मे राजमल को सवरी किया।

स० १६३८ मे शाह गोवाल, शाह देवजी प्रमुख को प्रतिबोध किया।

सं० १६४२ मे पाटन से परी० कीका ने आबु की यात्रा निकाली, साथ मे शाह जीवराज प्रमुख संवरी थे, थराद से सघवी सीहा ने आबु का सघ निकाला, दोनो सघ इकट्ठे मिले, थराद से शाह जैसा आदि अनेक संवरी शाह जीवराज को मिले, आबु ऊपरशाह मांडन ने अनशन किया, उत्सव हुए, जिसकी हकीकत शाह माडन के रास से जानना। शाह मांडन ५९ वें जिन दिवगत हुए।

सं० १६४३ में दोसी भ्रमजी ने प्रतिष्ठा की, शाह जीवराज ने प्रतिमा प्रतिष्ठा की, बाद में खरतर शाह सोमजी शवा ने संघ निकाला, उन्होंने बहुत आग्रह करके शाहश्री को सघ के साथ लिया, शाहश्री अपने सघ के साथ खभात के सोनी परखा प्रमुख राजनगर के भी अनेक मनुष्यो के साथ सब सवरियो को लेकर सिद्धाचल की यात्रा के लिए गए, वहां अनेक उत्सव हुए, पूजा, स्नात्रादि हुए, साह रतनपाल ने वहां पर अवन्ति सुकुमाल का नया रास बनाया और गाकर सुनाया, यात्रा करके सकुशल राजनगर आए।

स० १६४४ में शाहश्री के शरीर मे रोग उत्पन्न हुआ, समस्त संघ मिला और शाहश्री ने अपना आयुष्य निकट जानकर शाह तेजपाल को अपने पद पर स्थापन किया, सवरियो को अनेक प्रकार से शिक्षा दी, तीन दिन तक अनशन पालकर अरिहन्त सिद्ध जपते हुए जीवराजशाह दिवगत हुए।

शाह जीवराज १२ वर्ष गृहस्थ रूप मे, ११ वर्ष सामान्य सवरो के रूप मे और ४३ वर्ष पट्टधर के रूप मे रहकर ६६ वर्ष का आयुष्य पूर्णकर स्वर्गवासी हुए।

सार्धमियो ने बड़े ठाट के साथ देहसंस्कार किया, सारे नगर मे दो दिन तक अमारि रही।

५. जीवराज के पट्टधर शाह तेजपाल का चरित्र :

पाटन के निवासी श्रीश्रीमाली दोसी रायचन्द की भार्या कनकादे की कोख से शा० तेजपाल का जन्म हुआ। शा० तेजपाल जीवराज के वचन से संवरी हुए थे। १३ वर्ष गृहस्थ रूप मे, २१ वर्ष सामान्य सवरी के रूप मे और दो वर्ष पट्टोधर रहे। शाह तेजपाल बडे विद्वान् थे। आपने 'महावीरं नमस्कृत्य" तथा "कल्याणकारणो धर्मः" इत्यादि 'सावचूरिक स्तोत्र' बनाए थे। शाह राजमल तथा चोथा को पढाया और चोथा को थराद का आदेश दिया। दूसरे सवरियों को भी विद्या पढ़ा कर तैयार किया। आपको उदर-व्याधि की पीड़ा रहा करती थी।

सं० १६४५ में शाह श्रीवंत ने भी अपने स्तोत्र बनाए और शाह श्रीवत सं० १६४६ में दिवगत हुए।

शाह श्री तेजपाल ने पाटन में चातुर्मासक किया, वहां शरीर में विशेष प्रकार की वाधा उत्पन्न हुई। शाह रत्नपाल को पद पर स्थापन करके ३६ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

६. तेजपाल के पट्टधर शाह श्री रत्नपाल का चरित्र :

शाह रत्नपाल खम्भात के समीपवर्ती कंसारी गांव के रहने वाले श्रीश्रीमाली वृद्धशाखीय दोसीवस्ता की भार्या रीढ़ी की कोख से जन्मे थे। शाह श्री जीवराज के वचन से आप सवरी वने थे, सूक्ष्म विचार मे आप बहुत प्रवीण थे। आपने वहुत ही स्वतन-स्तुतिया रची हैं, चौबीस तीर्थङ्कर की, १३ काठिया की भास आदि प्रसिद्ध हैं।

स० १६४७ मे खम्भात मे चातुर्मास्य कर वहां बाई सहजलदे ने शाहश्री की वाणी सुनकर तिविहार अनशन किया, उस समय हरमज से शाह सोनी सोमसी आए और उन्होने बहुत उत्सव किया, अनशन की वड़ी शोभा हुई। शा० श्री रत्नपाल के उपदेश से बाई को प्रतिदिन नियोमणा होती, ५९ दिन अनशन पालकर वह दिवगत हुई। श्रावकों ने मंडपी पूर्वक देह-संस्कार किया।

स० १६४७ मे शाह जैसा थराद में दिवंगत हुए। उसके पट्ट पर शाह खेतश्री बैठे।

सं० १६४८ में राजनगर में चतुर्मासक किया।

स० १६४८ मे शाह जिनदास की धर्मसागर के साथ चर्चा हुई। वहा धर्मसागर ने जिनदास को कहा – तुम अपने को धर्मार्थी कहते हो, इससे प्रमाणित होता हैं कि तुम अब तक धर्मी नही बने और जिन्दगी पर्यन्त धर्म प्राप्त नहीं होगा। शाह जिनदास ने कहा – हम श्री युगप्रधान

के ध्यान मे रहते हैं, क्योंकि मतान्तरों, गच्छान्तरो को देखकर उन पर हमारी आस्था नही आती । इसका धर्मसागरजी ने प्रत्युत्तर नही दिया ।

स० १६४९ का चतुर्मास शाह श्री रत्नपाल ने खम्भात में किया, वहां संघवी अमीपाल, सो० महीपाल, सो० पनीया, सो० लकमसी ने शाहश्री के वचन सुनकर सिद्धाचल का सघ निकाला, शाहश्री प्रमुख अनेक संवरियो के साथ खम्भात तथा दूसरे गावो का संघ यात्रा कर सकुशल लौटा ।

सं० १६५० मे राजनगर में चतुर्मास किया, वहां सोन बाई ने अनशन किया और ६१वें दिन सोनबाई दिवगत हुई ।

सं० १६५३ का चतुर्मासक शाहश्री ने पाटन मे किया । वहा के निवासो मेहता लालजी ने शखेश्वर का संघ निकाला ।

सं० १६५४ में शाह श्री रत्नपाल ने खम्भात में शाह माहवजी को संवरी किया ।

सं० १६५५ मे शाह जिनदास ने शाह तेजपाल को संवरी किया ।

सं० १६५६ मे शाह श्री रत्नपाल ने राजनगर में चतुर्मास किया । वहां के निवासी भणशाली जीवराज और भणशाली देवा ने सारे सौराष्ट्र का सघ निकाला, गिरनार शत्रुंजय, देव का पाटन, दीव प्रमुख सर्वत्र सघ के साथ शाहश्री आदि सर्व संवरियो ने यात्रा की और सकुशल वापस लौटे ।

सं० १६५८ में शाह राजमल दिवगत हुए ।

सं० १६५९ मे वस्तुपाल के बिम्ब का प्रवेश शाहश्री रत्नपाल ने करवाया ।

सं० १६६० में शाहश्री रत्नपाल ने राजनगर मे चतुर्मास किया । वहां के भणशाली जीवराज तथा भणशाली देवा ने आबु, गोडवाड़, राणपुर आदि का संघ निकाला, खंभात के साधर्मी तथा पाटन, राधनपुर, थराद के

संघों के साथ शाह श्री रत्नपाल आदि संवरी शाह जिनदास, शाह पुन्जा, शा० खेतसिंह, शा० चौथा, शा० महावजी, शा० तेजपाल, शा० ऋषभदास, शा० पुन्जिया, शा० गोवाल, शा० हीरजी आदि बहुतेरे संवरी साथ मे थे। सर्वत्र देवपूजा विधिपूर्वक की गई। श्री सघ सिरोही आया, वहा चैत्यवासी के साथ चर्चा शाह श्री रत्नपाल तथा संघ के आदेश से शाह जिनदास ने की। वहा से संघ थराद आया, वहां समस्त सघ वात्सल्य १७ हुए, ६० मन शक्कर की जलेबी प्रतिदिन उठती थी, वहां संघ ३० दिन रहा और वहा से सघ राधनपुर तथा पाटन गया, सर्वत्र सघ वात्सल्य हुए।

इस प्रकार सकुशल यात्रा करके सघपति तथा शाहश्री प्रमुख सर्व घर आए।

स० १६६१ मे खम्भात मे चतुर्मासक किया और वहां पर शरीर मे बाधा उत्पन्न हुई, शाहश्री ने जिनदास को अपने पद पर स्थापन किया और स्वय अनशन पूवक स्वगवासी हुए।

सार्धमियो ने चन्दन प्रमुख से देहसंस्कार किया।

शाहश्री रत्नपाल १० वर्ष गृहस्थ रूप मे, २१ वर्ष सामान्य संवरी के रूप मे और पाच वर्ष पट्टधर के रूप मे रहकर ४६ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर परलोकवासी हुए।

७. रत्नपाल के पट्ट पर शाह श्री जिनदास :

शाहश्री जिनदास का जन्म थराद मे श्रीश्रीमाली बोहरा जयसिंह की भार्या यमुनादे की कोख से हुआ था, जिनदास शाह नरपति के वचन से संवरी बना था।

स० १६६२ मे शाहश्री जिनदास राजनगर मे चतुर्मासक किया, वहां के निवासी भणशाली देवा सुलतान का मर्जीदान था, उसने प्रतिष्ठा के मुहूर्त पर फाल्गुण वदि १ को आने की कुकुंम पत्रिका लिखकर सघ को आमंत्रण दिया था, अनेक गांवो का संघ वहा एकत्रित हुआ, श्री ऋषभदेव की प्रतिमा एक ८१ अगुल की प्रतिमा दो ५७-५७ अगुल

की बड़ी, प्रतिमा एक ३७ अगुल की बडी सव मिलकर १५० प्रतिमाएँ जिनदास ने तथा उनके आदेश से अन्य संवरी श्रावक ने प्रतिष्ठित की, इस समय उनमे से अधिकाश प्रतिमाएँ राजनगर मे घासी की पोल मे भणशाली देवा द्वारा निर्मापित जिनचैत्य में तथा उसके भूमि-घर मे विराजमान हैं।

सं० १६६३ मे शाहश्री ने पाटन मे चातुर्मास किया और वहां पर परीख लटकरण ने बिम्ब प्रवेश कराया, मेहता लालजी ने भी विम्व प्रबेश कराया, वहुत उत्सव हुए, शाह माह्वजी ने "नर्मदासुन्दरी रास" वनाया।

स० १६६४ शाहश्री ने राधनपुर मे चतुर्मास किया और उसी वर्ष राजनगर से भणशाली पचायण ने शखेश्वर का सघ निकाला, उसी वर्ष मे खभात मे शाह माहवजी चतुर्मास रहे हुए थे, वहां सोनी वस्तुपाल की भार्या वैजलदे ने प्रतिष्ठा कराने का निचय किया। शाहश्री के आदेश से प्रतिष्ठा की गई, वहां दोसी शाह कल्याण शाह माहवजी के वचन से संवरी हुआ।

स० १६६५ मे शाहश्री खम्भात में चतुर्मास रहे, वहा बाई वैजलदे ने १२ व्रत ग्रहण किये, शाह माहवजी राजनगर मे चतुर्मासक थे, वहा भणसाली देवा ने शान्तिनाथ का बिम्ब-प्रवेश कराने के लिए शाहश्री को वहां बुलाया, शुभ दिन मे बिम्बप्रवेश करवाया।

सं० १६६६ मे शाहश्री राजनगर मे थे, शाह जीवा को सवरी किया, शाह माहवजी खम्भात मे चतुर्मास थे, वहां २३ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर शाह माहवजी दिवंगत हुए। शाह कल्याण खम्भात मे थे, वहां धर्मनाथ के बिम्ब का प्रवेश कराने के लिए शाहश्री को बुलाया और मार्गशीर्ष सुदि ६ को बिम्ब-प्रवेश कराया गया। वहां के संघ ने शाह कल्याण को पढ़ाने के लिए, शाहश्री को सौंपा, इस समय पाटन निवासी परी० लटकन ने शत्रुञ्जय का संघ निकालने का निश्चय किया और खम्भात से शाहश्री को बुलाने के लिए आमन्त्रण किया। शाहश्री पाटन आए, वहा से संघ का प्रयाण हुआ, वहां से राजनगर आए, थराद का संघ भी अहमदावाद आया, भणशाली

देत्रा प्रमुख सब शामिल हुए। शाह श्री जिनदास, शाह तेजपाल, शाह खेतसिह, शाह चौथा, शाह ऋषभदास, शाह कल्याण, शाह जीवा, शाह पूंजिया, शाह रुडा प्रमुख बहुतेरे संवरी शत्रुञ्जय की यात्रा करके सकुशल राजनगर आए, भणशाली देवा ने साधर्मिक वात्सल्य किया, उसके ऊपर सात सघ वात्सल्य थराद के सघ ने किए, इस प्रकार सकुशल सघ पाटन पहुँचा। शाहश्री ने वहा चतुर्मास किया। शाह तेजपाल और कल्याण ने रावनपुर चतुर्मासिक किया। शाहश्री पाटन से राधनपुर गए, वहां से थराद गए, सो० तेजपाल, शाह कल्याण, शाह जीवा साथ मे थे, वहां ४५ दिन रहे, वहां पर शाह तेजपाल ने "नागनत्तुआ" की सज्झाई बनाई, वहा से वाव, सोहीगांव, मोरवाड़ा, महिमदावाद आदि स्थानो मे विचरते हुए राजनगर आए।

सं० १६६७ मे शाहश्री ने चतुर्मास खम्भात में किया और शाह तेजपाल ने राजनगर मे, शाह तेजपाल ने "दशपदी" और "पागडिसा पचदशी" बनाई।

शाह श्रीवन्त १६६८ मे राजनगर मे और तेजपाल खम्भात में रहे।

सा० १६६९ मे खम्भात मे चतुर्मास रहे, वहाँ शाहश्री के शरीर में बीमारी उत्पन्न हुई और शाह तेजपाल उस समय राजनगर थे।

सं० १६७० मे शाहश्री ने राजनगर मे चतुर्मास किया और शाहश्री के आदेश से शाह तेजपाल तथा कल्याण थराद रहे। शाहश्री ने शाह विजयचन्द्र को सवरी बनाया।

इसी वर्ष में शाहश्री का शरीर रक्त-पित्त की पीडा से व्याप्त हुआ। शाहश्री ने संघ को इकट्ठा किया और धूमधाम के साथ भणशाली देवा के चैत्य में आकर देववन्दन किया, फिर उपाश्रय आकर शाह श्री तेजपाल को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया और शाहश्री अनशन-पूर्वक दिवगत हुए।

शाह श्री जिनदास १७ वर्ष गृहस्थ रूप में, ३३ वर्ष सामान्य सवरी के रूप में और ९ वर्ष पट्टधर के रूप में रहकर अपने पट्टधर शाह श्री तेजपाल को स्थापन कर ५९ वर्ष का आयुष्य पूरा कर स्वर्गवासी हुए।

८. शाह श्री जिनदास के पट्टधर शाह तेजपाल :

शाह तेजपाल का जन्म खम्भात मे सो० वस्तुपाल की भार्या कोकी की कोख से हुआ था। शाह श्री तेजपाल शाह श्री जिनदास के वचन से सवरी हुआ था, अच्छा विद्वान् था। भट्ट पुष्कर मिश्र के पास चिन्तामणि शास्त्र पढ़ा था, पढाई का मेहनताना प्रतिदिन का एक रुपया दिया जाता था। शाह श्री तेजपाल थराद मे ठहरे, उस वक्त अनेक व्रत पच्चक्खाण हुए। मोदी हसराज की माता जीवी ने अनशन किया, २२ दिन तक अनशन पालकर बाई ने आयुष्य समाप्त किया, बाई का दहन-सस्कार कर सघ समस्त उपाश्रय आया, शाहश्री के मुख से श्लोक सुनकर सब अपने स्थान गए।

उसके बाद शाहश्री राजनगर आए और भणशाली देवा ने स्वागत किया, उपाश्रय मे जाकर श्लोक सुनाया।

शाहश्री १६७१ मे पाटन मे परीख लटकन के आग्रह से चतुर्मासक रहे। वहा श्री तेजपाल ने "सस्कृत-दीपोत्सवकल्प" बनाया। चतुर्विंशति जिनस्तोत्र, छन्द, स्तुति वगैरह रचे। शा० कल्याण खभात मे चतुर्मासक थे, राजनगर निवासी भणशाली देवा ने छरीपालते शत्रुञ्जय जाने की इच्छा की। चतुर्मास के बाद शाहश्री को वहां बुलाया और कार्तिक वदि ५ को शुभ मुहूर्त मे यात्रार्थ प्रयाण किया, साथ मे बहुतेरे परसमवायी थे। अनेक साधर्मी पाटन निवासी परी० लटकन, खंभात के सघवी अमीपाल, सो० हरजी प्रमुख सघ और परगच्छीय यात्रिक मार्ग में छरीपालते चलते थे, अनेक गांवों के सघ सम्मिलित होकर सिद्धाचल के दर्शनार्थ चले। मार्ग में एकाशन १, भूमिशयन २, उभयटक प्रतिक्रमण ३, त्रिकाल देवपूजन ४, सचित्तत्यजन ५, ब्रह्मव्रत-पालन ६, पादचलन ७, सम्यक्त्वधरण ८ इत्यादि अनेक नियमो का पालन करते हुए आठम और पाक्षिक के दिन एक स्थान मे रहते २२ दिन मे श्री शत्रुञ्जय पहुँचे। शाहश्री आदि सवरी और भणशाली देवादि समस्त संघ ने श्री ऋषभदेव के दर्शन कर मनुष्य जन्म सफल किया। शाह रामजी तथा शाह हांसु को शाहश्री ने सवरी बनाया, आठ

दिन तक वहां रहकर १७ भेदादि पूजा करके समस्त सघ के साथ भरा-शाली देवा धोलका होते हुए सकुशल अपने घर पहुँचे।

सं० १६७२ मे खम्भात मे चतुर्मासक किया। शाह कल्याण ने राजनगर मे चतुर्मासक किया, वहा के सघ ने व्याख्यान के समय पर उनके लिए पट्टक आसन स्थापन किया। भणशाली देवा ने शान्तिनाथ का परिकर प्रतिष्ठित करने के लिए चौमासा के बाद शाहश्री को वहां बुलवाया और शुभ दिन मे परिकर की प्रतिष्ठा कराके स्थापित किया।

भणशाली देवा को शाह सलीम ने हस्ती अर्पण किया और भण-शाली देवा के पुत्र भणशाली रूपजी को अजमेर मे सुलतान ने हस्ती अर्पण किया।

स० १६७३ में राजनगर मे शाहश्री का चतुर्मासक था। वहाँ श्री भणशाली देवा ने १२ व्रत १५ मनुष्यो के साथ ग्रहण किये, उनके नाम परी० वीरदास, मं० सतोषी, म० शवजी, शा० हरजी, परी० देवजी, शा० पनीया, गणपति प्रमुख थे। उनको सुवर्ण वेढ की प्रभा-वना दी गई, दूसरो को मुद्रिका की प्रभावना दी।

शा० कल्याण ने सं० १६७३ मे खम्भात मे चतुर्मास किया। वहाँ बाई हेमायी ने प्रतिष्ठा करवाने की इच्छा व्यक्त की, जिस पर से शाहश्री को वहा बुलाया गया। शाहश्री ने फाल्गुन सुदि ११ का प्रतिष्ठा-मुहूर्त दिया। शाह श्री तेजपाल ने विमलनाथ की प्रतिष्ठा की, बाई हेमायी ने सघ को वस्त्र की प्रभावना दी।

सं० १६७४ में शाहश्री ने फिर राजनगर मे चतुर्मास किया और शा० कल्याण को पाटन भेजा।

सं० १६७५ मे चैत्र सुदि में भणशाली देवा ने आबु, ईडर, तारगा का सघ निकाला, सर्वत्र कुकुंम-पत्रिकाएँ भेजी। खम्भात से अमीपाल सो०, हरजी सघवी, सोमपाल सं०, भीमजी सो०, नाकर शाह, सोमचन्द प्रमुख आए। सोजित्रा से बोहरा वाचा प्रमुख आए,

अहमदाबाद से भणशाली मूलिया, शा० देवजी, शा० लटकन, शा० वस्तुपाल, प० वीरदास, शा० हीरजी प्रमुख सघ मे आए। भणशाली देवा बड़े ठाट से चले, साथ मे हाथी, घोड़े, पालकी प्रमुख सामग्री के साथ अपने स्वजन कुटुम्ब के साथ भणशाली देवा, भार्या देवलदे, पुत्र रूपजी, भ० खीमजी, पौत्र भ० लालजी, भ० देवा की वहिन रुपाई, बेटी राजबाई, सोनाई, भ० भाई कोका, भतीजे भ० विजयराज तथा भणशाली जीवराज के पुत्र भ० सूरजी, भार्या सुजाणदे, तत्पुत्र भ० समरसिह, भ० अमरसिंह आदि परिवार के साथ सघ ने प्रयाण किया।

प्रथम श्री शखेश्वर की यात्रा कर वहाँ से पाटन आए, वहां संघ वात्सल्य दो हुए, वहाँ से सघ सिद्धपुर यात्रा करते आबु पहुँचे, अचलगढ होकर देलवाड़ा गए, पूजादि उत्सव हुए, वहाँ से फिर अचलगढ होकर नीचे उतरे और आरासण की यात्रार्थ गए, वहाँ से ईडर यात्रा कर तारगा गए। तारगा से वडनगर पहुँचे, वहाँ भ० देवा ने संघ वात्सल्य किया, वडनगर के नागर ज्ञातीय वोहरा जीवा ने सघ वात्सल्य किया। भ० कोका ने वस्त्रार्पण किया और भ० समरसिंह ने मुद्रिका की प्रभावना की, इस प्रकार यात्रा करके पटनी, रावनपुरी, संघ को विदा किया और भणशाली शाह देवा सकुशल राजनगर पहुँचे और शाहश्री आदि सवरियो ने भणशाली देवा के आग्रह से स० १६७५ का चतुर्मास वही किया। शाह कल्याण को चातुर्मास्य के लिए खम्भात भेजा। इस वर्ष मै बाई बाली ने अनशन किया और शाह खेतसी, शाह चौथा, शाह ऋषभदास प्रमुख सवरियो की निर्यामणा से चित्त स्थिर रखकर ५७ वें दिन वह दिवगत हुई। इस चतुर्मास्य मे शाह श्री तेजपाल ने "सप्तप्रश्नी" आदि अनेक प्रकरणों की रचना की और राजनगर निवासी भणशाली शाह पचायत ने छरी पैदल सघ निकाला। चैत्रादि स० १६७५ के कार्तिक वदि १३ के दिन सघ का प्रयाण हुआ, साथ मे हाथी, घोडे, रथ, पालकी प्रमुख साज समान आदि था। पाटन, रावनपुर, खम्भात, आदि स्थानो के भी सार्धर्मिक समाज सघ मे सम्मिलित हुए, वडे उत्सव के साथ यात्रा प्रभावना हुई और संघ वहा से सकुशल वापस राजनगर आया, अहमदाबाद मे भ० देवा ने

नोकारसी की और सर्व गच्छो मे जामी एक, मोदक एक की लाहरण की, अपने गच्छ मे सर्व सार्धमियो को गद्याणा एक के केवेलिये दिए, भ० देवा ने धर्म की वड़ी उन्नति की, वाद मे भ० कीका दिवंगत हुआ।

सं० १६७७ में शाह तेजपाल और शाह कल्याण ने एक साथ चतुर्मास किया, वहाँ एक दिन दोनों साथ मे स्थण्डिल गए, वहाँ लुम्पक के दो वेशधर मिले, उन्होने आते ही शाहश्री को कहा – "धर्मसागर ने कहा – वह यथार्थ मिला" इसके उत्तर मे शाहश्री ने कहा हमारे सम्बन्ध में तो ५–७ पाने होगे, परन्तु तुम्हारी भक्ति तो उन्होने वहुत की, उन्होने कहा – कहिये क्या बात है ? तव शाहश्री ने कहा बात कहने से स्पर्द्धा बढ़ती है, इसलिए स्पष्ट न कहना अच्छा है, उन्होने कहा – कहिये तो सही बात क्या है ? शाहश्री बोले – लो सुनो "प्रवचन परीक्षा" मे तुम्हारे जिनदत्तसूरि तथा तरुणप्रभाचार्य को निन्हव ठहराया है, उनकी वहुत सी भूलें निकाली है, तब खरतरों ने कहा – अब रखिये, हम जानते थे कि तुम इन बातो से अपरिचित होगे, इस पर लुका ने कहा – अच्छा किया, इनकी पोल खोल दी।

वहाँ से मार्गशीर्ष सुदि में भ० पंचायत ने श्री शंखेश्वर का संघ निकाला।

सं० १६७८ मे तथा १६७९ में शाहश्री पाटन ठहरे और वहां पर अनेक स्तवन सज्भाय, शतप्रश्नी आदि बनाये। शाह श्री कल्याण को इन्हीं दो वर्षो मे खम्भात मे चतुर्मासार्थ भेजा, वहां लुम्पक के साथ चर्चा हुई और लुंका को निरुत्तर होना पड़ा।

सं० १६७९ थराद में तपो के घर १७ है और कडुआमति के ७०० घर हैं वहां कडुवा मन्दिर में तपा देव-वंदन करने आये, तव घर से अवोटिये पहनकर जाएं, पूजा करने के वाद, गीतगान सुनने का मन हो तो पगड़ी उतार कर रग मडप मे वैठकर सुने, यदि पगड़ी वन्धी रखने की इच्छा हो तो वे मडप के बाहर वैठे यह हमेशा की व्यवस्था है। दर्मियान गान्धी हरजीवन का भतीजा गाँवीलालजो पगड़ो न उतार कर रग मंडप मे वैठा,

कडुआमतियो ने उसको हमेशा की रीति से वैठने को कहा – पर लालजी ने नही माना और बात खीचतान मे पड़ गई । गांधी हरजीवन ने राधनपुर के तपागच्छ को लिखा, "यहाँ कडुआमती बहुत हैं, अगर आप हमारी मदद नही करेगे तो हम भी तपा मिटकर कडुवामती बन जायेगे ।"

स० १६७९ के भाद्रवा सुदि २ के दिन पत्र पहुंचा और सभा मे पढा गया, पन्यास ने कहा – धर्म के खातिर चक्रवर्ती का सैन्य मार डालने पर भी पाप नही लगता, तपा का साथ कडुवामती का और कडुवामती का साथ तपा का उपाश्रय गिराने आये, उपाश्रय मे कुछ पौषधिक वैठे थे, चित्त को स्थिर कर वैठे रहे, तपा के साथ ने कडुवामती उपाश्रय का छप्पर गिरा दिया, अन्दर वैठे हुए स्थिर रहे और कहने लगे – हमसे आपको कोई भय नही है, हमारे शाहश्री का यह उपदेश नही है कि हम किसी को मारे, वाद मे मेहता रत्ना के पुत्र म० वीरजी के पौत्र म० सघवी ने दूसरे मनुष्यो को बुलाकर तपा के साथ को रोका, वह छप्पर गिराकर चला गया, वाद में वहाँ के कडुवामतियो ने थराद अपने सार्धमियो को लिखा कि आज यहाँ इस प्रकार की घटना घटी है, पत्र पढ़कर सबको दुःख हुआ, कितने कडुवामती तपा का उपाश्रय गिराने के लिए तैयार हुए, पर शाहश्री खेतसी ने रोका, दोसी रत्ना, सेठ नाथा आदि ने उन्हे समझाकर रोका, बाद मे थराद का सघ अजमेर सुल्तान शाह सलीम के पास जाने को रवाना हुआ । राधनपुर का तपा सेठ बाला भी बादशाह के पास जाने को रवाना हुआ, इतने मे राजनगर से भ० देवापुत्र खीमजी तथा तपा का शान्तिदास भी बादशाह के पास जाने को रवाना हुआ, सब अजमेर पहुँचे, थराद का सघ भण० खीमजी को मिलने गया । खीमजी ने कहा – यदि द्रव्य का काम हो तो मुझे कहना, शाहश्री कडुवा के समवाय की बात ऊँची रहे वैसे करना ।

सघ के वादशाह के पास जाने के पहले, सघवी चन्दु तपा ने मेहनत कर सघ को अपने घर लेजाकर जिमाया और तपा के साथ से उपाश्रय ठीक करवाने की कवूलात करवायी और रुपया १० केसर खाते देने का निश्चय हुआ, इस प्रकार समाधान कर सब अपने स्थान गए । कडुवामती सकुशल थराद आए, घर आने के बाद राधनपुरी तपा समाज ने कडुवा का उपाश्रय

ठीक नही करवाने का निश्चय किया, इतना ही नही राधनपुरी तपा साथ ने कडुवामतियो के साथ असहकार करते थे, इस प्रकार बहुत दिनो तक झगड़ा चलता रहा, तपा बहुत थे तो भी कडुवामतियो के सामने उनका कुछ भी नही चला, अहमदावाद वन्दा करवाने आए, परन्तु भ० रूपजी, समरसिंह की शर्म से किसी ने वन्दा नही किया, बाद मे थरादरी मे मोरवाडा, सोहीगाँव, वाव प्रमुख सर्व गाँवो मे कडुवामती और तपाओं के आपस मे झगड़े चले, पर कडुवामती पराजित नही हुए।

स० १६८० के बाद थराद का सघ दो० रत्ना, सेठ नाथा प्रमुख और राधनपुरीय महेता वीरजी प० मूला प्रमुख सर्व अहमदावाद आजमखांन को मिलकर मोदी हसराज, मोदी वघुआ, राधनपुरी तपा को बुलाने गए, उन्होने सब बात सुन ली थी, इसलिए वे पहले से ही निकल गए थे और उनको वीरमगाँव मे मिले, वहा मोदी हसराज ने बहुत आदर किया। वे सब साथ मिलकर राजनगर आए, दरमियान हाकिम आजमखांन की मृत्यु हो चुकी थी, अब आगे क्या करना, यह सघ के सामने प्रश्न खडा हुआ और सब ने मिलकर यह निश्चय किया कि अब बादशाह के पास जाना, यह बात तपा शान्तिदास के कानो पहुँची, उसने सोचा कि थराद के आगेवान बादशाह के पास जायेंगे तो मुझे भी बुलायेंगे। इसलिये मुझे पहले ही से अपनी व्यवस्था कर लेनी चाहिए। यह सोचकर वह राधनपुरीय तपाओ के पास जाकर बोला – कडुवामती बादशाह के पास जायेंगे तो मुझे भी बुलायेंगे, इसलिए तुम्हारी बात रखनी हो तो मैं कहू वैसा करो। आगे उसने कहा – मेरा कहना यह है कि तुम सब सागरगच्छ के साथ रहना कबूल करके लिखत करो और उस पर सही करो। अधिकाश राधनपुरियो ने शान्तिदास की बात मान ली और शान्तिदास ने सही ले ली और रूपजी के पास आकर बोला – मैं कुछ आपसे चीज मांगता हूँ। भणशाली ने कहा – कहिये वह क्या है? शान्तिदास ने कहा—थराद और राधनपुरी सघ के आपस मे मेल करा दो और १० रुपये केसर के मुझ से ले लो। बाद मे शान्तिदास भणशाली को अपने साथ लेकर ईदलपुर गया और थराद के सघ को वहां बुलाकर उनकी सब बाते शान्तिदास सेठ ने कबूल करवाई, सेठ को वस्त्र देकर

और वाकी सवको श्रीफल देकर आपस मे समाधान किया, बाद में थराद के सघ ने राघनपुर मे सार्धमिक वात्सल्य किया। राजनगर मे सार्धमिक वात्सल्य किया, अहमदावादी सघ ने राधनपुर को तथा थराद के सघ को भोज दिए, भ० रूपजी, भ० समरसिंह ने साधर्मिकों को वस्त्र प्रभावना दी, इस प्रकार अनेक उत्सव हुए और सकुशल अपने स्थान पहुचे। शान्तिदास के मनुष्य ने आकर कडुवामती का उपाश्रय ठीक करवाया। राघनपुर के तपाओं मे सागर के पक्ष मे सही करने के कारण आपस मे क्लेश हुआ।

शाह श्री तेजपाल सं० १६८० मे खम्भात मे चतुर्मासक ठहरे और शाह श्री कल्याण को पाटन भेजा, शाहश्री ने खम्भात मे "नयी स्नान विधि" तैयार की, श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा की।

सं० १६८१ मे शाहश्री ने संघ के आग्रह से फिर खम्भात मे चातुर्मास किया। शाह कल्याण ने राजनगर मे चातुर्मास किया, वहा पर शाहश्री के आदेश से लटकन के पुत्र शाह देवकरण की तरफ से बिम्ब प्रवेश किया और शाह रूपजी की तरफ से मार्गशीर्ष मे उत्सव-पूर्वक बिम्ब प्रवेश किया।

सं० १६८२ में शाहश्री ने राजनगर में चतुर्मास किया और शाह कल्याण को पाटन, तथा शाह विजयचन्द्र को खम्भात भेजा। राजनगर के चतुर्मास मे भणशाली पंचायन प्रमुख ८५ मनुष्यो ने अट्ठाई की, वहां पर शाहश्री ने सीमन्धर स्वामी का "शोभातरग" बनाया, बडा सुन्दर ४३ ढालो मे पूरा हुआ है, श्री अजितनाथ की स्तुति, अवचूरी के साथ बनाई।

सं० १६८३ मे राजनगर मे भण० देवा की बहिन रूपाई ने प्रतिष्ठा के लिए वीनती की, शाहश्री ने स० १६८३ के ज्येष्ठ सुदि ३ के दिन मुहूर्त दिया। सर्वत्र कुंकुम पत्रिकाएँ भेजी गई। रत्नमय, पित्तलमय, पाषाणमय-प्रतिमा ७५ की प्रतिष्ठा हुई।

सं० १६८३ मे शाहश्री ने पाटन में चतुर्मास किया, शाह कल्याण को खम्भात चतुर्मास के लिए भेजा।

सं० १६८४ मे शाहश्री ने खम्भात में चतुर्मास किया और शाह कल्याण ने राजनगर मे और शाह विजयचन्द्र ने राधनपुर मे भण० देवा के

पुत्र भ० रूपजी ने अपने साधर्मी भाइयो और वहिनों के चखला, नौकार वाली, पौषध आदि का वेग और वाइयो को साड़ी नौकार वाली, एवं हाथी दांत के डांडी काले चखले प्रभावना मे दिए, इस वर्ष मे शाहश्री ने संस्कृत मे "वीरतरग" और "अजिततरंग" बनाये – जिनका श्लोक प्रमाण अनुमानत दस हजार है और शाह कल्याण ने "धन्य विलास" की रचना की जिसकी ढालें ४३ हैं तथा "युगप्रधान पट्टावली" की टीका संस्कृत में वनायी तथा "युगप्रधान वन्दना" प्रमुख अनेक ग्रन्थों की रचना की, इस प्रकार कडुवागच्छ मत की पट्टावली अष्टम पट्टधर विराजमान शाह श्री तेजपाल के प्रसाद से शाह कल्याण ने सं० १६८५ के पोष सुदि पूर्णिमा पुष्य नक्षत्र के योग मे बनाई।

(कडुआमत की लघुपट्टावली के आधार से अन्तिम दो नाम)

९. शाह कल्याण विद्यमान, १६८५।
१०. शाह भल्लू।
११. शाह भाण।



शुद्धि - पत्रक



अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
गुर्वाविल्य	३	१५	गुर्वावित्य
स्यविर	६	२	स्थविर
वार्द्धवय	६	३	वार्द्धवय
सघ	६	५	संघ
एयायरियस्स	१२	४	एगायरियस्स
विण्णेय	१३	२२	विण्णेयं
निगंथा	१५	२१	निग्गथा
भतेवासी	१६	१८	अंतेवासी
स्यविर	१६	२४	स्थविर
काकद	१७	१२	काकंद
सभूतविजय	१७	१५	संभूतविजय
,,	१७	१६	,,
अज्जतावसाआ	१८	५	अज्जतावसाओ
स्यविर	२०	१	स्थविर
सभूतविजयजी	२०	१	संभूतविजयजी
कोडवाणा	२०	१७	कोडवाणी
स्यविर	२०	२०	स्थविर
,,	२०	२२	,,
राहगुप्त	२०	२४	रोहगुप्त
चउत्थयं	२२	२	चउत्थयं
गोडा	२२	२१	गोडा

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
भद्दीया	२३	१७	भद्रीया
वभदासिय	२५	४	वभदासिय
तिय	२५	४	वितिय
त०	२५	२५	त०
एत्य	२६	११	एत्थ
एत्थण	२६	१३	एत्थण
एत्यणं	२६	२४	एत्थण
ण	२७	अंतिम	ण
रासवगुत्ते	२८	२४	कासवगुत्तो
आय	२८	अंतिम	आर्य
आर्यसिह	२९	४	आर्यसिंह
हत्थि	२९	२१	हत्थि
तत्तो य	३०	१	तत्तोय
दुर्जपन्त	३०	१०	दुर्जयंत
काश्यप गात्राय	३०	११	काश्यप गोत्रीय
स्यविर	३०	१६	स्थविर
ग्रौर	३४	१५	और
वगाल	३७	१४	बगाल
पूजापाट	३९	८	पूजापट
ज्ञत	३९	९	ज्ञात
अर्य	४२	२५	आर्य
कह	४४	८	यह
अयथाथ	४६	१३	अयथार्थ
शाखाओ	४६	२०	गाथाओं
वीसवसाणि.	४७	१८	वीस वासाणि
यशाभद्र	४७	अंतिम	यशोभद्र
उनमे	४८	२	उनसे
सभूतविजयजी	५२	१७	संभूतविजयजी

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
स्कन्दि	५३	६	स्कदिल
सघ स्थविर	५४	३	सघस्थविर
श्रमणसघ	५४	६	श्रमणसघ
सघ	५४	१८	सघ
सगोत्त	५५	१६	सगोत्तं
वि० स०	६१	१	वि० सँ०
दा हजार	६४	६	दो हजार
शिलाण्ट्ट	६४	६	शिलापट्ट
निर्वाण स०	६५	४	निर्वाण स०
बाता	६५	६	बातों
आश्चय	६५	७	आश्चर्य
परम्पस	६५	२३	परम्परा
"जमालि	६७	१७	"जमालि"
खडे	६८	१७	खडा
वचा प्रयोग	६८	२४	वचन प्रयोग
बनहा	६६	५	बनता
शयाक्रियोपयुक्त	६६	६	शयन क्रियोपयुक्त
श्रमणो संघ	६६	२७	श्रमणीसघ
जाव	७०	१६	जीव
करते हैं	७०	२२	करता है
पकवान	७१	११	पक्वान्न
सिद्धाम्त	७१	१६	सिद्धान्त
लक्मोधर	७४	६	लक्ष्मीधर
रामयादि	७५	१	समयादि
तट पर ये	७५	२१	तट पर थे
स्यित	७५	२२	स्थित
गोष्ठामाहल	७६	२१	गोष्ठामाहिल
सम्यववादो	८१	१६	सम्यग् वादी

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
षटलक	८४	२३	पटलक
उपलब्घ	८६	३	उपलब्ध
,,	८८	१६	,,
शिवभूते"	९४	९	शिवभूति"
दोक्षा	९४	१०	दीक्षा
गृन्थो	१०१	६	ग्रन्थों
प्रयोग हा नही	१०४	५	प्रयोग ही नही
दिव्यवावदान	११३	१३	दिव्यावदान
प्राची घटनाओं	१२१	२२	प्राचीन घटनाओ
आर्यमक्षु	१२२	६	आर्यमक्षु
कषाप्राभृत	१२२	६	कषायप्राभृत
पुरुण	१२३	१५	पुराण
सिद्धान्तिक	१२४	२१	सैद्धान्तिक
पचास	१३३	१८	पंचास
वद	१३३	२०	बाद
६० वर्ष	१३५	१६	३० वर्ष
ऊहपोह	१३७	१	ऊहापोह
सविज्ञ	१४०	५	सविग्न
प्रद्योवनमूरि	१४०	१५	प्रद्योतनसूरि
कृन्नमेनागिपुरे	१४०	२३	कृन्नमेनागिपुरे
ऽधिकं वीर	१४०	१४	ऽधिकंर्वीर
मानतुग कवि	१४०	२५	मानतुग को कवि
दोकर	१४२	१३	होकर
निवृंत्ति	१४४	१९	निवृंति
वनाना	१४४	२३	वनाया
मणिरत्नप्रभसूरि	१४५	१९	मणिरत्नसूरि
चैत्यवन्दादि	१४८	१२	चैत्यवन्दनादि
जाकर	१४९	८	जानकर

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पड था	१४६	१३	पडा था
अचार्य	१४६	२१	आचार्य
विज्ञप्तिलेखन	१५१	१८	विज्ञप्तिलेख
विमलसरि	१५२	१०	विमलसूरि
ख ात	१५४	१७	खंभात
मालिक	१५४	२०	मलिक
फजल के तीजे	१५७	६	फजल के भतीजे
वादशाह का	१५७	८	वादशाह को
अजन	१५६	१६	अजन
हुआ था था ।	१६०	३	हुआ था ।
काई नही	१६०	२०	कोई नही
आचर्य श्री	१६१	१६	आचार्य श्री
दल ब दल	१६२	१२	बल वादल
सूातवन्दर	१६३	५	सूरतबन्दर
देग मे	१६७	७	देशो में
सुत्तत्यदायगा	१७१	५	सुत्तत्थदायगा
सधा	१७१	२४	सच्चा
वर्ष	१७५	८	वर्षों
मानते	१८१	२१	मानने
सूमति साधुसूरि	१८२	२	सुमति साधुसूरि
स०	१८२	६	स०
मेरा	१८३	१३	मेरो
हससोम	१८५	१६	हससोम
गच्छाधिण	१८५	२६	गच्छाधिप
१५३६	१८७	६	१५६६
तुर्मुख	१८८	३	चतुर्मुख
लुंगा	१८८	६	लुका
सहस्रोषधि	१८८	६	सहस्रोषधि

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वही	१८८	१३	वहां
प्रश्नादक	१८८	१४	प्रश्नादिक
तैय्यार	१८८	१५	तैयार
वटिया	१८९	२	वहियां
निश्चित	१८९	१५	निश्चित
वह	१९१	२१	यह
नकी	१९१	२१	नक्की
वृन्तान्त	१९१	२६	वृत्तान्त
हां	१९३	८	और
सघवी	१९४	२२	सघवी
सघविव	१९४	अंतिम	सघवित
सघवी	१९५	४	संघवी
उतराधिकारी	१९५	९	उत्तराधिकारी
अपये	१९६	१६	अपने
कूछ	१९७	५	कुछ
पहुचते	१९७	२५	पहुचने
पट्ट पर	२००	७	पट्टपर
मेहे एयो	२००	१६	मेहेल्यो
सहुसने	२०२	१०	सहुसेन
यतियो की	२०२	२३	यतियो को
निरुतर	२०३	१६	निरुत्तर
पार्टियों	२०३	१९	पार्टियां
विजयमान	२०६	९	विजयमान
स० विजयसेन	२०८	६	स० १६७३ विजयसेन
भीसमद	२१९	३	श्रीसमद
पाटिअ-विमरण	२१९	३	पाटि भवियण
जिनरंजइ	२१९	४	मनरंजइ
विजय जितेन्द्र	२२०	९	विजय जिनेन्द्र

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वधमा सूरि	२५९	१५	वर्धमान सूरि
द्रम्भ	२६१	१२	द्रम्म
मध्य भरतीय	२६१	१३	मध्य भारतीय
ज्ञत	२६१	१८	ज्ञात
सम्बधी	२६३	७	सम्बन्धी
चादिए	२६३	२२	चाहिए
निग्व विविधि	२६४	२	निरव विदिवि
चन्द्रसूरि और	२६५	१९	चन्द्रसूरि जिनपति को और
तलहटो	२६६	८	तलहट्टी
माम	२६८	१९	नाम
छात्र	२६९	४	मात्र
कहनी	२६९	८	कहानी
बनाया	२७१	१४	बनवाया
पहल	२७२	२०	पहले
होगा ?	२७५	३	होगा ?,
न होगा ६	२७५	७	न होगा ७,
स्थन	२७६	३	स्थान
उलने	२७६	१०	उसने
निपद्ध	२७६	१७	निषिद्ध
जिनप्रति सूरि	२७६	२५	जिनपति सूरि
उठने	२७७	३	उठाने
पट्टं	२७८	१५	पट्टे
नेमिचन्द्र	२७८	१५	नेमिचन्द
सजाओ	२७८	१७	संजाओ
उसको	२७८	१८	उसके द्वारा
लिखना	२७८	१९	लिखे जाने में
चत्यवासी	२७९	१९	चैत्यवासी
सबम	२८०	३	सर्वत्र

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वुद्धिसगर	२८०	५	वुद्धिसागर
पालडदा	२८३	–टिप्पणी १	पालउदा
,,	२८३	–टिप्पणी २	,,
,,	२८३	,, ५	,,
अने को	२८५	३	आने की
गुरु का	२८७	१४	गुरु के
जक	२८७	–टिप्पणी ३	तक
वावाए	२८८	१८	बनवाए
तयार	२८९	२	तैयार
अभयदव	२८९	२०	अभयदेव
जुदड	२९१	टिप्पणी १६	जुदउ
पुत्रो मे	२९२	१४	पुत्रो से
कठोग	२९२	१५	कठोर
करना	२९३	८	कराना
श्रीवस्शकरा.	२९३	१५	श्रीवरशकरा·
स्थापना की, भावना	२९३	१८	स्थापना की भावना
स्यान	२९३	१९	स्थान
श्रीमति	२९४	१२	श्रीमती
त्रिचरे	२९६	८	विचरे
व्रत	२९९	४	पद
स्यापन	२९९	१२	स्थापन
याचनाचर्य	३००	१०	वाचनाचार्य
भिल्लई	३०२	टिप्पणी १२	मिल्लई
समवास	३०२	टि० १९	समवाय
अघहि	३०२	टि० १६	अविहि
राजस्वकाल	३०३	टि० १५	राजत्वकाल
तीथ यात्रा	३०५	५	तीर्थयात्रा
स्त्रीकार	३०५	१९	स्वीकार

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पद्यप्रभाचार्य	३०६	टि० १०	पद्मप्रभाचार्य
तमाशावीन	३०६	टि० १९	तमाशबीन
कारित	३०७	टि० ७	कारितं
दसणस्स	३०९	७	दसणस्स
स० १२५	३११	४	स० १२५२
पतन भग	३११	६	पत्तन भग
महवीर	३११	८	महावीर
साधुओंक	३११	११	साधुओ की
सुदर	३११	२४	सुन्दर
सैंकडीं	३१२	७	सैंकडो
पदस्यापना	३१३	३	पदस्थापना
अर्हद्दत	३१३	१२	अर्हद्दत्त
विवेक प्री	३१३	१२	विवेक श्री
चन्द्रयाला	३१३	१३	चन्द्रमाला
स० १-८०	३१३	१४	स० १२८०
पद्मावता	३१३	१६	पद्मावती
जिनाहितोपाध्याय	३१३	२०	जिनहितोपाध्याय
चरित्रसुन्दरी	३१४	४	चारित्रसुन्दरी
उज्चयन्त	३१४	२२	उज्जयन्त
स७	३१५	२५	स०
कलक्ष की तिष्ठा	३१७	९	कलश की प्रतिष्ठा
परिमण	३१७	१०	परिमाण
जिनेश्व सूरि	३१९	३	जिनेश्वर सूरि
देव भण्डगार	३१९	१६	देव भण्डागार
कल्यार ऋद्धि	३१९	२५	कल्याण ऋद्धि
वोजापुर	३२२	२३	वीजापुर
चत्य	३२३	२२	चैत्य
वाडढ	३२४	२२	वाहड

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
स्तूतमूर्ति	३२५	३	स्तूपमूर्ति
चैत्र में	३२५	२२	चैत्य से
वडगांव में	३२५	२५	वडगांव से
पावपुरी	३२५	२६	पावापुरी
स्यापना	३२६	२०	स्थापना
ज्ञनलक्ष्मी	३२९	१७	ज्ञानलक्ष्मी
विधिममुदाय	३२९	२१	विधिसमुदाय
उच्चापुरोय	३२९	२२	उच्चापुरी
उनको	३३०	५	उनके
साधुओं की	३३०	६	साधुओं को
सघ	३३१	१४	सघ
जिनासा	३३१	टि० १	जिनाज्ञा
राजेन्द्रार्य	३३३	८	राजेन्द्राचार्य
हेमभषण	३३३	अनिम	हेमभूषण
भो	३३५	८	भी
लाटहद	३३९	५	लाटह्रद
जसलमेरु	३४०	७	जेसलमेरु
वहरामपुर	३४०	२४	वहिरामपुर
वनाकर	३४१	१७	वताकर
प० अमृतचन्द्र	३४१	अतिम	प० अमृतचन्द्र
टहर	३४२	१२	ठहर
सघ	३४३	४	सघ
मुंगुथला	३४३	७	मु गथला
लोटकर	३४३	१३	लौटकर
रूप्य टक	३४३	१५	रूप्य टक
छोटे में	३४३	२१	छोटे से
पढंकर	३४४	१३	पढकर
सघ	३४४	२०	सघ

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
स० १३६०	३४५	९	सं० १३६०
दिवगत	३४६	१३	दिवंगत
पटरह	३४६	१७	पाटरह
प्री	३४६	२२	श्री
विस्तार	३४७	१६	निस्तार
सघ वहिष्कृत	३५०	१२	संघ वहिष्कृत
सघ	३५१	१७	संघ
सभव	३५२	७	सभव
चामत्कारिक	३५३	२२	चमत्कारिक
वामावत्ती रात्रिक	३५४	९	वामावर्ता रात्रिक
सकडो	३५४	२३	सैकडों
दिया गया	३५५	९	किया गया
निरूण	३५५	१२	निरूपण
यथाकोश	३५७	८	कथाकोश
दूसगेये	३५७	१९	दूसगेय
वंठने	३५८	१८	वंठाने
नत्वा	३५९	६	नत्वा,
जिनप्रभ	३६३	१०	जिनभद्र
अचार्य	३६३	१०	आचार्य
आचर्य	३६५	१६	आचार्य
नेमिचद्र	३६७	१८	नेमिचन्द्र
वुद्धिसाग सूरि	३६७	२०	वुद्धिसागर सूरि
नामधेय	३६७	२२	नामधेय
विरुद्ध	३६८	३	विरुद
अत	३६८	१४	अन्त
पार्श्वनाथ प्रतिष्ठा	३७१	अतिम	पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा
सकाशादवृहीत	३७५	१७	सकाशादगृहीत

पृष्ठाक ३८१ पक्ति ७ मे "श्रावको के" इन शब्दो के आगे "कुलो की नाम सूचियो के भूङ्गले लिखकर" पढें ।

आस्तित्व	३८२	२२	अस्तित्व

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
चाउवण्णे सघो	३८६	२१	चाउवण्णो संघो
कुशल	३८७	३	कुशील
तया	३८७	१२	तथा
लघुषरसगजी	३९७	२२	लघुवरसंगजी
त्तेजसिंहजी	३९७	२५	तेजसिंहजी
पच्च्यसिए	४०६	९	पच्यासिए
बाघकर	४०७	११	बाधकर
अनुयायियों मे	४०८	१२	अनुयायियों में
निक्रालकर	४१०	१७	निकालकर
सीधिस्थँ छ।	४११	५	सीधस्थ छे।
संदिदत्र	४१२	४	सडिल्ल
आयनाग	४१२	२१	आर्यनाग
उपभ्र श	४१२	२६	अपभ्र श
नाम छोड़कर	४१२	२७	नामो को छोडकर
उटनराग	४१४	७	उटपटाग
स० १५३३	४१४	१९	स० १५५३
दशवैकालिक को	४१५	५	दशवैकालिक की
यानेंगे	४१५	१०	मानेंगे
घाडी	४१५	१९	गाडी
गोडे	४१५	१९	घोडे
सघ के	४१६	६	सघ का
कल्पित कया	४१६	१४	कल्पित कथा
रवाने	४१६	१४	खाने
तकल	४१६	२२	नकल
यांत्रिक	४१७	२२	यात्रिक
सामके	४१८	३	सामने
वस्त्रापात्र	४१९	अंतिम	वस्त्रपात्र
गा०	४२०	२	ऋ०
निकालने	४२०	३	निकलने
सत्रो को	४२२	८	सत्र को

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
छी ा दोक्षा	४२३	२	छीपा धर्मदास दीक्षा
अभीपाल	४२३	७	अमीपाल
बीच शास्त्रार्थ	४२६	१६	बीच हुए शास्त्रार्थ
१७८७	४२७	१	१८७८
सं० १७८७	४२७	६	१८७८
पाय वांधकर	४२८	२०	पाटा वाधकर
हमको	४२८	२७	हकमो
वहां मर्यादा	४२६	२१	वहां न आकर मर्यादा
मे आये	४३०	३	में न आये
वक्तचन्द	४३१	१०	वखतचन्द
साघते	४३२	७	साधते
सवरद्वार से	४३२	१३	सवरद्वार मे
विजयदेव ने	४३२	१६	विजयदेव के
नही न दे	४३२	२१	नही दे
स्त्रा	४३२	२२	स्त्री
करले	४३३	११	कर लें
माथे	४३४	१६	माहे
दिवमे	४३५	१	दिवसे
दृष्ट्रि ने	४३७	१४	दृष्टि से
पट्टघर	४३७	१८	पट्टधर
सुतागमो की प्रस्तावनो	३३६	१	सुत्तागमे की प्रस्तावना
जग्रपाल गणि	३३६	१४	जयपाल गणि
शकरसेन	३३६	१६	शकरसेन
उन्मूनाचार्य	३३६	१८	उन्मनाचार्य
सकने	४४२	२	सकते
स्वास्तिसूरि	४४२	६	स्वातिसूरि
गोविन्द्रवाचक	४४२	१५	गोविन्दवाचक
कोष्टक के	४४३	८	कोष्टक मे

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वज्रशाख	४४३	१२	वज्रशाखा
विद्याघर	४४३	१६	विद्याधर
मानला	४४५	८	मानना
भार्ग	४४५	१२	मार्ग
सस्बन्ध	४४५	१६	सम्बन्ध
नामो से मी	४४५	१७	नामों से भी
एकमत्य	४४५	१८	ऐकमत्य
तत्र	४४६	८	तब
कटार	४५०	५	कत्तर
सूत्रो मे	४५१	३	सूत्र मे से
वहार सूत्र	४५१	१४	व्यवहार सूत्र
जनवाणी	४५१	२६	जिनवाणी
सुतागमे	४५३	१८	सुत्तागमे
मुनिवय	४५३	२०	मुनिवर्य
सस्था	४५३	२३	संस्था
बैटकर	४५६	२०	बैठकर
चैत्य	४५६	२१	चैत्यं
इन नाम	४५७	१०	इस नाम
चैतस्	४५७	१५	चैतस
प्रायश्चित	४५८	१	प्रायश्चित्त
शिष्यि	४५८	१६	शिष्य
हुआ या	४६०	१३	हुआ था
जाने का	४६०	२०	जाने की
दक्षिणात्य	४६१	२	दाक्षिणात्य
नयां	४६१	२३	नया
स्यानक	४६४	६	स्थानक
मूतिया	४६४	११	मूर्तियो
अप्रमाणिक	४६५	२०	अप्रामाणिक

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
हटाए	४६५	२१	हटाया
स्वकर	४६६	४	रचकर
विषयो का	४६६	१०	विषयों को
सुझाया	४६७	१	सूझाया
वे कारण	४६९	२६	के कारण
सग्वा	४७०	५	सरवा
मानगे	४७०	१९	मानेंगे
संक्षिप्त	४७०	२३	संक्षेप
प्रकार्णक	४७१	३	प्रकीर्णक
फंसले	४७३	४	फासले
उनकी	४७३	७	उसकी
,,	४७३	१२	,,
हत्याणापुर	४७४	३	हत्यणापुर
लेखक ने	४७५	५	लेखक को
बूटेरायजी ने	४७५	१६	बूटेरायजी
घीसीलालजी	४७६	९	घासीलालजी
शुद्धि प्रतियो	४७७	१७	शुद्ध प्रतियों
विश्वास	४७८	२	विश्वास
पढने	४७९	१८	पडने
तुझ से	४८१	६	मुझ से
पन्यास	४८१	१९	पन्यास
,,	४८१	२१	,,
चतुर्मास्य	४८३	३	चातुर्मास्य
कार्योत्सर्ग	४८५	७	कायोत्सर्ग
चत्यवासी	४८८	१३	चैत्यवासी
सवरी	४८८	२१	संवरी
चतुथ	४८८	२३	चतुर्थ
पन्यास	४९१	१३	पंन्यास

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
,, चतुथ	४९१	१६-१७	चतुर्थ पंन्यास
उह्योने	४९१	२०	उन्होंने
नामा	४९२	१	माना
पढा	४९४	६	पढाया
बताया	४९७	१८	बताता
वजीरशाह	४९७	८	वजीर शाह
गगडी	४९७	अतिम	पगडी
शाह श्रीराग	४९९	४	शाह श्रीरामा
तुम्हारे	५०१	९	तुम्हारा
हुई तो	५०१	१२	होगी सो
सज्जन ते	५०३	१	सज्जन ने
सघ	५०३	१२	संघ
जिन दिवंगत	५०३	अतिम	दिन दिवंगत
स्वतन	५०५	१०	स्तवन
खेतश्री	५०५	१९	खेतसी
च ुर्मास	५०६	४	चतुर्मास
जिनदास राजनगर	५०७	२२	जिनदास ने राजनगर
शखेश्वर	५०८	११	शखेश्वर
निचय	५०८	१३	निश्चय
पट्टघर	५०९	२६	पट्टपर
वीरदस	५११	१३	वीरदास
सघ	५१२	८	संघ
सघ	५१२	१०	सब
पंचायत	५१२	२३	पचायत
स० १६७५	५१२	२४	सं० १६७५
समान	५१२	२६	सामान
चतुर्भास	५१३	५	चतुर्मास
बले	५१३	११	बोले

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पंचायत -	५१३	१६	पंचायन
रग मंडप	५१३	२५	रग मडप
मंडा के	५१३	२६	मडप के
बहु I	५१४	३	बहुत
चखला	५१७	१	चरवला
चखले	५१७	३	चरवले

